साध्य - साधन

(राय रामानन्द एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु मिलन - प्रसङ्ग—श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद द्वारा रचित श्रीचैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिच्छेद ८ की श्रीराधागोविन्द नाथकी टीकासे अनूदित)

न्यौछावर २५ रुपये

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान

मथुरा २८१००१ (उ०प्र०)

●

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ

●

प्रकाशन तिथि :

कार्तिकी शरदपूर्णिमा, विक्रम संवत् २०३९

बङ्गाब्द १३८९, शकाब्द १९०४

३० नवम्बर १९८२

●

मुद्रक :

मातादीन ढंढारिया

नैशनल प्रिंट क्राफ्ट्स्, ९५ए, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता-७०००७३
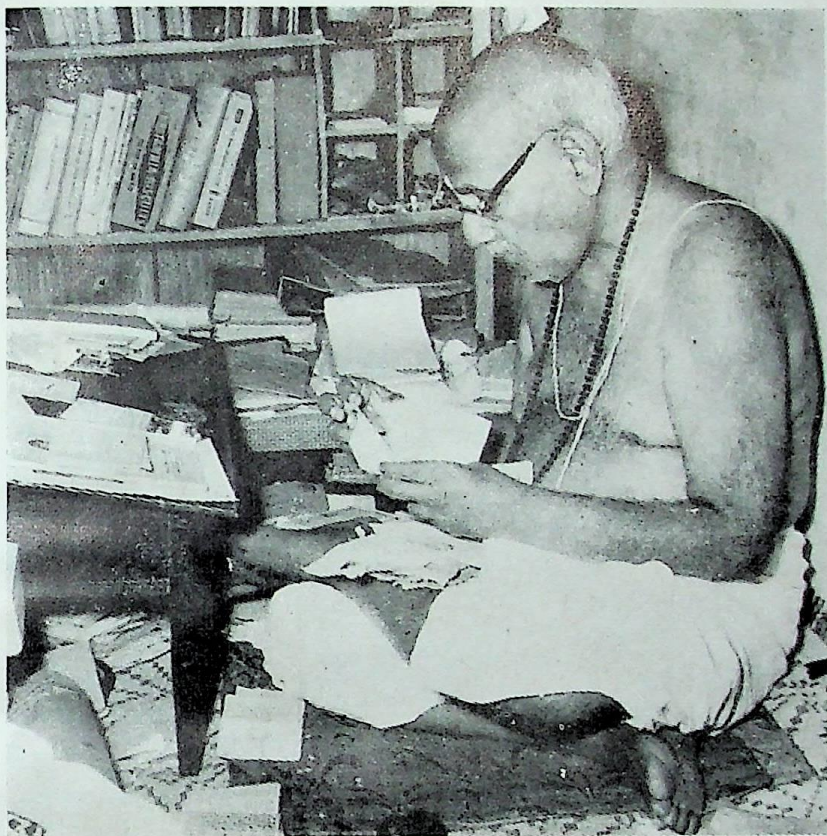
'कल्याण'के आदि सम्पादक, नित्यलीलालीन पूज्य श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

समर्पण

यह आपके हृदयकी वस्तु आपके कर-कमलोंमें
सादर-सभक्ति समर्पित है।

चरण-रज-सेवक
अनुवादक

विषय-सूची

'साध्य-साधन' का शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१ के आरंभमें	से	मुझसे
१७	नीचेसे ६	अंगुलीके पर्यन्त	अंगुलीके
१२३, १२५, १२७	सबसे ऊपर	वात्सल्य-प्रेम	कान्ता-प्रेम
३१८	१३	१३४व	१३४वें
३९७	१	मैं ध्यान करता हूँ	हम ध्यान करते हैं
३९७	४ व ५	ध्यान करता हूँ	ध्यान करते हैं

अनुवादककी ओरसे

इस ग्रन्थका विषय बहुत गहन है। प्रत्येक व्यक्ति इसका अधिकारी भी नहीं है। अनुवादक तो अधिकारी है ही नहीं। तब फिर वह इसमें क्यों प्रवृत्त हुआ? जिनका यह वर्णन है, उन्होंने बरबस प्रेरणा करके चोटी पकड़कर यह काम करवाया है। इसका आरम्भ हुआ विक्रम संवत् २०२९ की विजयादशमी दिनांक १७ अक्टूबर १९७२ को और सम्पूर्ण हुआ ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी वि. सं. २०३५ दिनांक ४ जून १९७८ को। अर्थात् ५ वर्ष, ७ महीने, १८ दिनमें। जबकि अधिक-से-अधिक इसको ३-४ महीने लगने चाहिये थे। यही इसका प्रमाण है कि अनुवादकने तो काम पूरा करनेमें टाल-मटोल करनेमें कसर नहीं रखी, लेकिन उस शक्तिमान्ने जबरदस्ती इसको पूरा करा ही लिया।

अनुवादकको विषयका ज्ञान नहीं है। बंग भाषाका कुछ ज्ञान अवश्य है। बंगभाषासे हिन्दी अनुवाद कठिन नहीं। अधिकतर विभक्ति ही बदलनी पड़ती है, कहीं-कहीं शब्दावलीमें परिवर्तन होता है। विषयका सम्यक् ज्ञान न होनेसे अनुवादमें भूल रहनी स्वाभाविक है। इस अनुवाद-को डा० अवधबिहारीलाल कपूर, डी० लिट०, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक (प्रिंसिपल) डिग्री कॉलेज रामपुर जो आजकल वृन्दावन सेवन कर रहे हैं, को संशोधनके लिए दिया। उन्होंने कृपा करके समय निकालकर इसका अनेक स्थानोंपर संशोधन करके इसको ठीक कर दिया। इसके लिए अनुवादक उनका बहुत कृतज्ञ है।

गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित 'कल्याण' मासिक-पत्रके प्रवर्त्तक सम्पादक नित्यलीला प्रविष्ट श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (श्रीभाईजी) का अनुवादकपर पितृवत् स्नेह रहा। वे इसको ओरस पुत्र सदृश ही समझते थे। उन्होंने स्नेहवश इसको बम्बईमें अपने व्यापारिक जीवनके समय भी पुत्रवत् अपने पास रक्खा, अपने घरपर ही सुलाते, वहीं खिलाते-पिलाते।

रात्रिको जब भी वह जल पीने या लघुशंका करने उठता तो देखा करता कि श्रीभाईजी बिजलीकी रोशनीमें मसनदके सहारे अधलेटे ग्रन्थ एवं शास्त्रोंका अध्ययन कर रहे हैं। दिन भर व्यापारिक जीवनमें इस प्रकार व्यस्त रहकर वे रात्रिको भी पूरा विश्राम नहीं करते थे। अपने गोरखपुरके कल्याण-सम्पादनके जीवन-कालमें भी उनकी ऐसी ही दिनचर्या रहती थी कि दिनभरके २४ घंटोंमें ४-५ घंटेसे अधिक विश्राम नहीं करते थे। उनका इतना स्नेह पाकर, उनकी इतनी कृपा होनेपर भी यह उसके संगका कोई लाभ न उठा सका। तब भी इसकी उनके प्रति श्रद्धा है, शायद यह श्रद्धा ही इसका बेड़ा पार लगा दे सकती है।

जैसे श्रीमद्भागवत महापुराणमें रास-पंचाध्यायी उस ग्रन्थका प्राण है, उसी प्रकार श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थका श्रीरामानन्द मिलनोत्सव प्रसंगका मध्यलीलाका आठवाँ परिच्छेद इस ग्रन्थका प्राण है। उसीका यह अनुवाद है।

इस मूलग्रन्थके रचयिता कविराज कृष्णदास गोस्वामी, ग्रन्थके टीकाकार डा० श्रीराधागोविन्द नाथ तथा श्रीरामानन्द राय—सबके संक्षिप्त परिचय अलगसे दे दिये गये हैं।

टीकामें कई जगह 'भूमिकामें अमुक प्रबन्ध देखिये' इस प्रकारका संकेत किया गया है। वहाँ 'भूमिका'से अभिप्राय टीकाकार द्वारा बंगभाषामें लिखित 'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतकी भूमिका' से है जो एक पृथक् ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित है।

संदर्भ-ग्रन्थोंकी तालिका

टीकाकारने श्रीश्रीचैतन्य चरितामृतकी टीकामें विभिन्न महापुरुषों एवं ग्रंथोंके लिए जिन सांकेतिक चिन्होंका प्रयोग किया है उनका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है। इन्हीं संकेतोंका इस अनुवादमें भी जहाँ जैसी आवश्यकता हुई, प्रयोग किया गया है—

स्वामी—श्रीधर स्वामी
तोषणी—श्रीमद्भागवतकी वैष्णवतोषिणी टीका
श्रीजीव—श्रीपाद जीव गोस्वामी
चक्रवर्ती—श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती

विद्याभूषण—श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण
गी. या श्रीगी. या गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
गो. ली.—श्रीगोविन्दलीलामृत
भा. या श्रीभा. या श्रीम. भा.—श्रीमद्भागवत महापुराण
आनन्दचन्द्रिका—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत उज्ज्वल-नीलमणिकी टीका
लोचन रोचनी—श्रीजीव गोस्वामीकृत उज्ज्वलनीलमणिकी टीका

उ. नी.–उज्ज्वल-नीलमणि	प्र.—प्रकरण
भ. र. सि.–भक्तिरसामृत-सिन्धु	वि. पु.–विष्णुपुराण
ल. भा.–लघुभागवतामृत	ब्र. स.–ब्रह्मसंहिता
ह. भ. वि.–हरिभक्ति विलास	सन्दर्भ–षट्सन्दर्भ
गो. ता.–गोपाल तापनी श्रुति	प. पु. पा.–पद्मपुराण पाताल खण्ड
पू.–पूर्व	ब्र. सू.–ब्रह्मसूत्र
द.–दक्षिण	चै. च. आ.–चैतन्य चरितामृत आदिलीला
उ.–उत्तर	चै. च. म.–चैतन्य चरितामृत मध्यलीला
प.–पश्चिम	चै. च. अं.–चैतन्य चरितामृत अन्त्यलीला
ता.–तापनी	

उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृतसिंधु, लघुभागवतामृत, हरिभक्तिविलास तथा अलंकार-कौस्तुभके स्थलोंके संकेतकी संख्या टीकाकारने उन ग्रन्थोंके संस्करणोंसे दी है जो वर्तमानमें उपलब्ध नहीं हैं। ऐसे संकेतोंकी संख्या इस ग्रन्थमें कोष्टकके बाहर दी गयी है। जो संख्या कोष्टकमें दी गयी है, वह वर्तमानमें उपलब्ध संस्करणकी है। वर्तमानमें उपलब्ध संस्करणोंका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है—

उज्ज्वलनीलमणि एवं अलंकारकौस्तुभ	श्रीपुरीदास महाशय द्वारा सम्पादित एवं श्रीवृन्दावनवासी श्रीहरिदास शर्मा द्वारा प्रकाशित।
भक्तिरसामृतसिन्धु	श्रीहरिदास द्वारा सम्पादित, श्रीविजयबिहारी गोस्वामी द्वारा संशोधित, श्रीनवद्वीपधाम—श्रीहरिबोल कुटीरसे श्रीमुकुन्ददास दास द्वारा प्रकाशित।
लघुभागवतामृत (संक्षेप-भागवतामृत) एवं हरिभक्तिविलास	श्रीपुरीदास महाशय द्वारा सम्पादित, मैमनसिंहके श्रीशचीनाथराय चौधरी द्वारा प्रकाशित।

ग्रन्थकार—श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी

आविर्भाव-काल—वर्द्धमान जिलाके अन्तर्गत झामटपुर ग्राममें वैद्य वंशमें उनका आविर्भाव हुआ। समयके सम्बन्धमें सन्देह रहित कोई बात नहीं कही जा सकती। डा० श्रीयुक्त दीनेशचन्द्र सेनने अपने 'बङ्ग-भाषा और साहित्य'के अंग्रेजी संस्करणमें लिखा है कि इनका जन्म ईस्वी सन् १५१७ में हुआ। इनके पिताका नाम भगीरथ और माताका नाम सुनन्दा था।

ये अत्यन्त दरिद्र थे। कविराजी व्यवसायके द्वारा भगीरथ अति कष्टपूर्वक अपनी गृहस्थी चलाते थे। कविराज गोस्वामीकी ६ वर्षकी आयुमें उनको पितृ-वियोग हुआ। कृष्णदासके आयुमें २ वर्ष छोटे सहोदरका नाम था श्यामदास। पति-वियोगके पश्चात् सुनन्दा दोनों छोटे बालकोंको लेकर बड़ी विपत्तिमें आ गिरी; किन्तु उनको अधिक दिन उद्वेग भोगना नहीं पड़ा। कुछ समयके बाद ही वे भी पतिकी अनुगामिनी बन गयी। दोनों शिशुओंके पालन-पोषणका भार आत्मीय स्वजनोंपर आ पड़ा। कृष्णदास शिशुकालसे ही अत्यन्त शांत, शिष्ट और गम्भीर प्रकृतिके थे।

दीनेश बाबूको उक्त विवरण कहाँसे प्राप्त हुआ, इसका उन्होंने कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं किया है। यह कहाँ तक विश्वास योग्य है—यह भी कहा नहीं जा सकता। ईस्वी सन् १५१७ शकाब्द १४३९ के समान है। १४५५ शकाब्दमें श्रीमन् महाप्रभुका तिरोभाव हुआ। श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु और श्रीअद्वैत प्रभुका तिरोभाव उनके भी पीछे हुआ था। १४३९ शकाब्दमें यदि कविराज गोस्वामीका जन्म हुआ, तो महाप्रभुके तिरोभावके समय उनकी आयु लगभग १६ वर्षकी होनी चाहिये। दीनेश बाबूने लिखा है कि कविराज गोस्वामी जब १६ वर्षकी अवस्थाके थे, तब श्रीनित्यानन्द प्रभुके सेवक मीनकेतन रामदास कविराज गोस्वामीके घरपर उपस्थित हुए थे।

श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, पंचम् परिच्छेद १३९,१४० से जाना जाता है कि दिन-रातके एक संकीर्तनके उपलक्षमें कविराज गोस्वामीके घर मीनकेतन रामदास आये थे। इसी उपलक्षमें कविराजजीके भाईके साथ मीनकेतन रामदास का कुछ वाद-विवाद हो गया था। इसका कारण यह था कि कविराजजीके भाई महाप्रभुको तो मानते थे, किन्तु नित्यानन्द प्रभुके प्रति उनको उतना विश्वास नहीं था। इससे मीनकेतन रामदास क्रुद्ध होकर हाथकी वंशी तोड़कर

फेंककर चले गये। भाईके व्यवहारसे दुःखित होकर कविराज गोस्वामीने भी उनकी भर्त्सना की थी। (चै. च. आ. १५३-१५६)।

इस विवरणसे स्पष्ट है कि जब मीनकेतन रामदास कविराज गोस्वामीके घर आये थे, उसके पहलेसे ही श्रीगौर-नित्यानन्दके प्रति उनकी अत्यन्त श्रद्धा भक्ति थी। अहो-रात्रि संकीर्तनके उपलक्षमें बहुतसे वैष्णव उनके घर आये थे––इससे भी समझा जा सकता है कि इस समयके पूर्वसे ही कविराज गोस्वामी परम वैष्णव थे।

जो हो, ईस्वी सन् १५१७ या १४३९ शकाब्दमें यदि कविराज गोस्वामीका जन्म हुआ हो, तो उनके संकीर्तनोत्सवके समय श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैत प्रभु तो प्रकट थे ही ; किन्तु श्रीमन् महाप्रभु भी या तो प्रकट रहे, और यदि न भी रहे हों तो अधिक दिन पूर्व अप्रकट नहीं हुए थे। यदि ऐसा हो तो कविराज गोस्वामी जैसे परम वैष्णव क्या उसके पूर्व किसी भी समय श्रीमन् महाप्रभुके श्रीचरण दर्शन करनेके लिए चेष्टा नहीं करते ? कभी भी उन्होंने श्रीमन् महाप्रभुके दर्शन पाये हों, ऐसा कोई संकेत भी सम्पूर्ण चरितामृतमें खोजने पर भी नहीं मिलता।

मीनकेतन रामदासके क्रुद्ध होकर चले जानेके बाद, उसी रात्रिको श्रीमन् नित्यानन्द प्रभुने स्वप्नमें कविराज गोस्वामीको दर्शन दिया था––ऐसा उन्होंने उल्लेख किया है (चै.च.आ.५.१५८,१५९)। इसी प्रसंगमें श्रीनिताई चाँदकी कृपाके सम्बन्धमें उन्होंने विस्तारसे वर्णन किया है (चै. च. आ. ५.१६०-१७४)। यदि कभी भी श्रीनिताई चाँदके प्रकटकालमें वे उनके दर्शन पाये होते, तो उसका उल्लेख अवश्य करते, ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं है। श्रीअद्वैत प्रभुके दर्शनके सम्बन्धमें भी कोई बात उन्होंने कहीं भी नहीं लिखी। इससे ऐसा लगता है कि तीनों प्रभुओंमें-से किसीके साथ भी उनके प्रकटकालमें कविराज गोस्वामीको उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। यदि महाप्रभुके अप्रकटके समय कविराज गोस्वामीकी वयस १६ वर्ष होती, तो निश्चय ही उनको उनका साक्षात्कार हुआ होता––विशेषतः श्रीनित्यानन्द प्रभुके स्वप्नादेशसे जब वे श्रीवृन्दावन जाने लगे, तो यात्राकालमें एक बार आदेश-दाता निताई चाँदकी चरण-रज निश्चय ही लेकर जाते।

इन सब कारणोंसे ऐसा लगता है कि कविराज गोस्वामीका जन्म ईस्वी-सन् १५१७ के पश्चात् ही हुआ था। और जब उनके घर में अहो-रात्रि संकीर्तन हुआ, उस समय तीनों प्रभुओंमें-से कोई भी प्रकट न थे।

उत्सवके समय कविराज गोस्वामीकी वयस १६ वर्षकी और उनके कनिष्ठ भ्राता श्यामदासकी १४ वर्षकी बतायी गयी है। १४ वर्षके बालकके लिए

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दके ईश्वरत्वके सम्बन्धमें ज्ञानवृद्ध व वयोवृद्ध एवं भजन-निष्ठ मीनकेतन रामदासके साथ वादानुवाद सम्भव नहीं लगता। इससे हमारा अनुमान है कि श्यामदास एवं कृष्णदासकी आयु उस समय और भी अधिक थी। हमारा अनुमान है कि कविराज गोस्वामीका आविर्भाव १४५० शकाब्द, ईस्वी सन् १५२८ के आस-पास हुआ होगा, जिसका स्पष्टीकरण 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतके समाप्तिकाल' शीर्षक प्रबन्धमें किया गया है।

स्वप्नादेश वृन्दावन-यात्रा—जो हो, अहो-रात्रि-संकीर्तन उत्सवके समय श्रीनित्यानन्द प्रभुके प्रति किंचित् श्रद्धाका अभाव प्रकाश करनेके लिए अपने कनिष्ठ भ्राता श्यामदासकी भर्त्सना कविराज गोस्वामीने की, इससे श्रीनित्यानन्द प्रभुने प्रसन्न होकर रात्रिको उनको स्वप्नादेश दिया—

अये अये कृष्णदास! ना कर त भय।
वृन्दावने जाह, ताहाँ सर्व्व लभ्य हय॥ चै. च. आ. ५. १७३

श्रीनित्यानन्द प्रभुके अन्तर्धान होनेके बाद कविराज गोस्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। स्वप्न-भंग होते ही देखा कि प्रभातकाल हो गया है, तब उन्होंने स्वप्नादेशके विषयमें विशेष विवेचना की और तदनुसार श्रीबृन्दावनकी यात्रा की। श्रीबृन्दावन पहुँचकर वे श्रीरूप आदि गोस्वामीवर्गके शरणापन्न हुए, उन लोगोंने भी कृपा करके उनको अङ्गीकार किया और अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनको भक्ति-शास्त्रादिकी शिक्षा देने लगे। कविराज गोस्वामीने लिखा है—

श्रीरूप, सनातन, भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव, गोपाल भट्ट, दास रघुनाथ॥
एइ छय गुरु,—शिक्षागुरु जे आमार।
ताँ सभार पादपद्मे कोटि नमस्कार॥ चै.च.आ. १.१८,१९

ग्रन्थ प्रणयन—श्रीपाद गोस्वामीगणके प्रसादसे कविराज गोस्वामीने सब शास्त्रोंमें व्युत्पत्ति प्राप्त की थी। श्रीचैतन्यचरितामृत ही उनकी ज्ञान-गरिमाका अक्षय-कीर्तिस्तम्भ है। श्रीचैतन्यचरितामृतके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ वे लिख गये हैं, उनमें श्रीराधागोविन्दकी अष्टकालीय-लीलात्मक 'श्रीगोविन्दलीला-मृतम्' नामक संस्कृत काव्य एवं विल्वमङ्गल कृत 'श्रीकृष्णकर्णामृत' की सारङ्गरङ्गदा नाम्नी संस्कृत टीका ही वैष्णव जगतमें विशेष प्रचलित है। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ उनकी अन्तिम कृति लगती है।

चैतन्यचरितामृत रचनाके लिए वैष्णवादेश——श्रीमन् महाप्रभुकी लीलाके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतके पूर्व और भी कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। उनमें मुरारि गुप्तका कड़चा (श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्), कवि कर्णपूरका श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक एवं श्रीचैतन्यचरितामृत-महाकाव्यम्, लोचनदास ठाकुर का श्रीचैतन्यमङ्गल एवं बृन्दावनदास ठाकुरकी श्रीचैतन्यभागवत ही विशेष प्रचलित है। इनमें-से भी बृन्दावनदास ठाकुरकी श्रीचैतन्यभागवतको ही बृन्दावनवासी वैष्णवगण विशेष प्रीतिके साथ पढ़ा करते; किन्तु किसी भी ग्रन्थमें श्रीमन् महाभुकी अन्त्यलीला विशेष रूपसे वर्णित न होनेके कारण गौरगत-प्राण वैष्णव-मण्डलीको गौरलीला-रसास्वादनकी पिपासाकी तृप्ति नहीं होती। क्रमसे उनकी उत्कण्ठा बढ़ने लगी। अन्तमें उनमें अति वृद्ध कविराज गोस्वामीको ही प्रभुकी शेषलीला वर्णन करनेके लिए अनुरोध किया। इन वैष्णवोमें-से श्रीगोविन्ददेवजीके सेवक पण्डित श्रीहरिदासने ही अग्रणी बनकर कविराज गोस्वामीको ग्रन्थ प्रणयनके लिए आदेश दिया। ये थे श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामीके अनुशिष्य एवं श्रीअनन्त आचार्यके शिष्य। पण्डित श्रीहरिदासके साथ इस कार्यमें और जिन्होंने योगदान किया, उनमें श्रीकाशीश्वर गोस्वामीके शिष्य श्रीगोविन्द गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामीके संगी श्रीयादवाचार्य गोस्वामी, श्रीभूगर्भ गोस्वामी एवं उनके शिष्य गोविन्द-पूजक श्रीचैतन्यदास, श्रीमुकुन्दानन्द चक्रवर्ती, श्रीप्रेमीकृष्णदास एवं आचार्य गोस्वामीके शिष्य श्रीशिवानन्द चक्रवर्तीके ही नाम श्रीचैतन्यचरितामृतमें उल्लिखित हुए हैं। (चै. च. आ. ८.४५-७२)।

श्रीमदनगोपालका आदेश——कविराज गोस्वामी उस समय बहुत वृद्ध थे, आँखोंसे अच्छी प्रकार देख भी नहीं पाते थे, कानसे ठीकसे सुनते भी नहीं थे, लिखनेमें हाथ भी काँपते थे। (चै.च.अं. २०-८४, ८५)। वैष्णवोंका आदेश हुआ है तो क्या करें?——यह निश्चय नहीं कर पानेके कारण श्रीमदनगोपालजीके मन्दिरमें गये। वहाँ पर गोसाईंदास नामके एक वैष्णव श्रीमदनगोपालजीकी सेवामें नियुक्त थे। कविराज गोस्वामीने वहाँ जाकर श्रीमदनगोपालजीके चरणोंमें प्रणत होकर अपने कर्त्तव्यके सम्बन्धमें श्रीमदनगोपालजीसे आदेशकी प्रार्थना की। अकस्मात् श्रीमदनगोपालजीके कण्ठसे फूलोंकी एक माला खिसक पड़ी, जिसको गोसाईंदास पुजारीने लाकर कविराज गोस्वामीके गलेमें पहना दी। कविराज गोस्वामीने माना कि मालादानका प्रसाद ग्रन्थ प्रणयनके लिए श्रीमदनगोपालजीका आदेश है और अत्यन्त आनन्दित चित्तसे वहीं उन्होंने ग्रन्थारम्भ कर दिया। (चै.च.आ. ८.७०-७२)।

श्रीचैतन्यचरितामृत तीन खण्डमें पूर्ण हुआ है। श्रीमन् महाप्रभुके जन्मसे लेकर संन्यासके पूर्व तककी लीला आदिलीला-खण्डमें है, संन्याससे लेकर नीलाचलवासके प्रथम ६ वर्षोंकी लीला मध्यलीलामें है, और शेष १८ वर्षकी लीला अन्त्यलीलामें वर्णित है। आदिलीलामें १७ परिच्छेद, मध्यलीलामें २५ परिच्छेद एवं अन्त्यलीलामें २० परिच्छेद हैं।

ग्रन्थका उपादान संग्रह--कविराज गोस्वामीने श्रीमन् महाप्रभुकी जिन लीलाओंका अपने ग्रन्थमें वर्णन किया है, उनको उन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष नहीं किया था। उनका यह ग्रन्थ भी प्रभुके अप्रकट होनेके बहुत पीछे लिखा गया था। अतः उन्होंने केवल अनुमान और कल्पनाके आधारपर इस ग्रन्थका प्रणयन किया हो--ऐसी बात नहीं है। प्रत्यक्षदर्शी लोगोंके वर्णन और उक्तिसे ही उन्होंने ग्रन्थका उपादान संग्रह किया है। बृन्दावनदास ठाकुरकी श्रीचैतन्यभागवत, मुरारि गुप्तका श्रीचैतन्यचरितामृत काव्य, स्वरूप दामोदरका कड़चा, दास-गोस्वामीकी स्तवमाला, कविकर्णपूरका श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक एवं श्रीचैतन्य-चरितामृत महाकाव्य आदि ग्रन्थ एवं श्रीरूप, सनातनदास गोस्वामी आदि गौर-पार्षदोंके मौखिक वर्णन कविराज गोस्वामीका प्रधान अवलम्बन रहा है। श्रीचैतन्यभागवतमें जिन सब लीलाओंका वर्णन आ गया है, कविराज गोस्वामीने उन लीलाओंका विशेष वर्णन नहीं किया, सूत्ररूपमें उल्लेख मात्र कर दिया है। श्रीचैतन्यभागवतमें जिनका वर्णन नहीं आया, उन्हींका उन्होंने विस्तृत रूपसे वर्णन किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतका विशेषत्व--श्रीचैतन्यचरितामृतमें जीवनाख्यानकी अपेक्षा दार्शनिकतत्त्वकी आलोचना ही अधिक है। गौड़ीय-वैष्णव-धर्मके सम्पूर्ण मूलतत्त्व इस ग्रन्थमें सन्निवेश हुए हैं। इस ग्रन्थको सम्पूर्ण गोस्वामी-शास्त्रका सार कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं है। यह वैष्णव सिद्धांत सम्पुट है। इसीलिए यह अपूर्व ग्रन्थ वैष्णवोंके लिए परम आदरणीय, वेदवत् मान्य है। यह बंगला-साहित्य भण्डारका भी एक अपूर्व रत्नविशेष है। कवित्वके साथ-साथ दार्शनिक-तत्त्वालोचनका ऐसा सुन्दर और सरस समावेश अन्य कहीं भी है या नहीं, इसका पता नहीं। इस गौर-लीला-रस-निषिक्त ग्रन्थकी और एक अद्भुत विशिष्ठता यह है कि इसका जितना भी पाठ किया जाय, उतनी ही पाठकी आकांक्षा बढ़ती रहती है, उतना ही अधिकतर रूपमें इसका माधुर्य अनुभव होता रहता है। कविराज गोस्वामीने लिखा है--

जेवा नाहि बुझे केह, शुनिते शुनिते सेह,
कि अद्भुत चैतन्य चरित।
कृष्णे उपजीवे प्रीति, जानिवे रसेर रीति,
शुनिलेइ हय बड़ हित। चै.च.म. २.७६

इस बंगला ग्रन्थकी संस्कृत टीका लिखकर श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती इसकी अपूर्व विशेषताका एक स्थायी निदर्शन छोड़ गये।

कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु—कविराज गोस्वामीने किनसे दीक्षा ली, यह विचार-सापेक्ष है। श्रीचैतन्यचरितामृतके—

श्रीनित्यानन्द राय प्रभुर स्वरूप प्रकाश।
ताँर पादपद्म वन्दो जाँर मुञि दास॥
आदिलीला १.२२

इस पयार छन्दके आधारपर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादका कहना है कि श्रीनित्यानन्द प्रभु ही कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु हैं। कविराज गोस्वामी स्वयं ही आगे जाकर लिख गये हैं—

श्रीरघुनाथ श्रीगुरु श्रीजीवचरण॥ अं. २०.८८
श्रीगुरु श्रीरघुनाथ श्रीजीवचरण॥ अं. २०.१३६

इससे किसी-किसीकी मान्यता है कि श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु हैं।

'नित्यानन्द राय प्रभुर स्वरूप प्रकाश' इत्यादि छन्दका वाक्य 'जार मुञि-दास' और 'स्वरूप-प्रकाश' शब्दके अन्तर्गत 'प्रकाश' शब्दका पारिभाषिक अर्थ ग्रहण करके ही चक्रवर्तीपादने सिद्धांत किया है कि श्रीनित्यानन्द प्रभु कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु हैं ; कारण, दीक्षागुरुको ही श्रीकृष्णका प्रकाश माननेकी बात कविराज गोस्वामी लिख गये हैं।

यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास।
तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश॥
चै.च. आ. १.२६

श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीमन् महाप्रभुके 'प्रकाश' नहीं हैं, 'विलास' हैं, तथापि कविराज गोस्वामीका उनको 'प्रकाश' कहकर वर्णन करनेसे चक्रवर्तीपादने

अनुमान किया है कि श्रीनित्यानन्द उनके दीक्षागुरु हैं। किन्तु इस पयारकी टीकामें हमने बताया है कि 'तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश'––इस पयारमें दीक्षागुरुको जो श्रीचैतन्यका 'प्रकाश' बताया है, वह 'पारिभाषिक 'प्रकाश' नहीं है। प्रत्येकके गुरु ही यदि श्रीचैतन्यके पारिभाषिक प्रकाश हों, तो उनकी आकृति-वर्ण-वेश-भूषादि सभी अविकल श्रीचैतन्यकी तरहके होते। जब ऐसा नहीं है, और हो भी नहीं सकता, एवं श्रीगुरुदेव जब स्वरूपतः श्रीभगवान्‌के प्रियतम भक्त हैं, (इस पयारकी टीका देखिये), तब निश्चय ही समझना होगा कि दीक्षागुरुको श्रीभगवान्‌का पारिभाषिक प्रकाश न मानकर, 'प्रकाश' शब्दको साधारण अर्थमें आविर्भाव ही मानना चाहिये। वस्तुतः आदिलीलाके १.२२ एवं १.२६ एवं १.३५ पयार छन्दोंमें कविराज गोस्वामीने 'आविर्भावके अर्थमें ही 'प्रकाश' शब्दका प्रयोग किया है––ऐसा मानना पड़ता है, नहीं तो अनेक विरोध उपस्थित हो सकते हैं।

जो हो, आदिलीला १.२२ पयारमें 'स्वरूप प्रकाश' शब्दका यदि 'स्वरूपका आविर्भाव' अर्थ ग्रहण किया जाय, तब केवल 'मुञि जाँर दास'––वाक्यसे श्रीनित्यानन्दको कविराज गोस्वामीका दीक्षागुरु कहनेका विशेष हेतु नहीं रहता। कोई भी भक्त अपनेको श्रीनित्यानन्दका दास मान सकता है। और श्रीनित्यानन्द हैं भी स्वरूपतः श्रीचैतन्यके आविर्भाव ही––'विलासरूप आविर्भाव'।

पहले बताया जा चुका है कि श्रीनित्यानन्दके प्रकटकालमें, उनके साथ कविराज गोस्वामीका साक्षात्कार हुआ था, इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। साक्षात् हुए बिना दीक्षा-ग्रहण सम्भव नहीं। अतएव श्रीनित्यानन्द प्रभुको कविराज गोस्वामीका दीक्षागुरु मानना कहाँ तक संगत है, कहा नहीं जा सकता।

पक्षान्तरमें, अन्त्यलीलाके २०वें परिच्छेदके (८८ और १३६) दोनों पयारों-में कविराज गोस्वामी स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें श्रीरघुनाथको 'गुरु' बता रहे हैं। अतएव श्रीरघुनाथ ही उनके दीक्षागुरु हैं, ऐसा ही लगता है। किन्तु कौनसे रघुनाथ? रघुनाथदास स्वामी? या रघुनाथ भट्ट गोस्वामी?

श्रीमन् महाप्रभुके अनुगत वैष्णव सम्प्रदायमें 'कविराज-परिवार' नामसे परिचित एक प्राचीन परिवार है। इस परिवारके प्रतिष्ठाता कवीश्वर श्रीरूप कविराज गोस्वामी सुप्रसिद्ध वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादके सम-सामयिक एवं आत्मीय रहे, ऐसा सुना जाता है। इस कविराज-परिवारकी गुरु-प्रणालिका देखनेसे पता लगता है कि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीरूप

कविराज गोस्वामीके परमगुरु एवं श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामीके शिष्य थे। गुरु परम्परा प्राप्त एक प्राचीन वैष्णव-परिवारकी गुरु प्रणालिकाको अविश्वास करनेका कोई भी हेतु नहीं दीखता--विशेषतः जब यह श्रीचैतन्यचरितामृतके पयार छन्दके अनुकूल है। इससे हमको लगता है श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी ही श्रीकृष्णदास कविराजके दीक्षागुरु थे।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीकृत 'श्रीमद् रघुनाथ-भट्ट-गोस्वाम्यष्टकम्' नामक एक अष्टक-स्तोत्र मिला है। उसमें कविराज गोस्वामीने स्वयं ही लिखा है कि श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी ही उनके दीक्षागुरु हैं। अष्टकके दो श्लोकोंमें इस विषयमें स्पष्ट उल्लेख है। कविराज गोस्वामीने लिखा है--

मह्यं स्वपदाश्रयं करुणया दत्वा पुनस्तत् क्षणात्
श्रीमद्रूपपदारविन्दमतुलं मामार्पितः स्वाश्रयात्।
नित्यानन्दकृपाबलेन यमहं प्राप्य प्रकृष्टोऽभवं
तं श्रीमद्रघुनाथभट्टमनिशं प्रेम्णा भजे साग्रहम्॥

अर्थ--जिन्होंने करुणावश मुझे अपने चरणोंमें आश्रय प्रदान करके, उसी समय मेरे आश्रय-स्वरूप श्रीमद् रूप गोस्वामीके चरण-कमलोंमें अर्पण किया एवं श्रीमन् नित्यानन्दके कृपा-बलसे जिनको पाकर मैं कृतार्थ हो गया, प्रेम और आग्रहके सहित दिन-रात मैं उन्हीं श्रीमद् रघुनाथ भट्ट गोस्वामीका भजन करता हूँ।

इस श्लोकमें 'मह्यं स्वपदाश्रयं करुणया दत्वा' वाक्यसे दीक्षाकी बात जान पड़ती है। इसके परवर्ती श्लोकमें स्पष्ट रूपसे ही वे भट्ट गोस्वामीको अपना गुरु उल्लेख करते हैं।

यः कोऽपि प्रपठेदिदं मम गुरोः प्रीत्याष्टकं प्रत्यहं
श्रीरूपः स्वपदारविन्दमतुलं दत्वा पुनस्तत् क्षणात्।
तस्मै श्रीव्रजकानने व्रजयुवद्वन्द्वस्य सेवामृतं
सम्यग् यच्छति साग्रहं प्रियतरं नान्यद् यतो भो नमः॥

अर्थ--जो प्रीतिके सहित प्रतिदिन मेरे गुरुका यह अष्टक पाठ करेंगे, श्रीरूप गोस्वामी तत्क्षण उनको अतुलनीय अपने पदारविन्द दान करके वृन्दावनमें व्रजयुवद्वन्द्वका सेवामृत--जिससे प्रियतर और कुछ नहीं है, वह सेवामृत--आग्रहके साथ सम्यक् प्रकारसे दान करते रहते हैं।

दैन्य--कविराज गोस्वामीका पाण्डित्य एवं भजननिष्ठा आदर्श-स्थानीय है और उनका दैन्य एवं विनय भी आदर्श स्थानीय है। सर्वोत्तम होकर भी अपने सम्बन्धमें लिखते हैं--

जगाइ-माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।
पुरुषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥
मोर नाम शुने जेइ, तार पुण्य क्षय।
मोर नाम लये जेइ, तार पाप हय॥

चै.च.आ. ५.१८३, १८४

असाधारण पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ पूर्ण करके उन्होंने लिखा है--

आमि लिखि एहो मिथ्या करि अभिमान।
आमार शरीर काष्ठ पुतलि समान॥
वृद्ध जरातुर आमि अन्ध बधिर।
हस्त हाले, मनोबुद्धि नहे मोर स्थिर॥
नाना रोगे ग्रस्त, चलिते-बसिते ना पारि।
पंच रोगेर पीड़ाय व्याकुल, रात्रि दिने मरि॥
पूर्व्वग्रन्थे इहा करियाछि निवेदन।
तथापि लिखिये, शुन इहार कारण॥
श्रीगोविन्द श्रीचैतन्य श्रीनित्यानन्द।
श्रीअद्वैत श्रीगुरु (आर) श्रीश्रोतावृन्द॥
श्रीस्वरूप श्रीरूप श्रीसनातन।
श्रीरघुनाथ श्रीगुरु श्रीजीव चरण॥
इहा सभार चरण-कृपाय लेखाय आमारे।
आर एक हय--तेहा अति कृपा करे॥
श्रीमदनगोपाल मोरे लिखाय आज्ञा करि।
कहिते ना जुयाय, तभु रहिते ना पारि॥

चै.च.अं. २०.८३-९०

ग्रन्थ पूर्ण--१५३७ शकाब्दके ज्येष्ठ मासकी कृष्णा पंचमी रविवारके दिन इस ग्रन्थका लेखन पूर्ण हुआ।

श्रीरामानन्द राय

जातिके शूद्र (म. ७. ६२, ८. १६) पिताका नाम भवानन्द राय; पाँच भाई—रामानन्द, गोपीनाथ, कलानिधि, सुधानिधि, वाणीनाथ।

श्रीमन् महाप्रभु भवानन्दको पाण्डु और पाँचों भाइयोंको पञ्च-पाण्डव कहा करते थे (आदिलीला १०. १३०-१३२)। पाँचों भाइयोंमें रामानन्द राय ज्येष्ठ थे। राजा प्रतापरुद्रके आधीन राजमहिन्द्रीके ये शासक थे (अन्त्यलीला ६.१२०)। इनका निवास एवं मुख्य कार्यालय गोदावरी तीरस्थ विद्यानगरमें था (मध्यलीला ७.६१)।

सार्वभौम भट्टाचार्यके अनुरोधपर श्रीमन्महाप्रभु दक्षिण-यात्रामें जाते हुए इनसे मिले थे। उसी समय इनसे जिस प्रकार संग और वार्तालाप हुआ, उसीका पूरा विवरण इस ग्रन्थमें है।

महाप्रभुने इच्छा प्रकट की कि ये नीलाचल आकर उनके साथ रहें। दक्षिणसे लौटती यात्रामें श्रीमन् महाप्रभु जब इनसे मिले तब इन्होंने नीलाचल रहनेकी राजाज्ञा प्राप्त कर ली और शीघ्र नीलाचल पहुँच जायेंगे—यह बात महाप्रभुजीको बतायी।

राजा प्रतापरुद्रने रामानन्द रायसे यह जानकर कि राज कार्य छोड़-कर श्रीमन्महाप्रभुजीके चरणोंमें रहना चाहते हैं, उनको इसके लिए सहर्ष अनुमति दे दी और साथ ही यह छूट भी दी कि उन्हें कोई राजकार्य न करनेपर भी पूरा वेतन मिलता रहेगा और वे निश्चित होकर प्रभुकी सेवामें लगे रहे (म. ११. १८-१६)।

राजाको महाप्रभुके प्रति इतना आकर्षण था कि यदि वे उनकी कृपा प्राप्त नहीं कर सके तो जीवन नहीं रख पायेंगे। महाप्रभुजीने स्पष्ट इंकार कर दिया था कि वे संन्यासी होकर विषयीसे नहीं मिलेंगे और कोई भी इसके लिए आग्रह करेगा तो वे नीलाचल छोड़कर चले जायेंगे। किन्तु रामानन्द रायके प्रति राजाका व्यवहार देखकर उनका मन राजाके प्रति कुछ बदला और उन्होंने रामानन्दसे कहा—

............तुमि कृष्ण-भक्त प्रधान ।
तोमाते जे प्रीति करे सेइ भाग्यवान् ॥
तोमाते एनेक प्रीति हइल राजार ।
एइ गुणे कृष्ण तारे करिबे अंगीकार ॥ म.११.२२,२३

इस प्रकार रथयात्राके अवसरपर रामानन्द रायके प्रयत्नसे श्रीमन् महाप्रभुकी राजापर कृपा हुई, जिसका विस्तृत विवरण श्रीचैतन्य चरितामृतमें रथयात्रा उत्सव प्रसंगमें देखिये।

रामानन्द राय परम भागवत, महाप्रेमिक, परम पण्डित, रसज्ञ भक्त थे। इन्होंने **'जगन्नाथ वल्लभ'** नामक एक कृष्णलीला नाटककी रचना की थी। श्रीजगन्नाथ देवके सम्मुख उसके अभिनयके लिए देवदासियोंको स्वयं शिक्षा दिया करते थे। ये प्रभुके अत्यन्त मरमी पार्षद थे। प्रभु स्वयं भी इनसे कृष्णकथा सुना करते और भक्तोंको भी सुनाया करते।

अपने रसज्ञ भक्त प्रद्युम्न मिश्रको महाप्रभुने रामानन्द रायके पास एक दिन श्रीकृष्ण कथा सुननेको भेजा। वहाँ जाकर उनको पता लगा कि रामानन्द एकान्तमें किशोर अवस्थाकी, नृत्य-गीतमें निपुण सुन्दरी देव-दासियोंको अपने नाटकके अभिनयकी शिक्षा दे रहे हैं और अपने हाथसे उनको स्नानादि कराकर सुन्दर वस्त्र पहनाकर शृङ्गार आदि करके उनको अभिनयके लिये तैयार कर रहे हैं।

इसके बाद प्रद्युम्न मिश्र जब महाप्रभुसे मिले, तब उन्होंने यह वृत्तान्त महाप्रभुको सुनाया। यह सुनकर महाप्रभुने उनसे कहा—

आमित 'सन्न्यासी' आपना 'विरक्त' करि मानि ।
दर्शन रहु दूरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि ॥
तबहि विकार पाय आमार तनु मन ।
प्रकृति दर्शने स्थिर हय कोन् जन ? ॥
रामानन्द रायेर कथा शुन सर्व्वजन ।
कहि—बार कथा नाहे, आश्चर्य्य कथन ॥

एके देवदासी आर सुन्दरी रमणी ।
तार सब अङ्ग सेवा करेन आपनि ॥
स्नानादि कराय, पराय बास - विभूषण ।
गुह्य अङ्गे हय ताहा दर्शन - स्पर्शन ॥
तबू निर्विकार राय रामानन्देर मन ।
नाना भावोद्गार तारे कराय शिक्षण ॥
निर्व्विकार देह - मन काष्ठ - पाषाण - सम ।
आश्चर्य्य तरुणी स्पर्शे निर्व्विकार मन ॥
एक रामानन्देर हय एइ अधिकार ।
ताते जानि — अप्राकृत देह ताँहार ॥
ताँहार मनेर भाव तेंहो जाने मात्र ।
ताहा जानिवारे द्वितीय नाहि पात्र ॥
किन्तु शास्त्रदृष्ट्ये एक करि अनुमान ।
श्रीभागवतशास्त्र ताहाते प्रमाण ॥
व्रजवधु सङ्गे कृष्णेर रसादिविलास ।
जेइ इहा कहे शुने करिया विश्वास ॥
हृद्‌रोग काम तार तत्काले हय क्षय ।
तिनगुण क्षोभ नाहि, महाधीर हय ॥
उज्ज्वल मधुर प्रेमभक्ति सेइ पाय ।
आनन्दे कृष्णमाधुर्य्ये विहरे सदाय ॥
(अन्त्यलीला ५.३३-४५)

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥
(श्रीम. भा. १०.३३.४०)

शारदीय-महारास-लीलाका वर्णन करके श्रीशुकदेवजी इस श्लोकमें रासलीलाके श्रवण-कीर्त्तनका फल वर्णन कर रहे हैं। इस श्लोकका भाव है—जो श्रद्धान्वित होकर व्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णके सब रासादि-लीलाकी कथा निरन्तर श्रवण करते हैं, शीघ्र ही धीर अचंचल होकर भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वोत्तम जातीय भक्ति प्रतिक्षण नये-नये भावसे प्राप्तकर हृद्-रोग स्वरूप कामादि दुर्वासनाका शीघ्र ही परित्याग करते हैं अर्थात् उनकी काम-वासना नष्ट हो जाती है।

जे शुने जे पढ़े तार फल एतादृशी।
सेइ भावाविष्ट जेइ सेवे अहर्निशि ।।
तार फल कि कहिब, कहने ना जाय।
नित्यसिद्ध सेइ प्राय सिद्ध तार काय ।।
रागानुगा मार्गे जानि रायेर भजन।
सिद्ध - देह - तुल्य ताते प्राकृत नाहे मन ।।

(अन्त्यलीला ५. ४६-४८)

रामानन्द रायकी महिमाका इस प्रकार वर्णन करके महाप्रभुने प्रद्युम्न मिश्रको बताया कि मैं भी उनसे श्रीकृष्ण-कथा सुनता हूँ, तुम्हारी भी यदि श्रीकृष्ण-कथा सुननेकी इच्छा हो तो उनके पास जाओ और मेरा नाम लेना कि मैंने तुमको भेजा है। इसके बाद प्रद्युम्न मिश्र रामानन्दके पास गये और उनसे सारी कथा सुनी जो उन्होंने महाप्रभुको विद्यानगरमें सुनायी थी।

श्रीमन् महाप्रभुकी श्रीकृष्ण - वियोग - व्यथामें सान्त्वना और पुष्टिके लिए स्वरूप दामोदरके साथ रामानन्द राय भी प्रभुके पास रहकर उनको चण्डीदास और विद्यापतिके तथा गीतगोविन्दके भावोचित पद और श्लोक आदि सुनाया करते थे।

श्रीराधागोबिन्द नाथका संक्षिप्त परिचय

जन्म-तिथि—२०वीं माघ १२८५ बंगाब्द (३ फरवरी सन् १८७८ ईस्वी)
जन्म-स्थान—ग्राम—बसुदुहिता, थाना—बेगमगंज, जिला—नवाखाली
(वर्तमान पूर्व बंगाल—बंगला देश)

पिता—श्रीचन्द्रमणि नाथ

माता—श्रीमती व्रजसुन्दरी देवी

परिणय—सन् १८९२ ईस्वी।

शिक्षा १. मिडल इंग्लिश परीक्षा, दलाल बाजार, नवाखाली मिडिल इंग्लिश स्कूलसे दी जिसमें प्रथम उत्तीर्ण होकर छात्रवृत्ति प्राप्त की।

२. नवाखाली डिस्ट्रिक्ट स्कूलसे ढाका विश्वविद्यालयकी प्रवेशिका (एण्ट्रैंस) परीक्षा सन् १९०० ईस्वीमें दी, जिसमें तृतीय उत्तीर्ण हुए, पर गणितमें प्रथम।

३. जगन्नाथ कालेजसे ढाका विश्वविद्यालयकी एफ. ए. परीक्षामें सन् १९०२ में १४वाँ स्थान प्राप्त किया और छात्रवृत्ति भी प्राप्त की।

४. भाकर जेनरल असेम्बली (वर्तमान स्काटिश चर्च कॉलेज) कलकत्तासे सन् १९०४ में बी. ए. किया और गणित शास्त्रमें विशेष सम्मान (ऑनर्स) प्राप्त किया।

५. कलकत्ता विश्वविद्यालयसे सन् १९०५ में गणित शास्त्रमें एम. ए. की परीक्षा दी और ५वाँ स्थान प्राप्त किया।

शिक्षाके पश्चात्—

१. सेन्ट्रल कालेज, कलकत्तामें प्राध्यापक (प्रोफेसर) हुए। बादमें सैण्ट पाल कालेज और सी. एम. एस. कालेज, कलकत्तामें काम किया।

२. इसके बाद चटगांव गवर्नमेंट कालेज तथा कोमिल्ला विक्टोरिया कालेज - दोनोंसे आमन्त्रण आया, किन्तु इन्होंने कोमिल्ला विक्टोरिया कालेजको ही प्राथमिकता दी और वहाँ सन् १९०८ से १९२८ तक गणित-शास्त्रके सीनियर प्रोफेसर, सन् १९२९ से १९३० तक वाइस प्रिंसिपल एवं १९३१ से १९४३ तक प्रिंसिपलके पदपर काम किया। इस प्रकार लगभग ३५ वर्षों तक उन्होंने कोमिल्ला विक्टोरिया कालेजकी सेवा की।

३. इसके पश्चात् नवाखालीमें चौमुहानी कालेजमें वहाँकी व्यवस्था सुधारनेके लिए सन् १९४३ से १९४६ तक प्रिंसिपलके पदपर रहे और १९४७ में अवकाश प्राप्त किया।

४. शिक्षा-संस्थाओंकी सेवा करनेके अतिरिक्त आसाम-बंगाल योगी सम्मिलनीके सन् १९१० में अध्यक्ष बने।

शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकोंका प्रणयन—

१. स्कूलोंके विद्यार्थियोंके लिये टैक्स्ट - बुक्स कमेटी द्वारा स्वीकृत अंकगणित (अरिथमैटिक), बीजगणित (अलजेबरा) तथा ज्यामिति (ज्योमेट्री) तैयार की।

२. कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत आई. ए. कोर्सके लिये सालिड ज्योमेट्री और ट्रिग्नोमेट्रीका निर्माण किया।

वैष्णव-साहित्य प्रणयन (बंगभाषामें)

इनकी समाजको सबसे बड़ी देन है विशाल और उच्चतम वैष्णव साहित्यका प्रणयन। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथोंकी रचना की—

१. श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतकी 'गौर-कृपा-तरङ्गिणी' टीका, ६ खण्डोमें ।

भूमिका	४४० पृष्ठ
आदिलीला	७६६ पृष्ठ
मध्यलीला	१४४४ पृष्ठ (२ खण्डोंमें)
अन्त्यलीला	७७८ पृष्ठ
परिशिष्ट	५०२ पृष्ठ
योग	३९६० पृष्ठ

२. श्रीश्रीचैतन्यभागवतकी 'निताई-करुणा-कल्लोलिनी' टीका ६ खण्डोंमें।

भूमिका	३०४ पृष्ठ
आदिखण्ड	४५९ पृष्ठ
मध्यखण्ड (१)	४७७ पृष्ठ
मध्यखण्ड (२)	३६९ पृष्ठ
अन्त्यखण्ड	३९२ पृष्ठ
परिशिष्ट	३९४ पृष्ठ
योग	२३६६ पृष्ठ

३. महाप्रभु श्रीगौराङ्ग —१२६९ पृष्ठ

४. गौड़ीय वैष्णव-दर्शन —३८०५ पृष्ठ (५ खण्डोंमें)

५. श्रीमद्भागवतकी गौर - करुणा - मन्दाकिनी टीका

भूमिका	३९० पृष्ठ
प्रथम स्कन्ध	९६४ पृष्ठ
द्वितीय स्कन्ध	५१० पृष्ठ

अस्वस्थ रहनेके कारण भक्तोंके अनुरोधपर द्वितीय स्कन्धके बाद इन्होंने दशम् स्कन्धकी टीका लिखनी आरम्भ की जो ३०वें अध्यायके ८वें श्लोक तक ही लिखी गयी थी, जब इन्होंने लीला संवरण की। दशम् स्कन्ध अभी प्रकाशित नहीं हो पाया है।

६. गौर-तत्त्व (अप्राप्य)

(आंग्लभाषामें)

७. *Shri Chaitanya Movement*—published by Ramakrishna Mission.

८. अंग्रेजी पत्रिका The Cultural Heritage of India तथा समाज, योगिसखा, सोनार गौराङ्ग, साधना, विष्णुप्रिया - गौराङ्ग आदि बंगला पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित लेख।

सन् १९५५ में इन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सरोजनी वसु स्वर्ण पदक प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं द्वारा इन्हें जिन उपाधियोंसे विभूषित किया गया उनकी सूची इस प्रकार है : –

१. नवद्वीप पण्डित मण्डली द्वारा—विद्या-वाचस्पति
२. मध्व गौड़ेश्वर पीठ, वृन्दावन द्वारा—भक्तिसिद्धान्त-रत्न
३. सिंधी वैष्णव-सम्मेलिनी, २४-परगना द्वारा—भागवत-भूषण
४. राधाकुण्ड और गोवर्धनके वैष्णव समाज द्वारा—भक्तिभूषण
५. वैष्णव थियोलोजिकल यूनिवर्सिटी, वृन्दावन द्वारा—सन् १९५६ में—डी. लिट.
६. पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा सन् १९५९-६० में—रवीन्द्र पुरस्कार
७. कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६९ में—डी. लिट.
८. रवीन्द्र भारती, कलकत्ता द्वारा सन् १९७० में—डी. लिट.

कोमिल्ला बैंक और नाथ बैंक आदिकी स्थापनामें भी इनका प्रमुख भाग रहा।

इस प्रकार अन्त समय तक विभिन्न कार्य - कलापोंमें व्यस्त रहते हुए ये १५वीं अग्रहायण, बंगाब्द १३७७ (दिसम्बर १, १९७०) के दिन लीला संवरण कर भगवद्धामको पधारे।

फेंककर चले गये। भाईके व्यवहारसे दुःखित होकर कविराज गोस्वामीने भी उनकी भर्त्सना की थी। (चै. च. आ. १५३-१५६)।

इस विवरणसे स्पष्ट है कि जब मीनकेतन रामदास कविराज गोस्वामीके घर आये थे, उसके पहलेसे ही श्रीगौर-नित्यानन्दके प्रति उनकी अत्यन्त श्रद्धा भक्ति थी। अहो-रात्रि संकीर्तनके उपलक्षमें बहुतसे वैष्णव उनके घर आये थे--इससे भी समझा जा सकता है कि इस समयके पूर्वसे ही कविराज गोस्वामी परम वैष्णव थे।

जो हो, ईस्वी सन् १५१७ या १४३९ शकाब्दमें यदि कविराज गोस्वामीका जन्म हुआ हो, तो उनके संकीर्तनोत्सवके समय श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैत प्रभु तो प्रकट थे ही; किन्तु श्रीमन् महाप्रभु भी या तो प्रकट रहे, और यदि न भी रहे हों तो अधिक दिन पूर्व अप्रकट नहीं हुए थे। यदि ऐसा हो तो कविराज गोस्वामी जैसे परम वैष्णव क्या उसके पूर्व किसी भी समय श्रीमन् महाप्रभुके श्रीचरण दर्शन करनेके लिए चेष्टा नहीं करते? कभी भी उन्होंने श्रीमन् महाप्रभुके दर्शन पाये हों, ऐसा कोई संकेत भी सम्पूर्ण चरितामृतमें खोजने पर भी नहीं मिलता।

मीनकेतन रामदासके क्रुद्ध होकर चले जानेके बाद, उसी रात्रिको श्रीमन् नित्यानन्द प्रभुने स्वप्नमें कविराज गोस्वामीको दर्शन दिया था--ऐसा उन्होंने उल्लेख किया है (चै.च.आ.५.१५८,१५९)। इसी प्रसंगमें श्रीनिताई चाँदकी कृपाके सम्बन्धमें उन्होंने विस्तारसे वर्णन किया है (चै. च. आ. ५.१६०-१७४)। यदि कभी भी श्रीनिताई चाँदके प्रकटकालमें वे उनके दर्शन पाये होते, तो उसका उल्लेख अवश्य करते, ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं है। श्रीअद्वैत प्रभुके दर्शनके सम्बन्धमें भी कोई बात उन्होंने कहीं भी नहीं लिखी। इससे ऐसा लगता है कि तीनों प्रभुओंमें-से किसीके साथ भी उनके प्रकटकालमें कविराज गोस्वामीको उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। यदि महाप्रभुके अप्रकटके समय कविराज गोस्वामीकी वयस १६ वर्ष होती, तो निश्चय ही उनको उनका साक्षात्कार हुआ होता--विशेषतः श्रीनित्यानन्द प्रभुके स्वप्नादेशसे जब वे श्रीवृन्दावन जाने लगे, तो यात्राकालमें एक बार आदेश-दाता निताई चाँदकी चरण-रज निश्चय ही लेकर जाते।

इन सब कारणोंसे ऐसा लगता है कि कविराज गोस्वामीका जन्म ईस्वी-सन् १५१७ के पश्चात् ही हुआ था। और जब उनके घर में अहो-रात्रि संकीर्तन हुआ, उस समय तीनों प्रभुओंमें-से कोई भी प्रकट न थे।

उत्सवके समय कविराज गोस्वामीकी वयस १६ वर्षकी और उनके कनिष्ठ भ्राता श्यामदासकी १४ वर्षकी बतायी गयी है। १४ वर्षके बालकके लिए

श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दके ईश्वरत्वके सम्बन्धमें ज्ञानवृद्ध व वयोवृद्ध एवं भजन-निष्ठ मीनकेतन रामदासके साथ वादानुवाद सम्भव नहीं लगता। इससे हमारा अनुमान है कि श्यामदास एवं कृष्णदासकी आयु उस समय और भी अधिक थी। हमारा अनुमान है कि कविराज गोस्वामीका आविर्भाव १४५० शकाब्द, ईस्वी सन् १५२८ के आस-पास हुआ होगा, जिसका स्पष्टीकरण 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतके समाप्तिकाल' शीर्षक प्रबन्धमें किया गया है।

स्वप्नादेश वृन्दावन-यात्रा--जो हो, अहो-रात्रि-संकीर्तन उत्सवके समय श्रीनित्यानन्द प्रभुके प्रति किंचित् श्रद्धाका अभाव प्रकाश करनेके लिए अपने कनिष्ठ भ्राता श्यामदासकी भर्त्सना कविराज गोस्वामीने की, इससे श्रीनित्यानन्द प्रभुने प्रसन्न होकर रात्रिको उनको स्वप्नादेश दिया--

अये अये कृष्णदास ! ना कर त भय।
वृन्दावने जाह, ताहाँ सर्व्व लभ्य हय ॥ चै. च. आ. ५. १७३

श्रीनित्यानन्द प्रभुके अन्तर्धान होनेके बाद कविराज गोस्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। स्वप्न-भंग होते ही देखा कि प्रभातकाल हो गया है, तब उन्होंने स्वप्नादेशके विषयमें विशेष विवेचना की और तदनुसार श्रीबृन्दावनकी यात्रा की। श्रीबृन्दावन पहुँचकर वे श्रीरूप आदि गोस्वामीवर्गके शरणापन्न हुए, उन लोगोंने भी कृपा करके उनको अङ्गीकार किया और अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनको भक्ति-शास्त्रादिकी शिक्षा देने लगे। कविराज गोस्वामीने लिखा है--

श्रीरूप, सनातन, भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव, गोपाल भट्ट, दास रघुनाथ ॥
एइ छय गुरु,—शिक्षागुरु जे आमार।
ताँ सभार पादपद्मे कोटि नमस्कार ॥ चै.च.आ. १.१८,१९

ग्रन्थ प्रणयन—श्रीपाद गोस्वामीगणके प्रसादसे कविराज गोस्वामीने सब शास्त्रोंमें व्युत्पत्ति प्राप्त की थी। श्रीचैतन्यचरितामृत ही उनकी ज्ञान-गरिमाका अक्षय-कीर्तिस्तम्भ है। श्रीचैतन्यचरितामृतके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ वे लिख गये हैं, उनमें श्रीराधागोविन्दकी अष्टकालीय-लीलात्मक 'श्रीगोविन्दलीलामृतम्' नामक संस्कृत काव्य एवं विल्वमङ्गल कृत 'श्रीकृष्णकर्णामृत' की सारङ्गरङ्गदा नाम्नी संस्कृत टीका ही वैष्णव जगतमें विशेष प्रचलित है। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ उनकी अन्तिम कृति लगती है।

चैतन्यचरितामृत रचनाके लिए वैष्णवादेश——श्रीमन् महाप्रभुकी लीलाके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतके पूर्व और भी कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। उनमें मुरारि गुप्तका कड़चा (श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्), कवि कर्णपूरका श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक एवं श्रीचैतन्यचरितामृत-महाकाव्यम्, लोचनदास ठाकुर का श्रीचैतन्यमङ्गल एवं बृन्दावनदास ठाकुरकी श्रीचैतन्यभागवत ही विशेष प्रचलित हैं। इनमें-से भी बृन्दावनदास ठाकुरकी श्रीचैतन्यभागवतको ही बृन्दावनवासी वैष्णवगण विशेष प्रीतिके साथ पढ़ा करते ; किन्तु किसी भी ग्रन्थमें श्रीमन् महाभुकी अन्त्यलीला विशेष रूपसे वर्णित न होनेके कारण गौरगत-प्राण वैष्णव-मण्डलीको गौरलीला-रसास्वादनकी पिपासाकी तृप्ति नहीं होती। क्रमसे उनकी उत्कण्ठा बढ़ने लगी। अन्तमें उनमें अति वृद्ध कविराज गोस्वामीको ही प्रभुकी शेषलीला वर्णन करनेके लिए अनुरोध किया। इन वैष्णवोंमें-से श्रीगोविन्ददेवजीके सेवक पण्डित श्रीहरिदासने ही अग्रणी बनकर कविराज गोस्वामीको ग्रन्थ प्रणयनके लिए आदेश दिया। ये थे श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामीके अनुशिष्य एवं श्रीअनन्त आचार्यके शिष्य। पण्डित श्रीहरिदासके साथ इस कार्यमें और जिन्होंने योगदान किया, उनमें श्रीकाशीश्वर गोस्वामीके शिष्य श्रीगोविन्द गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामीके संगी श्रीयादवाचार्य गोस्वामी, श्रीभूगर्भ गोस्वामी एवं उनके शिष्य गोविन्द-पूजक श्रीचैतन्यदास, श्रीमुकुन्दानन्द चक्रवर्ती, श्रीप्रेमीकृष्णदास एवं आचार्य गोस्वामीके शिष्य श्रीशिवानन्द चक्रवर्तीके ही नाम श्रीचैतन्यचरितामृतमें उल्लिखित हुए हैं। (चै. च. आ. ८.४५-७२)।

श्रीमदनगोपालका आदेश——कविराज गोस्वामी उस समय बहुत वृद्ध थे, आँखोंसे अच्छी प्रकार देख भी नहीं पाते थे, कानसे ठीकसे सुनना भी नहीं थे, लिखनेमें हाथ भी काँपते थे। (चै.च.अं. २०-८४, ८५)। वैष्णवोंका आदेश हुआ है तो क्या करें ?——यह निश्चय नहीं कर पानेके कारण श्रीमदनगोपालजीके मन्दिरमें गये। वहाँ पर गोसाईंदास नामके एक वैष्णव श्रीमदनगोपालजीकी सेवामें नियुक्त थे। कविराज गोस्वामीने वहाँ जाकर श्रीमदनगोपालजीके चरणोंमें प्रणत होकर अपने कर्त्तव्यके सम्बन्धमें श्रीमदनगोपालजीसे आदेशकी प्रार्थना की। अकस्मात् श्रीमदनगोपालजीके कण्ठसे फूलोंकी एक माला खिसक पड़ी, जिसको गोसाईंदास पुजारीने लाकर कविराज गोस्वामीके गलेमें पहना दी। कविराज गोस्वामीने माना कि मालादानका प्रसाद ग्रन्थ प्रणयनके लिए श्रीमदनगोपालजीका आदेश है और अत्यन्त आनन्दित चित्तसे वहीं उन्होंने ग्रन्थारम्भ कर दिया। (चै.च.आ. ८.७०-७२)।

श्रीचैतन्यचरितामृत तीन खण्डमें पूर्ण हुआ है। श्रीमन् महाप्रभुके जन्मसे लेकर संन्यासके पूर्व तककी लीला आदिलीला-खण्डमें है, संन्याससे लेकर नीलाचलवासके प्रथम ६ वर्षोंकी लीला मध्यलीलामें है, और शेष १८ वर्षकी लीला अन्त्यलीलामें वर्णित है। आदिलीलामें १७ परिच्छेद, मध्यलीलामें २५ परिच्छेद एवं अन्त्यलीलामें २० परिच्छेद हैं।

ग्रन्थका उपादान संग्रह––कविराज गोस्वामीने श्रीमन् महाप्रभुकी जिन लीलाओंका अपने ग्रन्थमें वर्णन किया है, उनको उन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष नहीं किया था। उनका यह ग्रन्थ भी प्रभुके अप्रकट होनेके बहुत पीछे लिखा गया था। अतः उन्होंने केवल अनुमान और कल्पनाके आधारपर इस ग्रन्थका प्रणयन किया हो––ऐसी बात नहीं है। प्रत्यक्षदर्शी लोगोंके वर्णन और उक्तिसे ही उन्होंने ग्रन्थका उपादान संग्रह किया है। बृन्दावनदास ठाकुरकी श्रीचैतन्यभागवत, मुरारि गुप्तका श्रीचैतन्यचरितामृत काव्य, स्वरूप दामोदरका कड़चा, दास-गोस्वामीकी स्तवमाला, कविकर्णपूरका श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक एवं श्रीचैतन्य-चरितामृत महाकाव्य आदि ग्रन्थ एवं श्रीरूप, सनातनदास गोस्वामी आदि गौर-पार्षदोंके मौखिक वर्णन कविराज गोस्वामीका प्रधान अवलम्बन रहा है। श्रीचैतन्यभागवतमें जिन सब लीलाओंका वर्णन आ गया है, कविराज गोस्वामीने उन लीलाओंका विशेष वर्णन नहीं किया, सूत्ररूपमें उल्लेख मात्र कर दिया है। श्रीचैतन्यभागवतमें जिनका वर्णन नहीं आया, उन्हींका उन्होंने विस्तृत रूपसे वर्णन किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतका विशेषत्व–श्रीचैतन्यचरितामृतमें जीवनाख्यानकी अपेक्षा दार्शनिकतत्त्वकी आलोचना ही अधिक है। गौड़ीय-वैष्णव-धर्मके सम्पूर्ण मूलतत्त्व इस ग्रन्थमें सन्निवेश हुए हैं। इस ग्रन्थको सम्पूर्ण गोस्वामी-शास्त्रका सार कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं है। यह वैष्णव सिद्धांत सम्पुट है। इसीलिए यह अपूर्व ग्रन्थ वैष्णवोंके लिए परम आदरणीय, वेदवत् मान्य है। यह बंगला-साहित्य भण्डारका भी एक अपूर्व रत्नविशेष है। कवित्वके साथ-साथ दार्शनिक-तत्त्वालोचनका ऐसा सुन्दर और सरस समावेश अन्य कहीं भी है या नहीं, इसका पता नहीं। इस गौर-लीला-रस-निषिक्त ग्रन्थकी और एक अद्भुत विशिष्ठता यह है कि इसका जितना भी पाठ किया जाय, उतनी ही पाठकी आकांक्षा बढ़ती रहती है, उतना ही अधिकतर रूपमें इसका माधुर्य अनुभव होता रहता है। कबिराज गोस्वामीने लिखा है––

जेवा नाहि बुझे केह, शुनिते शुनिते सेह,
कि अद्भुत चैतन्य चरित।
कृष्णे उपजीवे प्रीति, जानिवे रसेर रीति,
शुनिलेइ हय बड़ हित। चै.च.म. २.७६

इस बंगला ग्रन्थकी संस्कृत टीका लिखकर श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती इसकी अपूर्व विशेषताका एक स्थायी निदर्शन छोड़ गये।

कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु—कविराज गोस्वामीने किनसे दीक्षा ली, यह विचार-सापेक्ष है। श्रीचैतन्यचरितामृतके—

श्रीनित्यानन्द राय प्रभुर स्वरूप प्रकाश।
ताँर पादपद्म वन्दो जाँर मुञि दास॥
आदिलीला १.२२

इस पयार छन्दके आधारपर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादका कहना है कि श्रीनित्यानन्द प्रभु ही कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु हैं। कविराज गोस्वामी स्वयं ही आगे जाकर लिख गये हैं—

श्रीरघुनाथ श्रीगुरु श्रीजीवचरण॥ अं. २०.८८
श्रीगुरु श्रीरघुनाथ श्रीजीवचरण॥ अं. २०.१३६

इससे किसी-किसीकी मान्यता है कि श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु हैं।

'नित्यानन्द राय प्रभुर स्वरूप प्रकाश' इत्यादि छन्दका वाक्य 'जार मुञि-दास' और 'स्वरूप-प्रकाश' शब्दके अन्तगत 'प्रकाश' शब्दका पारिभाषिक अर्थ ग्रहण करके ही चक्रवर्तीपादने सिद्धांत किया है कि श्रीनित्यानन्द प्रभु कविराज गोस्वामीके दीक्षागुरु हैं; कारण, दीक्षागुरुको ही श्रीकृष्णका प्रकाश माननेकी बात कविराज गोस्वामी लिख गये हैं।

यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास।
तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश॥
चै.च. आ. १.२६

श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीमन् महाप्रभुके 'प्रकाश' नहीं हैं, 'विलास' हैं, तथापि कविराज गोस्वामीका उनको 'प्रकाश' कहकर वर्णन करनेसे चक्रवर्तीपादने

अनुमान किया है कि श्रीनित्यानन्द उनके दीक्षागुरु हैं। किन्तु इस पयारकी टीकामें हमने बताया है कि 'तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश'--इस पयारमें दीक्षागुरुको जो श्रीचैतन्यका 'प्रकाश' बताया है, वह 'पारिभाषिक 'प्रकाश' नहीं है। प्रत्येकके गुरु ही यदि श्रीचैतन्यके पारिभाषिक प्रकाश हों, तो उनकी आकृति-वर्ण-वेश-भूषादि सभी अविकल श्रीचैतन्यकी तरहके होते। जब ऐसा नहीं है, और हो भी नहीं सकता, एवं श्रीगुरुदेव जब स्वरूपतः श्रीभगवान्के प्रियतम भक्त हैं, (इस पयारकी टीका देखिये), तब निश्चय ही समझना होगा कि दीक्षागुरुको श्रीभगवान्का पारिभाषिक प्रकाश न मानकर, 'प्रकाश' शब्दको साधारण अर्थमें आविर्भाव ही मानना चाहिये। वस्तुतः आदिलीलाके १.२२ एवं १.२६ एवं १.३५ पयार छन्दोंमें कविराज गोस्वामीने 'आविर्भावके अर्थमें ही 'प्रकाश' शब्दका प्रयोग किया है--ऐसा मानना पड़ता है, नहीं तो अनेक विरोध उपस्थित हो सकते हैं।

जो हो, आदिलीला १.२२ पयारमें 'स्वरूप प्रकाश' शब्दका यदि 'स्वरूपका आविर्भाव' अर्थ ग्रहण किया जाय, तब केवल 'मुञि जाँर दास'--वाक्यसे श्रीनित्यानन्दको कविराज गोस्वामीका दीक्षागुरु कहनेका विशेष हेतु नहीं रहता। कोई भी भक्त अपनेको श्रीनित्यानन्दका दास मान सकता है। और श्रीनिन्यानन्द हैं भी स्वरूपतः श्रीचैतन्यके आविर्भाव ही--'विलासरूप आविर्भाव'।

पहले बताया जा चुका है कि श्रीनित्यानन्दके प्रकटकालमें, उनके साथ कविराज गोस्वामीका साक्षात्कार हुआ था, इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। साक्षात् हुए बिना दीक्षा-ग्रहण सम्भव नहीं। अतएव श्रीनित्यानन्द प्रभुको कविराज गोस्वामीका दीक्षागुरु मानना कहाँ तक संगत है, कहा नहीं जा सकता।

पक्षान्तरमें, अन्त्यलीलाके २०वें परिच्छेदके (८८ और १३६) दोनों पयारों-में कविराज गोस्वामी स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें श्रीरघुनाथको 'गुरु' बता रहे हैं। अतएव श्रीरघुनाथ ही उनके दीक्षागुरु हैं, ऐसा ही लगता है। किन्तु कौनसे रघुनाथ? रघुनाथदास स्वामी? या रघुनाथ भट्ट गोस्वामी?

श्रीमन् महाप्रभुके अनुगत वैष्णव सम्प्रदायमें 'कविराज-परिवार' नामसे परिचित एक प्राचीन परिवार है। इस परिवारके प्रतिष्ठाता कवीश्वर श्रीरूप कविराज गोस्वामी सुप्रसिद्ध वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादके सम-सामयिक एवं आत्मीय रहे, ऐसा सुना जाता है। इस कविराज-परिवारकी गुरु-प्रणालिका देखनेसे पता लगता है कि श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीरूप

कविराज गोस्वामीके परमगुरु एवं श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामीके शिष्य थे। गुरु परम्परा प्राप्त एक प्राचीन वैष्णव-परिवारकी गुरु प्रणालिकाको अविश्वास करनेका कोई भी हेतु नहीं दीखता—विशेषतः जब यह श्रीचैतन्यचरितामृतके पयार छन्दके अनुकूल है। इससे हमको लगता है श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी ही श्रीकृष्णदास कविराजके दीक्षागुरु थे।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीकृत 'श्रीमद् रघुनाथ-भट्ट-गोस्वाम्यष्टकम्' नामक एक अष्टक-स्तोत्र मिला है। उसमें कविराज गोस्वामीने स्वयं ही लिखा है कि श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी ही उनके दीक्षागुरु हैं। अष्टकके दो श्लोकोंमें इस विषयमें स्पष्ट उल्लेख है। कविराज गोस्वामीने लिखा है—

> मह्यं स्वपदाश्रयं करुणया दत्वा पुनस्तत् क्षणात्
> श्रीमद्रूपपदारविन्दमतुलं मामार्पितः स्वाश्रयात्।
> नित्यानन्दकृपाबलेन यमहं प्राप्य प्रकृष्टो ऽभवं
> तं श्रीमद्रघुनाथभट्टमनिशं प्रेम्णा भजे साग्रहम्॥

अर्थ—जिन्होंने करुणावश मुझे अपने चरणोंमें आश्रय प्रदान करके, उसी समय मेरे आश्रय-स्वरूप श्रीमद् रूप गोस्वामीके चरण-कमलोंमें अर्पण किया एवं श्रीमन् नित्यानन्दके कृपा-बलसे जिनको पाकर मैं कृतार्थ हो गया, प्रेम और आग्रहके सहित दिन-रात मैं उन्हीं श्रीमद् रघुनाथ भट्ट गोस्वामीका भजन करता हूँ।

इस श्लोकमें 'मह्यं स्वपदाश्रयं करुणया दत्वा' वाक्यसे दीक्षाकी बात जान पड़ती है। इसके परवर्ती श्लोकमें स्पष्ट रूपसे ही वे भट्ट गोस्वामीको अपना गुरु उल्लेख करते हैं।

> यः कोऽपि प्रपठेदिदं मम गुरोः प्रीत्याष्टकं प्रत्यहं
> श्रीरूपः स्वपदारविन्दमतुलं दत्वा पुनस्तत् क्षणात्।
> तस्मै श्रीव्रजकानने व्रजयुवद्वन्द्वस्य सेवामृतं
> सम्यग् यच्छति साग्रहं प्रियतरं नान्यद् यतो भो नमः॥

अर्थ—जो प्रीतिके सहित प्रतिदिन मेरे गुरुका यह अष्टक पाठ करेंगे, श्रीरूप गोस्वामी तत्क्षण उनको अतुलनीय अपने पदारविन्द दान करके वृन्दावनमें व्रजयुवद्वन्द्वका सेवामृत—जिससे प्रियतर और कुछ नहीं है, वह सेवामृत—आग्रहके साथ सम्यक् प्रकारसे दान करते रहते हैं।

दैन्य--कविराज गोस्वामीका पाण्डित्य एवं भजननिष्ठा आदर्श-स्थानीय है और उनका दैन्य एवं विनय भी आदर्श स्थानीय है। सर्वोत्तम होकर भी अपने सम्बन्धमें लिखते हैं--

जगाइ - माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।
पुरुषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥
मोर नाम शुने जेइ, तार पुण्य क्षय।
मोर नाम लये जेइ, तार पाप हय॥

चै.च.आ. ५.१८३, १८४

असाधारण पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ पूर्ण करके उन्होंने लिखा है--

आमि लिखि एहो मिथ्या करि अभिमान।
आमार शरीर काष्ठ पुतलि समान॥
वृद्ध जरातुर आमि अन्ध बधिर।
हस्त हाले, मनोबुद्धि नहे मोर स्थिर॥
नाना रोगे ग्रस्त, चलिते-वसिते ना पारि।
पंच रोगेर पीड़ाय व्याकुल, रात्रि दिने मरि॥
पूर्व्वग्रन्थे इहा करियाछि निवेदन।
तथापि लिखिये, शुन इहार कारण॥
श्रीगोविन्द श्रीचैतन्य श्रीनित्यानन्द।
श्रीअद्वैत श्रीगुरु (आर) श्रीश्रोतावृन्द॥
श्रीस्वरूप श्रीरूप श्रीसनातन।
श्रीरघुनाथ श्रीगुरु श्रीजीव चरण॥
इहा सभार चरण-कृपाय लेखाय आमारे।
आर एक हय—तेहा अति कृपा करे॥
श्रीमदनगोपाल मोरे लिखाय आज्ञा करि।
कहिते ना जुयाय, तभु रहिते ना पारि॥

चै.च.अं. २०.८३-९०

ग्रन्थ पूर्ण--१५३७ शकाब्दके ज्येष्ठ मासकी कृष्णा पंचमी रविवारके दिन इस ग्रन्थका लेखन पूर्ण हुआ।

श्रीरामानन्द राय

जातिके शूद्र (म. ७. ६२, ८. १९) पिताका नाम मेवानन्द राय; पाँच भाई—रामानन्द, गोपीनाथ, कलानिधि, सुधानिधि, वाणीनाथ।

श्रीमन् महाप्रभु मेवानन्दको पाण्डु और पाँचों भाइयोंको पञ्च-पाण्डव कहा करते थे (आदिलीला १०. १३०-१३२)। पाँचों भाइयोंमें रामानन्द राय ज्येष्ठ थे। राजा प्रतापरुद्रके आधीन राजमहिन्द्रीके ये शासक थे (अन्त्यलीला ९.१२०)। इनका निवास एवं मुख्य कार्यालय गोदावरी तीरस्थ विद्यानगरमें था (मध्यलीला ७.६१)।

सार्वभौम भट्टाचार्यके अनुरोधपर श्रीमन्महाप्रभु दक्षिण-यात्रामें जाते हुए इनसे मिले थे। उसी समय इनसे जिस प्रकार संग और वार्तालाप हुआ, उसीका पूरा विवरण इस ग्रन्थमें है।

महाप्रभुने इच्छा प्रकट की कि ये नीलाचल आकर उनके साथ रहें। दक्षिणसे लौटती यात्रामें श्रीमन् महाप्रभु जब इनसे मिले तब इन्होंने नीलाचल रहनेको राजाज्ञा प्राप्त कर ली और शीघ्र नीलाचल पहुँच जायेंगे—यह बात महाप्रभुजीको बतायी।

राजा प्रतापरुद्रने रामानन्द रायसे यह जानकर कि राज कार्य छोड़-कर श्रीमन्महाप्रभुजीके चरणोंमें रहना चाहते हैं, उनको इसके लिए सहर्ष अनुमति दे दी और साथ ही यह छूट भी दी कि उन्हें कोई राजकार्य न करनेपर भी पूरा वेतन मिलता रहेगा और वे निश्चित होकर प्रभुकी सेवामें लगे रहे (म. ११. १८-१९)।

राजाको महाप्रभुके प्रति इतना आकर्षण था कि यदि वे उनकी कृपा प्राप्त नहीं कर सके तो जीवन नहीं रख पायेंगे। महाप्रभुजीने स्पष्ट इन्कार कर दिया था कि वे संन्यासी होकर विषयीसे नहीं मिलेंगे और कोई भी इसके लिए आग्रह करेगा तो वे नीलाचल छोड़कर चले जायेंगे। किन्तु रामानन्द रायके प्रति राजाका व्यवहार देखकर उनका मन राजाके प्रति कुछ बदला और उन्होंने रामानन्दसे कहा—

…………तुमि कृष्ण-भक्त प्रधान ।
तोमाते जे प्रीति करे सेइ भाग्यवान् ॥
तोमाते एनेक प्रीति हइल राजार ।
एइ गुणे कृष्ण तारे करिबे अंगीकार ॥ म.११.२२,२३

इस प्रकार रथयात्राके अवसरपर रामानन्द रायके प्रयत्नसे श्रीमन् महाप्रभुकी राजापर कृपा हुई, जिसका विस्तृत विवरण श्रीचैतन्य चरितामृतमें रथयात्रा उत्सव प्रसंगमें देखिये ।

रामानन्द राय परम भागवत, महाप्रेमिक, परम पण्डित, रसज्ञ भक्त थे। इन्होंने **'जगन्नाथ वल्लभ'** नामक एक कृष्णलीला नाटककी रचना की थी। श्रीजगन्नाथ देवके सम्मुख उसके अभिनयके लिए देवदासियोंको स्वयं शिक्षा दिया करते थे। ये प्रभुके अत्यन्त मरमी पार्षद थे। प्रभु स्वयं भी इनसे कृष्णकथा सुना करते और भक्तोंको भी सुनाया करते ।

अपने रसज्ञ भक्त प्रद्युम्न मिश्रको महाप्रभुने रामानन्द रायके पास एक दिन श्रीकृष्ण कथा सुननेको भेजा। वहाँ जाकर उनको पता लगा कि रामानन्द एकान्तमें किशोर अवस्थाकी, नृत्य-गीतमें निपुण सुन्दरी देव-दासियोंको अपने नाटकके अभिनयकी शिक्षा दे रहे हैं और अपने हाथसे उनको स्नानादि कराकर सुन्दर वस्त्र पहनाकर श्रृङ्गार आदि करके उनको अभिनयके लिये तैयार कर रहे हैं ।

इसके बाद प्रद्युम्न मिश्र जब महाप्रभुसे मिले, तब उन्होंने यह वृत्तान्त महाप्रभुको सुनाया। यह सुनकर महाप्रभुने उनसे कहा—

आमित 'सन्न्यासी' आपना 'विरक्त' करि मानि ।
दर्शन रहु दूरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि ॥
तबहि विकार पाय आमार तनु मन ।
प्रकृति दर्शने स्थिर हय कोन् जन ? ॥
रामानन्द रायेर कथा शुन सर्व्वजन ।
कहि बार कथा नाहे, आश्चर्य्य कथन ॥

एके देवदासी आर सुन्दरी रमणी ।
तार सब अङ्ग सेवा करेन आपनि ॥
स्नानादि कराय, पराय बास - विभूषण ।
गुह्य अङ्ग हय ताहा दर्शन - स्पर्शन ॥
तबू निर्विकार राय रामानन्देर मन ।
नाना भावोद्गार तारे कराय शिक्षण ॥
निर्विकार देह - मन काष्ठ - पाषाण - सम ।
आश्चर्य्य तरुणी स्पर्शे निर्विकार मन ॥
एक रामानन्देर हय एइ अधिकार ।
ताते जानि — अप्राकृत देह ताँहार ॥
ताँहार मनेर भाव तेंहो जाने मात्र ।
ताहा जानिवारे द्वितीय नाहि पात्र ॥
किन्तु शास्त्रदृष्ट्ये एक करि अनुमान ।
श्रीभागवतशास्त्र ताहाते प्रमाण ॥
व्रजवधु सङ्गे कृष्णेर रसादिविलास ।
जेइ इहा कहे शुने करिया विश्वास ॥
हृदरोग काम तार तत्काले हय क्षय ।
तिनगुण क्षोभ नाहि, महाधीर हय ॥
उज्ज्वल मधुर प्रेमभक्ति सेइ पाय ।
आनन्दे कृष्णमाधुर्य्ये विहरे सदाय ॥

(अन्त्यलीला ५. ३३. ४५)

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(श्रीम. भा. १०. ३३. ४०)

शारदीय-महारास-लीलाका वर्णन करके श्रीशुकदेवजी इस श्लोकमें रासलीलाके श्रवण-कीर्त्तनका फल वर्णन कर रहे हैं। इस श्लोकका भाव है—जो श्रद्धान्वित होकर व्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णके सब रासादि-लीलाकी कथा निरन्तर श्रवण करते हैं, शीघ्र ही धीर अचंचल होकर भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वोत्तम जातीय भक्ति प्रतिक्षण नये-नये भावसे प्राप्तकर हृद्-रोग स्वरूप कामादि दुर्वासनाका शीघ्र ही परित्याग करते हैं अर्थात् उनकी काम-वासना नष्ट हो जाती है।

> जे शुने जे पढ़े तार फल एतादृशी।
> सेइ भावाविष्ट जेइ सेवे अहर्निशि॥
> तार फल कि कहिब, कहने ना जाय।
> नित्यसिद्ध सेइ प्राय सिद्ध तार काय॥
> रागानुगा मार्गे जानि रायेर भजन।
> सिद्ध-देह-तुल्य ताते प्राकृत नाहे मन॥
>
> (अन्त्यलीला ५. ४६-४८)

रामानन्द रायकी महिमाका इस प्रकार वर्णन करके महाप्रभुने प्रद्युम्न मिश्रको बताया कि मैं भी उनसे श्रीकृष्ण-कथा सुनता हूँ, तुम्हारी भी यदि श्रीकृष्ण-कथा सुननेकी इच्छा हो तो उनके पास जाओ और मेरा नाम लेना कि मैंने तुमको भेजा है। इसके बाद प्रद्युम्न मिश्र रामानन्दके पास गये और उनसे सारी कथा सुनी जो उन्होंने महाप्रभुको विद्यानगरमें सुनायी थी।

श्रीमन् महाप्रभुकी श्रीकृष्ण-वियोग-व्यथामें सान्त्वना और पुष्टिके लिए स्वरूप दामोदरके साथ रामानन्द राय भी प्रभुके पास रहकर उनको चण्डोदास और विद्यापतिके तथा गीतगोविन्दके भावोचित पद और श्लोक आदि सुनाया करते थे।

श्रीराधागोबिन्द नाथका संक्षिप्त परिचय

जन्म-तिथि—२०वीं माघ १२८५ बंगाब्द (३ फरवरी सन् १८७८ ईस्वी)
जन्म-स्थान—ग्राम—बसुदुहिता, थाना—बेगमगंज, जिला—नवाखाली
(वर्तमान पूर्व बंगाल—बंगला देश)

पिता—श्रीचन्द्रमणि नाथ

माता—श्रीमती व्रजसुन्दरी देवी

परिणय—सन् १८९२ ईस्वी।

शिक्षा १. मिडल इंग्लिश परीक्षा, दलाल बाजार, नवाखाली मिडिल इंग्लिश स्कूलसे दी जिसमें प्रथम उत्तीर्ण होकर छात्रवृत्ति प्राप्त की।

२. नवाखाली डिस्ट्रिक्ट स्कूलसे ढाका विश्वविद्यालयकी प्रवेशिका (एण्ट्रैंस) परीक्षा सन् १९०० ईस्वीमें दी, जिसमें तृतीय उत्तीर्ण हुए, पर गणितमें प्रथम।

३. जगन्नाथ कालेजसे ढाका विश्वविद्यालयकी एफ. ए. परीक्षामें सन् १९०२ में १४वाँ स्थान प्राप्त किया और छात्रवृत्ति भी प्राप्त की।

४. भाकर जेनरल असेम्बली (वर्तमान स्काटिश चर्च कॉलेज) कलकत्तासे सन् १९०४ में बी. ए. किया और गणित शास्त्रमें विशेष सम्मान (ऑनर्स) प्राप्त किया।

५. कलकत्ता विश्वविद्यालयसे सन् १९०५ में गणित शास्त्रमें एम. ए. की परीक्षा दी और ५वाँ स्थान प्राप्त किया।

शिक्षाके पश्चात्—

१. सेन्ट्रल कालेज, कलकत्तामें प्राध्यापक (प्रोफेसर) हुए। बादमें सैण्ट पाल कालेज और सी. एम. एस. कालेज, कलकत्तामें काम किया।

२. इसके बाद चटगांव गवर्नमेंट कालेज तथा कोमिल्ला विक्टोरिया कालेज - दोनोंसे आमन्त्रण आया, किन्तु इन्होंने कोमिल्ला विक्टोरिया कालेजको ही प्राथमिकता दी और वहाँ सन् १९०८ से १९२८ तक गणित-शास्त्रके सीनियर प्रोफेसर, सन् १९२९ से १९३० तक वाइस प्रिंसिपल एवं १९३१ से १९४३ तक प्रिंसिपलके पदपर काम किया। इस प्रकार लगभग ३५ वर्षों तक उन्होंने कोमिल्ला विक्टोरिया कालेजकी सेवा की।

३. इसके पश्चात् नवाखालीमें चौमुहानी कालेजमें वहाँकी व्यवस्था सुधारनेके लिए सन् १९४३ से १९४६ तक प्रिंसिपलके पदपर रहे और १९४७ में अवकाश प्राप्त किया।

४. शिक्षा-संस्थाओंकी सेवा करनेके अतिरिक्त आसाम-बंगाल योगी सम्मिलनीके सन् १९१० में अध्यक्ष बने।

शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकोंका प्रणयन—

१. स्कूलोंके विद्यार्थियोंके लिये टैक्स्ट - बुक्स कमेटी द्वारा स्वीकृत अंकगणित (अरिथमैटिक), बीजगणित (अलजेबरा) तथा ज्यामिति (ज्योमेट्री) तैयार की।

२. कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत आई. ए. कोर्सके लिये सालिड ज्योमेट्री और ट्रिग्नोमेट्रीका निर्माण किया।

वैष्णव-साहित्य प्रणयन (बंगभाषामें)

इनकी समाजको सबसे बड़ी देन है विशाल और उच्चतम वैष्णव साहित्यका प्रणयन। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथोंकी रचना की—

१. श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतकी 'गौर-कृपा-तरङ्गिणी' टीका, ६ खण्डोंमें।

भूमिका	४४० पृष्ठ
आदिलीला	७९६ पृष्ठ
मध्यलीला	१४४४ पृष्ठ (२ खण्डोंमें)
अन्त्यलीला	७७८ पृष्ठ
परिशिष्ट	५०२ पृष्ठ
योग	३९६० पृष्ठ

२. श्रीश्रीचैतन्यभागवतकी 'निताई-करुणा-कल्लोलिनी' टीका ६ खण्डोंमें।

भूमिका	३०४ पृष्ठ
आदिखण्ड	४५९ पृष्ठ
मध्यखण्ड (१)	४७७ पृष्ठ
मध्यखण्ड (२)	३६९ पृष्ठ
अन्त्यखण्ड	३९३ पृष्ठ
परिशिष्ट	३९४ पृष्ठ
योग	२३९६ पृष्ठ

३. महाप्रभु श्रीगौराङ्ग — १२६९ पृष्ठ

४. गौड़ीय वैष्णव-दर्शन — ३८०५ पृष्ठ (५ खण्डोंमें)

५. श्रीमद्भागवतकी गौर - करुणा - मन्दाकिनी टीका

भूमिका	३९० पृष्ठ
प्रथम स्कन्ध	६४ पृष्ठ
द्वितीय स्कन्ध	५१० पृष्ठ

अस्वस्थ रहनेके कारण भक्तोंके अनुरोधपर द्वितीय स्कन्धके बाद इन्होंने दशम् स्कन्धकी टीका लिखनी आरम्भ की जो ३०वें अध्यायके ८वें श्लोक तक ही लिखी गयी थी, जब इन्होंने लीला संवरण की। दशम् स्कन्ध अभी प्रकाशित नहीं हो पाया है।

६. गौर-तत्त्व (अप्राप्य)

(आंग्लभाषामें)

७. *Shri Chaitanya Movement*—published by Ramakrishna Mission.

८. **अंग्रेजी पत्रिका** The Cultural Heritage of India **तथा समाज,** योगिसखा, सोनार गौराङ्ग, साधना, विष्णुप्रिया - गौराङ्ग आदि बंगला पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित लेख।

सन् १९५५ में इन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सरोजनी वसु स्वर्ण पदक प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं द्वारा इन्हें जिन उपाधियोंसे विभूषित किया गया उनकी सूची इस प्रकार है : -

१. नवद्वीप पण्डित मण्डली द्वारा—विद्या-वाचस्पति
२. मध्व गौड़ेश्वर पीठ, वृन्दावन द्वारा—भक्तिसिद्धान्त-रत्न
३. सिंधी वैष्णव-सम्मेलिनी, २४-परगना द्वारा—भागवत-भूषण
४. राधाकुण्ड और गोवर्धनके वैष्णव समाज द्वारा—भक्तिभूषण
५. वैष्णव थियोलोजिकल यूनिवर्सिटी, वृन्दावन द्वारा—सन् १९५६ में—डी. लिट.
६. पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा सन् १९५९-६० में—रवीन्द्र पुरस्कार
७. कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६९ में—डी. लिट.
८. रवीन्द्र भारती, कलकत्ता द्वारा सन् १९७० में—डी. लिट.

कोमिल्ला बैंक और नाथ बैंक आदिकी स्थापनामें भी इनका प्रमुख भाग रहा।

इस प्रकार अन्त समय तक विभिन्न कार्य - कलापोंमें व्यस्त रहते हुए ये १५वीं अग्रहायण, बंगाब्द १३७७ (दिसम्बर १, १९७०) के दिन लीला संवरण कर भगवद्धामको पधारे।

जय श्रीराधागिरिधारी।

साध्य-साधन

श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीलाके अष्टम परिच्छेदमें श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके दक्षिण-भ्रमणोपलक्षमें गोदावरी-तीर-स्थित विद्यानगरमें राय-रामानन्दके साथ मिलन एवं उनके साथ साध्य-साधन-तत्वादिकी आलोचनाका वर्णन हुआ है, उसीका डा० श्रीराधागोविंद नाथकी टीकाका यह अनुवाद है।

मङ्गलाचरण एवं विषय-प्रवेश

सञ्चार्य रामाभिध-भक्तिमेघे स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि।
गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णैस्तज् ज्ञत्वरत्नालयतां प्रयाति ॥१॥

अन्वय—गौराब्धिः (गौर-समुद्र) रामाभिधभक्तमेघे (भक्त राय रामानन्द रूप मेघमें) स्वभक्ति सिद्धान्तचयामृतानि (स्वविषयक भक्ति-सिद्धान्त समूहरूप अमृतका) सञ्चार्य (संचार करके) अमुना (उनसे—उन रामानन्द रूप मेघसे) वितीर्णैः (वर्षित) एतैः (इन सबके द्वारा सिद्धान्त-समूह रूप अमृत द्वारा) तज् ज्ञत्व-रत्नालयतां (सिद्धान्त-के अनुभवरूप रत्नोंके आलयत्वको) प्रयाति (प्राप्त हुए हैं)।

अनुवाद—श्रीगौराङ्ग रूप समुद्र, भक्त रामानन्द स्वरूप मेघमें, स्वविषयक भक्ति-सिद्धान्त-रूप अमृतका संचार कर, उनके (रामानन्द रूप मेघके) द्वारा बरसाये उसी सिद्धान्त रूप अमृत द्वारा सिद्धान्तके अनुभव रूप रत्नसमूहके आलयत्वको प्राप्त हुआ है।

प्रसिद्ध है कि वृष्टिका जल गिरे बिना समुद्रमें शुक्ति-शङ्खादिमें रत्नादि उत्पन्न नहीं होते; वृष्टिका जल गिरनेसे ही रत्नादि उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम समुद्र वाष्पके रूपमें अपना जल मेघमें संचारित करता है;

उसी मेघसे वृष्टि रूपमें वह जल गिरता है; तब समुद्र द्वारा उस वृष्टिका जल ग्रहण करने पर ही उसमें रत्नादि उत्पन्न होते हैं एवं उन रत्नोंके धारण करने पर ही समुद्र रत्नाकर नामसे परिचित होता है। ग्रन्थकारने इसी व्यापारके संग राय रामानन्दके साथ महाप्रभुके कथोपकथनकी तुलना की है। महाप्रभुकी समुद्रके साथ, राय रामानन्दकी मेघके साथ, दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुर-रसाश्रित भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तकी जल या अमृतके साथ एवं रामानन्द रायके मुखसे ये सब सिद्धान्त सुनकर उनकी उपलब्धि-की रत्नोंके साथ तुलना की गयी है। जैसे समुद्र अपना जल मेघमें संचारित कर पुनः मेघसे उसीको ग्रहण करता है, उसी प्रकार महाप्रभु भी श्रीकृष्ण विषयक (स्व-विषयक) भक्तिरस-सिद्धान्त समूहका परम भक्त रामानन्द रायके हृदयमें संचार कर उनके द्वारा उक्त सिद्धान्तका प्रकाश कराते हैं एवं स्वयं इन सब सिद्धान्तोंको रामानन्द रायसे ग्रहण करनेकी उपलब्धि प्राप्त करते हैं।

गौराब्धि—गौर रूप अब्धि (समुद्र)। समुद्रसे अदृष्य वाष्परूपमें जल उठकर जिस प्रकार मेघमें संचारित होता है एवं उस मेघसे वह वाष्प ही फिर जिस प्रकार वृष्टिरूपमें समुद्रमें गिरता है, जलीय वाष्प जिस प्रकार मेघको वर्षणके उपयोगी बनाता है, उसी प्रकार सब सिद्धान्तके मूल-निधान श्रीमन् महाप्रभुसे उनकी कृपाशक्तिके योगसे भक्ति-सिद्धान्त समूह अदृश्य रूपसे राय रामानन्दमें संचारित हुए और उन्हें उस सिद्धान्तको प्रकाशमें लानेके योग्य बनाया। इस प्रकार सादृश्य होनेके कारण श्रीमन् महाप्रभुको अब्धि या समुद्र कहा गया है। अप् (जल) + धि=अब्धि, जलधि, समुद्र। समुद्र ही मेघमें जल संचारित करता है, किन्तु किस प्रकार करता है—यह किसीको दिखायी नहीं पड़ता। सूर्यकी किरणें समुद्रका जल वाष्प रूपमें ग्रहण करती हैं, यह वाष्प वायुकी तरह है, इसीलिए उसको कोई देख नहीं सकता। यह वाष्प ही आकाशमें ऊपर उठकर मेघरूपमें परिणत होता है। सूर्यकी किरणें जिस प्रकार समुद्रके जलको वाष्पका रूप देकर

मेघमें संचारित करती हैं, श्रीमन् महाप्रभुकी कृपाशक्तिने भी उसी प्रकार सर्वज्ञ श्रीमन् महाप्रभुके चित्तसे सिद्धान्त समूहको राय रामानन्दके चित्तमें संचारित किया था। जिस प्रकार समुद्र अपरिमित जलका आधार है, उसी प्रकार श्रीमन् महाप्रभु भी सर्वज्ञ होनेके कारण अनन्त ज्ञानके आधार हैं। ज्ञानके विषयमें श्रीमन् महाप्रभु समुद्रके तुल्य हैं। प्रभुकी कृपाशक्तिने राय रामानन्दमें जो सिद्धान्त समूहका ज्ञान संचारित किया, वह अन्य सभीको—यहाँ तक कि राय रामानन्दको भी अदृश्य रहे इस प्रकार किया, मुखसे उपदेश आदिके द्वारा नहीं। राय रामानन्दके चित्तमें महाप्रभुने ये सब तत्त्व स्फुरित किये थे—यह बात राय रामानन्दके स्वयंके मुखसे व्यक्त हुई है—

एत तत्व मोर चित्ते कैले प्रकाशन। ब्रह्मारे वेद जेन पढाइलो नारायण।।
अन्तर्य्यामी ईश्वरेर एइ रीति हये। बाहिरे ना कहे वस्तु प्रकाशे हृदये।।

चै. च. म. ८.२१८,२१९

ईश्वर अन्तर्यामी है। वे अन्तर्यामी रूपसे प्रत्येकके भीतर विराजित हैं, प्रत्येकको ही उपदेश देते हैं, किन्तु प्रकाश्य भावसे नहीं, कथा-वार्ता कहकर नहीं। उपदेशका मर्म वे जीवके चित्तमें नीरवमें स्फुरित करते हैं, निर्मल चित्तवाले लोग ही उसको समझ सकते हैं। इसी प्रकार उन्होंने ब्रह्माके चित्तमें वेदका मर्म स्फुरित करके उनको वेदका उपदेश दिया था।

तेन ब्रह्म हृदा य आदिकवये। श्रीम. भा. १.१.१.

रामाभिध भक्तमेघे—राम (रामानन्द) नामक भक्तरूप मेघमें। मेघमें जिस प्रकार वाष्प जाती है, उसी प्रकार प्रभुकी कृपाशक्तिसे प्रेरित सिद्धान्त-समूहका ज्ञान राय रामानन्दमें आया था, इसलिए उनको मेघ कहा गया है। 'रामाभिध भक्तमेघे' शब्दके अन्तर्गत 'भक्त' शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि भक्तके अतिरिक्त अन्य कोई भक्तितत्वके प्रकाशकी शक्ति धारण नहीं कर सकता, अन्य किसीके चित्तमें भक्तितत्व स्फुरित भी नहीं हो सकता।

स्वभक्ति-सिद्धान्तचयामृतानि—स्वभक्ति (स्व विषयक—श्रीकृष्ण-विषयक भक्ति) सम्बन्धी सिद्धान्त-समूह-रूप अमृत। श्रीकृष्ण-विषयक जो भक्ति है, उसीको यहाँ पर 'स्वभक्ति' शब्दसे बताया है। उसी भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तोंको अमृत कहा गया है। यहाँ पर 'सिद्धान्त' शब्दसे दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस सम्बन्धी सिद्धान्त ही सूचित हुए हैं; राय रामानन्दके साथ साध्य-साधन-तत्त्वकी आलोचनामें इन्हीं सब रसोंकी कथा व्यक्त हुई है। ये सब रस परम आस्वाद्य, परम रमणीय हैं। इसीलिए इन सब रस सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी अमृतके साथ तुलना की गयी है। 'अमृत' शब्दका एक अर्थ जल भी होता है। जल अर्थ माननेसे यह समझना होगा कि समुद्रसे वाष्प रूपमें जल जिस प्रकार मेघमें जाता है, उसी प्रकार श्रीमन् महाप्रभुसे उनकी कृपाशक्तिके योग द्वारा ये सब सिद्धान्त राय रामानन्दमें संचारित होनेके कारण भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी जलके साथ तुलना की गयी है। किन्तु यहाँ पर 'अमृत' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ—परम आस्वाद्य एवं परम लोभनीय वस्तुविशेष रूप अर्थ—ही अधिकतर अभिप्रेत लगता है। इसका कारण यह है। पहले तो, स्वरूपतः ही भक्ति परम आस्वाद्य, आनन्द-स्वरूपा है—**रतिरानन्दरूपैव** (भ. र. सि.)—इसीलिए परम लोभनीय भी है। भक्ति-सिद्धान्त भी उसी प्रकार परम मनोरम, सर्व-चित्ताकर्षक, परम लोभनीय है। इसीलिए अमृतके साथ सादृश्य है। दूसरे, जिस आधारमें जो वस्तु रहती है, उसी आधारसे वह वस्तु मिलती है। समुद्रमें जल है, इसीसे समुद्रसे मेघको जल मिलता है, अमृत नहीं मिल सकता। किन्तु रसघन-विग्रह श्रीकृष्ण-स्वरूप श्रीश्रीगौर सुन्दरमें समुद्रकी तरह नमकीन जल नहीं है, अपूर्व अप्राकृत अमृत है, इसीलिए वे अखिल रसामृत मूर्ति हैं; इसीलिए उनसे अमृत ही मिलेगा। राय रामानन्दके चित्तमें परम आस्वाद्य, परम लोभनीय, परम चित्ताकर्षक भक्ति-सिद्धान्त रूप अपूर्व अमृत ही प्रभुकी कृपाशक्तिसे संचारित हुआ था। अमृत भी जलकी तरह तरल है।

गौराब्धिमें प्राकृत समुद्रकी तरह लवणाक्त जल नहीं है, अमृत-विनिन्दित परमास्वाद्य रस है; उसमें मगर आदि भयावने हिंस्र जन्तु नहीं हैं, परम चित्ताकर्षक अनन्त रसवैचित्री है; उसमें आतंक जनक उत्ताल तरंगें नहीं हैं, परम लोभनीय एवं अनिर्वाच्य-चमत्कृतिजनक असमोर्द्ध माधुर्यकी उत्तुंग हिल्लोल है; हृदय-विदारक भीषण गर्जन नहीं है, सबको अभिसिंचन करनेवाली करुणाका सादर आवाहन है। 'अमृत' शब्दका जल अर्थ विशेष प्रसिद्ध नहीं है; जहाँ पर अति प्रसिद्ध अर्थको असंगति दिखायी दे, वहीं पर अर्थ समझनेके लिए अप्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करना होता है। इस श्लोकमें 'अमृत' शब्दके अति प्रसिद्ध अर्थकी किसी प्रकार भी असंगति नहीं दीखती, इसीलिए जल अर्थ ग्रहण न करके प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण ही संगत लगता है।

अमुना वितीर्णः इत्यादि—अमुना—इनके द्वारा अर्थात् रामानन्द राय द्वारा वितीर्ण—वर्षित। राय रामानन्द रूप मेघने यह सिद्धान्त रूप अमृत महाप्रभु रूप समुद्रमें वर्षण किया था; महाप्रभुकी कृपासे राय रामानन्दने अपने चित्तमें स्फुरित सिद्धान्तको प्रभुके निकट प्रकाश किया। प्रभुने रामानन्दके चित्तमें सिद्धान्तोंको स्फुरित किया—इस बातको कोई नहीं जानता था। लोग यही समझते थे कि प्रभुने प्रश्न किया है और राय रामानन्दने उत्तर दिया है। इसीलिए लौकिक दृष्टिसे रामानन्दके मुखसे प्रकाशित सिद्धान्त सुनकर ही प्रभु उन सिद्धान्तोंको जान सके और वे सिद्धान्तज्ञ हुए एवं सिद्धान्त रूप रत्नोंको धारण कर सके। इसीलिए कहा गया है कि राय रामानन्दके मुखसे सिद्धान्तोंको श्रवण करके ही गौर रूप समुद्र **तज्ज्ञत्व-रत्नालयतां प्रयाति**—तत् (उनको—उन सिद्धान्तोंको) जो जाने वही तज्ज्ञ—सिद्धान्तज्ञ; उसका भाव हुआ तज्ज्ञत्व; तज्ज्ञत्व रूप रत्नोंकी आलयताको प्राप्त हुए गौराब्धि। सिद्धान्तोंके ज्ञानको यहाँ रत्न बताया गया है। समुद्रका जल ही मेघके भीतरसे वृष्टि रूपमें जब समुद्रमें लौट आता है, तभी समुद्रमें रत्न उत्पन्न

होते हैं। उसी प्रकार प्रभुके सिद्धान्त ही राय रामानन्दके अन्तःकरणमें प्रेरित होकर उनके मुखसे फिर जब प्रभुके कानोंमें प्रविष्ट हुए, लौकिक दृष्टिसे तभी प्रभु उन सिद्धान्तोंको मानो जान सके और तभी सिद्धान्तज्ञ हुए, तभी मानो प्रभुका सिद्धान्तज्ञत्व उत्पन्न हुआ ; इसीलिए इस सिद्धान्तज्ञत्वकी (सिद्धान्तके ज्ञानकी) रत्नोंके साथ तुलना की गयी है। प्रभु इन रत्नोंके आलय या आधार बने। किन्तु यह लौकिक दृष्टिका अर्थ श्लोकका अभिप्राय नहीं लगता। श्लोकमें कहा गया है कि प्रभुने पहले रामानन्द रायमें स्वभक्ति-सिद्धान्तोंको संचारित किया, इसके पश्चात् रायके मुखसे वे सब सिद्धान्त सुनकर प्रभु सिद्धान्तज्ञ बने। आरम्भमें जब उन्होंने सिद्धान्तोंको रामानन्द रायमें संचारित किया, तब भी वे उन सिद्धान्तोंको जानते थे, अर्थात् तब भी उन सिद्धान्तोंका ज्ञान उनको था, यह सहजमें ही समझमें आ जाता है। जाने बिना उन्होंने किस प्रकार उन सिद्धान्तोंको राय रामानन्दके चित्तमें स्फुरित किया? नारायण भगवान् यदि वेद न जानते तो वे उनको ब्रह्माके चित्तमें किस प्रकार प्रकाश करते? किन्तु समस्या है पश्चात्के व्यापारको लेकर। रामानन्द रायके मुखसे सुनकर प्रभु सिद्धान्तज्ञ हुए—इसका क्या तात्पर्य है? पहलेसे ही यदि उनको सिद्धान्तका ज्ञान रहता तो फिर पीछे सिद्धान्तज्ञ बननेकी—सिद्धान्तके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी—बात ही नहीं उठ सकती। इसका समाधान इस प्रकार प्रतीत होता है। पहलेवाला ज्ञान है, पीछे-वाला विज्ञान। पहले ही सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान प्रभुको था, रामानन्द रायके मुखसे सुननेके पश्चात् उन सिद्धान्तोंका विज्ञान उत्पन्न हुआ। विज्ञान कहनेका तात्पर्य अनुभवसे है। ज्ञान और विज्ञान एक वस्तु नहीं है। ब्रह्मासे श्रीभगवान्ने कहा था—;

"ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गंश्च गृहाण गदितं मया॥

श्रीम. भा. २.९.३०

से सम्बन्धित परम रहस्यमय जो ज्ञान है, विज्ञान समन्वित वही ज्ञान मैं बताता हूँ, तुम उसको ग्रहण करो।" यहाँ पर भी ज्ञान और विज्ञानको दो वस्तुओंके रूपमें लिया गया है। इतना कह कर भगवान् फिर कहते हैं—

"यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

श्रीम. भा. २.९.३१

मेरा जो स्वरूप, मेरे जो लक्षण, मेरे जिस प्रकारके गुणकर्मादि हैं, मेरे अनुग्रहसे उन सबका तत्त्वविज्ञान (यथार्थ अनुभव) तुम्हें हो।" यहाँ पर विज्ञानकी बात विशेष रूपसे कही गयी है। किसीके मुखसे श्रवण करके, या ग्रन्थादि देखकर जो कुछ जाना जाय उसको ज्ञान कहते हैं; यह परोक्ष ज्ञान है। किन्तु जानी हुई बातके अनुभवको, उसकी हृदयमें उपलब्धिको विज्ञान कहते हैं। संन्यासके पूर्व जब प्रभु अध्यापन कार्य करते थे, तब वे एक बार पूर्व-बंगालमें भ्रमणके लिए गये थे। पद्मावतीके तीर पर तपन मिश्रको उन्होंने साध्य-साधनकी बात बतायी थी। तपन मिश्र भी उसको जानकर तृप्त हुए थे। तथापि प्रभुने उनसे कहा था कि तुम तारक ब्रह्म-नाम जप करो—

जपिते जपिते जबे प्रेमाङ्कुर हबे। साध्य ओ साधन तत्त्व तबे से बुझिबे॥

प्रभुके मुखसे साध्य-साधन तत्त्वकी बात सुनकर तपन मिश्रने जो जाना था, वह था ज्ञान; और नाम-जपके फलसे प्रेमांकुर होनेपर साध्य-साधन सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न होनेकी बात जो प्रभुने कही वह है विज्ञान, अनुभव—अपरोक्ष ज्ञान। राय रामानन्दके प्रसंगमें भी रायके चित्तमें प्रभुने जब सिद्धान्त-ज्ञान संचारित किया, तब सिद्धान्तके सम्बन्धमें वह उनका 'ज्ञान' था। रामानन्द रायके मुखसे फिरसे वे सब सिद्धान्त सुनकर सिद्धान्त विषयमें उन्हें विज्ञान या अनुभव उत्पन्न हुआ।

प्रश्न उठ सकता है कि जो सर्वज्ञ भगवान् हैं, जिनके अनुग्रहसे दूसरोंको —यहाँ तक कि ब्रह्माको भी—अनुभव उत्पन्न होता है, उनमें अनुभवका

अभाव किस प्रकार माना जाय? उत्तर है कि भगवान्‌के पूर्णतम वस्तु होने पर भी, रस-आस्वादन और लीलाके व्यापारमें लीलाशक्ति ही किसी-किसी समय अपूर्णताका रूप धारण कर भगवान्‌के हृदयमें प्रकट होती हैं उनके लीला-रस आस्वादनके परिपोषणार्थ यहाँ प्रसंग है स्वभक्ति-सिद्धान्तके सम्बन्धमें श्रीकृष्ण या श्रीमन् महाप्रभु जिस-जिस भक्तिके विषय हैं उसी भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तके सम्बन्धमें। यह भक्ति क्या वस्तु है, इस भक्तिका किस प्रकार साधन होता है, उनके स्वयं अपने ऊपर भक्तिका कैसा प्रभाव है—ये सब भगवान् जानते हैं। इसीसे श्रीकृष्ण अर्जुनसे कह सके थे '**भक्त्या मामभिजानाति**—गी० १८.५५', '**मन्मना भव मद्भक्तः** गी० ९.३४ ; १८.६५' इत्यादि। भक्तिके विषयरूपमें भक्तिका या भक्तिसिद्धान्तादिका अनुभव भगवान्‌को है, क्योंकि सर्वत्र ही वे भक्तिके विषय हैं। किन्तु भक्तिके आश्रयके ऊपर भक्तिका कैसा प्रभाव है, इसका साधारण ज्ञान उन्हें हो सकता है—पर इसका उन्हें अनुभव या विज्ञान हो ऐसा नहीं हो सकता ; कारण वे भक्तिके आश्रय नहीं हैं, भक्त नहीं हैं। आश्रय जातीय प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णका माधुर्य आस्वादन करके श्रीराधा जिस अनिर्वचनीय आनन्दको प्राप्त करती है उसे श्रीकृष्ण जान सके थे—उसका उन्हें ज्ञान उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसका विज्ञान या अनुभव न होनेके कारण उसके आस्वादनके (अनुभव या उपलब्धि या विज्ञानके) लिए उनका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। पर व्रजमें उनका आश्रय जातीय प्रेम तो है नहीं इसलिए वे उसका आस्वादन नहीं कर सके थे—श्रीराधाके आनन्दका विज्ञान प्राप्त नहीं कर सके थे। इसीलिए श्रीराधाका भाव ग्रहण कर श्रीराधाप्रेमका आश्रय बनकर—भक्तभाव अंगीकार कर गौर बने और तभी अपने माधुर्यका आस्वादन करनेमें—आश्रय-जायीय भक्तिका विज्ञान या अनुभव प्राप्त करनेमें समर्थ हुए। आश्रय-जातीय भक्तिका अनुभव (या विज्ञान) एक मात्र भक्तके लिए ही सम्भव है एवं भक्तिकी कृपासे ही सम्भव है। जिनके चित्तमें भक्तिका

आविर्भाव नहीं हुआ, उनके लिये इस अनुभवकी प्राप्तिकी सम्भावना भी कम है। भक्तके प्रेमपरिप्लुत चित्तके भक्तिरससे मण्डित, भक्ति-सिद्धान्त जब भक्तिकी कृपाप्राप्त किसी भाग्यवानके कर्णोंमें प्रवेश करता है, तब उस भाग्यवानकी हृदय-स्थित भक्ति ही उस सिद्धान्तको मानो उसके कर्णोंसे आकर्षण कर मरममें ले जाकर उपस्थित करती है एवं उस भाग्यवानको उसका प्रत्यक्ष अनुभव कराती है। भक्ति एवं भक्तिरस-परिषिक्त सिद्धान्त-कथा एक ही चिच्छक्तिकी वृत्तिविशेष हैं, उनके सजातीय होनेके कारण उनका, एक दूसरेको आकर्षण करना या एक दूसरेसे आकृष्ट होना सम्भव है। श्रीमन् महाप्रभुकी कृपासे स्फुरित सिद्धान्त रामानन्द रायके चित्त-स्थित भक्तिरससे परिषिक्त होकर जब प्रभुके कर्णोंमें प्रवृष्ट हुआ, तब श्रीराधासे गृहीत उनकी हृदय-स्थित आश्रय-जातीय भक्तिने ही मानो उन सिद्धान्तोंको प्रभुके मरममें आकर्षण कर उनके अनुभवके—विज्ञानके—विषयीभूत (प्रत्यक्ष) करा दिया, तभी प्रभु सिद्धान्तज्ञ (सिद्धान्तविज्ञ, सिद्धान्तके विज्ञान सम्पन्न) हुए। 'सिद्धान्तज्ञ' शब्दका अर्थ है सिद्धान्तविज्ञ, सिद्धान्तके अनुभव सम्पन्न। इस अनुभवकी ही रत्नके साथ तुलना की गयी है। उसकी सार्थकता इस प्रकार है—रत्नका उपादान समुद्रमें ही रहता है, वृष्टिके जलसे कोई भी उपादान नहीं मिलता—मिलता है एक प्रभाव या शक्ति, जो इस उपादानको रत्नमें परिणत करता है। अनुभवका उपादान भी गौराब्धिमें वर्त्तमान था—सिद्धान्तका ज्ञान ही यह उपादान है। परम भागवत राय रामानन्दकी बातके सहयोगसे उनके भक्तिप्लुत चित्तमें-से जो प्रभाव या शक्ति आयी, उसीने सिद्धान्तके ज्ञानको विज्ञान या अनुभवमें परिणत कर दिया। यह अनुभव रूप रत्न प्राप्त करके ही प्रभु रत्नालय हुए।

राय रामानन्दके संग महाप्रभुकी साध्य-साधन सम्बन्धी आलोचनाका ही इस परिच्छेदमें वर्णन होगा, इस श्लोकमें यही इंगित किया गया है। और भी इंगित किया गया है कि इस आलोचनामें राय रामानन्द वक्ता

एवं प्रभु श्रोता हैं। श्लोकस्थ 'गौराब्धि' शब्द द्वारा प्रभुके गौरतत्त्वका (गौरवर्ण-प्राप्तिका) रहस्य भी इस परिच्छेदमें उद्घाटित होगा (२२०-२३९ पयारमें), इसको भी प्रच्छन्न रूपसे इंगित किया गया है।

राय रामानन्दके साथ साध्य-साधन तत्त्व आलोचनाके प्रसंगमें प्रभुने राय रामानन्दके मुखसे कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व, राधा-कृष्णका विलासत्तत्त्व आदिका भी प्रकाश कराया है। इस लीला द्वारा प्रभुने जगत्के जीवोंको बताया है कि भगवत्-सम्बन्धीय तत्त्वकी बात भक्ति-रसायित चित्त भक्तके मुखसे सुनकर ही अनुभव लाभ हो सकता है।

भगवत्-तत्त्वकी बातें, उनकी लीलाकी बातें, स्वभावतः ही मधुर होती हैं, क्योंकि ये सभी चिदानन्दमय हैं। क्षीरके पिष्टको अमृतका पुट मिलनेसे उसकी आस्वादन-चमत्कारिता जिस प्रकार वर्द्धित होती है, उसी प्रकार भक्तके चित्तके प्रेमरससे परिनिषिक्त होकर जब ये बातें भक्तके मुखसे निकलती हैं, तब उनका माधुर्य अत्यधिक वृद्धि प्राप्त होता है। इस अनिर्वचनीय माधुर्यकी आस्वादन-चमत्कारिताके लोभसे ही प्रभु परम-भागवत राय रामानन्दके मुखसे तत्त्व-कथा सुननेके लिए आग्रहयुक्त हुए थे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥

ग्रन्थके प्रत्येक परिच्छेदके आरम्भमें ग्रन्थकार श्रीचैतन्य, श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैत तथा श्रीगौरभक्तवृन्दका जय गान करते हैं। प्रणतिके अर्थमें भी जय शब्दका प्रयोग होता है, इस अर्थमें ग्रन्थकार इस पयारमें श्रीचैतन्यादिको प्रणाम करते हैं। सर्वोत्कर्षमें जय युक्त हों—इस अर्थमें भी जय शब्दका प्रयोग होता है। श्रीचैतन्य-नित्यानन्द आदि सभी सर्वोत्कर्षमें जययुक्त हों—यही ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

जीयड़ नृसिंह दर्शन

पूर्व्व-रीते प्रभु आगे करिल गमने।
जियड़-नृसिंह क्षेत्रे गेला कथोदिने ॥२॥

पूर्व्व-रीते इत्यादि—पूर्व परिच्छेदके वर्णनके अनुसार जहाँ जायँ वहींके सब लोगोंको वैष्णव बनाकर एवं सबमें प्रेमभक्तिके प्रचारकी शक्ति संचार करते हुए प्रभु आगे बढ़े।

जियड़-नृसिंह इत्यादि—जीयड़ नामक किसी भक्तके प्रति विशेष कृपा दिखानेके कारण इन नृसिंह-विग्रहका नाम जियड़-नृसिंह पड़ा (श्रीचैतन्यमङ्गल, शेष खण्ड)। महाप्रभु चलते-चलते कुछ दिनोंमें जियड़-नृसिंह क्षेत्रमें पहुँचे।

नृसिंह देखिया कैल दण्डवत् नति।
प्रेमावेशे कैल नृत्य गीत स्तुति ॥३॥

श्रीमन् महाप्रभुने श्रीनृसिंहदेवके दर्शनसे प्रेमाविष्ट होकर नृत्य-कीर्त्तन किया एवं स्तव-स्तुति की। कोई प्रश्न कर सकता है कि श्रीमन् महाप्रभु तो श्रीराधाके भावसे आविष्ट श्रीकृष्ण हैं, श्रीराधा-भावसे श्रीकृष्ण विषयक प्रेमसे ही वे आविष्ट रहते हैं—यही बात उनके स्वरूप तत्त्वसे समझी जाती है; ऐश्वर्यात्मक स्वरूप श्रीनृसिंहदेवके दर्शनसे उनके प्रेमावेशका क्या हेतु हो सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जाता है कि अपने (अर्थात् श्रीकृष्णके) माधुर्य आस्वादनके निमित्त ही प्रभुका अवतार है, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण अखिल रसामृत सिंधु हैं, उनमें अनन्त वैचित्री है, प्रत्येक रस वैचित्रीके आस्वादनमें ही श्रीकृष्ण-माधुर्यके आस्वादनकी पूर्णता है। भूमिका ग्रन्थमें 'श्रीकृष्णकर्तृक रसास्वादन' एवं 'श्रीकृष्णतत्त्व' आदि प्रबन्धोंमें बताया गया है कि अखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णकी अनन्त रस-वैचित्रीके एवं अनन्त भाव-वैचित्रीके मूर्त्तरूप होते हैं

अनन्त भगवत्स्वरूप। इन अनन्त भगवत्स्वरूपोंकी परिकर अनन्त लक्ष्मी-रूपोंमें श्रीराधा उन-उन भगवत्स्वरूपोंका माधुर्य (अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दनकी अनन्त रस-वैचित्री पृथक-पृथक भावमें भी) आस्वादन करतीं हैं। श्रीनृसिंहदेव भी इस प्रकार एक भगवत्स्वरूप हैं—श्रीकृष्णके एक रस-वैचित्रीके या माधुर्य-वैचित्रीके मूर्त्तरूप हैं, उनका माधुर्य उनकी नित्यकान्ता लक्ष्मीरूपमें श्रीराधा आस्वादन करती हैं एवं राधा-भावाविष्ट महाप्रभु भी आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण-माधुर्यके सम्यक् रूपसे आस्वादन-लिप्सु श्रीश्रीगौरसुन्दरके चित्तमें—श्रीनृसिंहदेव श्रीकृष्णके ही माधुर्य-वैचित्रीके मूर्त्तरूप हैं—उसी माधुर्य-वैचित्रीके आस्वादनकी वासना भी है। इसीलिए श्रीनृसिंहदेवके दर्शन मात्रसे उस माधुर्य-वैचित्रीके आस्वादनकी वासनाने भी उनके चित्तमें उद्बुद्ध होकर उन्हें प्रेमाविष्ट कर दिया, उसी प्रेमावेशमें उन्होंने नृत्य-कीर्त्तन आदि किया। प्रभुका यह प्रेमावेश भी श्रीकृष्ण-विषयक प्रेमका आवेश है एवं श्रीनृसिंहदेवके माधुर्यका आस्वादन भी श्रीकृष्णकी एक माधुर्य-वैचित्रीका आस्वादन है।

परवर्ती वर्णनसे पता लगेगा कि दक्षिण-भ्रमण कालमें प्रभुने प्रत्येक देवालयमें जाकर प्रेमावेशमें नृत्य-कीर्त्तन किया—कृष्ण-मन्दिर, विष्णु-मन्दिर, भगवती-मन्दिर, भैरवी-मन्दिर, किसी भी मन्दिरको प्रभुने नहीं छोड़ा। इन सब विभिन्न मन्दिरोंमें जो विभिन्न भगवत्स्वरूप अधिष्ठित हैं, उनमें-से प्रत्येक श्रीकृष्णकी किसी-न-किसी रस-वैचित्रीके या माधुर्य-वैचित्रीके मूर्त्त-रूप हैं। इसीलिए प्रत्येक स्वरूपके दर्शन करते समय उस स्वरूपमें रूपायित श्रीकृष्ण-माधुर्य-वैचित्रीकी आस्वादन-वासनाने उद्बुद्ध होकर प्रभुको प्रेमाविष्ट कर दिया एवं उस प्रेमके आवेशमें उन्होंने उन भगवद्-विग्रहके सम्मुख नृत्य-कीर्त्तन आदि किया।

अपनी रस लीलाके द्वारा परम दयालु प्रभुने जगत्‌के जीवोंको बताया है कि अपने उपास्य स्वरूपके अतिरिक्त अन्य भगवत्स्वरूप भी उपेक्षणीय

नहीं हैं; किसी भी भगवत्स्वरूपके प्रति उपेक्षा दिखानेसे, अथवा विभिन्न भगवत्स्वरूपोंमें भेद-बुद्धि पोषण करनेसे अपराध होता है—

ईश्वरत्वे भेद मानिले हय अपराध। चै. च. म. ६.१४०

परतत्व वस्तु एक होते हुए भी अनेक हैं। **एकोऽपि सन् यो बहुधाभाति** —श्रुति। बहुतोंमें भी वे एक ही हैं। **बहुमूर्त्त्यैकमूर्त्तिकम्।** श्रीमद्भागवत १०.४०.७।

श्रीनृसिंह जय नृसिंह जय जय नृसिंह।
प्रह्लादेश जय पद्मा-मुखपद्म-भृङ्ग ॥४॥

प्रह्लादेश—प्रह्लादके ईश्वर। हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लादकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे श्रीभगवान्‌ने नृसिंहरूप प्रगट किया था, इसीलिए नृसिंहको प्रह्लादेश कहा गया है। **पद्मा-मुखपद्म-भृङ्ग**—पद्मा (लक्ष्मी)के मुखरूप पद्म (कमल)के लिए भृङ्ग (भ्रमर सदृश्य); भ्रमर जिस प्रकार सर्वदा कमलका मधु पान करता है, उसी प्रकार श्रीनृसिंहदेव भी सर्वदा लक्ष्मी-देवीके मुखका माधुर्य आस्वादन करते रहते हैं, यही इसका तात्पर्य है। यहाँ पर लक्ष्मी शब्दसे श्रीनृसिंहदेवकी कान्ताशक्ति लक्ष्मीदेवीसे अभिप्राय है।

तथाहि श्रीमद्भागवते ७.९.१ श्लोकस्य
स्वामी टीकायाम्—

उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेशरी।
केशरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविक्रमः ॥२॥

अन्वय—**अन्येषां** (अन्योंके लिए) **उग्रविक्रमः** (उग्रविक्रम) **स्वपोतानां** (अपनी सन्तानके लिए) **[अनुग्र]** (शान्त) **केशरी इव** (सिंह तुल्य) **अयं** (यह) **नृकेशरी** (नृसिंह देव) **उग्रः** (भक्त द्रोहीके लिए उग्र) **अपि** (होने पर भी) **स्वभक्तानां** (अपने भक्तोंके लिए) **अनुग्र एव** (अनुग्र—शान्त ही हैं)।

अनुवाद--सिंह जिस प्रकार अन्योंके (शावक-द्रोहीके) लिए उग्र होकर भी अपनी सन्तानगणके प्रति अनुग्र अर्थात् शान्त होते हैं, उसी प्रकार नृसिंहदेव भी हिरण्यकशिपु आदि भक्तद्रोहीके प्रति उग्र होकर भी प्रह्लादादि भक्तगणके प्रति अनुग्र (स्नेहपूर्ण) हैं।

एह मत नाना श्लोक पढ़ि स्तुति कैल।
नृसिंहसेवक माला-प्रसाद आनि दिल ।।५।।

इस प्रकार नाना प्रकारके श्लोक पढ़कर महाप्रभुने स्तुति की। तब नृसिंहदेवके सेवक (पुजारी) ने उन्हें माला प्रसाद दिया।

पूर्व्ववत् कोन विप्र कैल निमन्त्रण।
सेह रात्रे ताहाँ रहि करिला गमन ।।६।।

पूर्व्ववत् इत्यादि- कूर्मक्षेत्रमें जैसे कूर्म नामक वैष्णव ब्राह्मणने निमन्त्रण किया था, उसी प्रकार कोई एक वैष्णव ब्राह्मणने यहाँ पर भी प्रभुको निमन्त्रित किया। उस रात्रि प्रभुने वहीं निवास करके वहाँसे प्रस्थान किया।

विद्यानगरमें राय रामानन्दसे मिलन

प्रभाते उठिया प्रभु चलिला प्रेमावेशे।
दिग् विदिग् ज्ञान नाहि रात्रि-दिवसे ।।७।।

प्रभातमें उठकर प्रेमावेशमें प्रभु चल पड़े, उनको दिशाका या रात्रि-दिवसका ज्ञान ही न था।

पूर्व्ववत् वैष्णव करि सर्व्वलोकगणे।
गोदावरीतीरे चलि आइल कथोदिने ।।८।।

(मार्गमें मिलनेवाले) सब लोगोंको पूर्ववत वैष्णव करते हुए, कुछ दिनोंमें गोदावरी तीर पर आ पहुँचे।

गोदावरी देखि हैल यमुना-स्मरण ।
तीरे वन देखि स्मृति हैल वृन्दावन ॥९॥

गोदावरी-नदीको देख उनके मनमें यमुनाका स्मरण हो आया—अर्थात् गोदावरी-नदी यमुना-सी दीखने लगी और उसके तीर-स्थित वन वृन्दावनसे लगने लगे।

सेइ वने कथोक्षण करि नृत्य-गान ।
गोदावरी पार हैया कैल तहाँ स्नान ॥१०॥

वहाँ वनमें कुछ समय नृत्य-गान करके गोदावरी पार होकर वहाँ स्नान किया।

घाट छाडि कथोदूरे जल-सन्निधाने ।
बसि प्रभु करे कृष्णनाम सङ्कीर्त्तने ॥११॥

घाटसे कुछ दूर हटकर जलके निकट ही बैठकर प्रभु वहाँ कृष्णनाम संकीर्त्तन करने लगे।

हेनकाले दोलाय चढ़ि रामानन्द राय ।
स्नान करिबारे आइला—बाजना बाजाय ॥१२॥

ऐसे समय दोला (पाल्की) पर सवार रामानन्द राय गाजे-बाजेके सहित स्नान करनेके लिए आये। इस प्रान्तमें धनी लोगोंका यह चिन्ह है। राय रामानन्द राज-प्रतिनिधि थे इसलिए राजोचित मर्यादा-रक्षाके लिए पाल्की और वाद्य साथमें थे।

ताँर सङ्गे आइला बहु वैदिक ब्राह्मण ।
विधिमत कैल तेंहो स्नान-तर्पण ॥१३॥

उनके संग अनेक वैदिक (वेदज्ञ) ब्राह्मण आथे थे। तेंहो—रामानन्द रायने, विधिमत—शुद्धाभक्तिके अनुकूल विधिके अनुसार (वर्णाश्रमके

अनुकूल विधिके अनुसार नहीं) स्नान-तर्पण किया। रामानन्द राय शुद्ध-प्रेमभक्तिका याजन किया करते थे ; उनके जैसे भक्तके लिए वर्णाश्रम-धर्म अवश्य-कर्त्तव्य नहीं हैं—

"धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः।

श्रीम. भा. ११.११.३२

जो सर्व-धर्म त्याग करके मुझको भजते हैं, वे ही उत्तम भक्त हैं।" यहाँ पर 'सर्वधर्म' शब्दका अर्थ क्रमसन्दर्भमें इस प्रकार दिया है—**"सर्वान् एव वर्णाश्रमविहितान् तदुपलक्षणं ज्ञानमपि मदनन्यभक्तिविघातकतया संत्यज्य मां भजेत् स च सत्तमः॥"** अतएव अनन्य-भक्तिकी हानि होनेके कारण वर्णाश्रमधर्म व ज्ञान वर्जनीय है।

विशेषकरके साध्य-साधन-तत्त्व सम्बन्धीय प्रश्नोत्तरमें रामानन्द रायने स्वयं ही बताया है—

सेइ गोपीभावामृते जार लोभ हय।
वेदधर्म सर्व्व त्यजि से कृष्ण भजय॥ चै. च. म. ८.१७७

इससे यह स्पष्ट है कि राय रामानन्द वर्णाश्रम-धर्मके पक्षपाती नहीं थे।

प्रभु ताँरे देखि जानिल—एह रामराय।
ताँहारि मिलिते प्रभुर मन उठि धाय॥१४॥

उनको देखकर प्रभुने समझ लिया कि ये ही रामानन्द राय हैं। उनसे मिलनेके लिए प्रभुका मन व्यग्र हो उठा।

तथापि धैर्य्य करि प्रभु रहिला बसिया।
रामानन्द आइला अपूर्व्व सन्न्यासी देखिया॥१५॥

तथापि प्रभु धैर्यपूर्वक बैठे रहे। अपूर्व संन्यासी देखकर रामानन्द राय स्वयं उनके पास आये।

सूर्य्यशतसम कान्ति—अरुण वसन।
सुवलित प्रकाण्ड देह—कमल लोचन॥१६॥

सूर्य्य-शत-सम कान्ति इत्यादि—प्रभुके अङ्गकी कान्ति (तेज) शत सूर्यकी कान्तिकी तरह उज्ज्वल है, **अरुण** (गेरुवा) वसन है, **सुवलित**—सुगठित प्रकाण्ड देह—अति दीर्घ या आजानुलम्बित भुज युक्त (अपने हाथसे चार हाथ* परिमित) देह है, **कमललोचन**—पद्मपत्रके समान चक्षु हैं।

देखिया ताँहार मने हैल चमत्कार।
आसिया करिल दण्डवत्-नमस्कार ॥१७॥

महाप्रभुके अलौकिक तेज, रूप और देह देखकर रामानन्द रायके मनमें चमत्कार हुआ और वहाँ आकर उन्होंने दण्डकी तरह भूमिपर गिरकर नमस्कार किया।

उठि प्रभु कहे—उठ, कह 'कृष्ण कृष्ण'।
तारे आलिङ्गिते प्रभुर हृदय सतृष्ण ॥१८॥

---

*दैर्घ्य-विस्तारे जेइ आपनार हाथे।
चारिहस्त हय महापुरुष विख्याते ॥

चै. च. आ. ३.३३

सीधे होकर खड़े होनेपर पदतलसे लेकर मस्तकके शेष भाग तक जो अपने हाथके नापसे चार हाथ लम्बे हों एवं दोनों हाथ विस्तार करके रखनेपर भी एक हाथकी मध्य अंगुलीके अग्रभागसे दूसरे हाथकी मध्य अंगुलीके पर्यन्त अग्र भाग पर्यन्त जो अपने हाथके नापसे चार हाथ हों, वे ही महापुरुष नामसे विख्यात होते हैं, कारण इस प्रकारका शरीर साधारण मनुष्योंका देखनेमें नहीं आता। इस प्रकारके प्रमाणवाले शरीरको 'प्रकाण्ड शरीर' कहते हैं और 'न्यग्रोध-परिमण्डल' भी कहते हैं। यही भगवान्का एक विशेष लक्षण है। श्रीपाद सनातन गोस्वामीने महापुरुषका देह साढ़े चार हाथ लम्बा बताया है—श्रीम. भा. १०.१४.११ श्लोककी टीका।

तथापि पुछिल—तुमि राय रामानन्द ?
तेंहो कहे—सेइ हङ दास शूद्र मन्द ॥१९॥

तब खड़े होकर प्रभुने कहा—उठो 'कृष्ण-कृष्ण' कहो। रामानन्द रायको आलिङ्गन करनेके लिए वे उत्कण्ठित हो उठे, तथापि उन्होंने उनसे प्रश्न किया "क्या आप ही राय रामानन्द हैं?" इसपर रामानन्दने उत्तर दिया—"मैं ही वह रामानन्द, आपका दास मन्दभाग्य शूद्र हूँ। अथवा मैं शूद्रसे भी बढ़कर मन्दभाग्य हूँ।" उन्होंने दैन्यवश कहा कि मैं शूद्र तो हूँ, किन्तु शूद्रोचित कर्म नहीं करनेके कारण शूद्रसे भी अधम हूँ।

तबे प्रभु कैल ताँरे दृढ़ आलिङ्गन।
प्रेमावेशे प्रभु-भृत्य दोंहे अचेतन ॥२०॥

तब प्रभुने उनको दृढ़ आलिङ्गन किया और वे दोनों—प्रभु तथा दास रामानन्द—प्रेमावेशमें अचेतन हो गये।

श्रीपाद सनातन गोस्वामी द्वारा संकलित वृहद्भागवतामृत ग्रन्थसे जाना जाता है कि गोपकुमार एवं जनशर्म नामक माथुर-विप्रको जब श्रीकृष्णके दर्शन हुए, श्रीकृष्णचरणोंमें दण्डवत्-प्रणिपातके उद्देश्यसे वे लोग श्रीकृष्णकी ओर दौड़े, किन्तु श्रीकृष्णके चरणोंके निकट पहुँचनेके पूर्व ही अत्यधिक प्रेमानन्दमें भरकर विवशताको प्राप्त होकर वे संज्ञाहीन होकर भूमिपर गिर पड़े। इधर प्रियप्रेम-परवश श्रीकृष्ण भी दूरसे अपने दोनों प्रिय भक्तोंको देखकर उनसे मिलनेके आग्रह-अतिशयसे दौड़कर आ रहे थे, किन्तु हर्षमें भरकर विवशताको प्राप्त हो वे भी अपनी दोनों महाभुजाओं द्वारा उनका आलिङ्गन करते हुए संज्ञाहीन भावसे उनके ऊपर गिर पड़े।

स च प्रियप्रेमवशः प्रधावन् समागतो हर्षभरेण मुग्धः।
तयोरुपर्येव पपात दीर्घमहाभुजाभ्यां परिरभ्य तौ द्वौ॥

वृ. भा २.७.३८

स्वाभाविक प्रेम दोंहार उदय करिला ।

दोंहा आलिङ्गिया दोंहे भूमिते पड़िला ॥२१॥

स्वाभाविक प्रेम--जो प्रेम साधनादि द्वारा प्राप्त न होकर स्वभावसिद्ध हो। नित्यसिद्ध भक्तोंके हृदयमें ही यह स्वभावसिद्ध प्रेम अनादि कालसे नित्य वर्त्तमान है। इस प्रेमके आश्रय हैं नित्यसिद्ध भक्त, और विषय हैं भगवान्। भगवान्के दर्शन मात्रसे इस प्रेमका उत्स (झरना) छूटता (उछलता) रहता है। भक्तके प्रति भगवान्का जो प्रेम है, उसको भक्त-वात्सल्य कहते हैं; यह भी स्वभावसिद्ध है। भक्तको देखते ही यह भक्तवात्सल्यका उत्स छूटने लगता है। यहाँ स्वयं भगवान् श्रीगौराङ्गके दर्शनसे नित्यसिद्ध भक्त रामानन्द रायके हृदयमें स्वभावसिद्ध प्रेम एवं रामानन्द रायको देखकर महाप्रभुके हृदयमें स्वतःसिद्ध भक्तवात्सल्य उच्छलित हुआ।

गौरगणोद्देश-दीपिका (१२०-१२४) से जाना जाता है कि पाण्डुपुत्र अर्जुन, ललिता एवं व्रजकी अर्जुनीया नामकी गोपी—इन तीनोंका मिलित स्वरूप ही राय रामानन्द हैं। किसी-किसी योगपीठके चित्रमें उनको विशाखा रूपमें भी दिखाया गया है। महाप्रभु स्वयं राधाभावमें आविष्ट हैं; अतएव रामानन्दमें ललिता (अथवा विशाखा) या अर्जुनीया गोपीका भाव ही महाप्रभुके भावके अनुकूल है। इस प्रकार दोनोंके 'स्वाभाविक भाव' से यहाँ प्रभुका राधाभाव तथा राय रामानन्दका गोपीभाव (ललिता, विशाखा या अर्जुनीया भाव) समझा जाता है। परवर्ती पयारमें उल्लिखित—'दोंहार मुखेते शुनि गद्गद कृष्णवर्ण' वाक्यसे भी उनके उक्तरूप भावका आवेश ही युक्तिसंगत लगता है।

स्तम्भ स्वेद अश्रु कम्प पुलक वैवर्ण्य ।

दोंहार मुखेते—शुनि गद्गद कृष्ण-वर्ण ॥२२॥

स्तम्भ—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद और अमर्षसे स्तम्भ उत्पन्न होता

है। इससे वाक्यादि-शून्यता, निश्चलता, शून्यता आदि उत्पन्न होते हैं; कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियकी क्रियाका लोप हो जाता है।

स्वेद—हर्ष, भय और क्रोधादिके कारण शरीरके क्लेद या आर्द्रता (पसीना) को स्वेद कहते हैं।

अश्रु—हर्ष, क्रोध और विषादादि द्वारा बिना यत्नके चक्षुओंसे जो जल निकलता है, उसको अश्रु कहते हैं। हर्षजनित अश्रु शीतल होता है और क्रोधजनित उष्ण। किन्तु सभी अवस्थामें चक्षुका क्षोभ, रक्तिमा और सम्मार्जनादि होता रहता है। नासिका-स्राव इसका अंग-विशेष है।

कम्प—क्रोध, वित्रास और हर्षादि द्वारा जो शरीरकी चंचलता होती है, उसको कम्प कहते हैं।

पुलक—रोमाञ्च।

वैवर्ण्य—विषाद, क्रोध और भयादिके कारण वर्ण-विकारका नाम वैवर्ण्य है। इससे मलिनता तथा कृशता होती है।

दोनोंमें स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, पुलक और वैवर्ण्य आदि सात्विक भाव उत्पन्न हुए और दोनों गद्गद स्वरमें 'कृष्ण'—ये दो वर्ण उच्चारण करते रहे।

देखिया ब्राह्मणगणेर हैल चमत्कार।
वैदिक ब्राह्मण सब करेन विचार ॥२३॥

यह देखकर ब्राह्मणोंको बड़ा विस्मय हुआ और वे वैदिक ब्राह्मण विचार करने लगे कि रामानन्द राय शूद्र हैं; संन्यासीके लिए शूद्रको स्पर्श करना निषिद्ध है; इस संन्यासीने अत्यन्त तेजस्वी होनेपर भी शूद्र रामानन्दको आलिङ्गन क्यों किया। और रामानन्द भी स्वभावसे बहुत गंभीर है, वे भी इस संन्यासीके स्पर्शसे उन्मत्तकी तरह चंचल क्यों हुए।

एइ त सन्न्यासीर तेज देखि ब्रह्मसम।
शूद्र आलिङ्गिया केने करेन क्रन्दन ?॥२४॥

इन संन्यासीका तेज तो ब्रह्म समान दीखता है; तब ये शूद्रको आलिङ्गन करके क्रन्दन क्यों करते हैं ?

एइ महाराज महापण्डित गम्भीर।

सन्न्यासीर स्पर्शे मत्त हइल अस्थिर ॥२५॥

महाराज—श्रीरामानन्द राय। ये राजा प्रतापरुद्रके एक प्रधान कर्मचारी थे एवं विद्यानगरके राजा थे, इसलिए इनको महाराज कहा गया।

महाराज श्रीरामानन्द राय महापण्डित और गंभीर हैं, संन्यासीके स्पर्शमात्रसे ये मत्त और अस्थिर (चंचल) हो गये।

एइ मत विप्रगण भावे मने मन।

विजातीय लोक देखि प्रभु कैल संवरण ॥२६॥

विजातीय—जिनका मत और भाव सम्पूर्ण रूपसे अपने मत और भावका विरोधी हो, उनको विजातीय कहते हैं।

इस प्रकार विप्रगण मन ही मन विचार कर रहे थे। विजातीय लोगोंको देखकर प्रभुने अपना भाव संवरण किया।

सुस्थ हैया दोंहे सेइ स्थानेते वसिला।

तबे हासि महाप्रभु कहिते लागिला ॥२७॥

सर्वभौम भट्टाचार्य्य कहिल तोमार गुण।

तोमारे मिलिते मोरे करिल यतन ॥२८॥

तोमा मिलिबारे मोर एथा आगमन।

भाल हैल अनायासे पाइल दर्शन ॥२९॥

भाव संवरणके बाद स्थिर होकर दोनों वहाँ बैठे; तब महाप्रभु हंसकर कहने लगे—"सार्वभौम भट्टाचार्यने तुम्हारे गुण बताकर तुमसे मिलनेके लिए

मुझसे विशेष रूपसे कहा था, मेरा यहाँ आगमन तुमसे मिलनेके लिए ही है ; अच्छा हुआ, अनायास ही तुम्हारे दर्शन हो गये ।

राय कहे—सार्वभौम करे भृत्यज्ञान ।

परोक्षेह मोर हिते हय सावधान ।।३०।।

राय रामानन्दने कहा—सार्वभौम मुझे अपना दास मानकर असाक्षात्में भी मेरे हितके लिए सावधान—यत्नवान रहते हैं (राय रामानन्दकी यह दैन्योक्ति है) ।

ताँर कृपाय पाइनु तोमार चरण दर्शन ।

आजि सफल हैल मोर मनुष्य जन्म ।।३१।।

उनकी कृपासे आपके चरण-दर्शन मुझे मिले हैं, आज मेरा मनुष्य जन्म सफल हो गया ।

अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यमें विचार-बुद्धि आदि कुछ विशिष्ट्य है, इसीसे महापुरुष बता गये हैं—**'नरतनु भजनेर मूल ।'** देव-देहमें या नारकीय देहमें मनुष्यकी तरह ज्ञानमूलक या भक्तिमूलक साधनका सुयोग नहीं है, यह सुयोग केवल मनुष्यको ही है । इसीलिए स्वर्ग-वासी या नरक वासी भी मर्त्यलोकमें नरदेहकी कामना करते हैं ।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥

श्रीम. भा. ११.२० १२

यह भजनोपयोगी नरदेह बहुत दुर्लभ है, भगवान्‌की कृपासे यह हमको मिली है । श्रीगुरुदेवको कर्णधार बनाकर इस देह रूपी नावको भवसागरमें छोड़ दिया जाय तो जीव अनायास ही इस सागरसे पार हो जा सकता है । श्रीगुरुदेव यदि कर्णधार रूपसे इस नावको चला लें, तो श्रीभगवान्‌की कृपारूप वायुसे यह शीघ्र ही भवसागरके उस पार—श्रीभगवत्-चरणोंमें पहुँच जा सकती है । इसीमें मनुष्य जन्मकी सार्थकता है ।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥*
श्रीम. भा. ११.२०.१७

रामानन्द राय आज स्वयं भगवान् श्रीश्रीगौरसुन्दरके चरण-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करके अपने मनुष्य जन्मको सफल मान रहे हैं।

सार्व्वभौमे तोमार कृपा—तार एइ चिन्ह।
अस्पृश्य स्पर्शिले हञा ताँर प्रेमाधीन ॥३२॥
काहाँ तुमि साक्षात् ईश्वर नारायण।
काहाँ मुञि राजसेवी विषयी शूद्राधम ॥३३॥
मोर स्पर्शे ना करिले घृणा वेदभय।
मोर दरशन तोमा—वेदे निषेधय ॥३४॥
तोमार कृपाय तोमाय कराय निन्द्यकर्म्म।
साक्षात् ईश्वर तुमि—के जाने तोमार मर्म्म ॥३५॥
आमाय निस्तारिते तोमार इहाँ आगमन।
परम दयालु तुमि पतितपावन ॥३६॥
महान्तस्वभाव एइ—तारिते पामर।
निजकार्य्य नाइ—तबु जान तार घर ॥३७॥

रायने कहा—सार्वभौमके प्रति आपकी जो विशेष कृपा है, उसका प्रमाण यही है कि उनके अनुरोधसे—उनके प्रेमके वशीभूत होकर आपने मेरे

---

*करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥ रा. च. मा. ७.४४

जैसे अस्पृश्यको भी स्पर्श किया है। उनके प्रति आपकी कृपा न रहती तो मेरे जैसे अस्पृश्यको आप कभी भी स्पर्श नहीं करते। कहाँ आप साक्षात् ईश्वर नारायण, और कहाँ मैं राजसेवक, विषयी, शूद्राधम। आपने मुझे स्पर्श करनेमें न घृणा की और न वेदका भय किया। मेरे जैसे राजसेवी, विषयी, शूद्राधमका दर्शन आपके लिए वेदमें निषेध किया गया है। जीवके प्रति आपकी जो कृपा है, उसीके वशीभूत हो आप वेद-निषिद्ध निन्दनीय कार्य भी करते रहते हैं। मेरा उद्धार करनेके लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है, आप परम दयालु, पतित-पावन हैं।* महत् पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि अपना कोई कार्य या स्वार्थ न हो तब भी पामर पुरुषोंका उद्धार करने के लिए उनके घर जाते हैं।

---

*महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्तायावदर्थाश्च लोके॥

श्रीम. भा. ५.५.२-३

सब जीवोंके प्रति जिनकी समान दृष्टि है, जिनके चित्तमें कुटिलता नहीं है, जो प्रशान्त हैं अर्थात् श्रीभगवान्‌में जिनकी बुद्धि निष्ठा-प्राप्त हुई है, जो सबके सुहृद हैं, जो क्रोधशून्य हैं, जो साधु अर्थात् सदाचार परायण हैं और जो श्रीभगवान्‌में प्रीतिको ही पुरुषार्थ मानते हैं, भगवत-प्रीतिके अतिरिक्त अन्य वस्तुको जो पुरुषार्थ नहीं मानते, देह-रक्षा एवं देहके-तृप्ति-साधनके निमित्त ही जो जीविका-निर्वाह करते हैं—देहकी तृप्तिजनक वस्तुके विषयमें जो आलोचना करते हैं (धर्मकी आलोचना नहीं करते)—इस प्रकारके विषयासक्त व्यक्तियोंके प्रति जिनकी प्रीति नहीं है, स्त्री-पुत्र-धनादि युक्त गृहमें भी जिनकी प्रीति नहीं है, एवं जितने परिमाणमें धनादि पानेसे किसी भी प्रकार जीवन धारण करके भगवत-प्रीतिमूलक-भक्तिका अनुष्ठान किया जाय उससे अधिक धनादिमें जो स्पृहाशून्य हैं, वे ही महत पुरुष होते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.८.४

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ।।३।।

अन्वय – भगवन् (हे भगवन्) ! **दीनचेतसां** (दीनचित्त) **गृहिणां** (गृहस्थ) **नृणां** (लोगोंके) **निश्रेयसाय** (मङ्गलके लिए ही) **महद्विचलनं** (महापुरुषोंका अपने आश्रमसे अन्यत्र गमन होता है); **क्वचित्** (कहीं भी) **अन्यथा** (अन्य रूप) **न कल्पते** (नहीं घटता)।

अनुवाद—हे भगवन् ! दीनचित्त गृहस्थोंके कल्याण साधनार्थ ही उनके घरमें महत् पुरुषोंका गमन होता रहता है, अन्य कारणोंसे कहीं भी उनका गमन नहीं होता।

श्रीकृष्णके नाम-करणके निमित्त वसुदेवके द्वारा प्रेरित गर्गाचार्य जब नन्द महाराजके घर उपस्थित हुए, तब नन्द महाराजने दैन्य ज्ञापन पूर्वक गर्गाचार्यसे यह श्लोक कहा था। यहाँ रामानन्द रायने अपने दैन्य-ज्ञापनार्थ यह श्लोक कहा है।

दीनचेतसां गृहिणां—कृपणचित्त गृहासक्त लोगोंके। जो स्त्री-पुत्र आदिके हित साधनमें व्यग्र तथा गृहादिके संस्कारमें एवं उन्नति-साधनमें व्यस्त होनेके कारण अन्यत्र जाकर महापुरुष आदिके दर्शन नहीं करते, गृहमें रहकर ही जो संसारासक्त जीवके अवश्य-भोग्य दुःख-दुर्दशादि भोग करते हैं, ऐसे लोगोंके **निश्रेयसाय**—सर्वविध मङ्गलके निमित्त ही **महद्विचलनं**—श्रीभगवत्-सेवैकनिष्ठ महत् पुरुषोंका अपने आश्रमादिसे अन्यत्र (उन हतभाग्य गृहस्थोंके घरमें) गमन होता है। दीनजनोंके मङ्गलके अतिरिक्त, स्वार्थसिद्धि आदि अन्य किसी भी कारणसे महत् जन अन्यत्र गमन नहीं करते।

श्रीनन्द महाराज (अथवा राय रामानन्दने) अपना दैन्य प्रकट करके उक्त श्लोक कहा है, इसलिए **'दीनचेतसां और गृहिणां'**—इन दोनों शब्दोंका तद्रूप अर्थ किया गया है; इस प्रकार किये बिना उनका

अभिप्रेत दैन्य प्रकाश नहीं पाता। किन्तु उक्त दोनों शब्दोंका अन्य प्रकार भी अर्थ हो सकता है तथा उस अन्य प्रकारके अर्थसे ही निरपेक्ष भक्तोंका हार्दिक अभिप्राय होगा, ऐसा लगता है।

दीनचेतसां– दीन हुआ है **चेतः** (चित्त) जिनका ; भक्तिके प्रभावसे जो अपनेको नितान्त दीन—तृणकी अपेक्षा भी नीच— दुर्भागा मानते हैं— अपनेको अभिमानी एवं भक्तिहीन मानते हैं (**अभिमानी भक्तिहीन, जगमाझे सेइ दीन**—श्रीठाकुर महाशय), वे हैं दीनचेता ; वैसे **नृणां**— मनुष्योंको ; देवतादिको नहीं ; मनुष्योंमें जो गृही हैं, उनके मङ्गलके लिए ही महत्-पुरुषोंका आगमन होता हैं।

चारों आश्रमोंमें-से केवल गृहस्थके घर ही महत् पुरुषोंके आगमनका विषेश कारण यह है कि ब्रह्मचर्यादि अन्य तीन आश्रम इस गृहस्थआश्रमके ऊपर ही निर्भर करके अस्तित्व रक्षा करते हैं, इसलिए गृहस्थाश्रम ही एक प्रकारसे श्रेष्ठ एवं विशेष कृपाका पात्र है।

"**भिक्षाभुजश्च ये केचित् परिव्राड्‌ ब्रह्मचारिणः।**

तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थं तेन वै परम् ॥ वि. पु. ३.९.११

जो परिब्राजक या ब्रह्मचारी भिक्षा द्वारा जीवन-यात्रा निर्वाह करते हैं, गृहस्थ ही उनके आश्रय हैं, इसलिए गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है।" पद्म-पुराण पातालखण्ड ५६.८८ में भी वर्णन है—**गार्हस्थ्यान्नाश्रमः परः**।

इस श्लोकके सम्बन्धमें कुछ विवेचना आवश्यक है। श्लोकमें महत्-पुरुषोंके परगृहमें गमनकी बात कही गयी है। इस श्लोककी टीकामें श्रीपाद सनातन गोस्वामीने 'महत्' शब्दका अर्थ किया है—**महतां-श्रीभगवत्-सेवैकनिष्ठानां**— भगवत् सेवैकनिष्ठ भक्त ही महत् हैं। गृहस्थोंके मङ्गलके निमित्त ही अपने आश्रमसे अन्यत्र जाते हैं। श्रीनन्द महाराजने भी यहाँ गर्गाचार्यको लक्ष्य करके ही यह श्लोक कहा है। पूर्ववर्ती ३७वें पयारमें राय रामानन्दने 'महान्तस्वभाव'की बात कही है एवं उसके समर्थनमें उन्होंने इस श्लोकका उल्लेख किया है। तब राय

रामानन्दने क्या श्रीमन् महाप्रभुको भगवत्-सेवैकनिष्ठ महान्त-भक्तविशेष ही माना है ? किन्तु ऐसी बात नहीं लगती, क्योंकि पूर्ववर्ती ३३वें पयारमें उन्होंने प्रभुको 'साक्षात् ईश्वर नारायण' एवं ३५वें पयारमें **साक्षात् ईश्वर तुमि**' कहा है और परवर्ती ३८-४० पयारोंमें उन्होंने प्रभुकी साक्षात्-भगवत्ताकी बात कही है। इससे लगता है कि ३९वें पयारमें एवं इस श्लोकमें राय रामानन्दका अभिप्राय इस प्रकार है—"भगवत्-सेवैकनिष्ठ भक्तोंका जब ऐसा स्वभाव होता है कि जीवोंके मङ्गलके लिए वे गृहस्थोंके यहाँ भी जाते रहते हैं, तब पतित-पावन अवतार भगवान्‌की और क्या बात कही जाय ? जीवोंके मङ्गलके लिए प्रभु जब अवतीर्ण हुए हैं, तब वे गृहस्थोंके यहाँ उनके मङ्गलके लिए जायँ, तो उसमें आश्चर्य-की क्या बात है ? पूर्वमें बलि महाराजको कृतार्थ करनेके लिए वामन-रूपसे अवतीर्ण होकर उनके यहाँ भी गये थे।"

परवर्ती १०वें परिच्छेदमें भी इसी प्रकारकी उक्ति मिलती है (श्रीपाद सार्वभौम भट्टाचार्यसे राजा प्रतापरुद्रने जब सुना कि महाप्रभु दक्षिण देशकी ओर गये हैं तब राजाने कहा—प्रभु 'जगन्नाथ छाड़ि केने गेला ? यह सुनकर भट्टाचार्यने उत्तर दिया--"**महान्तेर एइ एक लीला**

तीर्थ पवित्र करिते करेन तीर्थपर्य्यटन ।

सेइ छले निस्तारिते सांसारिक जन ॥ चै. च. म. १०.९.१०

इस उक्तिके समर्थनमें भट्टाचार्यने श्रीमद्भागवतका एक श्लोक भी कहा था—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो ।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥ श्रीम. भा. १.१३.१०

यह श्लोक विदुरके प्रति युधिष्ठिरकी उक्ति है। श्रीपाद सार्वभौमने श्रीमन् महाप्रभुके दक्षिण-देश-गमन-प्रसंगमें यही बात कही थी। इससे किसीके मनमें ऐसी बात आ सकती है कि उन्होंने प्रभुको 'महान्त' या

श्लोकोक्त 'भागवत' कहा है। इस प्रकारका सन्देह निवारण करनेके लिए श्रीपाद सार्वभौमने कहा—

वैष्णवेर एइ हय स्वभाव निश्चल।
तेंहो जीव नहे—हय स्वतन्त्र ईश्वर॥ चै. च. म. १०.११

तात्पर्य यह है कि उनके भक्तोंका लोक उद्धारके लिए अन्यत्र गमन होता रहता है तब उनकी बात क्या कही जाय ? वे तो परम स्वतन्त्र भगवान् हैं।

आमार सङ्गे ब्राह्मणादि सहस्रेक जन।
तोमार दर्शने सभार द्रवीभूत मन॥३८॥
'कृष्ण कृष्ण' नाम शुनि सभार वदने।
सभार अङ्ग पुलकित—अश्रु नयने॥३९॥
आकृत्ये-प्रकृत्ये तोमार ईश्वर-लक्षण।
जीवे ना सम्भवे एइ अप्राकृत गुण॥४०॥

द्रवीभूत—आर्द्र; कोमल।

आकृत्ये—आकृतिसे; अपने हाथसे चार हाथ लम्बा शरीर एवं सब प्रकारसे सुलक्षण युक्त। **प्रकृत्ये**—प्रकृतिसे।

अप्राकृत गुण—प्राकृत जगत्में जो गुण देखनेमें नहीं आवें; जैसे दर्शन मात्रसे प्रेम-दानादि-रूप गुण (३८-३९ पयार)। केवल मात्र दर्शनसे प्रेम-दान, मुण्डक-श्रुति कथित रुक्मवर्ण स्वयं भगवान्के (गौरकृष्णके) विशेष लक्षण होते है।

रामानन्द रायने कहा—"मेरे साथ प्रायः एक हजार ब्राह्मणादि लोग हैं; आपके दर्शन करके सबका चित्त द्रवित हो गया है, सबके मुखमें कृष्ण नाम स्फुरित हुआ है और सबके अङ्गमें पुलक एवं नयनोंमें अश्रु दिखायी दे रहे हैं; अर्थात् सबके ही चित्तमें प्रेमका उदय एवं देहमें सात्त्विक भावका उदय हुआ है। आकृति और प्रकृतिसे आपके जो लक्षण दिखायी

पड़ते हैं, वे सब लक्षण ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसी जीवमें सम्भव नहीं हैं।"

प्रथम दो (३८-३९) पयारोंमें राय रामानन्दने महाप्रभुके स्वयं भगवत्ता-के लक्षण प्रकट किये हैं। कारण, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप किसीको भी प्रेम नहीं दे सकता।

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥

प्रभुके दर्शन मात्रसे ब्राह्मणादिके चित्तमें प्रेमका आविर्भाव हुआ है, इससे प्रभु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य कोई नहीं।

३८-४० पयारोंमें स्वरूप-लक्षणसे तथा तटस्थ-लक्षणसे महाप्रभुका ईश्वरत्व प्रमाणित हुआ है ; "आकृति प्रकृति—ये स्वरूप लक्षण हैं। कार्य द्वारा ज्ञान—यह तटस्थ-लक्षण है॥ चै.च.म. २०.२९६।" आलोच्य ४०वें पयारमें प्रभुकी आकृतिके या श्रीअङ्गके विशेष-लक्षणादि द्वारा ईश्वरके स्वरूप लक्षण एवं ३८-३९ पयारोंमें कार्य द्वारा—केवल मात्र दर्शन-दानके प्रभावसे सर्वसाधारणके चित्तमें प्रेम संचारित करनेकी अलौकिक सामर्थ्य द्वारा—ईश्वरके तटस्थ-लक्षण प्रमाणित हुए हैं। ये सब लक्षण जीवमें कभी भी सम्भव नहीं ; अतः इन लक्षणोंसे लक्षणान्वित श्रीमन् महाप्रभु कभी भी जीव-तत्त्व नहीं हो सकते।

प्रभु कहे — तुमि महाभागवतोत्तम।
तोमार दर्शने सभार द्रव हैल मन ॥४१॥

प्रभु प्रायः सदा ही आत्म-गोपन करना चाहते हैं, इसीलिए रामानन्द रायकी बात सुनकर आत्म-गोपनके उद्देश्यसे अपना दैन्य प्रकट करके उन्होंने कहा—"रामानन्द ! तुम्हारे संगी लोगोंका चित्त जो द्रवित हुआ है, वह मेरे दर्शन करके नहीं—तुम्हारे दर्शन करके ही हुआ है ; तुम्हारी कृपासे सबके चित्तमें प्रेमका उदय हुआ है। इसीसे सबका चित्त आर्द्र हो गया है।

तुम महाभागवतोंमें भी उत्तम या श्रेष्ठ हो—तुम्हारे दर्शनोंसे इस प्रकार होना सम्भव है ।''

जो महाभागवतोत्तम हैं, उनके चित्तमें भक्तिका पूर्ण प्रभाव विद्यमान रहता है, उस भक्तिके प्रभावसे भगवान् उनके वशमें रहते हैं। **भक्तिवशः पुरुषः**—श्रुति। वशीभूत होकर भगवान् उनके चित्तमें ही अवस्थान करते हैं--**प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः।** श्रीम. भा. ११. २. ५५। भगवान्ने ही स्वयं कहा है--''साधु-भक्तगण मुझे अपने चित्तमें मानो **ग्रास** करके रखते हैं।

साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ श्रीम. भा. ६.४.६३

कृपाशक्तिको वाहन करके उनकी ही कृपासे भक्तके चित्तसे प्रेमभक्तिकी तरंग दूसरेके चित्तमें भी संचारित हो सकती है। इसीसे प्रभुने रामानन्द रायसे कहा है--**तुमि महाभागवतोत्तम** इत्यादि।

आनेर का कथा—आमि मायावादी सन्न्यासी।
आमिह तोमार स्पर्शे कृष्णप्रेमे भासि ॥४२॥

प्रभुने और भी कहा--''औरोंकी क्या बात कहूँ, मैं भक्ति-विरोधी मायावादी संन्यासी होकर भी तुमको स्पर्श करके कृष्णप्रेममें डूब रहा हूँ''।

उस कालके संन्यासियोंमें प्रायः सभी शङ्कर-सम्प्रदायी अद्वैतवादी (मायावादी) थे ; संन्यासी देखकर ही लोग सोचते कि ये अद्वैतवादी हैं ; शङ्करका अद्वैतवाद भक्ति विरोधी है। वास्तवमें श्रीमन् महाप्रभु मायावादी नहीं थे ; उन्होंने परम भागवत श्रीपाद ईश्वर पुरीसे (लौकिक-लीलाके अनुकरणमें) दशाक्षर गोपाल-मन्त्रकी दीक्षा ली थी। श्रीपाद केशव भारतीसे संन्यास ग्रहणके समय भी भारतीके कानमें 'तत्वमसि' वाक्यका भक्तिवाद मूलक अर्थ बताकर उनको भी भक्तिमार्गमें लाकर उसके पश्चात् उनसे संन्यास ग्रहण किया था ; अतएव सदा ही प्रभु भक्तिवादका पोषण करते आये हैं। तथापि, केवल आत्मगोपनके उद्देश्यसे ही यहाँ उन्होंने अपनेको मायावादी बताया है।

आत्मगोपनके लिए प्रभुने अपनेको मायावादी बताकर अपना हेयत्व जनाया। किन्तु प्रभुका यह हेयत्व सरस्वती सह्य नहीं कर सकी; सम्भव है कि वे मायावादी शब्दका अन्य प्रकारका अर्थ करके प्रभुकी श्रेष्टता प्रतिपादन करें। अन्य प्रकारका अर्थ इस तरह है—"**मायादम्भे कृपायाञ्च--इति विश्व। माया भगवदिच्छारूपा कृपापरपर्याया चिद्रूपाशक्तिः**—इति, लघुभागवतामृत कृष्णामृतके ४१२ श्लोकी टीकामें श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण।" इन प्रमाणोंसे माया शब्दका अर्थ मिलता है--चिच्छक्तिरूपा कृपा। तब मायावादी शब्दका अर्थ हुआ—चिच्छक्ति-वादी; ब्रह्मकी चिच्छक्ति है, कृपाशक्ति है--इस बातको जो स्वीकार करते हैं, वे मायावादी; यह अर्थ अद्वैतवादके सर्वथा विपरीत तथा भक्तिमार्गके अनुकूल है।

एइ जानि—कठिन मोर हृदय शोधिते।
सार्व्वभौम कहिलेन तोमारे मिलिते ॥४३॥

एइ जानि—यह जानकर; तुम परम-भागवत हो, तुम्हारे दर्शन-स्पर्शन-से बहिर्मुख जीव भी कृष्ण-प्रेममें डूब जा सकता है, यह जानकर ही, **कठिन मोर** इत्यादि—मेरे कठोर चित्तका शोधन करनेके लिए, तुम्हारी कृपासे चित्तमें कोमलता सम्पादनके उद्देश्यसे सार्वभौमने मुझे तुमसे मिलनेको कहा।

एइ मत दोंहे स्तुति करे दोंहार गुण।
दोंहे दोंहार दरशने आनन्दित-मन ॥४४॥

इस प्रकार दोनों एक दूसरेके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, तथा परस्पर दर्शनसे दोनोंका ही मन आनन्दित हो रहा है।

हेनकाले वैदिक एक वैष्णव ब्राह्मण।
दण्डवत् करि कैल प्रभुर निमन्त्रण ॥४५॥

निमन्त्रण मानिल तारे 'वैष्णव' जानिया।
रामानन्दे कहे प्रभु ईषत् हासिया ॥४६॥
तोमार मुखे कृष्णकथा शुनिते हय मन।
पुनरपि पाइ जेन तोमार दर्शन ॥४७॥

ऐसे समयमें एक वैदिक वैष्णव ब्राह्मणने आकर प्रभुको दण्डवत करके (भिक्षाके लिए) आमन्त्रित किया। प्रभुने उसको वैष्णव समझकर उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और कुछ मुस्कुराते हुए रामानन्दसे कहने लगे—"तुम्हारे मुखसे कृष्ण-कथा सुननेका मन होता है, फिर तुम्हारे दर्शन मिलें तो अच्छा हो।"

राय कहे—आइला यदि पामर शोधिते।
दर्शनमात्रे शुद्ध नहि मोर दुष्टचित्ते ॥४८॥
दिन पाँच सात रहि करह मार्ज्जन।
तबे शुद्ध हय मोर एइ दुष्ट मन ॥४९॥

तब रामानन्द रायने कहा—"यदि आप मेरे जैसे पामरका शोधन करनेके लिए आये हैं, तो दर्शन मात्रसे मेरा दुष्ट चित्त शुद्ध होनेवाला नहीं है; पाँच-सात दिन रहकर उसका मार्जन कीजिये, तब मेरा दुष्ट मन शुद्ध हो पायगा।"

यद्यपि विच्छेद दोंहार सहने ना जाय।
तबु दण्डवत् करि चलिला रामराय ॥५०॥

यद्यपि दोनोंको एक-दूसरेका विच्छेद सहन नहीं हो रहा है, तथापि दण्डवत करके रामानन्द राय विदा हुए।

प्रभु जाञा सेइ विप्रघरे भिक्षा कैल।
दुइ जनार उत्कण्ठाय आसि सन्ध्या हैल ॥५१॥

प्रभुने उस विप्रके घर जाकर भिक्षा की। दुइजनार इत्यादि—प्रभु और रामानन्द रायकी परस्पर मिलनकी उत्कण्ठामें सन्ध्याकाल आकर उपस्थित हुआ। सन्ध्या समय दोनोंके मिलनेकी सम्भावना थी, इसलिए दोनों ही सन्ध्याकी प्रतीक्षामें उत्कण्ठित हो बैठे रहे। इस प्रकार उत्कण्ठामें उनका समय बीतते-बीतते सन्ध्याकाल आ उपस्थित हुआ।

प्रभु स्नानकृत्य करि आछेन बसिया।
एक भृत्यसङ्गे राय मिलिल आसिया ॥५२॥

प्रभु सन्ध्याकालका स्नान और नित्यकृत्य पूर्ण करके राय रामानन्दकी प्रतीक्षामें बैठे हैं, उसी समय एक भृत्यके साथ आकर रामानन्द राय उनसे मिले।

नमस्कार कैल राय, प्रभु कैल आलिङ्गने।
दुइ जने कथा कहे बसि रहःस्थाने ॥५३॥

रहःस्थाने—निर्जन स्थानमें, एकान्त स्थानमें। रामानन्द रायने आकर नमस्कार किया और प्रभुने उनको आलिङ्गन किया। प्रभु और राय रामानन्द—दोनोंने एकान्तमें बैठकर साध्य-साधन तत्वकी आलोचना की।

स्वधर्माचरण

प्रभु कहे—पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय।
राय कहे—स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय ॥५४॥

प्रभुने कहा—साध्यके निर्णयके प्रमाणका श्लोक पढ़ो। श्लोक पढ़नेको कहनेका तात्पर्य यह है कि साध्य निर्णयके सम्बन्धमें राय रामानन्दने जो कहा वह अशास्त्रीय न हो; सब जगह वे शास्त्रके प्रमाण दिखाकर अपने वक्तव्यको प्रतिष्ठित करें—यही प्रभुका अभिप्राय है। वस्तुतः साध्य-साधनके विषयमें शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है। साध्य वस्तु है अप्राकृत

राज्यका व्यापार; जीवकी प्राकृतिक बुद्धि, प्राकृतिक युक्ति-तर्क या प्राकृतिक जगतकी अभिज्ञता (ज्ञान) के द्वारा अप्राकृत राज्यके किसी भी व्यापारके लिए किसी भी निर्भर योग्य सिद्धान्तके पास नहीं पहुँचा जा सकता। इसीसे शास्त्रका कहना है—

"अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्तस्य लक्षणम् ॥

अचिन्त्य वस्तुके सम्बन्धमें (जो शास्त्रके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं, ऐसे किसी भी) तर्क द्वारा कोई सिद्धान्त निर्णय नहीं किया जाता ; जो प्रकृतिके परे है, अप्राकृत है, वही अचिन्त्य है।" अप्राकृत वस्तुके सम्बन्धमें प्राकृत जीवको कोई भी ज्ञान न होनेके कारण केवल मात्र प्राकृत बुद्धिमूलक विचार-वितर्कके ऊपर निर्भर करके किसी भी सिद्धान्तके पास पहुँचनेसे कई बार शास्त्र-विधिके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित होती है ; किन्तु गीतामें श्रीकृष्णने कहा कि जो व्यक्ति शास्त्रविधिको छोड़कर अपनी इच्छानुसार काम करता है, उसको सिद्धि नहीं मिलती, सुख प्राप्ति भी नहीं होती एवं परा गति भी नहीं प्राप्त होती।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ गी. १६.२३

अतएव कौनसा कार्य करणीय है कौनसा करणीय नहीं है, यह एक मात्र शास्त्र द्वारा ही निर्णय करना होगा ।

तस्माच्छात्रं प्रमाणं ते कायाकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। गी. १६. २४

इन्हीं कारणोंसे रामानन्द रायको शास्त्र-वाक्य उल्लेख करके अपना वक्तव्य कहनेकी बात प्रभुने कही ।

साध्य—जिस वस्तुको पानेके लिए किसी उपायका अवलम्बन किया जाय, उस वस्तुको साध्य कहते हैं। हमारी अभीष्ट या काम्य वस्तु ही हुई हमारी साध्य। हमारी प्रधान काम्य वस्तु है सुख एवं सुख चाहनेके

कारण ही हम दुःख नहीं चाहते। अतएव सुखकी प्राप्ति एवं दुःखकी निवृत्ति हुई हमारी काम्य और साध्य वस्तु। सही हो चाहे गलत, इस संसारमें सुखकी अनेक प्रकारकी धारणा हमलोगोंकी है। इस प्रकारकी धारणाके अनुसार हमारी काम्य वस्तुओंको साधारणतया हम चार श्रेणीमें विभाग करते हैं और इसको पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ—पुरुषका या जीवका अर्थ या काम्य वस्तु। ये चार पुरुषार्थ हैं धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। श्रीचैतन्यचरितामृतके 'भूमिका' ग्रन्थमें 'पुरुषार्थ' प्रबन्धमें यह दिखाया गया है कि धर्म, अर्थ, और काम—ये तीन वास्तविक पुरुषार्थ नहीं हैं, क्योंकि इन तीनोंमें-से किसीमें भी अविमिश्र (विशुद्ध) नित्य सुख नहीं मिलता, आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति भी नहीं होती। उस भूमिका-ग्रन्थमें यह भी दिखाया गया है कि मोक्षमें आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति होती है एवं नित्य अविमिश्र ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है, अतएव मोक्षमें (सायुज्य-मुक्तिमें) पुरुषार्थता तो है, मोक्षमें या सायुज्य मुक्तिमें पुरुषार्थता रहनेपर भी यह परम पुरुषार्थ नहीं है; क्योंकि, मोक्ष-प्राप्त जीवोंको भी भगवद्-भजनके लिए लोभकी कथा स्मृति-श्रुतिमें देखनेमें आती है; भगवद्-भजनका—भगवत्-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवाका एक मात्र उपाय है प्रेम। इस प्रेम-प्राप्तिके लिए मुक्त पुरुषोंकी भी बलवती आकांक्षाकी बात सुननेमें आती है एवं जो लोग अपने सम्बन्धी सब अनुसन्धान त्यागकर केवल भगवत्-सुखके लिए ही प्रेमके सहित भगवत्सेवाका सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं, अन्य किसी भी वस्तुके लिए उनके लोभकी बात सुननेमें नहीं आती। अतएव प्रेम ही हुआ चरम व परम पुरुषार्थ, चरमतम काम्य, चरमतम-साध्य वस्तु। इस प्रकारकी प्रेम-सेवासे सुख-स्वरूप, रस-स्वरूप, असमोर्द्ध माधुर्यमय श्रीभगवान्के सर्वचित्ताकर्षी माधुर्यके अनुभवसे अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति होती है, जीवकी चिरन्तनी सुख-वासनाकी चरम तृप्ति प्राप्त होती है एवं आनुसङ्गिक आत्यन्तिक भावसे दुःख निवृत्ति हो जाती है।

वास्तवमें जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य-साधनके लिए जो अपरिहार्य (नितान्त आवश्यक) है, वही है जीवके लिए वास्तविक स्वरूपगत साध्य। जीवका स्वरूप है श्रीकृष्णका नित्यदास, अतएव उसका स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य है श्रीकृष्णकी सेवा। सेवाका अर्थ है सेव्यका प्रीतिविधान। इस प्रकारकी सेवामें स्वसुख-वासनाका स्थान नहीं। स्वसुख-वासना रहनेसे, वह सेवा होगी कपट सेवा—अपनी सेवा, साध्यकी सेवा नहीं। अतएव जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य है स्वसुख-वासना-गन्धलेश-शून्या श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा। सेवा-वासनाको कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी बना सकता है एकमात्र प्रेम। जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य सम्पादनके लिए प्रेम अपरिहार्य है इसलिए कृष्णप्रेम ही वास्तविक साध्य वस्तु है।

साधन भक्तिके अनुष्ठानमें भगवत्कृपासे भगवान्के साथ जीवके सम्बन्धज्ञान स्फुरित होनेपर सेव्य-सेवकताका भाव जाग्रत होता है एवं आनुसङ्गिक भावसे जीवकी संसार-निवृत्ति हो जाती है। सम्बन्ध ज्ञानके दो अङ्ग हैं—सेव्य सेवकताका भाव एवं सेवा-वासना। यह सेवा-वासना स्वरूप-शक्ति द्वारा अनुगृहीत होनेपर ही (अर्थात् सम्बन्ध ज्ञान जाग्रत होनेके बाद चित्तमें स्वरूप-शक्तिकी वृत्तिविशेष प्रेमका आविर्भाव होने पर ही) सार्थकता प्राप्त कर सकती है।

सायुज्य मुक्तिके साधनमें साधक सर्वदा ही जीव-ब्रह्मका अभेद चिन्तन करता है, इसलिए सेव्य-सेवकताका भाव—वास्तविक सम्बन्ध-ज्ञान—विकसित नहीं हो सकता। जीव-ब्रह्मका अभेद चिन्तन ही सम्बन्ध-ज्ञानके विकासमें बाधक है। सम्बन्ध-ज्ञानका विकास न होनेके कारण सायुज्य मुक्तिसे जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य भी सम्पादित नहीं हो सकता; इसीलिए सायुज्य मुक्तिमें पुरुषार्थका पूर्णतम विकास नहीं है।

सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तिके साधनमें सेव्य-सेवकताका भाव विकसित होता है, किन्तु सेवा-वासनाका सम्यक् विकास नहीं हो सकता; क्योंकि, इसमें सेवा-वासनाके साथ सालोक्यादिकी प्राप्तिके लिए अन्य कामना

जड़ित है ; सालोक्यादि प्राप्तिकी वासना है अपने सुखकी वासना । यह वासना एवं भगवान्‌का ऐश्वर्य-ज्ञान कृष्णसेवा-वासनाके सम्यक् विकासके लिए बाधक बना रहता है। अतएव सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तिमें पुरुषार्थता अवश्य है, किन्तु परम पुरुषार्थता नहीं है । इसीलिए **धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां**—श्रीम. भा. १.१.२ श्लोककी टीकामें श्रीधर स्वामीपादने कहा है—जिस धर्ममें मोक्षवासना सम्यक् रूपसे परित्यक्त हो चुकी है, वही परम-धर्म है ; एवं श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—जिसमें सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सायुज्य—ये पाँच प्रकारकी मुक्तिकी वासना सम्यक् रूपसे परित्यक्त हुई है, वही परम धर्म है । तात्पर्य यह कि जिस धर्मके अनुष्ठानमें शुद्धप्रेम—कृष्णसुखैक-तात्पर्यमय प्रेम—प्राप्त हो सकता है, वही परम-धर्म है ; अतएव इस प्रकारके परम-धर्मका लक्ष्य जो प्रेम है, वही परम पुरुषार्थ या परम साध्य वस्तु। परवर्ती आलोचनासे स्पष्ट हो जायगा कि श्रीमन् महाप्रभुने राय रामानन्दसे इसी साध्यकी जिज्ञासा की है। **'प्रभु कहे—पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय।'**

सार बात यह है कि मायाबद्ध जीवके लिए साधन रहनेपर ही साध्य है, साध्य रहनेपर ही साधन है। जो उसके स्वरूपके साथ नित्यसम्बन्ध-विशिष्ट है, वही उसके लिए सर्वोत्तम साध्य है। अतएव जीवका सर्वोत्तम साध्य निर्णय करनेके लिए सबसे पहिले उसके स्वरूपकी विवेचना करनी होगी। जीवके स्वरूपकी विवेचना करनेके लिए भगवान्‌के साथ उसके नित्य-सम्बन्धकी विवेचना करनी होगी। किन्तु मायाबद्ध जीव भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको अनादिकालसे भूला हुआ है। इस स्वरूप ज्ञानका स्फुरण ही साधन-भजनका लक्ष्य है। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका नित्यदास है। सम्बन्ध ज्ञानके दो अंग हैं—भगवान् एवं जीवके बीच सेव्य-सेवकताका ज्ञान एवं सेवा-वासना । सेव्य-सेवकका ज्ञान स्फुरित होनेपर ही सेवा-साधना जाग्रत होती है।

सम्बन्ध ज्ञानके स्फुरणमें प्रधानतः दो बाधाएँ हैं—देहावेश (एवं तज्जनित भुक्ति-आदिकी वासना) एवं जीव-ब्रह्मका ऐक्यज्ञान। ये दो बाधाएँ दूर होनेपर ही सम्बन्धज्ञान स्फुरित हो सकता है। सम्बन्धज्ञानके स्फुरणसे सबसे पहिले सेव्य-सेवकका ज्ञान स्फुरित होता है—भगवान् सेव्य हैं एवं जीव उनका सेवक, इस प्रकारकी उपलब्धि उत्पन्न होती है। साथ-साथ सेवा वासना भी उद्बुद्ध होती है। किन्तु सेवा वासनाके सम्यक् विकासके लिए भी बाधा है—भगवान्के सम्बन्धमें ऐश्वर्यज्ञानकी प्रधानता एवं मुक्तावस्थामें भी अपने लिए कुछ अनुसन्धान—ये सब सेवा-वासनाके सम्यक् विकासके लिए बाधाएँ हैं। इनके दूर होनेपर सेवा-वासनाका सम्यक् विकास सम्भव है एवं तभी जीवके साध्यकी प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

सम्यक् रूपसे विकसित सेवा-वासनाकी भी कई वैचित्री हैं एवं ऐसी अवस्थामें सेवाकी भी अनेक वैचित्री हैं। मुख्य वैचित्री दो हैं—स्वातन्त्र्यमयी सेवा एवं आनुगत्यमयी सेवा। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका दास होनेके कारण स्वातन्त्र्यमयी सेवामें उसका अधिकार नहीं है। उसका अधिकार एक मात्र आनुगत्यमयी सेवामें है, क्योंकि आनुगत्य ही दासका धर्म है। श्रीकृष्णके स्वरूपशक्ति वृत्तिभूत नित्य परिकरोंका ही स्वातन्त्र्यमयी सेवामें अधिकार है। सेवाके विषयमें स्वरूप-शक्तिको ही स्वातन्त्र्य है। स्वरूपशक्तिके वृत्तिभूत नित्यपरिकरोंके लिए भी सेवावासना-विकासमें एक बाधा है—श्रीकृष्णको लीलारस-वैचित्री आस्वादन करानेके लिए लीलाशक्तिने उनमें-से किसी-किसीमें श्रीकृष्णके साथ अपने सम्बन्धका जो अभिमान अनादिकालसे जाग्रत कर रक्खा है, वह अभिमान ही उनकी सेवा-वासनाके सम्यक् विकासके लिए किंचित बाधा उत्पन्न करता है; क्योंकि उसमें इस अभिमान-जात सम्बन्धका ज्ञान ही प्रधानता प्राप्त करता है। उनकी श्रीकृष्ण सेवा इस सम्बन्धकी सेवाकी परिधिके बाहर नहीं जा सकती। और स्वरूपशक्तिके वृत्तिभत ऐसे परिकर भी हैं, जिनकी

सेवावासनाको प्रतिहत करनेके लिए कुछ भी नहीं है। इनकी सम्यक् विकसित सेवावासनाकी प्रेरणासे ये जो श्रीकृष्णसेवा करते हैं, इनके आनुगत्यसे उस सेवाका आनुकूल्य विधान ही जीवकी चरमतम साध्य वस्तु है।

साध्य निर्णय-विषयक प्रश्नके उत्तरमें रामानन्द रायने अनेक प्रकारके साध्यकी बातें बतायीं हैं। किन्तु जहाँ तक प्रभुने लक्ष्य किया है, कि रामानन्द रायके उत्तरमें देहावेशकी या जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानकी अपेक्षा है वहाँ तक प्रभुने कहा है—'यह भी वाह्य है'। जब प्रभुने देखा कि उत्तरमें देहावेशकी अपेक्षा नहीं है, जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानकी अपेक्षा भी नहीं है, और श्रीकृष्ण-सेवा-वासनाके सम्यक् विकासका इङ्गित है, तभी प्रभुने कहा है—'यह ठीक है' एवं जब उन्होंने देखा कि विकासके पथमें सेवावासना एक विशेष स्तरको पार कर गयी है, तभी प्रभुने कहा है—''यह उत्तम है''। सेवावासना ही प्रेम है।

कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम। चै च आ. ४.१४१

पहिले ही बताया जा चुका है कि मायाबद्ध जीव अनेक वस्तुओंको अपना साध्य मानता है, अतएव साध्यकी भी अनेक वैचित्री है। सेवावासनाके सम्यक् विकाससे जो साध्यवस्तु प्राप्त होती है, वही परम साध्य है। रामानन्द रायने आरम्भमें ही अन्तिम बात—परम साध्य वस्तुकी बात—नहीं कही। यदि कही जाती तो देहात्म-बुद्धियुक्त हमलोग उसे ग्रहण न कर पाते। देहके सुखको ही हमलोग साध्यवस्तु मानते हैं। हमारी यह धारणा कितनी भ्रान्त है, यह बतानेके लिए ही रामानन्द रायने प्रथम पुरुषार्थ 'धर्म' से आलोचना आरम्भ की है, और क्रमशः मोक्षकी बात भी कही है। इस प्रकार चतुर्वर्गको बात शेष करके अन्तमें पञ्चम पुरुषार्थ 'प्रेम'की बात कही है। जब तक इस पञ्चम पुरुषार्थकी बात न कहकर अन्य बात कहते रहे, तब तक प्रभु केवल 'यह बाह्य है, यह भी बाह्य है' कहते रहे। राम रायने जब प्रेमकी बात आरम्भ की, तब प्रभुने कहा

'यह ठीक है'। प्रेम सहित जो सेवा है, उसके भी प्रेम विकासके तारतम्यके अनुसार अनेक स्तर हैं। रामानन्द रायके मुखसे क्रमसे सब स्तरोंकी बातका प्रकाश कराकर अन्तमें प्रभुने 'साध्यवस्तुकी अवधि'की बातका प्रकाश कराया है। (श्रीचैतन्यचरितामृतके भूमिका-ग्रन्थमें 'राय रामानन्द और साध्यसाधन तत्त्व' प्रबन्ध देखिये।)

ऊपर जो कहा गया है वह रामानन्द रायके साथ महाप्रभुकी साध्य-साधन-तत्त्वकी आलोचनाकी भूमिका स्वरूप है। इस भूमिकाका अवलम्बन करके ही परवर्ती पयारोंके तात्पर्य-आलोचनाकी चेष्टा की जायगी।

प्रभुने प्रश्न किया—"रामानन्द ! जीवकी साध्य वस्तु क्या है– यह शास्त्रीय प्रमाण सहित बताओ।"

पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय—जिसके द्वारा साध्य वस्तु निर्धारित हो सके उस प्रकारकी शास्त्रीय प्रमाणमूलक सिद्धान्तकी बात कुछ कहो।

प्रभुकी बात सुनकर रामानन्द रायने कहा—स्वधर्म आचरणसे विष्णुभक्ति होती है। **स्वधर्माचरण**—वर्णाश्रम-धर्मका अनुष्ठान। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र—ये चार वर्ण एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भिक्षु (संन्यास)—ये चार आश्रम। जो जिस आश्रम एवं जिस वर्णमें अवस्थित है, उसी आश्रम और उसी वर्णके लिए शास्त्रमें जिन कर्तव्य-कर्मोंका उपदेश है, वे कर्तव्य-कर्म ही उनके लिए स्वधर्म हैं और उनका अनुष्ठान (आचरण) ही है उनका स्वधर्माचरण। श्रीरामानन्दने कहा कि इस प्रकारके स्वधर्माचरणसे विष्णुभक्ति होती है। इससे समझा गया कि विष्णुभक्ति ही पुरुषार्थ या साध्यवस्तु है और वर्णाश्रम-धर्मका अनुष्ठान है साधन अर्थात् विष्णुभक्ति प्राप्तिका उपाय। इस उक्तिके प्रमाण रूपमें राय महोदयने निम्नोद्धृत **'वर्णाश्रमाचारवता'** इत्यादि श्लोकका उल्लेख किया (इस श्लोककी टीकामें चारों वर्ण एवं चारों आश्रमोंके कर्तव्य देखिये)।

विष्णुभक्ति—विष्णुविषयक भक्ति ; जिस भक्तिके विषय विष्णु हैं। 'विष्णु' शब्दसे सर्वव्यापक-तत्त्व (भगवान्) को समझना चाहिये। 'भक्ति' शब्दका अर्थ है सेवा। 'भज्' धातुसे 'भक्ति' शब्द निस्पन्न है ; भज् धातुका अर्थ है सेवा। गोपालतापिनी श्रुति कहती है—**'भक्तिरस्य भजनम्'**। इन (भगवान्) की सेवा ही भक्ति है। साधन-भक्ति और साध्य-भक्ति हिसाबसे भक्ति दो प्रकारकी है। भगवत्-सेवा ही जीवका मूल लक्ष्य है—मूल साध्य है, यही है साध्य-भक्ति। और इस साध्य भक्तिको प्राप्त करनेके लिए इन्द्रियादि द्वारा जो अनुष्ठान करना होता है, उसको कहते हैं साधन भक्ति। यहाँपर जो विष्णु-भक्तिकी बात कही गयी है, वह है साध्य विष्णुभक्ति, और इस पयारकी उक्तिके अनुसार उसका साधन है स्वधर्माचरण।

साध्य विष्णुभक्ति अनेक प्रकारकी है। पहिले शुद्धाभक्ति एवं मिश्रा-भक्ति ली जाय। शुद्धाभक्तिसे कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवा समझी जाती है—इस सेवा-वासनाके पीछे स्वसुख-वासनाका, या अपने दुःख-निवृत्ति-वासनाका, या स्व-विषयक कोई भी अनुसन्धानका लेशमात्र भी नहीं रहता। शुद्धका भाव है अविमिश्र या मलिनताहीन। कृष्णसुख-वासनाके साथ अन्य किसी भी वासनाका मिश्रण होनेपर, वह अविमिश्रा वासना नहीं हो सकती। अन्य वासना ही है कृष्ण-सेवा-वासनाकी मलिनता। अन्य वासनाका लेशमात्र भी जिसमें नहीं हो, एक मात्र कृष्णसुखकी वासना ही जिस सेवाकी प्रवर्त्तक हो, वही है शुद्धाभक्ति। वस्तुतः शुद्धाभक्ति ही पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमभक्ति है। मिश्राभक्तिमें एक या अधिक वासनाका मिश्रण रहता है। मिश्राभक्ति अनेक प्रकारकी हैं—कर्ममिश्रा, योग-मिश्रा, ज्ञानमिश्रा, ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा इत्यादि। जो कर्ममार्ग (वर्णाश्रम-धर्मादि) का अनुष्ठान करते हैं, उनको भी कर्मका फल पानेके लिए भक्तिका साहचर्य ग्रहण करना पड़ता है। कर्मानुष्ठानकी सहकारिणी जो भक्ति है, वह कर्मके साथ मिश्रित होनेके कारण कर्ममिश्रा भक्तिके नामसे

जानी जाती है। केवल कर्मका अनुष्ठान कोई भी फल नहीं दे सकता; कर्मफलके दाता हैं भगवान् विष्णु। कर्मफल-दानके लिए उनकी कृपाको उद्‌बुद्ध करनेकी और कृपाको उद्‌बुद्ध करनेके लिए भक्तिके साहचर्यकी आवश्यकता है। इसी प्रकार योगमार्गका या ज्ञानमार्गका अनुष्ठान भी भक्तिके साहचर्य बिना अपना-अपना फलदान करनेमें असमर्थ है (भूमिका ग्रन्थमें 'अभिधेय तत्त्व' प्रबन्ध देखिये)। कर्म, योग और ज्ञानके साधनके साथ भक्ति मिश्रित रहती है; परिणाममें भक्ति नहीं रहती अर्थात् परिणाममें भगवत्-सेवा नहीं रहती। किन्तु ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा भक्ति परिणाममें भी रहती है। सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्तिमें-से जो किसी भी एक प्रकारकी मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे भी परव्योममें अपने उपास्य भगवत्-स्वरूपकी सेवा करते हैं; मुक्तावस्थामें भी भगवान्‌में उनका ऐश्वर्यज्ञान प्रधानता प्राप्त करता है; उनकी भगवत्-सेवा ही ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रा भक्ति है।

शुद्धाभक्तिके साधनको कहते हैं उत्तमा भक्ति—उत्तमा साधन-भक्ति। भक्तिरसामृतसिन्धुमें उत्तमा साधन-भक्तिके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ भ. र. सि. (१.१.११)

इस श्लोकसे जाना गया कि श्रीकृष्णानुशीलन ही उत्तमाभक्ति या शुद्धाभक्ति प्राप्तिका साधन है। किस प्रकारका अनुशीलन? **आनुकूल्येन**—श्रीकृष्ण-सेवाके अनुकूल, उनकी प्रीतिके अनुकूल अनुशीलन या चर्चा। जो अनुष्ठान या भावनादि श्रीकृष्णकी प्रीतिके अनुकूल हैं, वे सभी उत्तमा भक्ति हैं—रावण-कंसादिके कृष्ण-सम्बन्धी आचरणोंकी तरह प्रतिकूल आचरण भक्तिके अंग नहीं हैं। श्रीकृष्ण विषयक अनुशीलनको उत्तमा भक्तिमें परिणत करनेके लिए श्रीकृष्ण-प्रीतिकी अनुकूलता तो चाहिये ही, और भी चाहिये अन्याभिलाषिता-शून्यता एवं ज्ञान-कर्मादि द्वारा अनावृतत्व। '**अन्याभिलाषिताशून्यं**' पदका तात्पर्य है—श्रीकृष्णानुशीलनमें श्रीकृष्ण-

सेवा और सेवाके अनुकूल विषयके अतिरिक्त भुक्ति-मुक्ति-आदि अन्य कोई भी वासना रह ही नहीं सकती ; साधनकालमें एक मात्र लक्ष्य रहता है श्रीकृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवाकी तरफ। और 'ज्ञान-कर्मादि द्वारा अनावृत' पदका तात्पर्य है—ज्ञान (निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धान), कर्म (स्वधर्म या वर्णाश्रम धर्म), योग, वैराग्य प्रभृतिके साथ संश्रवशून्य (गौरवशून्य) श्रीकृष्णानुशीलन।

इस प्रकार केवल मात्र श्रीकृष्णप्रीतिके लिए अनुष्ठित होनेपर श्रवण-कीर्तन आदि नवविधा भक्ति ही उत्तमा-भक्तिमें (शुद्धाभक्तिके प्राप्तिके अनुकूल साधनमें) पर्यवसित होती है। इस प्रकार अनुष्ठित होनेपर भगवत्कृपासे ये भक्ति-अंग भगवान्की स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेषके साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं ; तब ये भक्ति-अंग अत्यन्त आस्वादनीय होते हैं। उत्तमा-भक्तिका एक वैशिष्ठ्य यह है कि यह केवल साधन मात्र ही नहीं है, साध्य भी है। भगवत्कृपासे उत्तमा-भक्तिके अनुष्ठानसे सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर लीलामें जब साधकको भगवान्की सेवा मिलेगी, तब भी श्रवण-कीर्तन आदिका विराम नहीं होता, तब भी श्रवण-कीर्तन आदि परम लोभनीय बने रहते हैं—भगवान्के लिए भी लोभनीय और भक्तके लिए भी लोभनीय। तब इन श्रवण-कीर्तनादि द्वारा ही सिद्ध-भक्त साक्षात् भावसे भगवान्की प्रीति उत्पादन करता रहता है। इस प्रकार उत्तमा-भक्तिके अंग श्रवण-कीर्तनादि साक्षात् भावसे भगवत्सेवाके उपाय होनेके कारण ये स्वरूपतः ही भक्ति हैं, इसीलिए इनको स्वरूपसिद्धा भक्ति कहते हैं।

जो हो, उल्लिखित 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पदका अर्थ इस प्रकार लिखा है—"ज्ञानमत्र निर्भेदब्रह्मानुसन्धानं, न तु भजनीयत्वानुसन्धान-मपि तस्यावश्यापेक्षणीयत्वात्। कर्म चात्र स्मृत्याद्युक्तं नित्यनैमित्ति-कादि, न तु भजनीय-परिचर्यादि तस्य तदनुशीलनरूपत्वात्। आदि-शब्देन वैराग्य योग सांख्याभ्यासादयः। अर्थात् 'ज्ञान' शब्द द्वारा यहाँ

निर्भेदब्रह्मानुसन्धान ही समझा जाता है, भजनीय वस्तुका अनुसन्धान नहीं ; कारण, भजनीय वस्तुका अनुसन्धान अवश्यकर्तव्य है। 'कर्म' द्वारा स्मृति शास्त्रादि विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मादि ही समझे जाते हैं, भजनीय-वस्तुके परिचर्यादि रूप कर्म नहीं ; कारण, इस प्रकारके परिचर्यादिको अनुशीलन (भक्तिका अंग) कहा जाता है। 'आदि' शब्द द्वारा वैराग्य, योग, सांख्य-ज्ञानादिके अभ्यासादि समझे जाते हैं।" उक्त टीकामें 'कर्म' शब्द द्वारा स्मृति शास्त्रादि विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मादि बताये गये हैं ; अतएव स्वधर्म या वर्णाश्रम धर्म भी इस संज्ञामें आ गया। इसलिए स्वधर्म या वर्णाश्रम धर्म भी भक्तिका अंग नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें स्पष्ट ही कहा है—

सम्मतं भक्ति विज्ञानां भक्त्यङ्गत्वं न कर्मणाम्।

भ.र.सि. १.२.११८ (१.२.२४६)

अर्थात् वर्णाश्रम-विहित-कर्मपरम्परा भक्तिके अंग हैं—यह भक्ति तत्ववेता पराशरादि मुनिगण सम्मत नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि वर्णाश्रम-धर्म यदि भक्तिका अंग नहीं है, तो राय रामानन्दने '**स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय**' क्यों कहा ? '**भक्त्या संजातया भक्त्या**'—श्रीमद्भागवत (११.३.३१) की इस उक्तिके अनुसार साध्य-भक्ति प्राप्तिका साधन भी भक्ति ही है। राय रामानन्दने जब स्वधर्माचरणको विष्णुभक्तिका साधन बताया, तब उन्होंने स्वधर्माचरणको भी भक्ति (साधन-भक्ति) के रूपमें स्वीकार किया है। कारण यह कि भक्ति तीन प्रकारकी है—१. आरोपसिद्धा, २. सङ्गसिद्धा, और ३. स्वरूपसिद्धा। १. जो वास्तवमें स्वरूपतः भक्ति नहीं, तथापि जिसमें भक्तिका भाव आरोपित हो, उसको आरोपसिद्धा भक्ति कहते हैं। २. स्वरूपतः भक्ति न होनेपर भक्तिके परिकररूपसे निर्दिष्ट उसके अन्तर्गत ज्ञान, कर्म, वैराग्य दानादि भक्तिके साथ रहनेपर उसको सङ्गसिद्धा भक्ति कहते हैं। और ३. श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिका श्रवण-कीर्तन-

स्मरण-मननादि ही स्वरूपसिद्धा भक्ति या स्वरूपतः भक्ति है; स्वरूप-सिद्धा भक्ति सिद्धावस्थामें भी रहती है।

वर्णाश्रम धर्म आरोपसिद्धा भक्ति मात्र है, स्वरूपतः भक्ति नहीं, इसमें भक्तिका भाव केवल आरोपित होता है। वर्णाश्रम धर्म मनुष्यके लिए आवश्यक होनेपर भी यह विष्णभक्ति नहीं है। फिर पूछा जा सकता है कि यदि यह भक्ति ही नहीं है तब इसमें भक्तिका भाव आरोपित ही क्यों होता है? उत्तर—भक्तिरसामृतसिन्धुके ऊपर उद्धृत **'सम्मतं भक्ति विज्ञानं'** इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीपाद जीव गोस्वामीने लिखा है—**"वर्णाश्रमाचारेत्यादिकं तु अजातदृढश्रद्धान् शुद्धभक्त्यानधिकारिणः प्रत्येवोक्तमिति भावः"**। अर्थात् जिनकी दृढ़ श्रद्धा नहीं है, अतएव शुद्धाभक्तिमें जिनका अधिकार नहीं है, उनके लिए ही कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

वर्णाश्रम धर्मका पालन करते-करते चित्तके मालिन्यजनक रजोगुण और तमोगुण नाश होकर जब सत्वगुणकी वृद्धि होगी, तब सौभाग्यक्रमसे किसी महत्पुरुषकी कृपासे भक्ति प्राप्त हो सकती है। इसी सम्भावनासे वर्णाश्रम धर्ममें भक्तिका भाव आरोपित हुआ है। भक्तके संगके बिना अन्य किसी प्रकारसे भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

कृष्णभक्ति जन्ममूल हय साधुसङ्ग। च.च.म.२२.४८

यह बात भी नहीं है कि वर्णाश्रम-धर्ममें निष्ठावान भक्ति ही शुद्धा-भक्तिका अधिकारी बन सकता है। जिनको श्रद्धा है, एकमात्र वे ही भक्तिके अधिकारी हैं।

श्रद्धावान जन हय भक्ति अधिकारी। च.च.म.२२.३८

भक्तिरसामृतसिन्धुमें भी लिखा है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥ १.४.११(१.४.१५)

श्रद्धा किसको कहते हैं ? एकमात्र श्रीकृष्णभक्तिके द्वारा ही अन्य सब कर्मोंका फल मिल जाता है, इस वाक्यमें सुदृढ़ निश्चित विश्वासको श्रद्धा कहते हैं।

श्रद्धाशब्दे कहिये विश्वास सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णभक्ति करिले सर्व्वकर्म्म कृत हय ॥ चै.च.म.२२.३७

इस श्रद्धाका हेतु भी साधुसङ्ग है, अन्य कुछ भी नहीं।

साधुसङ्गे कृष्णभक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्तिफल प्रेम हय संसार जाय क्षय ॥ चै.च.म.२२.३१

यदि कोई कहे कि

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
श्रीम.भा.११.२०.९

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें ही तो कहा गया है कि जब तक भगवत्कथामें श्रद्धा उत्पन्न न हो, या विषयोंमें वैराग्य न हो, तब तक वर्णाश्रम विहित सब कर्म करने चाहिये। वर्णाश्रम धर्मके पालनसे ही श्रद्धा और विषय-वैराग्य उत्पन्न हो सकता है, यही तो इस श्लोकमें कहा गया है। उत्तर—वर्णाश्रम धर्मका आचरण करते-करते सत्वगुणकी वृद्धि होनेपर श्रद्धा और विषय-वैराग्य उत्पन्न होनेकी सम्भावना मात्र है, यही उक्त श्लोकका तात्पर्य है। वर्णाश्रम धर्मके द्वारा निश्चित रूपसे श्रद्धादि उत्पन्न हो जायँगे—यह नहीं कहा जा सकता। श्रीमन्महाप्रभुने सनातन गोस्वामीको कहा है—

असत्सङ्ग-त्याग एइ वैष्णव आचार ।
स्त्रीसङ्गी एक असाधु कृष्णाभक्त आर ॥
एइ सब छाड़ि आर वर्णाश्रम-धर्म्म ।
अकिञ्चन हैया लय कृष्णेर शरण ॥
चै.च.म.२२.४९.५०

यहाँपर भी वर्णाश्रम धर्मके त्यागकी बात है। गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—

"**सर्वधर्मान् परित्यज मामेकं शरणं व्रज।** गी. १८.६६

अर्थात् सब धर्मोंको त्याग करके मेरे शरणापन्न हो।" यहाँपर भी सब धर्मोंसे तात्पर्य वर्णाश्रम धर्मसे ही है। श्रुति भी यही बात कहती है— "**वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति**—वर्णाश्रम धर्म परित्याग करने वाला व्यक्ति ही स्वानन्दतृप्त हो सकता है—मैत्रेय उपनिषद।" मुण्डक श्रुतिका भी कहना है—"**प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा**—(कर्माङ्गभूत) यज्ञरूपी नौका (संसार-समुद्र तरनेके लिए) अदृढ़ा है। १.२.७।"

'**वर्णाश्रमाचारवता**' इत्यादि श्लोकमें रामानन्द रायने यही कहा है कि (१) जीवकी साध्य वस्तु है विष्णुकी प्रीति और (२) उसका साधन वर्णाश्रम धर्म।

यहाँपर एक और भी बात स्मरण रखनेकी आवश्यकता है। रामानन्द रायने यहाँ वर्णाश्रम धर्मसे आरम्भ कर राधाप्रेम तक साध्य-साधन-तत्त्वकी आलोचना की है। इसमें कोई-कोई कहते हैं कि वर्णाश्रम धर्मसे आरम्भ कर क्रमसे विभिन्न सोपान (सीढ़ी) पर चढ़कर अन्तमें राधाप्रेम प्राप्त होगा, इस साधन-पर्यायमें वर्णाश्रम धर्म सबसे नीचेकी सीढ़ी है। यह उक्ति संगत नहीं लगती। रामानन्द रायने वर्णाश्रम धर्मसे आरम्भ करके साध्य-साधन-तत्वकी जो कई बातें बतायी हैं, उनका एक-एकका पृथक्-पृथक् पुरुषार्थ रूपमें वर्णन किया है; परन्तु साध्य-शिरोमणि राधा-प्रेम-प्राप्तिके साधनाङ्गभूत विभिन्न स्तररूपसे वर्णन नहीं किया। वर्णाश्रम धर्मके सम्बन्धमें ऊपर जो आलोचना की गयी है, उससे स्पष्ट समझा जाता है कि वर्णाश्रम धर्म राधा-प्रेमका कोई साधन नहीं है। इसके पश्चात् जो साध्य-साधन-तत्व आलोचित होंगे, उनमें देखा जायगा कि वे कोई भी प्रेमके साधन नहीं हैं, बल्कि एक-एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ मात्र हैं।

तथाहि विष्णुपुराणे ३.८ ९

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम् ॥

अन्वय—**वर्णाश्रमचारवता** (वर्णाश्रम धर्म अनुष्ठान करने वाले) **पुरुषेण** (व्यक्तिद्वारा ही) **परःपुमान्** (पर पुरुष) **विष्णुः** (विष्णु) **आराध्यते** (आराधित होते हैं) ; **तत्तोषकारणम्** (उनकी—विष्णुकी—तुष्टिके लिए) **अन्यः** (अन्य कोई भी) **पन्था** (मार्ग—उपाय) **न** (नहीं है) ।

अनुवाद—परम पुरुष विष्णु, वर्णाश्रम-आचारसे सम्पन्न पुरुष द्वारा आराधित होते रहते हैं । वास्तवमें वर्णाश्रम आचारके अतिरिक्त विष्णु-की प्रीति-साधनका अन्य उपाय नहीं है ।

वर्णाश्रमचारवता—जो वर्णधर्म और आश्रमधर्मका पालन करते हैं उनके द्वारा । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं । इन वर्णोंके लिए शास्त्रोंमें जो कर्तव्य-कर्मोंका आदेश मिलता है, वे सभी वर्णधर्म हैं । ब्राह्मणके धर्म हैं—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह । क्षत्रियके धर्म हैं—दान, अध्ययन, यज्ञ, दण्ड और युद्ध । वैश्यके धर्म हैं—दान, अध्ययन, यज्ञ, कृषिकार्य और वाणिज्य । शूद्रके धर्म हैं—उक्त तीनों वर्णोंकी सेवा । ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भिक्षु (संन्यास)—ये चार आश्रम हैं । इन चार आश्रमोंके लिए शास्त्र-निर्दिष्ट कर्तव्य-कर्म ही आश्रमधर्म हैं । ब्रह्मचर्य आश्रमके धर्म हैं—उपनयनके पश्चात् गुरुगृहमें वास, शौचाचार, गुरुसेवा, व्रताचरण, वेदपाठ, दोनों संध्यासे समाहित होकर सूर्य और अग्निके निकट उपस्थिति, गुरुका अभिवादनादि । गार्हस्थ्याश्रमके धर्म हैं—यथाविधि विवाह करके स्वकर्म द्वारा धनोपार्जन, देव-ऋषि-पितृ-आदिका अर्चनादि । वानप्रस्थाश्रमके धर्म हैं—पर्णमूल-फलाहार, केश-श्मश्रु जटाधारण, भूमिशैया, मौनी, चर्म-काश-कुश द्वारा परिधान व उत्तरीय करण, त्रिसन्ध्या स्नान, देवतार्चन, होम, अभ्यागत पूजा, भिक्षावली प्रदान, वन्यस्नेहसे गात्राभ्यंग (वन्यफलसे

निकले हुए तेल द्वारा शरीरकी मालिस), तपस्या, शीतोष्णादि सहिष्णुता इत्यादि। भिक्षु (संन्यास) आश्रमका धर्म है—(अर्थ धर्म और कामरूप) त्रिवर्ग-त्याग, सर्वारम्भ-त्याग, मित्रादिमें समता, सब प्राणियोंसे मैत्री, जरायुज और अण्डज आदिके प्रति काय-मन-वाक्यसे द्रोह-त्याग, सर्वसंग वर्जन, अग्निहोत्रादिका आचरण (विष्णुपुराण ३.८.६)। जो लोग अपने-अपने वर्णधर्म और आश्रमधर्मका आचरण करते हैं, उनके उस आचरणसे विष्णु आराधित या सन्तुष्ट होते हैं, उनके सन्तोष साधनका अन्य उपाय नहीं है।

इस श्लोकका तात्पर्य क्या है? इस श्लोकमें कहा गया है कि वर्णाश्रम धर्मका अनुष्ठान ही विष्णुप्रीतिका एक मात्र हेतु है, अन्य किसी उपायसे विष्णुकी प्रीति साधित नहीं होती। विष्णुप्रीति ही श्रेष्ठ साध्यवस्तु है—यह भक्तिमार्गकी ही बात है; किन्तु भक्तिशास्त्रका कहना है कि सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी भी बातसे श्रीविष्णु या श्रीकृष्ण प्रीत (सन्तुष्ट) नहीं होते, और विष्णुपुराणका उल्लिखित श्लोक कहता है कि वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे ही विष्णु प्रीत होते हैं; अन्य किसी बातसे विष्णु प्रीत नहीं होते। भक्तिशास्त्र कहता है कि वर्णाश्रम धर्म भक्तिका अंग ही नहीं है अर्थात् जिस साधन-भक्तिके अनुष्ठानसे श्रीकृष्णकी प्रीतिकी अनुकूल-सेवा पायी जाय, वर्णाश्रम धर्म उस साधन-भक्तिका अंग ही नहीं है बल्कि उसके प्रतिकूल है; इसीलिए स्तरविशेषमें वर्णाश्रम धर्मका त्याग करना भी भक्त-साधकके लिए कर्तव्य बताया गया है (पूर्ववर्ती पयारकी टीका देखिये)। यह स्पष्ट-सा दीखता है कि विष्णुप्रीतिके साधनके सम्बन्धमें विष्णुपुराणका '**वर्णाश्रमाचारवता**' श्लोक एवं भक्तिरसामृतसिन्धु आदि भक्तिशास्त्र परस्पर विरोधी है; इसका कारण क्या है?

विष्णुप्रीतिके साधनके सम्बन्धमें इस विरुद्धोक्तिका कारण यही लगता है कि भक्तिरसामृतसिन्धु आदि भक्तिशास्त्रोंमें जिस जातीय विष्णुप्रीतिके साधनकी बात कही गयी है, विष्णुपुराणके '**वर्णाश्रमाचारवता**' श्लोकमें उसी जातीय विष्णुप्रीतिकी बात नहीं कही गयी।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्यादि गीता ४.११ श्लोकसे जाना जाता है कि साधनके अनुरूप फल ही साधकको भगवान् देते हैं। अनेक साधन-पन्थ विद्यमान हैं, विभिन्न साधनके फल भी विभिन्न प्रकारके हैं ; किन्तु भगवान्की कृपा बिना, भगवान्की तुष्टि बिना किसी भी साधनका फल नहीं मिलता। साधन होता है फलदानके निमित्त भगवान्की कृपा प्राप्तिके लिए ; इस कृपाको प्राप्त करनेके लिए उनके तुष्टि-साधनकी आवश्यकता है ; साधनसे तुष्टि होनेपर ही कृपा करके वे साधनके अनुरूप फलदान करते रहते हैं। परन्तु जिस प्रकार साधन विभिन्न हैं, और जिस प्रकार साधनके फल विभिन्न हैं, साधनके फलसे भगवान्की तुष्टि भी उसी प्रकार विभिन्न है। सभी साधनोंसे यदि वे समान भावसे तुष्ट हों, तब वे सब प्रकारके साधकोंको एक-सा फल देते, किन्तु वे ऐसा नहीं करते। जिस फलके पानेके लिए भगवान्की जितनी और जिस प्रकारकी तुष्टिकी आवश्यकता है, उसके साधनसे भी वे उतने और उसी प्रकार तुष्ट होते हैं। इसीलिए साधनभक्तिके अनुष्ठानसे उनकी जितनी और जिस जातीय तुष्टि उन्मेषित होती है, वर्णाश्रम-धर्मके अनुष्ठानसे उतनी और उस जातीय तुष्टि उन्मेषित नहीं होती। साधन-भक्तिसे वे इतने तुष्ट होते हैं कि—

विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः

भक्तवत्सल भगवान् भक्तके पास अपने आप तकको बिक्री कर डालते हैं—वे सर्वतोभावसे भक्तके वशीभूत हो जाते हैं, इसीसे उन्होंने कहा है—**अहं भक्तपराधीनः** श्रीम.भा.९.४.६३। किन्तु वर्णाश्रम धर्मके अनुष्ठानसे उन्होंने कभी भी इस प्रकारकी वश्यता स्वीकार नहीं की। गीताके २.३७ श्लोकसे जाना जाता है कि वर्णाश्रम धर्मका फल स्वर्गप्राप्ति है। विष्णु-पुराणके ३.९ अध्यायसे जाना जाता है कि वर्णाश्रम-धर्माचरणका फल लोकप्राप्ति—स्वर्गलोक, सत्यलोक आदि मायिक ब्रह्माण्डस्थित लोकके सुख-भोगादि प्राप्त होते हैं। विष्णुपुराणमें जहाँ यह **'वर्णाश्रमाचारवता'**

श्लोक उद्धृत हुआ है वहाँके प्रकरणसे भी इसी प्रकारका फलप्राप्तिका परिचय मिलता है। मैत्रेयने पराशरसे जिज्ञासा की—भगवान् विष्णुकी आराधना करके मनुष्य कौन-सा फल प्राप्त करते हैं? इसके उत्तरमें पराशरने सगर राजाके प्रश्नके उत्तरमें भृगुवंशीय और्वकी उक्तिका उल्लेख करके कहा है—

"भौमान् मनोरथान् स्वर्गान् स्वर्गिवन्द्यं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥

वि.पु. ३.८.६

विष्णुकी आराधना करनेसे भूमि-सम्बन्धी सब मनोरथ सफल होते हैं, स्वर्ग और स्वर्ग-वन्दनीय ब्रह्मलोकादि तथा उत्तमा निर्वाण-मुक्ति भी पायी जाती है।" ये सब फल पानेके लिए किस प्रकारसे विष्णुकी आराधना करनी होती है—**कथमाराध्यते हि सः** ?—इस प्रश्नके उत्तरमें ही **'वर्णाश्रमाचारवता'** इत्यादि श्लोक कहा गया है। अर्थात् भूमि सम्बन्धी (ऐहिक) मनोरथादि या स्वर्गादि लोक या निर्वाणमुक्ति पानेके लिए भगवान् विष्णुका जितने परिमाणमें तुष्टिविधान करना आवश्यक है, वर्णाश्रम धर्मके आचरणसे उसी परिमाणमें तुष्टि साधित हो सकती है।

उक्त आलोचनासे यह स्पष्ट है कि **'वर्णाश्रमाचारवता'** इत्यादि श्लोकमें जिस विष्णुप्रीतिकी बात, अथवा पूर्ववर्ती ५३वें पयारमें जिस विष्णुभक्तिकी बात कही गयी है, वह भक्तिरसामृतसिन्धु आदि भक्ति-ग्रन्थोंकी अभीष्ट विष्णुप्रीति या विष्णुभक्ति नहीं हैं—वह स्वर्गादि लोक-प्राप्तिके या ऐहिक सुख-सम्पदके अथवा निर्वाणमुक्तिके अनुकूल विष्णुप्रीति या विष्णु-भक्ति है।

५३वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

श्रीकृष्णमें कर्मार्पण

प्रभु कहे—एहो बाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—कृष्णे कर्म्मार्पण साध्यसार ॥५५॥

रायका उत्तर सुनकर प्रभुने कहा—तुमने जो कुछ कहा, वह अत्यन्त बाहरकी बात है। इसके आगे यदि कुछ हो, तो बताओ।

एहो बाह्य—तुमने जो कहा कि स्वधर्माचरणसे विष्णुभक्ति होती है, यह अत्यन्त बाहरकी बात है। विष्णुभक्ति साध्यवस्तु है, किन्तु वर्णाश्रम-धर्मके आचरणसे विष्णुकी जो प्रीति उत्पन्न होती है, वह जीवकी साध्यवस्तु नहीं है; कारण, उसके फलसे इहकालके सुख-सम्पद, या परकालके स्वर्गादि सुखभोग प्राप्त हो सकते हैं, क्वचित् किसी भाग्यवानके लिए निर्वाण-मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है (वि.पु. ३.८); किन्तु ये सब जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्यके बहुत बाहरकी वस्तु है। स्वर्गादि सुख-सम्पद भोगोंमें एक मात्र अपना सुख है, जिसका दूसरा नाम काम है; इसमें जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य कृष्ण सेवा नहीं है और निर्वाणमुक्तिमें है—निर्विशेष ब्रह्मके साथ तादात्म्य प्राप्त होनेसे ईश्वर और जीवका सेव्य-सेवक भावका निरसन होता है; इसके मूलमें है अपनी दुःख-निवृत्ति-की वासना—अपने लिए चिन्ता—काम; यह जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्यके बाहर तो है ही—साथ ही उसका एकदम विरोधी भी है। अतएव तुमने जो विष्णुभक्ति या विष्णुप्रीतिकी बात कही, वह स्वर्गादि-सुखभोग मात्र दे सकती है, किन्तु जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य श्रीकृष्ण-सेवा नहीं दे सकती, इसलिए यह बाहरकी—जीवके स्वरूपके बाहरकी वस्तु है। इस प्रकारकी विष्णुभक्तिके फलसे जो स्वर्गादि सुखभोग मिलते हैं, उनका स्थान भी प्राकृत ब्रह्माण्डमें है; और कहीं विशेष रूपसे निर्वाणमुक्ति मिलती है उसका स्थान भी सिद्धलोकमें, परव्योमके बाहर है;

दोनोंमें ही प्राप्त वस्तुका स्थान, जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य श्रीकृष्ण-सेवाका जो स्थान है, उस व्रजलोकके बहुत बाहर है। इस प्रकारकी विष्णुभक्ति बाहरकी वस्तु होनेके कारण, उसका साधन जो स्वधर्माचरण है, वह भी उसी तरहका साधन है; यह जीवके स्वरूपके अनुकूल साधन नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ 'स्वधर्माचरण' को ही बाह्य बताया गया है, 'विष्णुभक्ति' या 'विष्णु आराधना' को नहीं। कारण, विष्णुकी आराधना सर्वशास्त्र-सम्मत है। विष्णुकी आराधना न करनेसे वर्णाश्रम धर्म पालन करनेपर भी जीवका पतन हो जाता है—

"य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

श्रीम.भा. ११.५.३

चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वधर्म करियाओ से रौरवे पड़ि मजे॥ चै.च.म. २२.१९

अर्थात् ये चार जाति और चार आश्रमोंमें जो व्यक्ति अज्ञतासे अपने पिता ईश्वर-परम-पुरुषको नहीं भजते, वे इस जाति और आश्रमसे भ्रष्ट होकर संसारमें पतित होते हैं। और जो व्यक्ति उस पुरुषको जानकर अवज्ञा करता है वह नरकमें गिरता है।"

पहले ही कहा जा चुका है कि विष्णुभक्ति जीवकी साध्य वस्तु है। किन्तु जिस विष्णुभक्तिसे केवल स्वधर्माचरणका फल सुखभोगादि मात्र मिलते हैं, जिस विष्णुभक्तिसे श्रीकृष्णसेवा नहीं मिलती, वह जीवकी साध्य नहीं है; जिस विष्णुभक्तिसे कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा मिले, वही जीवकी साध्य है; कारण, वह जीवके स्वरूपके अनुकूल है। स्वधर्माचरणमें इह कालके और परकालके सुखभोगादिकी अपेक्षा होनेके कारण देहावेशका परिचय मिलता है। स्थलविशेषमें (कहीं-कहीं) निर्वाण-मुक्तिकी बात भी सुनी जाती है, इसलिए जीव-ब्रह्मके ऐक्य-ज्ञानका परिचय भी मिलता है। अतएव स्वधर्माचरणमें जीव-ब्रह्मके सम्बन्ध-

ज्ञानका—सेवा-सेवकत्व-बुद्धिका एवं सेवावासना—स्फुरण होनेकी सम्भावना नहीं होनेके कारण यह बाह्य है।

वर्णाश्रम धर्मके सम्बन्धमें प्रभुका मत जानकर रामानन्द रायने कहा—"कृष्णमें कर्मार्पण ही साध्यसार है।"

कृष्णे कर्मार्पण—सब कर्मोंका फल श्रीकृष्णमें अर्पण करना। यहाँ पर कर्मका भाव स्मृति-आदि शास्त्र-विहित कर्म एवं शरीरादिके स्वाभाविक-धर्मवश जो कर्म होते हैं, उन कर्मोंसे है।

वर्णाश्रम धर्मको बाह्य बताया जानेसे रामानन्द रायने कृष्णमें कर्मार्पणकी बात कही है। इससे समझा जाता है कि वर्णाश्रम धर्मसे कृष्णमें कर्मार्पण श्रेष्ठ है। किन्तु किस बातमें श्रेष्ठ है ? वर्णाश्रम आचार आदि वेदविहित कर्म सकाम हैं; इन सब कर्मोंके द्वारा कर्त्ताको बन्धन उत्पन्न होता है।

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ गीता. ३. ९.

अर्थात् भगवदर्पित निष्काम कर्मको यज्ञ कहते हैं; उस यज्ञके उद्देश्यसे जो कर्म किया जाय, उसके अतिरिक्त अन्य सब कर्मोंसे इस लोकमें बन्धनको प्राप्त होना होता है। अतएव हे कौन्तेय ! तुम फलानुसन्धानशून्य होकर कर्मका अनुष्ठान करो।"

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ गीता. २. ५१

अर्थात् बुद्धिमान पण्डितगण कर्मफल परित्याग करके जन्मबन्धनसे विनिमुक्त होकर अनामय पद प्राप्त कर लेते हैं।" इससे देखा गया कि वेदादि-विहित कर्म द्वारा जो बन्धनकी आशंका है, फलानुसन्धान रहित होकर वे सब कर्म करनेसे उस बन्धनका डर नहीं रहता। इसीलिए कर्मोंके फलकी आकांक्षाके त्यागकी व्यवस्था है। किन्तु कर्मोंका फल कहाँ त्याग किया जाय ? फलको श्रीकृष्णमें अर्पण किया जाय। स्वयं श्रीकृष्णने गीता ९.२७में

कहा है—'यत्करोषि यदश्नासि' इत्यादि। इस प्रकार श्रीकृष्णमें कर्मोंका फल अर्पण करनेसे क्या होगा ? इस 'यत्करोषि' श्लोकके ठीक पश्चात्के श्लोकमें ही श्रीकृष्णने बता दिया है—

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। गीता ९.२८

इस प्रकार सब कर्मोंका फल मुझमें अर्पण करनेसे तुम शुभाशुभ कर्मबन्धनसे मुक्ति पा सकोगे।" कृष्णमें कर्मार्पण करनेसे वर्णाश्रम धर्मकी तरह कर्म-बन्धन नहीं होता, इसलिए वर्णाश्रम धर्मसे यह श्रेष्ठ है।

साध्यसार—साध्य वस्तुओंमें सार या श्रेष्ठ। राय रामानन्दने कृष्णमें कर्मार्पणको साध्यसार बताया है। किन्तु कृष्णमें कर्मार्पण साध्य नहीं, यह साधन मात्र है, इसका साध्य हुआ कर्मबन्धनसे मुक्ति। रायकी उक्तिका मर्म यह है कि कृष्णमें कर्मार्पण द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है वह साध्यसार है।

इसके प्रमाणमें नीचे गीताका श्लोक उद्धृत होता है।

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् ९.२७

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥५॥

अन्वय—हे कौन्तेय (हे कौन्तेय अर्जुन) ! यत् (जो कुछ) करोषि (करो), यत् (जो कुछ) अश्नासि (भोजन करो), यत् (जो कुछ) जुहोषि (होम करो) यत् (जो कुछ) ददासि (दान करो), यत् (जो कुछ) तपस्यसि (तपस्या करो), तत् (वह सब) मदर्पणं (मुझमें अर्पण) कुरुष्व (करो) !

अनुवाद—श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—हे कौन्तेय। तुम जो कुछ कर्म करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ होम करो, जो कुछ दान करो, एवं जो कुछ तपस्या करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।

यत्करोषि—शरीरादिके स्वाभाविक धर्मवश एवं स्मृति आदि शास्त्र

विहित जो कुछ कर्म करो, अथवा लौकिक-कर्म जो कुछ करो। 'स्वभावतो वा शास्त्रतो वा यत्किञ्चित कर्म करोषि—स्वामी। लौकिकं वैदिकं वा यत्कर्म त्वं करोषि—चक्रवर्ती।" यत् अश्नासि—जो कुछ खाओ-पीओ। व्यवहारतो भोजनपानादिकं यत् करोषि—चक्रवर्ती। कुरुष्व मदर्पणम्--सब कुछ मुझमें अर्पित हो सके इस प्रकार करना।

इस श्लोककी टीकामें प्रारम्भमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा है कि ज्ञान-कर्मादिका त्याग नहीं कर सकनेके कारण सर्वोत्कृष्ट केवल अनन्य-भक्तिमें जिनका अधिकार नहीं है, तथा निकृष्ट सकाम भक्तिमें भी जिनकी अभिरुचि नहीं है, उनके लिए ही इस श्लोकमें बताये गये साधन-का विधान है ; यह निष्काम-कर्मज्ञानमिश्रा भक्ति है। उन्होंने और भी कहा है कि यह निष्काम कर्मयोग नहीं है ; कारण, निष्काम-कर्ममें केवल शास्त्र-विहित कर्मोंको ही भगवदर्पण करनेका विधान है, व्यवहारिक कर्मके अर्पणका विधान नहीं है। इस श्लोकमें व्यवहारिक कर्मार्पणका विधान भी देखनेमें आता है। यह भक्तियोग या अनन्य-भक्ति भी नहीं है, कारण भक्तियोगमें भगवान्‌में अर्पित कर्म ही करनेका विधान है—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

श्रीम. भा. ७. ५. २३-२४

इन श्लोकोंकी टीकामें श्रीधर स्वामीने लिखा है—"विष्णौ अर्पिता भक्तिः क्रियते, न तु कृत्वा पश्चादर्प्येत इति। —श्रवण कीर्तनादि नवधाभक्ति पहले विष्णुमें अर्पित होगी, पीछे साधक द्वारा अनुष्ठित होगी; अनुष्ठान करके उसके पश्चात् विष्णुमें अर्पण—यह भागवत-वचनको अभिप्रेत नहीं है।" इस प्रकार कर्मादि पहले भगवान्‌के अर्पित होकर पीछे उन्हींके कर्मादि, उन्हींके दासरूपमें साधक द्वारा किये जानेपर ही वह भक्तियोगके

अनुकूल होगा। **'यत्करोषि'** आदि गीता ९.२७ के वाक्योंका मर्म यही है कि पहले कर्म करके उसके पश्चात् उनको या उनके फलको भगवान्में अर्पण करे ; अतएव यह भक्तियोगका अंग नहीं है।

५५वें पयारके शेषार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है ।

स्वधर्म-त्याग

प्रभु कहे—एहो वाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—स्वधर्म्मत्याग एइ साध्यसार ॥५६॥

रायकी बात सुनकर प्रभुने कहा—कर्मार्पणकी जो बात कही वह भी बाहरकी बात है ; इसके आगे कुछ हो तो बताओ ।

कृष्णमें कर्मार्पणको प्रभुने बाह्य क्यों बताया ? इसकी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं—"अत्र यत्करोषीत्यदिकन्तु **विराडुपासनावद् भजनानुसन्धानं निर्णेतुमशक्तं प्रति ज्ञातव्यं यथार्थनिर्णये एव वाह्यं**—कृष्णमें कर्मार्पणको बाह्य बतानेका कारण यह है कि जो लोग विराट-उपासनाकी तरह **भजनानुसन्धान** निश्चय करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिए ही **'यत् करोषि'** इत्यादि श्लोक कहा गया है।"

'यत् करोषि' इत्यादि श्लोककी टीकामें भी चक्रवर्तीपादने बताया है—जो लोग अनन्य भक्तिमें अनधिकारी हैं उनके लिए ही इस श्लोकका **विधान है** ; यह भक्तियोग नहीं है, और भक्तियोग न होनेके कारण यह जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य कृष्णसेवा प्राप्तिका साधन नहीं हो सकता ; इसलिए यह साधन भी बाहरकी वस्तु है एवं इस साधनके फलसे जो साध्यवस्तु प्राप्त हो वह भी जीवस्वरूपके लिए बाहरकी वस्तु है। कर्मार्पणका उद्देश्य क्या है ? पूर्ववर्ती ५५ वें पयारके **'कृष्णे कर्मार्पण' वाक्यकी** टीकामें जो आलोचना हुई है, उससे यह जाना जाता है कि अपने आपको कर्मबन्धनसे मुक्ति करनेके लिए प्रधानतः कर्मफल श्रीकृष्णमें

अर्पित होते हैं, ; अतएव इस कर्मार्पणमें कर्त्ताकी अपने लिए —अपने आपको कर्म-बन्धनसे मुक्त करनेके लिए भावना ही मुख्य हैं। जहाँ अपने लिए भावना है—अतएव देहावेश है—वहाँपर प्रेम नहीं रह सकता, इसलिए वह बाह्य है। प्रभुकी बात सुनकर रामानन्दने कहा—"स्वधर्म-त्याग ही साध्यसार है।" **स्वधर्मत्याग**—वर्णाश्रम-धर्मका त्याग। वर्णाश्रम धर्म है फलानुसन्धानयुक्त स्वधर्म और कृष्णमें कर्मार्पण है फलाभिसन्धान शून्य स्वधर्म। इन दोनोंको ही जब महाप्रभुने 'बाह्य' बताया, तब राय रामानन्दने 'स्वधर्म-त्याग'की बात कही।

साध्यसार—'सर्वसाध्यसार ; भक्तिसाध्यसार'—इस प्रकारका पाठान्तर भी मिलता है। स्वधर्म-त्याग साधन मात्र है, यह साध्य नहीं है। रायकी उक्तिका मर्म यह है कि स्वधर्म-त्यागसे जो वस्तु प्राप्त होती है, वही साध्यसार है।

तथाहि श्रीमद्भागवते ११.११.३२

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ॥६॥

अन्वय—**गुणान्** (गुणोंसे) **दोषान्** (एवं दोषोंसे) **आज्ञाय** (सम्यक् रूपसे अवगत होकर) **मया** (मेरे द्वारा) **आदिष्टान्** (आदिष्ट) **अपि** (होनेपर भी) **स्वकान्** (अपने) **सर्वान्** (सब) **धर्मान्** (धर्मोंको) **सन्त्यज्य** (परित्याग करके) **यः** (जो व्यक्ति) **मां** (मुझको—भगवान्‌को) **भजेत्** (भजता है), **स च** (वही व्यक्ति भी) **एवं** (इस रूपसे—पूर्वोक्त-रूपसे) **सत्तमः** (सत्तम—सत्‌लोगोंके बीच श्रेष्ठ है)।

अनुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—हे उद्धव! वेदादि-धर्मशास्त्रोंमें मेरे द्वारा जो आदिष्ट हुए हैं, उनके दोष-गुणोंसे सम्यक् रूपसे (अच्छी प्रकार) अवगत होकर उन सब नित्य-नैमित्तिक रूप अपने वर्णाश्रम-धर्मादि परित्यागपूर्वक जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, वह व्यक्ति भी पूर्वोक्त 'कृपालुरकृतद्रोहादि' व्यक्तिकी तरह सत्तम (श्रेष्ठ) है।

गुणान् दोषान्—दोष और गुण ; किसके दोष-गुण ? भगवान्ने वेदादि शास्त्रोंमें वर्ण और आश्रमके उपयोगी जो नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका उपदेश दिया है, उन कर्मोंके दोष-गुण। **आज्ञाय**—आ (सम्यक् रूपसे) ज्ञाय (जानकर) ; विचार आदि द्वारा अच्छी प्रकार अवगत होकर। तीन प्रकारके लोग वेदविहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंका त्याग कर सकते हैं। एक तो, अज्ञ व्यक्ति ; जो धर्म-अधर्मके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानता, ऐसा व्यक्ति वेद-विहित कर्मादिका त्याग कर सकता है। दूसरे, नास्तिक व्यक्ति ; जो वेदविहित कर्मादिको जानता तो है, किन्तु नास्तिक होनेके कारण उनमें विश्वास नहीं करता, इसलिए उनका वह त्याग कर देता है। तीसरे, जो व्यक्ति अज्ञ नहीं है, नास्तिक भी नहीं है, जो शास्त्र विहित कर्मादिके विषयको अच्छी प्रकार जानता है, उन कर्मोंके फलमें भी जिसको विश्वास है, वह व्यक्ति उन शास्त्र-विहित कर्मोंके दोष एवं गुणोंका सम्यक् रूपसे विचार कर उनके शुद्धाभक्तिका अंग न होनेके कारण, और अपने अनन्य भक्तिमें दृढ़ विश्वासके कारण, अर्थात् एकमात्र कृष्ण-भक्तिमें ही सब कर्म करने चाहिये—इस प्रकारके दृढ़ विश्वासके कारण उन कर्मोंका परित्याग कर देता है। इस श्लोकमें इस तीसरे प्रकारके लोगोंकी बात कही गयी है। वेदादि शास्त्र विहित कर्मादिके दोष-गुणोसे अच्छी प्रकार अवगत होकर विचारपूर्वक जो व्यक्ति भगवदादिष्ट होनेपर भी उन वर्णाश्रम विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मादिका परित्याग करके एकमात्र मेरा भजन करते हैं, **स च एवं सत्तमः**—वे ही उनके सदृश सत्तम —श्रेष्ठ हैं। 'च' और 'एवं' शब्दकी सार्थकता यह है—इस श्लोकके पूर्ववर्ती तीन श्लोकोमें भगवान्ने बताया है—"जो कृपालु, अकृतद्रोह, तितिक्षु, सत्यसार, असूयाशून्य, सम, सर्वोपकारक, काम द्वारा अक्षुब्धचित्त, वाह्येन्द्रियनिग्रहशील, कोमलचित्त, सदाचार सम्पन्न, अकिंचन, अनीह, मितभुक, शान्त, स्थिर, भगवत्-शरणापन्न, मुनि, अप्रमत्त, गम्भीरात्मा, धृतिमान, विजितषड्गुण, अमानी, मानद, दक्ष, मैत्र,

कारुणिक, एवं कवि हैं, वे ही सत्तम हैं (सनातन शिक्षा* ग्रन्थमें चै.च म. २२.४४.४७ पयारोंकी टीका देखिये)। और इस 'आज्ञायैवं' श्लोकमें कहा है कि कृपालु, अकृतद्रोह आदि लक्षणोंसे युक्त जिस प्रकार सत्तम है, उसी प्रकार जो सब कुछ समझ-बूझकर स्वधर्मादि त्याग करके मेरा भजन करता है वह भी सत्तम है, किसी प्रकारसे वह उनकी अपेक्षा हीन नहीं है। यहाँपर टीकामें श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं—"जो कृपालु अकृतद्रोह आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं, वे भी सत्तम हैं, और उन गुणोंके न रहनेपर भी सर्वधर्म परित्यागपूर्वक जो मेरा भजन करते हैं वे भी सत्तम हैं। **चकरात् पूर्वोऽपि सत्तम इत्युत्तरस्य तत्तद्गुणाभावेपि पूर्वसाम्यं बोधयति।**" यह भी निश्चित सत्य है कि जो अनन्य भक्तिसे दृढ़ श्रद्धावश सर्वधर्म परित्यागपूर्वक भगवद्भजन करते हैं; आरम्भमें कृपालुता आदि गुण उनमें न रहनेपर भी शीघ्र ही वे उन गुणोंके अधिकारी हो सकते हैं। निम्नोक्तियाँ इसका प्रमाण है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुरा।

श्रीम.भा.५.१८.१२

कृष्णभक्ते कृष्णगुण सकल सञ्चारे। चै.च.म. २४.४३

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् १८.६६

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥७॥

अन्वय—**सर्वधर्मान्** (सब धर्मोंको) **परित्यज्य** (परित्याग करके) **एवं** (एकमात्र) **मां** (मुझे—मेरी) **शरणं व्रज** (शरण ग्रहण कर); **अहं** (मैं) **त्वां** (तुमको—तुम्हारा) **सर्वपापेभ्यः** (सब पापोंसे) **मोक्षयिष्यामि** (उद्धार कर दूँगा) **मा शुच** (शोक—चिन्ता मत करना)।

---

*यह ग्रन्थ हमारे यहाँ प्राप्य है।

अनुवाद—श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—हे अर्जुन। सब धर्म परित्याग करके एकमात्र मेरी शरणापन्न हो, मैं तुम्हारा सब पापोंसे उद्धार कर दूंगा, तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करना।

सर्वधर्मान्—वर्णाश्रम विहित सब धर्म ; **परित्यज्य**—परित्याग करके ; सब 'धर्मोंका परित्याग' करनेका भाव फलत्याग मात्र समझमें नहीं आता। **न च परित्यज इत्यस्य फलत्याग एव तात्पर्यमिति व्याख्येयम्**—चक्रवर्ती। यहाँपर वर्णाश्रम विहित कर्मादिके त्यागकी ही बात कही गयी है। **एकं मां शरणं व्रज**—कर्म, योग, ज्ञान, अन्य देव देवीकी पूजा आदि सब कुछ त्याग कर एकमात्र मेरे शरणापन्न होओ, मुझमें समर्पण करो। शरणागतिके लक्षण—

"आनुकूलस्य ग्रहणं प्रातिकूल्यविवर्जनम्।
रक्षिस्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

ह.भ.वि.११.४१७ (११.६७६)

१. भगवान्की प्रीतिके अनुकूल वस्तुका ग्रहण, २. प्रतिकूल वस्तुका त्याग, ३. वे निश्चय ही मेरी रक्षा करेंगे—इस प्रकारका विश्वास, ४. उनको रक्षाकर्ताके रूपमें वरण करना, ५. आत्मनिक्षेप एवं ६. कार्पण्य या कातरता—ये ६ शरणागत व्यक्तिके लक्षण हैं।"

जो जिनकी शरण ग्रहण करता है, वह उनका मूल्यक्रीत पशुकी तरह सर्वतोभावसे उनके अधीन हो जाता है, वे जो कुछ भी कराते हैं वह वही करता है, जो कुछ खिलाते हैं वही खाता है, जहाँ रक्खे वहीं रहता है ; शरणागत व्यक्तिका किसी भी विषयमें अपना कुछ भी कर्तृत्व नहीं रहता ; जो वास्तविक शरणागत होते हैं, उनको कर्तृत्वकी कोई इच्छा भी नहीं रहती, सब प्रकारसे प्रभु द्वारा चालित होनेमें ही वे आनन्द अनुभव करते हैं। उनका अपना कहनेके लिए कुछ भी नहीं रह जाता ; उनका देह, मन, इन्द्रिय—उनकी बुद्धि-वृत्ति, शक्ति आदि सब कुछ उनके

प्रभुका हो जाता है ; प्रभुके प्रीतिजनक कार्यके अतिरिक्त अपने देह सम्बन्धी किसी भी व्यापारमें उनको नियोजित नहीं करते, करनेका अधिकार या प्रवृत्ति भी उनके मनमें जाग्रत नहीं होती।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यः मोक्षयिस्यामि— मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। श्रीकृष्णसे सब धर्मोंके परित्यागका उपदेश पाकर अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती थी कि श्रीकृष्णने जिन धर्मोंके त्याग करनेकी बात कही, वे सब उन्हींके द्वारा तो आदिष्ट हैं, तब क्या उन सबका परित्याग कर देनेसे मुझे पाप नहीं होगा ? अर्जुनके मनमें इस प्रकारकी आशंकाका अनुमान करके ही श्रीकृष्णने कहा—"नहीं, धर्मत्यागके लिए तुमको कोई भी पाप नहीं होगा, सब पापोंसे मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, तुम किसी प्रकारकी आशंका नहीं करना, **मा शुच**—कोई शोक-चिन्ता नहीं करना।

५६वें पयारोक्त स्वधर्मत्यागके प्रमाण रूपमें उक्त श्लोक उद्धृत हुआ है।

ज्ञानमिश्रा भक्ति

प्रभु कहे एहो बाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—ज्ञानमिश्रा भक्ति साध्यसार ॥५७॥

रामानन्दकी बात सुनकर प्रभुने कहा—"राय ! तुमने जो स्वधर्म-त्यागकी बात बतायी वह भी बाहरकी बात है, इसके आगे कुछ हो तो बताओ।

स्वधर्मत्याग या कर्मत्यागको प्रभुने बाह्य क्यों बताया ? कर्मत्यागकी समीचीनताके सम्बन्धमें राय रामानन्दने **'आज्ञायैवमित्यादि एवं सर्व-धर्मानित्यादि'** दो श्लोक भी उद्धृत किये, उन दोनों श्लोकोंमें साधन-प्रणालीका उल्लेख है, उस साधन-प्रणालीके साथ ज्ञानकर्मादिका कोई भी संबंध नहीं है ; श्रीकृष्णमें आत्मसमर्पणपूर्वक श्रीकृष्णभजनका उपदेश ही

उसमें है। 'आज्ञायमित्यादि' श्लोककी टीकामें तदुक्त साधन प्रणालीको चक्रवर्तीपादने केवलाभक्तिका प्रथम सोपान—प्रवर्तक-साधकके लिए साधनांग बताया है तथा श्रीजीव गोस्वामी एवं दीपिकादीपन-टीकाकार ने अमिश्रा-भक्तिमार्गके मध्यम साधकका साधन बताया है ; अतएव यह भी शुद्धाभक्ति मार्गका ही साधन है ; इस साधनकी परिपक्व अवस्थामें जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा ही प्राप्त हो सकती है ; तब इस साधनका लक्ष्य बाहरकी वस्तु नहीं है, अतएव यह साधनांग भी बाहरकी वस्तु नहीं हो सकता। (सर्वधर्मान् इत्यादि-श्लोकोक्त साधनके सम्बन्धमें भी ऐसा ही वक्तव्य है)। तो भी महाप्रभुने इसको बाह्य क्यों बताया ? उक्त साधनका साध्य जब बाह्य नहीं है, साधन भी जब बाह्य नहीं है, तब यही लगता है कि जिस जातीय साधकको लक्ष्य करके उक्त दोनों श्लोक कहे गये हैं उस जातीय साधककी मनोवृत्तिमें ऐसी कोई बात है, जो उसको 'बाह्य' श्रेणीभुक्त कर देती है एवं उस मनोवृत्तिके संश्लिष्ट होनेके कारण श्लोकोक्त साधन प्रणाली स्वरूपतः शुद्धाभक्ति-मार्ग सम्मत होनेपर भी 'बाह्य' हो जाती है। किन्तु उस जातीय मनोवृत्तिका परिचय उक्त दोनों श्लोकोंमें मिलता है या नहीं और मिलता है तो वह क्या है ?

शुद्धाभक्ति मार्गमें कर्मत्यागकी (स्वधर्मत्यागकी) विधि रहने पर भी उसमें एक अधिकार व्यवस्था है। जब तक निर्वेद-अवस्था उत्पन्न न हो एवं निर्वेद-अवस्था उत्पन्न होने पर अकस्मात् किसी भी महापुरुषकी कृपासे जब तक भगवत्कथा-श्रवण-कीर्तनादिमें श्रद्धा उत्पन्न हो, तब तक कर्म करे।

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

श्रीम. भा. ११.२०.९

महापुरुषकी कृपाके फलस्वरूप श्रद्धा उत्पन्न होनेपर ही कर्मत्यागपूर्वक

केवलाभक्तिमें अधिकार उत्पन्न होता है, इसके पहले नहीं। तथा **आकस्मिक-महत्कृपाजनिता श्रद्धा या यावदिति श्रद्धातः पूर्वमेव कर्माधिकारः श्रद्धायां जातायां तु भक्तावेव केवलायामधिकारो न कर्मणीति भावः**—चक्रवर्ती। यहाँपर जिस श्रद्धाकी बात कही गयी है, वह आत्यन्तिकी श्रद्धा है। 'भगवत्कथा श्रवणादि द्वारा ही मैं कृतार्थ होऊँगा, ज्ञानकर्मादि द्वारा नहीं'—इस प्रकारका जो दृढ़ विश्वास है,—उस प्रकारके शुद्ध भक्तके संगसे जिसकी उत्पत्ति है—उसीको इस प्रकारकी आत्यन्तिकी श्रद्धा कहते हैं। इस प्रकारकी श्रद्धा जिनको है, वे ही कर्मत्यागके अधिकारी हैं। किन्तु 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोकमें जो कर्मत्यागकी बात देखनेमें आती है, उसके मूलमें इस प्रकारकी महत्कृपा जनित आत्यन्तिकी श्रद्धाका परिचय नहीं मिलता। पतिमें आत्यन्तिक प्रेमवती नारी जिस प्रकार अन्य पुरुषके साथ तुलनामें अपने स्वामीके दोष-गुणका विचार नहीं करती, उस प्रकारका विचार करनेकी बात भी जिस प्रकार उसके मनमें कभी भी नहीं उठती, परन्तु अपने प्रेमकी दृढ़ताके वश केवल मात्र पतिके गुणोंसे मुग्ध होकर ही पतिसेवा द्वारा अपने आपको कृतार्थ करनेकी सर्वदा चेष्टा करती है, उसी प्रकार भगवत्कथा-श्रवणादि रूप अनन्य भक्तिमें आत्यन्तिकी श्रद्धा जिनकी है, वे ही वर्णाश्रमधर्म-विहित नित्य-नैमित्तिक कर्मादिके साथ श्रवण-कीर्तनादिके दोष-गुण विचार नहीं करते, उस प्रकारके विचारकी बात भी उनके मनमें नहीं उठती—श्रवण-कीर्तनादि द्वारा अपने आपको कृतार्थ करनेकी चेष्टामें ही वे सर्वदा लगे रहते हैं। अन्य पुरुषके साथ अपने पतिके दोष-गुणोंका विचार करके जो नारी पतिसेवाकी कर्तव्यता निर्धारित करती है, उसकी पतिके प्रति जो प्रीति है, उसको आत्यन्तिकी प्रीति नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार जो शास्त्रविहित कर्मादिके साथ श्रवण-कीर्तनादि भजनाङ्गोंका विचार करते हैं, श्रवण-कीर्तनादिमें भजनांगोंमें उसकी श्रद्धा रहने पर भी ऐसी श्रद्धाको आत्यन्तिकी श्रद्धा नहीं कहा जा सकता।

अतएव, 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोकमें जिनके कर्मत्यागकी बात कही गयी है, वास्तवमें उनका कर्मत्यागमें अधिकार नहीं है। इसीलिए आलोच्य ५७ वें पयारकी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—"अत्र स्वधर्मत्यागविधौ निर्वेद-तत्कथाश्रवणादौ प्रवृत्त्यभावाद् अनधिकारिणः स्वधर्मत्यागेन नश्येयुरिति बाह्यं—कर्मत्यागके अधिकार निरूपणमें भगवत्कथा श्रवणादिमें जो प्रवृत्तिकी बात कही गयी है, 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोकके प्रमाणमूलक स्वधर्मत्यागमें भगवत्कथा श्रवणादिमें वैसी प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती, इसीलिए अनधिकारीके लिए स्वधर्मत्यागमें अमंगलकी आशंकाके कारण राय रामानन्द द्वारा कथित स्वधर्मत्यागको बाह्य बताया गया है।" 'तावत्-कर्माणि-कुर्वीत' श्लोक कर्मत्यागके मूलमें है ; भगवत्कथा श्रवणादिमें श्रद्धा या प्रवृत्ति ; और 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोकके कर्मत्यागके मूलमें है शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मके साथ श्रवण-कीर्तनादिके दोष गुणका विचार। दोनोंमें अनेक अन्तर है। श्रवण-कीर्तनादिमें श्रद्धाके बीच भगवत्सेवाके लिए एक प्रकारका प्राणोंके आकर्षणका परिचय मिलता है। किन्तु दोष-गुण विचारके वाद जो श्रवण-कीर्तनादिमें निष्ठा होती है, उसमें प्राणोंके आकर्षणका परिचय नहीं मिलता, बल्कि उसमें कर्त्तव्य-बुद्धिका परिचय मिलता है। प्राणोंके आकर्षणकी सेवामें और कर्तव्य बुद्धिकी सेवामें बहुत अन्तर है ; प्राणोंके आकर्षणकी सेवाकी अपेक्षा कर्तव्य-बुद्धिकी सेवा बहुत बाहरकी वस्तु है। इन दो प्रकारकी सेवामें सेवककी मनोवृत्तिमें जो अन्तर है, वही राय-कथित स्वधर्मत्यागको बाह्य बतानेमें हेतु है ; कर्तव्यबुद्धि-जनित सेवाकी मनोवृत्तिके संस्पर्शसे श्रवण-कीर्तनादि-शुद्धाभक्तिके अंग बाहरकी वस्तु बन जाते हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोकमें भी जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य श्रीकृष्णसेवाके प्रतिकूल एक मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। वह इस प्रकार है। गीताके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोकका तात्पर्य इस

५

प्रकार है--श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि तुम सब धर्मोंका परित्याग करके मेरे शरणागत होओ ; इस प्रकार सब धर्मोंका त्याग करनेसे तुमको किसी प्रकारका पाप होगा—इसकी तुम्हारे मनमें आशंका हो, तो मैं यह भी कहता हूँ कि इस पापके लिए किसी प्रकारका भय मत करो, मैं तुम्हारी सब पापोंसे रक्षा करूँगा। श्लोकके शेषार्द्धमें श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी अभय वाणी सुनकर श्रोतागण मनमें विचार कर सकते हैं कि यदि श्रीकृष्ण मुझको सब पापोंसे मुक्त करते हैं, तो मैं सब धर्मोंका त्याग करके उनके शरणागत हो सकता हूँ। इससे समझा जाता है कि इस प्रकारके स्वधर्म-त्यागमें 'पापसे अपनी रक्षाके लिए', अपने दुःख-निवृत्तिके लिए एक अभिप्राय सा है। अतः यह 'अन्याभिलाषिताशून्य' नहीं हुआ, इसलिए उत्तमा-भक्तिकी आलोचनामें यह बाह्य है (भूमिका ग्रन्थमें आलोचना देखिये)।

प्रभुके द्वारा स्वधर्मत्यागको बाह्य बताये जानेपर रायने कहा—"तब, ज्ञानमिश्रा भक्ति ही साध्यसार है।"

ज्ञानमिश्राभक्ति—ज्ञानके साथ मिश्रित भक्ति। ज्ञानके तीन अंग हैं—१. तत्-पदार्थका ज्ञान (परतत्त्व या भगवत्तत्वका ज्ञान), २. त्वं-पदार्थका ज्ञान (जीवस्वरूपका ज्ञान, जीव और ब्रह्मके सम्बन्धका ज्ञान भी इसके अन्तर्भुक्त है) एवं ३. दोनोंका ऐक्यज्ञान (जीव और ब्रह्मका ऐक्य ज्ञान)। शेष अंग, अर्थात् जीव और ब्रह्मका ऐक्य ज्ञान भक्ति-विरोधी है ; क्योंकि इस प्रकारके ऐक्य ज्ञानके कारण जीवके साथ ब्रह्मके स्वरूपगत सम्ब्रन्धका (सेव्य-सेवकत्व भावका) ज्ञान स्फुरित नहीं हो सकता। किन्तु प्रथम दो अंग अर्थात् ब्रह्मतत्वका या भगवत्तत्वका ज्ञान एवं जीवतत्वका ज्ञान (आनुषंगिक भावसे दोनोंका स्वरूपगत सम्बन्ध सेव्य-सेवकत्वका ज्ञान) भक्ति विरोधी नहीं है ; कारण, यह सेव्य-सेवकत्व भावका विरोधी नहीं है। आलोच्य पयारोक्त 'ज्ञान' शब्दका व्यापकतम अर्थ लेनेपर ज्ञानके इन तीन अंगों सहित मिश्रित भक्तिको ही ज्ञानमिश्रा-भक्ति कहा गया है,

ऐसा प्रतीत होता है। श्रीचैतन्य-चरितामृतकी भूमिका ग्रन्थमें 'अभिधेय तत्व' प्रबन्धमें दिखाया गया है कि भक्तिके साहचर्यके बिना केवल ज्ञान-मार्गका साधन (अर्थात् जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञान-मूलक साधन) अपना फल सायुज्य-मुक्ति नहीं दे सकता।

केवल ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिने॥ चै. च. म. २२.१६

अतएव मुक्तिकामी ज्ञानमार्गके साधनके साथ भक्तिका साहचर्य आवश्यक है। इस प्रकारके ज्ञानमार्गके साधनके साथ मिश्रित जो भक्ति है, वही ज्ञानमिश्रा-भक्ति है। और जो लोग भक्तिमार्गका साधन करते हैं, उनमें-से कोई-कोई भगवत्तत्व-ज्ञान, जीवतत्व-ज्ञान, आनुषंगिक भावसे दोनोंके बीच सम्बन्धका ज्ञान, मायातत्वका ज्ञान इत्यादि भक्तिके अविरोधी विविध ज्ञान प्राप्तिके प्रयासकी ओर भी प्रधानता देते रहते हैं। इनके द्वारा अनुष्ठित भक्ति-अंगके साधनके साथ भी ज्ञान मिश्रित रहता है, इसीलिए इनकी भक्तिको भी ज्ञानमिश्रा भक्ति कहा जाता है। आलोच्य पयारमें उल्लिखित दोनों प्रकारकी ज्ञानमिश्रा भक्तिकी बात कही गयी है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु अपनी उक्तिके समर्थनमें रामानन्द रायने गीताका 'ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा' इत्यादि जो श्लोक उल्लेख किया है, वह जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञान विषयक है—यही बात श्रीपाद शङ्कराचार्य, श्रीपाद श्रीधर स्वामी एवं श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीकासे भी जानी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि आलोच्य पयारमें 'ज्ञानमिश्रा-भक्ति' के अन्तर्गत 'ज्ञान' शब्दसे केवल जीव-ब्रह्मका ऐक्य ज्ञान ही राय रामानन्दको अभिप्रेत है। अथवा यह भी माना जा सकता है कि पूर्वोल्लिखित दोनों प्रकारके ज्ञान ही उनको अभिप्रेत हों तथा तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थके ज्ञानके साथ मिश्रित भक्तिके सम्बन्धमें कोई भी प्रमाण-श्लोकका उल्लेख करनेकी आवश्यकता रामानन्द रायने नहीं समझी।

ज्ञानमिश्रा-भक्तिकी उत्तमा-भक्तिमें परिणत होनेकी सम्भावना होनेके कारण ही स्वधर्मत्यागके पश्चात् राय रामानन्दने ज्ञानमिश्रा-भक्तिका

उल्लेख किया। ज्ञानमिश्रा-भक्ति उत्तमा-भक्तिमें परिणत हो सकती है इसके प्रमाणमें गीताका एक श्लोक उद्धृत हुआ है —

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् १८.५४

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥८॥

अन्वय—**ब्रह्मभूतः** (ब्रह्मस्वरूप संप्राप्त) **प्रसन्नात्मा** (प्रसन्नात्मा) **न शोचति** (नष्ट-वस्तुके लिए शोक नहीं करता) **न काङ्क्षति** (किसी भी प्रकारकी वस्तु प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता); **सर्वेषु भूतेषु** (सब प्राणियोंमें) **समः** (समदृष्टि सम्पन्न) **[सन]** (होकर) **परां मद्भक्ति** (मुझमें पराभक्ति) **लभते** (प्राप्त करता है)।

अनुवाद—ब्रह्मस्वरूप-संप्राप्त प्रसन्नात्मा व्यक्ति नष्ट वस्तुके लिए शोक नहीं करते, किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिए आकांक्षा भी नहीं करते। सब भूतोंमें समदृष्टि-सम्पन्न होकर वे मुझ (श्रीकृष्ण) में पराभक्ति प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मभूतः— ब्रह्मस्वरूप-संप्राप्त। भक्तिका साहचर्य लेकर ज्ञानमार्गके साधककी ज्ञानयोगका साधन करते-करते जब जड़ोपाधि छूट जाती है, जब उनका गुणमालिन्य दूर हो जाता है, तब देह-दैहिक वस्तुमें उनका अभिमान विनष्ट हो जाता है, तब वे अनावृत-चैतन्य होकर ब्रह्मरूपता— ब्रह्म-स्वरूपता प्राप्त करते हैं; ब्रह्म जिस प्रकार उपाधिलेशशून्य अनावृत-चैतन्य है, वे भी तब उपाधिलेशशून्य अनावृत-चैतन्य होते हैं। जब वे इस प्रकार होते हैं, तभी उनको ब्रह्मभूत कहा जाता है। **प्रसन्नात्मा**—प्रसन्न हुई है आत्मा जिनकी; किसी भी प्रकारकी जड़ोपाधि नहीं होनेके कारण, किसी भी प्रकारका गुणमालिन्य नहीं होनेके कारण तब उनका चित्त प्रसन्नता प्राप्त करता है, तब किसी भी प्रकारकी विषण्णता उनके चित्तमें स्थान नहीं पाती। इस प्रकारसे देह और दैहिक-वस्तुमें अभिमानादि न

रहनेके कारण तब वे **न शोचति**--पूर्वकी तरह नष्ट वस्तुके लिए शोक नहीं करते एवं **न काङ्क्षति**—किसी भी अप्राप्त वस्तुको पानेके लिए आकांक्षा भी नहीं करते। देह-दैहिक वस्तुमें अभिमानादि रहनेपर ही व्यक्तिको बाह्यानुसन्धान रहता है; ब्रह्म-स्वरूप-संप्राप्त व्यक्तिको उस प्रकारका कोई भी अभिमानादि न रहनेसे बाह्यानुसन्धान भी नहीं रहता; इसीसे वे बालककी तरह **सर्वेषु भूतेषु समः**--भले-बुरे, उत्तम-अधम, भद्र-अभद्र सभी प्राणियोंको समान मानते हैं; प्राणियोंमें जो पृथक्ता है, बाह्यानुसन्धानके अभावमें, वह भी उनके मनमें जाग्रत नहीं होती। साधक-की जब इस प्रकारकी अवस्था हो जाती है, तब यदि किसी सौभाग्यसे उसके शुद्ध ज्ञानमार्गका साधनांग अनुष्ठित न हो, ज्ञानमार्गके साधनांग यदि लोप हो जायें, निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान यदि तिरोहित हो जाय—तब साधनके आनुषंगिक भावसे वह जिन भक्तिअंगोंका अनुष्ठान किया करता था, वे ही अधिकतर सजीवता प्राप्तकर समुज्ज्वल हो उठते हैं। ज्ञानमार्गके साधनके आनुषंगिक मात्र होनेके कारण ये भक्तिअङ्ग आरम्भमें कुछ क्षीण-से थे; किन्तु उड़द-मूंग-भूसि-आदिके साथ मिश्रित स्वर्णकणिका (पीले रंगके दाने) पहले अदृश्य रहनेपर भी उड़द-मूंग आदिके गल जानेपर जिस प्रकार स्वर्णकणिकाके दाने नष्ट नहीं होते, बल्कि तब उनकी उज्ज्वलता जिस प्रकार सबकी दृष्टिको आकर्षण करती है, उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्यादिके साथ मिश्रित भक्ति पहले नितान्त क्षीण-प्रभा बनी रहनेपर भी ब्रह्मभूत-प्रसन्नात्मा व्यक्तिका निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान तिरोहित हो जानेपर, एक मात्र भक्ति ही अवशिष्ट रहकर समुज्ज्वल हो उठती है। भक्ति है स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेष—अतएव अनश्वरा है; ब्रह्मस्वरूप-संप्राप्त व्यक्तिकी विद्या एवं अविद्या तिरोहित होनेपर भी भक्ति तिरोहित नहीं होती; यह भक्ति तब ज्ञानकर्मादिकी छाया-स्पर्श-शून्या होनेके कारण द्रुतगतिसे उत्तरोत्तर सम्वर्द्धित समुज्ज्वलता प्राप्त करके **पराभक्ति**—प्रेमलक्षणा भक्तिमें परिणत होकर साधकको कृतार्थ करती रहती है।

ज्ञानमिश्रा भक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादनके उद्देश्यसे राय रामानन्दने इस श्लोकका उल्लेख किया है।

ज्ञानशून्या भक्ति

प्रभु कहे—एहो बाह्य, आगे कह आर।
राय कहे—ज्ञानशून्या भक्ति साध्यसार ॥५८॥

रामानन्दकी बात सुनकर प्रभुने कहा—"राय ! ज्ञानमिश्रा भक्तिकी बात बतायी, वह भी बाहरकी बात है, और कुछ हो तो बताओ।

ज्ञानमिश्रा भक्तिको प्रभुने बाह्य क्यों बताया? पूर्ववर्ती ५७वें पयारकी टीकामें दो प्रकारकी ज्ञानमिश्रा भक्तिकी बात कही गयी है। इस पयारमें प्रभुने दोनों प्रकारकी ज्ञानमिश्रा भक्तिको बाह्य बताया। किन्तु क्यों ? इसकी पृथक्-पृथक् भावसे आलोचना की जा रही है।

पहले जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानके साथ मिश्रित भक्तिकी आलोचना की जाय। ज्ञानमार्गके साधनके साथ मिश्रित भक्ति केवल ज्ञानमार्गके साधन-की सहायकारिणीरूपसे रहती है; उसका कार्य केवल जीव-ब्रह्मके ऐक्य-ज्ञानकी चिन्ताको सफलता प्रदान करना है, अन्य कुछ नहीं। इस प्रकारकी ज्ञानमिश्रा भक्तिसे सायुज्यमुक्ति मिलती है; किन्तु यह सायुज्य-मुक्तिकी साधन ज्ञानमिश्रा भक्ति, जीव-ब्रह्मके सेव्य-सेवकत्व-भावरूप सम्बन्धज्ञान-विकाशके प्रतिकूल है, इसीसे प्रभुने इसको बाह्य बताया।

इस प्रसंगमें एक और भी बात विवेच्य है। उद्धृत 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' इत्यादि गीताके श्लोकसे जाना जाता है कि ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा व्यक्ति पराभक्ति प्राप्त कर सकता है। पराभक्ति हुई प्रेमलक्षणा भक्ति; इस प्रेमलक्षणा भक्तिके प्राप्त होनेपर जीव-ब्रह्मके सम्बन्धका ज्ञान सम्यक् रूपसे स्फुरित होता है; यही जीव-स्वरूपके साथ स्वरूपगत-सम्बन्धविशिष्ट साध्यवस्तु है; अतएव इस पराभक्तिको बाह्य नहीं कहा

जा सकता। प्रभुने पराभक्तिको बाह्य बताया भी नहीं है, ज्ञानमिश्रा भक्तिको ही बाह्य बताया है। किन्तु 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' श्लोकसे जाना जाता है कि ज्ञानमिश्रा भक्तिके साधनसे जो ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा होते हैं, वे पराभक्ति प्राप्त करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञानमिश्रा भक्ति हुई पराभक्तिके प्राप्तिका उपाय —अथवा ज्ञानमिश्रा भक्ति ही परिणाममें पराभक्ति हो जाती है। तब ज्ञानमिश्रा भक्तिको बाह्य क्यों कहा गया? श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उल्लिखित गीताके श्लोककी टीकामें जो बताया है, उससे इस प्रश्नका एक उत्तर मिलता है। टीकामें उन्होंने कहा है— "मायिक उपाधि दूर हो जानेपर साधक जब ब्रह्मभूत (अर्थात् अनावृत चैतन्य-ब्रह्मरूप) होते हैं, तब वे प्रसन्नात्मा होते हैं (अर्थात् पहलेकी तरह नष्ट वस्तुके लिए शोक नहीं करते, और अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिए आकांक्षा नहीं करते) एवं (बाह्यानुसंधान न रहनेके कारण) बालककी तरह अच्छी-बुरी सभी वस्तुओंमें समदृष्टि सम्पन्न होते हैं। तब ईंधनहीन अग्निकी तरह (जीव ब्रह्मका ऐक्य) ज्ञान शान्त हो जानेपर, पूर्ववर्ती ज्ञान-साधनके अन्तर्भुक्त श्रवण-कीर्तनादिरूप स्वरूपशक्तिके विलासभूत (अतएव) अविनश्वर भक्तिमात्र अवशिष्ट रहेगी। पहले मोक्ष-साधक-साधनको सफल करनेके लिए अंशरूपसे जो भक्ति वर्तमान थी, सब भूतोंमें अवस्थित अन्तर्यामीकी तरह तब उसकी स्पष्ट उपलब्धि नहीं थी। अब साधकके ब्रह्मभूत हो जानेपर जीव-ब्रह्मके ऐक्य ज्ञान-चिन्तनका और प्रयोजन या अवकाश न रहनेके कारण वह चिन्तन जब शान्त या तिरोहित हो जाता है, तब अवशिष्ट रहती है केवल वह भक्ति—उड़द-मूंग-आदिके साथ मिली हुई उस स्वर्ण कणिकाकी तरह जो पहले अदृश्य भावसे रहती है, पर उड़द-मूंग-आदिके गल जानेपर शेष रहती है और पहलेसे भी अधिक उजागर होती है। भक्ति मायिक वस्तु न होनेके कारण नष्ट नहीं होती, साधक तब उसी भक्तिको प्राप्त करता है। जो पहले भी थी, पर अन्य-वस्तु (ऐक्य-ज्ञान-चिन्तन) के साथ मिश्रित होनेके कारण पहले जो

उतनी परिलक्षित नहीं थी, अब उस अन्य वस्तुके न रहनेपर, केवल भक्तिमात्र रहनेसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। इसीलिए श्लोकमें 'अनुष्ठान करना' न कहकर 'प्राप्त करना' (लभते) बताया गया है। ऐसी अवस्थामें प्रायशः सम्पूर्णा-प्रेमभक्तिके प्राप्तिकी सम्भावना होती है। **सम्पूर्णायाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभसम्भवोऽस्ति**। इस श्लोकके प्रसंगमें चक्रवर्तीपादकी उक्तिका यही तात्पर्य है।

जो पहले जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानके साथ मिश्रित थी, बादमें स्वतन्त्र हुई है, उसी भक्तिकी बात चक्रवर्तीपादने अपनी टीकामें बतायी है। उन्होंने और भी कहा है कि जो पहले अंशरूपसे मिश्रित थी, (अतएव तटस्था या निरपेक्षरूपसे केवल ज्ञानसाधनके फल दानके लिए थी), वही बादमें स्वतन्त्र होकर प्रायशः सम्पूर्णा-प्रेमभक्तिके रूपमें परिणत होनेकी सम्भावना प्राप्त करती है। इस प्रकार ज्ञानमिश्राभक्ति वास्तविक ही बाह्य है, इसमें सन्देह नहीं; कारण, चक्रवर्तीपादने कहा है कि इस प्रकारकी भक्तिमें साधकके लिए सम्पूर्णा-प्रेमभक्ति-प्राप्तिकी सम्भावनामात्र है, वह भी प्रायशः। निश्चयताकी बात उन्होंने कुछ भी नहीं कही। निश्चयताकी बात नहीं कहनेका हेतु भी है। साधकके ब्रह्मभूत होनेपर जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानके चिन्तनका लोप हो जा सकता है, किन्तु पहलेसे जो भक्ति तटस्थारूपसे विद्यमान थी, वह प्रबल हो उठेगी, इसकी निश्चयता कुछ नहीं है। यदि उसकी निश्चयता रहती, तो भक्तिके साहचर्ययुक्त जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञान-चिन्तनको सायुज्य-मुक्तिका साधन नहीं कहा जाता, प्रेमभक्ति-प्राप्तिका साधन ही कहा जाता। ऐसी अवस्थामें यदि साधक किसी भी परमभागवत महापुरुषकी कृपा प्राप्त कर सके तो तटस्था-भक्ति प्रबल हो उठ सकती है, अन्यथा नहीं। किन्तु इस प्रकारकी महत्कृपा-प्राप्तिकी कोई भी निश्चयता नहीं है। अथवा किसी भाग्यवश साधन-अवस्थामें यदि साधकके चित्तमें तीव्र भक्ति-वासना जाग उठे, तभी ज्ञानके साथ मिश्रित तटस्था भक्ति स्वतन्त्र होनेपर उस साधकको

कृतार्थ करनेके लिए प्रबल हो सकती है, किन्तु इस प्रकारकी तीव्र भक्ति-वासना उत्पन्न होनेके लिए कोई निश्चयता नहीं है। प्रतीत होता है कि इसीलिए चक्रवर्तीपादने प्रेमभक्ति-प्राप्तिकी सम्भावनामात्र ही बतायी है, निश्चयता नहीं बतायी। निश्चयता न होनेके कारण ही यह बाह्य है।

दूसरे, अब तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थके ज्ञानके साथ मिश्रित भक्तिकी विवेचना की जाय। भक्तिरसामृतसिन्धुके—

ज्ञान-वैराग्योर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता।
ईषत् प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः॥ १.२.१२० (१.२.२४८)

श्लोककी टीकामें श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है—ज्ञानमत्र त्वम् पदार्थविषयं तत्-पदार्थविषयं तयोरैक्य विषयञ्चेति त्रिभूमिकं ब्रह्मज्ञानमुच्यते। तत्र ईषदिति ऐक्यविषयं त्यक्त्वा इत्यर्थः। वैराग्यञ्चात्र ब्रह्मज्ञानोपयोग्येव, तत्र च ईषदिति भक्तिविरोधिनं त्यक्त्वा इत्यर्थः। तच्च तच्च प्रथमेव इति अन्यावेश-परित्यागमात्राय ते उपादीयते तत्परित्यागेन जाते च भक्तिप्रवेशे तयोरकिञ्चित्करत्वात्? तद्भावनया भक्तिविच्छेकत्वाच्च। श्रीजीवकी इस उक्तिका (अतएव भक्तिरसामृतसिन्धुके उल्लिखित श्लोकका भी) तात्पर्य यह है—"प्रथम अवस्थामें अन्यवस्तुसे चित्तके आवेशको (एवं तत्-जनित शोकादि विघ्नको) दूर करनेके लिए भक्तिके अविरोधी (जीव-तत्त्व-भगवत्-तत्वादि विषयक) ज्ञान और वैराग्यकी किंचित् उपयोगिता तो है, किन्तु अन्यावेश परित्यागके फलसे भक्तिमें प्रवेश मिलनेपर इस प्रकारकी भक्तिके अविरोधी ज्ञानका और वैराग्यका कोई भी प्रयोजन नहीं है। तब ये सब अकिञ्चित्कर (तुच्छ)-से लगेंगे। विशेषतः तब वैराग्यकी बात या जीवतत्व-भगवत्तत्व आदिकी बात विचारनेमें भी भक्तिमें विघ्न उत्पन्न होगा।"

पूर्वोक्त आलोचनासे जाना गया कि भजनमें प्रवृत्ति होनेपर भी यदि

कोई अनेक प्रकारके तत्त्वादिकी आलोचनामें व्यस्त रहे, तब केवल भजनके अननुकूल व्यापारमें उसका समय वृथा नष्ट होगा—इतनी ही बात नहीं, क्रमशः तत्त्वकी आलोचनामें उसे एक आवेश भी उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकारका आवेश उत्पन्न होनेसे हो सकता है कि तत्त्वालोचनाको ही वह अपने भजनका एक अपरिहार्य अंग रूपमें मानने लगे और तब यह तत्त्वालोचना उसके भजनके लिए विघ्नजनक हो जाय। इस प्रकारके तत्त्वज्ञान-लिप्साके साथ मिश्रित जो भक्तिमार्गका साधन है, वह भक्तिमें विघ्नजनक होनेके कारण, जीव-ब्रह्मके सम्बन्धज्ञान-विकाशका अविरोधी होनेपर भी, भक्तिका पुष्टिसाधक न होनेके कारण एवं तज्जन्य सम्बन्ध-ज्ञान-विकाशका सम्यक् उपयोगी न होनेके कारण प्रभुने इसे बाह्य बताया।

जो हो, प्रभुकी बात सुनकर रामानन्द रायने कहा—"ज्ञानशून्या-भक्ति ही साध्यसार है।"

ज्ञानशून्या-भक्ति—ज्ञान-संबंध-रहित भक्ति। पहले कहा जा चुका है कि ज्ञानके तीन अंग हैं—भगवत्तत्त्व-ज्ञान, जीवतत्त्व-ज्ञान एवं जीव ब्रह्मका ऐक्यज्ञान। पूर्व पयारमें ज्ञानमिश्रा भक्तिकी बातमें ज्ञानके इन तीन अंगोंके साथ मिश्रित भक्तिकी बात ही कही गयी है। किन्तु भक्तिके साथ जीव-ब्रह्मका ऐक्यज्ञान या जीवतत्त्व-भगवत्तत्त्वादिका प्रयास मिश्रित रहनेसे वह जीव-ब्रह्मके सम्बन्ध-ज्ञानके विकाशके लिए अनुकूल नहीं होनेके कारण प्रभुने ज्ञानमिश्रा भक्तिको बाह्य बताया है। यह सुनकर राय रामानन्दने ज्ञानके तीन अंगोंसे सम्बन्ध रहित संश्रवशून्या (ज्ञान-शून्या) भक्तिकी बात कही। ज्ञानमिश्रा भक्तिसे ज्ञानशून्याभक्तिका उत्कर्ष यह है कि ज्ञानशून्या भक्तिमें भगवान् (या ब्रह्म) एवं जीवके बीच सेव्य सेवक-सम्बन्धके विरोधी जीव-ब्रह्मके ऐक्यज्ञानका मिश्रण नहीं है एवं भक्तिमें विघ्नजनक भगवत्तत्त्व-जीवतत्त्वादिका ज्ञान संचयके लिए अत्याग्रहका मिश्रण भी नहीं है। अपनी उक्तिके समर्थनमें रामानन्द रायने श्रीमद्भागवतमें '**ज्ञाने प्रयास-**

मुद्पास्य' इत्यादि जिस श्लोकका उल्लेख किया है, उससे जाना जाता है कि ज्ञानशून्या भक्तिमें सम्बन्ध-ज्ञानके सुन्दर विकाशकी निश्चयता भी है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.१४.३

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थानेऽस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि नैस्त्रिलोक्याम् ॥६॥

अन्वय--हे अजित (हे अजित)! ज्ञाने (ज्ञान-विषयमें—आपके स्वरूपकी या ऐश्वर्यादिकी महिमा विचारादिके निमित्त) प्रयासं (चेष्टा या श्रम) उदपास्य (सम्यक् रूपसे परित्याग करके, किंचित् मात्र भी चेष्टा न करके) स्थाने स्थिताः (स्थानमें—साधुओंके निवास-स्थानमें रहकर) सन्मुखरितां (साधुओंके मुखसे निर्गत) श्रुतिगतां (अपने-आप ही श्रुतिपथ-गत कानोंमें पड़ी हुई) भवदीयवार्तां (आपकी या आपके भक्तोंकी चरित-कथाका) तनुवाङ्मनोभिः (काय मनोवाक्यसे) नमन्त एव (सत्कार करके) ये (जो लोग) जीवन्ति (जीवन धारण करते हैं) [त्वम्] (आप) त्रिलोक्यां (त्रिलोकीमें) तैः (उनके द्वारा) प्रायशः (प्राय ही) जितः (वशीकृत) अपि (भी) असि (होते हो)।

अनुवाद—ब्रह्माने श्रीकृष्णसे कहा—"हे अजित! आपके स्वरूपकी या ऐश्वर्यादिकी महिमा विचारादिके लिए (अथवा स्वरूप-ऐश्वर्यादिका ज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त) किंचित् मात्र भी चेष्टा न करके जो लोग (तीर्थ भ्रमणादि न करके भी केवल मात्र) साधुओंके निवास-स्थानमें रहकर उनके मुखसे उच्चारित एवं अपने-आप ही कानोंमें प्रविष्ट हुए आपके रूप-गुण-लीलादिकी कथाका, या आपके भक्तोंकी चरित कथाका, काय-मनोवाक्यसे सत्कार करके जीवन-धारण करते हैं (भगवत्कथाके या

भगवद्भक्त-चरित-कथाके श्रवणको ही अपने एकमात्र उपजीव्य रूपसे ग्रहण करते हैं, और कुछ भी नहीं करते), त्रिलोकमें आप प्रायः उनके वशमें भी रहते हैं।"

ज्ञाने—ज्ञान-विषयमें ; भगवान्‌के स्वरूप-ऐश्वर्य-महिमादिके विचारमें (श्रीजीव गोस्वामी कृत वैष्णवतोषिणी)। भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान, ऐश्वर्यका ज्ञान, माधुर्यका ज्ञान आदि प्राप्त करनेके निमित्त **प्रयासं उद्पास्य**—सब प्रकारसे प्रयासका परित्याग करके किंचित् मात्र भी चेष्टा न करके, भगवत्तत्त्वादि अवगत होनेके लिए शास्त्र-अध्ययन आदिको प्रधानता न देकर जो लोग **स्थाने स्थिताः**—साधुओंके निवास-स्थानमें अव्यग्र भावसे रहकर, तीर्थ-भ्रमणादिका क्लेश स्वीकार न करके साधु-पुरुषोंके निकट रहनेसे (श्रीजीव) **सन्मुखरितां**—सत् या साधु पुरुषोंके मुखसे निकली हुई—मिथ्या-भाषणादि या सर्वेन्द्रिय-क्षोभादि परिहारके निमित्त जो प्रायः मौनव्रतावलम्बी रहते हैं, जो ऐसे साधु पुरुषोंको भी मुखरीकृत (बोलनेवाला) बना देती है एवं ऐसे साधु पुरुषोंके सान्निध्यमें रहनेसे जो अपने आप ही **श्रुतिगतां**—कर्णकूहर (कानों) में प्रवेश हो। सत्पुरुषोंके निकट रहनेसे वे सत्पुरुष, जब भगवत्कथादिकी आलोचना करते हैं, तब वे बातें अपने-आप ही कानोंमें आ पहुँचती हैं—श्रुतिगत हो जाती हैं ; इस प्रकार जो साधु पुरुषोंके मुखसे निकलकर अपने-आप ही कर्णविवरमें प्रवेश हो, ऐसी **भवदीयवार्ता**—भवदीय (भगवान्‌की) वार्ता (कथा), भगवत्कथा, भगवान्‌के रूप-गुण-लीलादिकी कथा, अथवा भवदीय (आपके निज-जनोंकी—भगवद्भक्तोंकी) वार्ता (कथा), भक्त-चरित **तनुवाङ्-मनोभिः**—तनु (काया, देह), वाक्य और मनके द्वारा—कायमनोवाक्य द्वारा जो लोग **नमन्त एव**—नमस्कार करके, सत्कार करके (श्रवणके समय श्रद्धापूर्वक अंजली बांधकर रहनेसे, हाथ जोड़नेसे काया द्वारा सत्कार होता है ; जो सुना गया है उसका वाक्य द्वारा अनुमोदन या प्रशंसादि करनेसे वाक्य द्वारा सत्कार होता है एवं इन भगवत्कथाओंमें विश्वास या मन-

मनमें उन कथाओंका चिन्तन या अनुस्मरण आदि करनेसे मनके द्वारा सत्कार होता है। इस प्रकारसे भगवत्कथादिका कायमनोवाक्यसे सत्कार करके जो लोग) **जीवति**—जीवन धारण करते हैं; जितने दिनों जीवित रहें उतने दिनों अन्य व्यर्थके कार्योंमें समय खर्च न करके जो केवल इस प्रकारसे सत्कारपूर्वक साधु-मुख-निःसृत भगवत्कथा श्रवण करते हैं, अन्योंके द्वारा आप अजित होनेपर भी अन्य कोई आपको वशीभूत करनेमें समर्थ न होनेपर भी **त्रिलोक्यां**—त्रिलोकीमें **तैः**—उनके द्वारा (उक्त प्रकारसे भगवत्कथा-श्रवणपरायण व्यक्तियोंके द्वारा) **प्रायशः**—प्रायः ही (अधिकतर), विशेषरूपसे अथवा अधिकांश स्थानोंमें **जितः असि**—(आप) वशीकृत होते हैं।

इस श्लोकसे जाना गया कि भगवत्तत्त्वादिके ज्ञान-प्राप्तिके लिए पृथक् भावसे कुछ भी चेष्टा न करके, जो लोग साधु पुरुषोंके निकट रहकर, उनके मुखसे निःसृत भगवत्कथा या भगवद्भक्त-चरितके श्रवणको ही जीवनमें प्रधान व्रतरूपसे ग्रहण करते हैं, अन्योंके द्वारा वशीभूत न होनेपर भी भगवान् कृपा करके उनके वशीभूत हो जाते हैं। इस श्लोकमें भगवत्कथा-की भगवद्वशीकरण-शक्तिकी बात कही गयी है। भगवान् भक्तिवश हैं। **भक्तिवशः पुरुषः**—श्रुति। साधुमुखसे भगवत्कथाके श्रवणके फलसे श्रोताके चित्तमें भक्तिका आविर्भाव होता है, उस भक्तिके वशीभूत होनेसे भगवान् उन श्रोताओंके वशीभूत होकर उनके चित्तमें अवस्थान करते हैं। भगवान्ने दुर्वासा ऋषिसे स्वयं ही कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ श्रीम.भा. ९.४.६३

साधुभक्तगण मानो उनको हृदयमें ग्रास करके रखते हैं। रसिक-शेखर श्रीकृष्ण पूर्णतमस्वरूप होनेपर भी भक्तको कृतार्थ करनेके लिए भक्तके, प्रीतिरसके कंगाल होते हैं। इस प्रीतिरसके लोभसे वे अपने-आप ही भक्तकी वश्यता स्वीकार करते हैं, भक्तके प्रेमरस-निषिक्त हृदयको त्याग

करनेकी इच्छा नहीं करते। भगवत्कथा श्रवण द्वारा ऐसा प्रेम उत्पन्न हो सकता है। यह भी सूचित होता है कि भगवत्कथा श्रवणसे सेव्य-सेवक-भावका एवं सेवा-वासनाका भी विकाश हो सकता है, क्योंकि सेवा-वासनाका विकाश हुए बिना 'प्रेम' शब्दकी भी सार्थकता नहीं रहती एवं प्रेम उत्पन्न हुए बिना भगवान्‌की वश्यता-स्वीकृतिका प्रश्न नहीं उठ सकता। ज्ञानशून्या-भक्तिके वैशिष्ट्यकी बात ही इस श्लोकमें कही गयी है। जो लोग इस भक्ति-अंगका अनुष्ठान करते हैं, भगवान् उनके वशीभूत होकर उनको अपनी चरण-सेवाका अधिकार देते हैं। इसलिए ज्ञानशून्याभक्तिको 'साध्य-सार' कहा गया है—ज्ञानशून्या-भक्तिका जो साध्य—भगवत्सेवा है, वही साध्यसार है। वास्तवमें भगवत्कथाका श्रवण-कीर्तनादि साधन भी है और साध्य भी है; सिद्धावस्थामें भी भगवत-पार्षद रूपसे भक्त भगवान्‌के रूप-गुण-लीलादिके कीर्तन द्वारा स्वयं भी आनन्द उपभोग करते हैं और भगवान्‌को भी आनन्दित करते हैं।

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सत् चिदानन्द॥ चै.च.म. १७.१३०

ब्रह्मा-मोहनलीलामें श्रीकृष्णका स्तव करते हुए ब्रह्माने कहा—"प्रभो! आपके स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, रूप, गुण, लीलादिके तत्त्व या महिमासे अवगत होना मेरे लिए या अन्य किसीके लिए भी असम्भव है (आप कृपा करके जितना जिसको जनाओ, वह उतना मात्र ही जान सकता है। उससे अधिक कुछ भी जाननेकी सामर्थ्य किसीकी नहीं हो सकती।"

इससे यदि कोई प्रश्न करें कि तब जीवके लिए क्या उपाय है? संसार-समुद्रसे जीव निष्कृति किस प्रकार पा सकेगा? क्योंकि श्रुति कहती है—"**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**—उस सच्चिदानन्द वस्तुको जान लेनेपर ही जीवकी संसार-निवृत्ति हो सकती है, इसके अतिरिक्त संसार-निवृत्तिका और कोई अन्य मार्ग नहीं है।" सच्चिदानन्दघन परब्रह्म श्रीकृष्णके तत्त्वादि यदि

अज्ञेय ही हों, तब जीव किस प्रकार संसार-मुक्त होगा ? इस प्रकारके प्रश्नकी आशंका करके ही ब्रह्मा 'ज्ञाने प्रयासम्' इत्यादि श्लोकमें कहते हैं —श्रीकृष्णके तत्त्वादि जाननेके लिए चेष्टा किये बिना भी जीव संसार-मुक्त हो सकता है ; केवल संसार-मुक्ति प्राप्त करना ही नहीं, उस अविज्ञेय माहात्म्य भगवान्‌को वशीभूत भी कर सकता है। किस प्रकार? साधुमुखसे एकान्त भावसे निरन्तर भगवान्‌के रूप-गुण-लीलादिकी कथा एवं उनके भक्तोंकी चरितकथा श्रवण द्वारा। इस प्रकारकी कथा-श्रवणके साथ आनुषंगिक भावसे भगवान्‌के स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्यादिकी अनेक बातें श्रोताके जाननेमें आयगी एवं उसके फलस्वरूप उसमें क्रमशः श्रद्धा, रति, भक्तिका उन्मेष होगा।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

श्रीम भा ३.२५.२५

श्रीभगवान् कहते हैं—साधु पुरुषोंका प्रकृष्ट रूपसे संग होनेपर मेरी वीर्यप्रकाशक कथा उपस्थित होती है ; वह कथा हृदय और कानोंको तृप्तिदायक होती है ; प्रीतिपूर्वक इस कथाका आस्वादन करनेपर अपवर्गके पथस्वरूप मुझमें श्रद्धा, रति और भक्तिका क्रमसे उदय होता है।

भगवत्-सम्बन्धिनी या भगवद्भक्त-सम्बन्धिनी कथा मात्र भगवत्-तत्त्वपूर्ण होती है, भगवान्‌के स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्य-रूप-गुण-लीलादिके तत्त्व-से पूर्ण होती है। अतएव इन सब कथाओंके श्रवणसे आनुषंगिक भावसे ही अनेक तत्त्व कथाएँ जाननेमें आ जाती हैं, उसके लिए अलगसे कोई चेष्टा करनी नहीं होती। तत्त्वज्ञान प्राप्तिके लिए पृथक् चेष्टा करनेसे उस चेष्टामें आवेश उत्पन्न हो सकता है, उससे भजनमें विघ्न उत्पन्न हो सकता है (इसका विचार पहले ही हो चुका है) ; और उसमें तत्त्वज्ञान प्राप्तिकी

सम्भावना भी विशेष नहीं रहती। उनकी कृपा बिना कोई भी उनके तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ जान नहीं सकता। श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी यही बात बताता है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

श्रीम. भा. १०.१४.४

श्रवणादिरूप भक्तिको बाद देकर जो लोग केवल ज्ञान प्राप्तिके लिए ही प्रयास करते हैं, उनको स्थूल-तुषावघाती लोगोंकी तरह केवल क्लेश ही प्राप्त होता है, और कुछ नहीं मिलता (अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति उनके लिए सम्भव नहीं है)। भक्ति सब मंगलोंकी उत्सरूपा (श्रेयःसृति) है ; श्रवणादि भक्तिके अनुष्ठानसे आनुषंगिक भावसे अपने-आप ही ज्ञान मिलता रहता है। **श्रेयसां सर्वेषामेव सृतिमिति अवान्तरफलत्वेन स्तवएव ज्ञानमपि भवितैवेति सूचितम्** (श्रीम.भा. १०.१४.४ की श्रीजीवकृत वैष्णवतोषिणी)। भगवत्कथा श्रवणमें आनुषंगिक भावसे जो सुननेमें आवे, भगवत्कथाकी कृपासे उसकी किंचित् उपलब्धि प्राप्त हो सकती है, उससे जीवकी संसारमुक्ति हो सकती है, श्रुतिकी उक्ति भी सार्थक हो सकती है। **अतस्त्वत्कथैकदेश-ज्ञानमेव त्वजज्ञानं तेन संसारमपि तरन्ति इति श्रुत्यर्थो ज्ञेय इतिभावः**—श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती। अनन्त-स्वरूप भगवान्‌का सम्यक् तत्त्व अवगत होना सम्भव नहीं है ; भगवत्कथा श्रवणसे उनके सम्बन्धमें जो कुछ जाना जाय, वही भगवद्-विषयक ज्ञान है ; उसीसे संसार-मुक्ति हो सकती है—यही श्रुतिवाक्यका तात्पर्य है। भगवत्कथा या भक्तचरित श्रवण-प्रसंगमें तत्त्वज्ञान प्राप्तिकी एक विशेषता यह है कि इसमें नीरस-तत्त्वकथा भी भगवान्‌के रूप-गुण-लीलादिकी कथाके रससे परिसिंचित होकर परम लोभनीयता प्राप्त करती है।

प्रश्न हो सकता है—इस श्लोकमें कहा गया है कि भगवत्तत्त्वादिके विषयमें ज्ञान-प्राप्तिके लिए कोई भी प्रयासकी आवश्यकता नहीं है। और श्रीकविराज गोस्वामीने सिद्धान्त-विषयमें ज्ञान-प्राप्तिकी आवश्यकताकी बात बतायी है।

सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस।
इहा हइते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥ चै.च.आ.२.६६

भक्तिरसामृतसिन्धुके **'शास्त्रे युक्तौ च निपुणः'** इत्यादि—१.२.११-१३ (१.२.१७-१६) श्लोकोंमें भी कहा गया है—

शाश्त्रयुक्त्ये सुनिपुण दृढ़ श्रद्धा जार।
उत्तम अधिकारी सेइ तरये संसार॥
शाश्त्रयुक्ति नाहि जाने दृढ़ श्रद्धावान्।
मध्यम अधिकारी सेइ महाभाग्यवान्॥
जाहार कोमल श्रद्धा से कनिष्ट जन।
क्रमे क्रमे सेइ भक्त हइवे उत्तम॥

चै.च.म.२२.३६-४१

इन प्रमाणोंसे भी शास्त्रज्ञानकी या तत्त्वज्ञानकी आवश्यकताकी बात जानी जाती है। श्रीमद्भागवतोक्त **'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य'** इत्यादि श्लोकके साथ उल्लिखित भक्तिरसामृतसिन्धु आदिकी उक्तिका समन्वय क्या है? समन्वय इस प्रकार लगता है। तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता है; तत्त्वज्ञानके बिना श्रद्धा भी उत्पन्न हो सकती है या नही—इसमें सन्देह है; यदि श्रद्धा उत्पन्न भी हो जाय तो दृढ़ हो सकती है या नहीं—इसमें सन्देह है। तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके प्रयासको प्रधानता देना ही दूषणीय है। क्यों दूषणीय है?—यह पहले ही बताया जा चुका है। भगवत्कथादिके श्रवणके उपलक्ष्य-से ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो सकता है। श्रीमद्भागवतादि शास्त्र या श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतादि शास्त्र लीलाकथनादिमें जिस प्रकार पूर्ण हैं, तत्त्वकथादिमें भी वैसे ही पूर्ण हैं। इन ग्रंथोंके अनुशीलनसे लीला-

कथादिके साथ-साथ तत्त्वकथादिका ज्ञान भी आनुषंगिक भावसे उत्पन्न होता है।

जो हो, 'ज्ञानशून्या-भक्ति' के प्रसंगमें पूर्ववर्ती ५७वें पयारकी टीकामें कहा जा चुका है कि तत्-पदार्थका ज्ञान, त्वम्-पदार्थका ज्ञान एवं जीव-ब्रह्मका एक्यज्ञान—ज्ञानके इन त्रिविध अंगोंके प्रत्येक अंगके साथ सम्बन्ध-शून्याभक्ति ही ज्ञानशून्या-भक्ति है। अपनी उक्तिके समर्थनमें राय रामानन्दने **'ज्ञाने प्रयासम्'** इत्यादि जो श्लोक उल्लेख किया है, उसमें तत्-पदार्थके (भगवत्स्वरूपादिके) ज्ञान-प्राप्तिके प्रयास-परिहारकी बात ही कही गयी है; आनुषंगिक भावसे त्वम्-पदार्थके ज्ञान प्राप्तिके प्रयास-त्यागकी बात भी आ सकती है; दोनोंमें ही शक्ति-शक्तिमान सम्बन्ध, अंश-अंशी सम्बन्ध, अतएव सेव्य-सेवक-सम्बन्ध विद्यमान होनेके कारण तत्-पदार्थके ज्ञानके साथ त्वम्-पदार्थका ज्ञान भी घनिष्ट भावसे जड़ित है। अतएव तत्-पदार्थ विषयक ज्ञान प्राप्तिके लिए प्रयासकी प्रधानता परिहारके निर्देशके साथ-साथ त्वम्-पदार्थ विषयक ज्ञान-प्राप्तिके प्रयासमें अत्याग्रह-त्यागका निर्देश भी प्रकारान्तरसे पाया जाता है। किन्तु ज्ञानके तृतीय अंग—जीवब्रह्मके ऐक्यज्ञान प्राप्तिके लिए प्रयास-परिहारका कोई भी निर्देश उक्त श्लोकमें नहीं दीखता ; एवं उस उद्देश्यमें अन्य कोई भी श्लोक राय रामानन्द द्वारा उल्लिखित नहीं हुआ। इसका कारण यही लगता है कि जीव ब्रह्मका ऐक्यज्ञान भगवान्‌के साथ जीवके स्वरूपगत सम्बन्धके प्रतिकूल पड़ता है, **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'** इत्यादि श्लोकमें इसका संकेत पहले ही किया जा चुका है ; अतएव सेव्य-सेवक भावके लिए एवं सेवा-वासना-विकासके लिए यह वर्जनीय है, इसका संकेत भी उल्लिखित **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'** इत्यादि श्लोकमें किया जा चुका है। इसीलिए यहाँपर अलगसे और किसी भी प्रमाणके उल्लेखकी आवश्यकता रामानन्द रायने नहीं समझी।

अथवा **'ज्ञाने प्रयासम्'** इत्यादि श्लोकमें ज्ञान-प्राप्तिका प्रयास

परित्याग करके साधु-मुखसे भगवत्कथा श्रवणके फलस्वरूप भगवान्‌को वशीभूत किया जा सकता है—इस कथनसे अन्त तक भक्त और भगवान्‌के पृथक् अस्तित्वकी बात ही कही गयी है, एवं इससे जीव-ब्रह्मके ऐक्य-ज्ञानका अभाव ही सूचित होता है; इसीसे रामानन्दने और कोई भी पृथक् श्लोकका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं समझी। अथवा 'ज्ञाने प्रयासम्' वाक्यसे ज्ञानके तीनों अंग सम्बन्धी प्रयास ही निषिद्ध हुआ है।

प्रेम-भक्ति

प्रभु कहे—एहो हय, आगे कह आर।
राय कहे—प्रेमभक्ति सर्व्वसाध्य सार ॥५९॥

रायकी बात सुनकर प्रभुने कहा—ज्ञानशून्या भक्तिकी बात जो कही, वह भी हो सकती है, किन्तु इसके आगे भी कुछ हो, तो बताओ।

एहो हय—यह हो सकता है। अब तक प्रभु 'यह बाह्य है' ही कहते रहे। ज्ञानशून्या-भक्तिकी बात सुनकर उन्होंने कहा—'यह हो सकता है।' इसका कारण यह है। 'ज्ञान-शून्या-भक्ति' के पहले राय रामानन्दने जिनका-जिनका उल्लेख किया, उनमें-से कोई भी जीव-ब्रह्मके सम्बन्ध-ज्ञान-विकाशके, अर्थात् सेव्य-सेवकत्व भाव-विकाशके एवं सेवा-वासना-विकाशके अनुकूल नहीं था। इसीसे प्रभुने उनको बाह्य बताया। 'ज्ञानशून्या भक्ति' सेव्य-सेवकत्व-भावविकाशके एवं सेवा-वासनाके अनुकूल होनेके कारण 'यह हो सकता है' कहा। अबकी बार सबसे पहले प्रभुने कहा—'यह हो सकता है।' इससे समझा जाता है कि रामानन्द रायके मुखसे जिस साध्यतत्वका प्रभु प्रकाश कराना चाहते हैं, अब उस तत्त्वकी प्राप्तिके मार्गकी आशा हुई है, अब तक मानो मार्गके बाहर ही विचरण हो रहा था। इसीसे प्रभुने कहा—'यह हो सकता है,—हाँ राय! अब ठीक मार्गपर आना हुआ है।'

आगे कह आर—इसके भी परे हो सो बताओ। प्रभुका अभिप्राय इस प्रकार लगता है कि राय ठीक मार्ग पर तो आ गये हैं, किन्तु मार्गका शेष यह नहीं है ; और भी आगे बढ़ना चाहिये। ज्ञानशून्याभक्तिके समर्थनमें श्रीमद्भागवतके जिस श्लोकका उल्लेख किया गया है, उससे जाना जाता है कि ज्ञानशून्या-भक्तिके प्रभावसे भगवान् साधककी वश्यता स्वीकार करते हैं। श्रुति भी कहती है—**'भक्तिवशः पुरुषः'**—भगवान् भक्तिके वशीभूत हैं। किन्तु इस वश्यताकी अनेक वैचित्री हैं ; सब भक्तोंके निकट भगवान् एकसे भावसे वशीभूत नहीं होते। उसका कारण यह है कि साधककी रुचि, प्रकृति और उपासनाके भेदसे एक ही भक्ति-अंगका अनुष्ठान विभिन्न साधकके चित्तको विभिन्न भावसे रूपायित करता है। ज्ञान, योग, भक्ति आदि सभी मार्गोंके साधकोंको भक्तिका अनुष्ठान करना होता है, नहीं तो अभीष्ट फल नहीं मिलता। (चै. च. की भूमिका ग्रंथमें अभिधेय-तत्त्व प्रबन्ध देखिये)। विभिन्न मार्गके सभी साधकोंको भक्तिअंगका अनुष्ठान करना पड़नेपर भी वासनाकी पृथक्ता होनेके कारण उनके अभीष्टमें भी पृथक्ता होती है। भगवान् सभी अभीष्ट पूरे करते हैं—फलदाता एक ही है। जिस अभीष्टको देनेके लिए भगवान्‌की जितनी-सी करुणा, भक्तवश्यता उद्‌बुद्ध होनेकी आवश्यकता है, उस अभीष्ट-कामीके साधनमें वे उतनी-सी ही वश्यता स्वीकार करते हैं। जो लोग केवल उनकी सेवा-प्राप्तिके निमित्त किसी भक्ति-अंगका अनुष्ठान करते हैं, उन सबकी सेवा-वासना भी एक-सी नहीं होती ; विभिन्न भक्तोंकी विभिन्न भावकी भगवत-सेवा-वासना होती है। भगवत्कृपासे उनकी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है एवं उनको कृतार्थ करनेके लिए भगवान् उनकी वश्यता भी स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु सेवा-वासनाकी अभिव्यक्तिके तारतम्यके अनुसार भगवान्‌की भक्त-वश्यताका भी तारतम्य होता है (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ता भावके भक्तोंके निकट भगवान्‌की भक्त-वश्यता एक-सी नहीं

होती)। ज्ञानशून्या-भक्तिके उपलक्ष्यमें उल्लिखित 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' इत्यादि श्लोकमें साधारण भावसे भगवान्‌की भक्त-वश्यताकी बात कही गयी है, विशेष भावसे कुछ नहीं कहा गया। भगवान्‌की भक्तवश्यताकी विशेषता प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे ही प्रभुने कहा—"आगे और कहो, भक्तवश्यताकी विशेषताकी बात बताओ।"

इस प्रसंगमें और भी एक बात विचारणीय है। ज्ञानशून्या भक्तिके समर्थनमें उल्लिखित श्लोकमें कहा गया है कि साधु-मुखसे भगवत्कथा सुननेसे ही भगवान् श्रोताके वशीभूत होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि साधु-मुखसे भगवत्कथा सुनने मात्रसे भगवान् श्रोताके वशीभूत हो जाते हैं या नहीं ? इस सम्बन्धमें भी उस श्लोकसे विशेष कुछ स्पष्ट नहीं होता। इस सम्बन्धमें विशेष कुछ रहनेपर भी उसको प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे ही प्रभुने कहा—"आगे और कहो; रामानन्द! साधु-मुखसे भगवत्कथा श्रवण मात्रसे ही क्या भगवान् श्रोताके वशीभूत हो जाते हैं? या भगवत्कथा सुनते-सुनते चित्तकी कोई विशेष अवस्था प्राप्त होनेपर भगवान् श्रोताके वशीभूत होते हैं, वह स्पष्ट करके कहो।"

प्रभुकी बात सुनकर रायने कहा—"प्रेमभक्ति साध्यसार है।"

प्रेमभक्ति—प्रेमलक्षणा-भक्ति। 'प्रेम' शब्दसे 'कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-वासना' समझी जाती है। साधन-भक्तिका (श्रवण-कीर्तनादि ज्ञानशून्या भक्तिका) अनुष्ठान करते-करते भगवत्कृपासे जब चित्तकी मलिनता दूर हो जाती है एवं सम्बन्धका ज्ञान—अर्थात् सेव्य-सेवकत्वका ज्ञान एवं सेवा-वासना—विकशित हो जाता है, तब ह्लादिनी प्रधाना स्वरूप-शक्तिकी कृपा प्राप्त करके साधककी सेवा-वासना प्रेमरूपमें परिणत हो जाती है। इस प्रेमरूप सेवा-वासनाके साथ जो श्रीकृष्णसेवा है, वही प्रेम-भक्ति है। जिसने इस प्रेमभक्तिकी कृपा प्राप्त करली है, उसके आचरणके सम्बन्धमें श्रीनरोत्तम दास ठाकुर महाशयने अपनी 'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका' में इस प्रकार लिखा है—

जल बिनु जेन मीन, दुःख पाय आयुहीन, प्रेम बिनु एइ मत भक्त ।
चातक जलद-गति, एमति एकान्त रीति, जेइ जाने सेइ अनुरक्त ॥
लुबध भ्रमर जेन, चकोर-चन्द्रिका तेन, पतिव्रता जन जेन पति ।
अन्यत्र ना चले मन, जेन दरिद्रेर धन, एइमत प्रेमभक्ति रीति ॥

अपनी उक्तिके समर्थनमें रामानन्द रायने निम्नोद्धृत दो श्लोकोंका उल्लेख किया ।

तथाहि पद्यावल्याम् १२—

नानोपचार-कृत-पूजनमार्तबन्धोः
प्रेम्णैव भक्त हृदयं सुखविद्रुतं स्यात् ।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्यपेये ॥१०॥

अन्वय—भक्त (हे भक्त) ! आर्तबन्धोः (दीनबन्धुका—दीनबन्धु श्रीकृष्णका) हृदयं (हृदय) प्रेम्णा (प्रेमके सहित) नानोपचारकृतपूजनं (विविध उपचारोंके द्वारा पूजित) [सत्] (होनेपर) एव (ही) सुखविद्रुतं (सुखसे द्रवीभूत) स्यात् (होता है) ! अथवा—भक्त (हे भक्त) ! आर्तबन्धोः (दीनबन्धु श्रीकृष्णका) हृदयं (हृदय) उपचारकृतपूजनं (उपचारके सहित की हुई पूजा) नाना (बिना) प्रेम्णा (प्रेमके द्वारा) एव (ही) सुखविद्रुतं (सुखसे द्रवीभूत) स्यात् (होता है)। यावत् (जब तक) जठरे (उदरमें) जरठा (बलवती) क्षुत् (क्षुधा) अस्ति (रहती है), पिपासा (एवं बलवती पिपासा रहती है), ननु तावत् (तब तक ही) भक्ष्यपेये (अन्न-जल) सुखाय (सुखके लिए) भवतः (होता है)।

अनुवाद—हे भक्त ! विविध उपचारों द्वारा प्रेमके सहित पूजित होने पर ही आर्तबन्ध श्रीकृष्णका हृदय सुखसे विगलित होता है ; अथवा—हे भक्त ! विविध उपचारों द्वारा पूजा बिना भी केवल प्रेम द्वारा ही आर्तबन्धु श्रीकृष्णका हृदय सुखसे विगलित हो जाता है—उसी प्रकार जिस प्रकार

उदरमें बलवती क्षुधा-पिपासा रहनेपर अन्न-जल सुखप्रद या तृप्तिजनक होता है।

इस श्लोकका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जोरदार भूख एवं प्यासके बिना स्वादिष्ट, सुगन्धित एवं सुन्दर खाद्य एवं प्येय भी ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार प्रेमके बिना अनेक प्रकारके उपचारों द्वारा पूजा करनेपर भी श्रीकृष्ण उससे प्रसन्न नहीं होते। जोरदार भूख एवं प्यास होनेपर सामान्य अन्न-जल भी जिस प्रकार अत्यन्त तृप्तिदायक होता है, उसी प्रकार भक्तके हृदयमें यदि प्रेम रहे तो उसके द्वारा अर्पण की हुई सामान्य वस्तुसे भी श्रीकृष्ण-पूजाके लिए—यहाँ तक कि उपचार-संग्रह करके पूजा करनेमें समर्थ न होनेपर भी उस भक्तके एक मात्र प्रेम द्वारा ही—श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। स्थूलार्थ यही है कि भक्तका प्रेम ही श्रीकृष्णकी प्रीतिका एक मात्र हेतु है, पूजाके द्रव्य भक्तकी प्रीति-मिश्रित होनेपर ही भगवान् ग्रहण करते हैं, नहीं तो ग्रहण नहीं करते, वे द्रव्यके कंगाल तो हैं नहीं ; जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अधिपति हैं, स्वयं लक्ष्मी जिनकी चरण-सेवा करती हैं, उनको अभाव किस वस्तुका ? स्वरूपगत-धर्मके कारण वे सर्वदा प्रीतिके लिए लालायित रहते हैं, इसीलिए जहाँ विशुद्ध प्रेम देखते हैं, वहीं वे रहते हैं।

इस श्लोकके दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिके सम्बन्धमें कुछ विवेचनाकी आवश्यकता लगती है। दृष्टान्तमें कहा गया कि तीव्र क्षुधा-पिपासा लगनेपर ही भक्ष्य-प्येय सुखदायक होते हैं, उसी प्रकार प्रेमके सहित अर्पित उपचारोंसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। दृष्टान्तसे जाना जाता है कि जिसको भूख-प्यास है, भक्ष्य-प्येय ग्रहणसे उसीको सुख होता है ; परिवेशक (परोसनेवाले) की क्षुधा-पिपासासे भोक्ताका सुख नहीं होता ; भोक्ताको तीव्र क्षुधा-पिपासा रहनेपर ही भोजनसे उसको सुख होता है। किन्तु दार्ष्टान्तिकमें देखा जाता है कि जो उपचारके सहित पूजा करे, उसके चित्तमें यदि प्रेम रहे, तभी भगवान्का चित्त सुख-विद्रुत होता है—यह तो

मानो परिवेशककी क्षुधासे भोक्ताको भोजन-तृप्तिके अनुरूप है। यहाँपर आपात-दृष्टिसे ऐसा लगता है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी संगति नहीं है। किन्तु वास्तवमें वैसी बात नहीं है। संगति है, लेकिन कुछ प्रच्छन्न-सी है। पूजकके चित्तमें यदि प्रेम—श्रीकृष्णप्रीति-मूलक तीव्र सेवा-वासना रहे, तो वह सेवा-वासना भक्तवत्सल भगवान्‌के चित्तमें भी सेवा-ग्रहणके लिए बलवती लालसाका उद्रेक करती है। पूजककी या भक्तकी भगवत्प्रीति जितनी बलवती होगी, भगवान्‌की सेवाग्रहण-वासना भी उतनी ही बलवती होगी; यह बलवती सेवाग्रहण-वासना ही प्रेमके सहित अर्पित उपचार ग्रहणसे भगवान्‌के सुखका हेतु होती है। क्षुधा-पिपासा जिस प्रकार भक्तके बीच रहती है, उसी प्रकार सेवाग्रहण-वासना भी उपचार-ग्रहीता भगवान्‌के बीच रहती है। इस प्रकारसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी संगति है। श्लोकमें भगवान्‌के लिए सेवाग्रहण-वासना-का उल्लेख न करके भक्तके प्रेमका उल्लेख करनेका तात्पर्य यह है कि भक्तके चित्तमें प्रेम न रहनेपर भगवान्‌के चित्तमें भी सेवा-ग्रहणकी वासना उद्‌बुद्ध नहीं होती। भक्तके चित्तका प्रेम बलीयान होकर भगवत्सेवा-के लिए उनको आर्त्तियुक्त करता है, तभी आर्त्तबन्धु (भक्तवत्सल) भगवान्‌के चित्तमें भी अनुरूप सेवाग्रहण-वासना उद्‌बुद्ध होती है; यही 'आर्त्तबन्धु' शब्दकी द्योतना है।

तथाहि पद्यावल्याम् १४—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं
जन्मकोटि-सुकृतैर्न लभ्यते ॥११॥

अन्वय—यदि कुतः अपि (यदि किसी कारणसे) लभ्यते (मिल जाय) [तदा] (तब) कृष्णभक्तिरसभाविता (कृष्णभक्ति-रसके साथ तादात्म्य-

प्राप्त) **मतिः** (बुद्धि) **क्रीयतां** (क्रय कर लो)। **तत्र** (उस प्रकारके व्यापारमें) **लौल्यं** (लालसा) **अपि** (ही) **एकलं** (एक मात्र) **मूल्यं** (मूल्य है) ; **[तत्तु]** (किन्तु वह लालसा) **जन्मकोटि-सुकृतैः** (कोटि जन्मोंके पुण्यों द्वारा भी) **न लभ्यते** (नहीं मिलती)।

अनुवाद—यदि (सत्संगादि रूप) किसी भी कारणसे मिल जाय, तो कृष्णभक्तिरसके साथ तादात्म्यप्राप्त मति (या बुद्धि) क्रय कर लो; इस क्रय-कार्यमें अपनी लालसा ही एक मात्र मूल्य है ; किन्तु कोटि जन्मोंके सुकृतके फलसे भी नहीं मिलती।

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः—कृष्णभक्ति रूप रसके द्वारा भाविता मति या बुद्धि। कविराज (चिकित्सक, वैद्य) लोग पानके रसादि द्वारा औषधिकी गोलीमें भावना दिया करते हैं अर्थात् किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा गोली (वटी) में इस प्रकारसे पानका रस मिलाया जाता है जिससे गोलीके प्रति अणुमें, प्रति रन्ध्रमें वह रस प्रवेश कर सके ; इस प्रकार होनेसे ही कहा जाता है कि गोली पानके रससे भावित हुई है, तादात्म्य-प्राप्त हुई है। मिश्रीके रसमें यदि एक टुकड़ा शोलाका पर्याप्त समय तक डालकर रक्खा जाय, तो शोलाके प्रति रन्ध्रमें रस प्रवेश कर जाता है ; तब शोलाके भीतर-बाहर प्रति अणुमें ही मिश्रीका रस विद्यमान रहता है ; ऐसी अवस्थामें कहा जाता है कि शोला मिश्रीके रससे भावित हुआ है। इसी प्रकार किसीकी मति या बुद्धि या चित्तवृत्ति यदि कृष्णभक्तिरूप रसके साथ तादात्म्य प्राप्त कर ले—मति या चित्तवृत्ति यदि सर्वभावसे कृष्णोन्मुखी हो जाय, तभी उस मतिको कृष्णभक्तिरस-भाविता मति कहा जाता है। सर्वतोभावसे कृष्णोन्मुखी प्रवृत्ति ही हुई सेवा द्वारा श्रीकृष्णको सर्वभावसे सुखी करनेकी इच्छा ; यही प्रेमभक्ति है ; अतएव कृष्णभक्तिरस-भाविता मति हुई प्रेमभक्ति। इस प्रकारकी मति या प्रेमभक्ति क्रय कर ली जाय यदि **कुतोऽपि लभ्यते**—यदि कहीं भी मिल जाय। इसका मूल्य क्या है ? **लौल्यं अपि मूल्यं एकलं**—इसका मूल्य

केवल एक ही वस्तु है, वह है लौल्य या लालसा, कृष्णभक्तिके लिए लालसा या कृष्णसेवाके लिए बलवती लालसा ; अन्य किसी भी वस्तुके बदलेमें कृष्णभक्तिरस-भाविता मति नहीं मिलती। कृष्णसेवाके लिए जिनकी बलवती लालसा या उत्कण्ठा है, उनके अतिरिक्त और कोई भी उसको नहीं पा सकता। साधकजन चाहे जो कुछ करें, यदि कृष्णसेवाके लिए उनमें बलवती लालसा उत्पन्न नहीं हो, तो वे कृष्णभक्तिरस-भाविता मति या प्रेमभक्ति न पा सकेंगे। यह लालसा ही ऐकान्तिक भक्तकी प्रार्थनीय वस्तु है ; यह ठाकुर महाशयने प्रायः अपनी सभी प्रार्थनाओंके शेष भागमें कहा है—"**सेवा अभिलाष मागे नरोत्तमदास**"

यह सेवा-अभिलाष ही श्रीकृष्णसेवाके लिए लालसा है। किन्तु यह लालसा किस प्रकार मिले ? यह लालसा **जन्मकोटि सुकृतैरपि न लभ्यते** —कोटि-कोटि जन्मोंके संचित सुकृत या पुण्योंके बदलेमें भी यह लालसा नहीं मिलती। तब किस प्रकार मिले ? एक मात्र साधुसंग या महत्कृपाके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे भी कृष्णसेवाकी लालसा नहीं मिलती। '**यदि कुतोऽपि लभ्यते**' वाक्यमें यह कहा गया है कि यदि किसी भी उपायसे मिले तो यह उपाय साधुसंग या महत्कृपाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

पूर्ववर्ती ५८वें पयारमें उल्लिखित ज्ञानशून्या-भक्तिके समर्थनमें उद्धृत '**ज्ञाने प्रयासमुदपास्य**' इत्यादि श्लोकमें ज्ञानशून्या-भक्तिके अनुष्ठानसे भगवान् साधकके वशीभूत होते हैं—यह बात कही गयी है। ५९वें पयारोक्तिके समर्थनमें उल्लिखित दो श्लोकोंमें कहा गया है कि भगवान् केवलमात्र प्रेमभक्तिके ही वशीभूत हैं, अन्य किसीके वशीभूत नहीं हैं ; इसीसे प्रेमभक्तिकी प्राप्तिके लिए सर्वभावसे चेष्टा करना आवश्यक है। तात्पर्य यही है कि पूर्व पयारोक्त ज्ञानशून्या भक्ति यदि प्रेमभक्तिमें परिणत हो जाय तो वह कृष्णवशीकरणका हेतु हो सकती है, अन्यथा नहीं। यही पूर्व पयारोक्तिकी अपेक्षा इस पयारोक्तिकी विशेषता है।

श्रीमद्भागवतके **'सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदो'** (३.२५.२५) इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है कि साधु पुरुषोंके मुखसे भगवतकथा सुनते-सुनते पहले श्रद्धा उत्पन्न होती है और **'तावत कर्माणि कुर्वीत'** इत्यादि (श्रीम.भा. ११.२०.९) श्लोककी टीकामें उन्होंने लिखा है कि' भगवत्-कथा श्रवणादि द्वारा ही मैं कृतार्थ हो सकूँगा, कर्म-ज्ञानादि अन्य किसीसे भी मुझे कृतार्थता प्राप्त नहीं हो सकेगी' इस प्रकारका दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है ; शुद्ध-भक्तके संगसे ही इस प्रकारकी श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है—**श्रद्धा चेयमात्यन्तिक्येव ज्ञेया साच भगवत्-कथाश्रवणादिभिरेव कृतार्थीभविष्यामीति न तु कर्मज्ञानादिभिरिति दृढैवास्तिक्यलक्षणैव तादृशशुद्धभक्तसङ्गोद्भूतैव ज्ञेया।** श्रद्धा उत्पन्न होनेके पश्चात् भगवत्-कथा शुद्ध भक्तके प्रकृष्ट-संगसे अनर्थ-निवृत्ति करती है। साधारण संगसे पास आना-जाना, पास बैठना, साधुपुरुषोंका आचरण देखना, साधारण उपदेश सुनना इत्यादि होता है ; इस प्रकारके संगके प्रभावसे भजनकी क्रियामात्र सम्भव हो सकती है, हृत्कर्ण-रसायन कथा नहीं होती—**सतां प्रकृष्टात् सङ्गात् मम कथा भवन्तीत्यादावप्रकृष्टात् सङ्गात् भजनक्रियामात्रं नतु कथाः । ततः प्रकृष्टात् सङ्गात् अनर्थनिवृतिकाः कथाः भवन्ति ।** प्रकृष्ट संगसे साधुकी सेवा-परिचर्यादि द्वारा उनकी प्रीति सम्पादन की जाती है, इससे अनुगत जिज्ञासुके प्रति साधु व्यक्तिकी कृपा उत्पन्न होती है, उसीसे हृत्कर्ण-रसायन हरि कथा उत्थापित होती है ; श्रद्धा सहित उस कथाके श्रवणसे अनर्थ निवृत्ति होती है। तब इस प्रकारकी भगवत्-कथा ही निष्ठा उत्पन्न कराती है एवं भगवत्-महात्म्य-का अनुभव कराती है—**ततस्ता एव कथा निष्ठामुत्पादयन्त्यो मम वीर्यस्य मन्माहात्म्यस्य सम्वित् सम्यग्वेदनं यतस्तथाभूता भवन्ति।** भगवत्कथामें रुचि उत्पन्न होनेसे ही वह हृत्कर्ण-रसायन हो

सकती है—**ततो रुचिमुत्पादयन्त्यो हृत्कर्णरसायना भवन्ति।** इससे देखा गया कि साधुके प्रकृष्ट संगके प्रभावसे भगवत्कथा श्रवणके फलसे पहले भगवत्कथामें निष्ठा, उसके बाद रुचि उत्पन्न होनेसे वह हृत्कर्ण-रसायन हो सकती है एवं हृत्कर्ण-रसायन रूपसे अनुभूति होनेके पश्चात् प्रीतिके सहित उसका आस्वादन करते-करते ही भगवान्में पहले श्रद्धा (आसक्ति), उसके पश्चात् रति (प्रेमाङ्कुर) एवं उसके बाद भक्ति (प्रेमभक्ति) यथाक्रमसे उत्पन्न हो सकती है—**ततस्तासां कथानां जोषणात् प्रीत्या आस्वादनात् अपवर्गो वर्त्मनि एव यस्य तस्मिन् भगवति श्रद्धा आसक्तिः रतिर्भावः भक्तिः प्रेमा अनुक्रमिष्यति अनुक्रमेण भविष्यति।**

इस आलोचनामें दो जगह श्रद्धाकी बात मिलती है। पहले जो श्रद्धाकी बात मिली, वह हुई प्राथमिकी श्रद्धा—भगवत्कथा श्रवण द्वारा ही मैं कृतार्थ हो सकूँगा—ऐसे दृढ विश्वास रूप श्रद्धा। शुद्धभक्तके संगके प्रभावसे यह उत्पन्न हो सकती है। इस श्रद्धाके सहित भगवत्कथा सुनते-सुनते महत्पुरुषके प्रकृष्ट संगके प्रभावसे भगवत्कथामें निष्ठा, उसके बाद रुचि उत्पन्न होनेपर प्रीतिके सहित उस कथाका आस्वादन करते-करते जो श्रद्धा उत्पन्न हो, वह हुई भगवान्में श्रद्धा—आसक्ति। भगवान्में इस प्रकार आसक्ति उत्पन्न होनेपर क्रमसे रति या प्रेमांकुर एवं उसके बाद प्रेमभक्तिका आविर्भाव हो सकता है। प्रेमभक्ति उत्पन्न होनेसे ही भगवान् भक्तके वशीभूत हो सकते हैं, उसके पहले नहीं। **भक्तिवशः पुरुषः।** अब स्पष्ट रूपसे जाना गया कि साधुके निकट रहकर भगवत्कथा श्रवणमात्रसे ही भगवान् भक्तके वशीभूत नहीं होते, यथा समय प्रेमभक्तिकी कृपा होनेपर ही वे वशीभूत होते हैं। यही ज्ञानशून्याभक्ति-की अपेक्षा प्रेमभक्तिका उत्कर्ष है। ज्ञानशून्या-भक्तिकी परिणति ही प्रेमभक्ति है।

दास्य-प्रेम

प्रभु कहे—एहो हय, आगे कह आर।

राय कहे—दास्यप्रेम सर्व्वसाध्यसार ॥६०॥

रायकी बात सुनकर प्रभुने कहा—"हाँ, प्रेमभक्तिकी बात जो कही, वह ठीक है, किन्तु इसके भी आगे कुछ हो, तो बताओ।"

'एहो हय, आगे आछे आर'—इस प्रकार पाठान्तर भी देखनेमें आता है। इसका तात्पर्य है—"हाँ, प्रेमभक्ति साध्यवस्तु है, किन्तु इसके आगे भी कहने-सुननेकी वस्तु है।"

रामानन्द रायने साधारण भावसे ही प्रेमभक्तिकी बात कही है, विशेष भावसे कुछ सुननेके लिए प्रभुने कहा—'आगे कह आर' या 'आगे आछे आर'। 'ज्ञानशून्या- भक्ति' की आलोचनामें कहा गया है कि प्रधानतः दो विषयोंमें ज्ञानशून्या-भक्तिकी विशेषता प्रकाश करानेके उद्देश्यसे प्रभुने कहा है—'आगे कह आर'—एक तो भक्तवश्यताकी विशेषता, एवं दूसरे साधुके मुखसे भगवत्कथा सुननेमात्रसे ही भगवान् भक्तके वशीभूत नहीं होते, भगवत्कथा सुनते-सुनते श्रोताके चित्तकी कोई एक विशेष अवस्था प्राप्त होनेपर ही भगवान् श्रोताके वशीभूत होते हैं। इसके बाद रामानन्द राय कथित 'प्रेमभक्ति' की आलोचनामें देखा गया कि साधुमुखसे भगवत्कथा सुननेमात्रसे भगवान् भक्तके वशीभूत नहीं होते; सुनते-सुनते प्राथमिकी श्रद्धा, साधुके प्रकृष्ट संगसे भगवत्कथामें निष्ठा, रुचि आदि उत्पन्न होनेपर, उसके पश्चात प्रीतिके सहित भगवत्कथा सुनते-सुनते भगवान्में आसक्ति उत्पन्न होनेपर, उसके बाद प्रेमाङ्कुर एवं उसके बाद प्रेमभक्ति उत्पन्न होनेपर ही भगवान्की भक्तवश्यता उद्बुद्ध हो सकती है। इसके द्वारा प्रभुको अभिप्रेत उल्लिखित दो विशेषताओंमें-से एकका विवरण मिला, किन्तु भक्तवश्यताकी विशेषताका विवरण अभी भी प्रच्छन्न रहा।

उस विशेषताकी बात परिस्फुट करानेके उद्देश्यसे ही 'प्रेमभक्ति' के उल्लेख-के बाद भी प्रभुने कहा —'एहो हय, आगे कह आर'।

भक्तवश्यताकी विशेषता प्रेमभक्तिकी विशेषताके ऊपर ही निर्भर करती है। प्रेमभक्तिकी विशेषता जैसे-जैसे विकसित होगी, भगवान्‌की भक्तवश्यताकी विशेषता भी उसी प्रकार विकसित होगी। अतएव प्रेम-भक्तिकी विशेषताकी आलोचनासे ही भक्तवश्यताकी विशेषताका इंगित मिल सकता है।

साधकके मनके भावकी प्रधानताके अनुसार प्रेमकी या प्रेमभक्तिकी अनेक वैचित्री है। साधारणतया प्रेम दो प्रकारका होता है—माहात्म्य-ज्ञानयुक्त एवं केवल।

माहात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा।

भ.र.सि. १.४.७ (१.४.११)

जो लोग विधिमार्गका अनुसरण करते हैं, यदि अन्त तक भी उनके चित्तमें शास्त्र-शासनका या भगवत्माहात्म्यका भाव ही प्रधान रहता है, तो उनका प्रेम महिमा-ज्ञान युक्त होता है; और जो लोग रागानुगा भक्तिका अनुसरण करते हैं, उनका प्रेम होता है केवल अर्थात् ऐश्वर्य ज्ञान-शून्य।

महिम-ज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम्॥
रागानुगाश्रितानान्तु प्रायशः केवलो भवेत्॥

भ र.सि. १.४.१० (१.४.१४)

जिनके चित्तमें भगवान्‌के माहात्म्यका या ऐश्वर्यका ज्ञान प्रधान है, वे सिद्धावस्थामें सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति प्राप्त करके वैकुण्ठ गमन करते हैं। वैकुण्ठ-भक्तोंमें शान्त-रति विराजित रहती है और ऐश्वर्यज्ञानहीन केवल-प्रेममें व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा-प्राप्ति होती है। रागानुगा मार्गके भजनमें भी यदि साधकके चित्तमें सम्भोगेच्छा बलवती हो, तब वे व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा प्राप्त नहीं करेंगे, वे (मधुर भावके उपासक होनेपर) द्वारकामें महिषीगणका किंकरित्व प्राप्त करेंगे।

रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात् पुरे॥

भ.र.सि. १.२.१५७ (१.२ ३३)

(इसके सम्बन्धमें विचार 'सनातन शिक्षा' के अन्तर्गत चै.च.म. २२.८८ की टीकामें शेषांशमें देखिये)।

वैकुण्ठके शान्तभक्तोंकी सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति भी दो प्रकारकी होती है। १. सुखैश्वर्योतरा—जिसमें भक्तके चित्तमें सुखकी एवं ऐश्वर्यकी कामना ही प्रधान होती है और २. प्रेमसेवोत्तरा—जिसमें भक्तके चित्तमें उपास्यकी सेवा कामना ही प्रधान होती है।

सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि।
सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता॥

भ.र.सि. १.२.२६ (१.२.५६)

जिन भक्तोंने केवल प्रेमभक्तिका माधुर्य-आस्वादन पाया है, वे एकान्ती भक्तगण सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य—इन पाँच प्रकारकी मुक्तिकी भी कामना नहीं करते।

किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
नैराङ्गी कुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि॥

भ.र.सि. १.२.३० (१.२.५७)

इस प्रकारके माधुर्यास्वादप्राप्त एकान्ती भक्तगणमें-से जिनका मन श्रीगोविन्द-चरणारविन्दमें आकृष्ट हुआ हैं, उनके मनको वैकुण्ठाधिपति नारायणकी प्रसन्नता, यहाँ तक कि द्वारकानाथकी प्रसन्नता भी हरण नहीं कर सकती।

तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसा।
येषां श्रीश-प्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात्॥

भ.र.सि. १.२.३१ (१.२.५८)

अत्र श्रीशः परव्योमाधिपतिः उपलक्षणत्वेन श्रीद्वारकानाथोऽपि। श्रीजीवगोस्वामिकृता टीका। इस प्रकार देखा गया कि प्रेमभक्तिके अनेक स्तर या वैचित्री हैं। श्रीगोविन्दके लीलास्थल गोलोक या व्रजमें ऐश्वर्यज्ञानशून्य केवला-प्रेमभक्ति है; द्वारका-मथुरामें ऐश्वर्य-मिश्रित प्रेमभक्ति है एवं वैकुण्ठमें ऐश्वर्य-ज्ञान-प्रधान प्रेमभक्ति है। सभी प्रकारकी प्रेमभक्तिमें सेव्य-सेवकत्वका भाव पूर्णरूपसे विद्यमान है; सेवावासना-विकाशके तारतम्यके अनुसार प्रेमभक्ति-विकाशका तारतम्य है। ऐश्वर्य ज्ञान या माहात्म्य-ज्ञान एवं स्वसुख-वासना ही सेवा-वासनाके विकाशमें विघ्न उत्पन्न करती है। वैकुण्ठके शान्त-भक्तके चित्तमें **'परंब्रह्म परमात्माज्ञान प्रवीन'**—चै.च.म.१९-१७७'—ऐश्वर्य-ज्ञानकी प्रधानता है। इसीसे विकाशके पथमें ऐश्वर्य द्वारा उनकी सेवा-वासना प्रतिहत हो जाती है, श्रीकृष्णमें उनकी ममता-बुद्धि स्फुरित नहीं हो पाती। **'शान्तेर स्वभाव—कृष्णे ममताबुद्धि हीन।** चै.च.म. १९.१७७।' इसीसे उनके लिए प्राणपणकी सेवा-वासना सम्भव नहीं होती। द्वारकामें भी माधुर्यके साथ ऐश्वर्य-ज्ञानका मिश्रण है। जब ऐश्वर्य ज्ञानकी प्रधानता होती है तब सेवा-वासना संकुचित हो जाती है—जैसे विश्वरूपके ऐश्वर्य-दर्शनसे अर्जुनका सख्य, कंसके कारागारमें चतुर्भुजरूपके ऐश्वर्य-दर्शनसे देवकी-वसुदेवका वात्सल्य संकुचित हो गया था एवं श्रीकृष्णके मुखसे देह-गेहादिमें उनकी उदासीनताकी बात, स्त्री-पुत्रादिमें उनके आकांक्षाराहित्यकी बात, उनके आत्मारामताकी बात सुनकर महिषी रुक्मिणीदेवीका कान्ता-प्रेम भी संकुचित हो गया था। किन्तु व्रजमें—

केवलार शुद्धप्रेम—ऐश्वर्य ना जाने।
ऐश्वर्य्य देखिलेओ निज सम्बन्ध से माने॥

चै.च.म. १९.२७२

कृष्णरति हय दुइ त प्रकार।
ऐश्वर्य्यज्ञानमिश्रा, केवला भेद आर॥

गोकुले केवला रति ऐश्वर्यज्ञानहीन ॥
पुरीद्वये वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य्य प्रवीण ॥
ऐश्वर्य्यज्ञान-प्राधान्ये सङ्कोचित प्रीति ।
देखिले ना माने ऐश्वर्य्य—केवलार रीति ॥

चै.च.म. १९.१९५-१९७

सेवा-वासनाके संकोचसे ही प्रीतिका संकोच हो जाता है। स्व-सुख-वासना भी कृष्ण-सेवा-वासनाके विकाशमें—अतएव श्रीकृष्णके भक्तवश्यता-विकाशमें—विघ्न उत्पन्न करती है। पहले ही बताया जा चुका है कि वैकुण्ठमें सुखैश्वर्योतरा रति है ; प्रेमसेवोत्तरामें भी सालोक्यादिके लिए वासना मिश्रित रहती है, लेकिन अप्रधान भावसे। द्वारकामें भी महिषीवृन्दकी कृष्णरति कभी-कभी सम्भोगेच्छा द्वारा भेदको प्राप्त होती है, जब ऐसा होता है, तब श्रीकृष्णकी वश्यता दुष्कर हो जाती है।

समञ्जसातः सम्भोगस्पृहाया भिन्नता यदा ।
तदा तदुत्थितैर्भावैर्वश्यता दुष्करा हरेः ॥

उ.नी.म.स्था. ३५ (५०)

व्रज-परिकरोंकी प्रीतिमें ऐश्वर्यज्ञानका लेश मात्र भी जैसे नहीं है, वैसे ही स्व-सुख-वासनाकी गन्धमात्र भी नहीं है। इसीसे उनकी कृष्ण-प्रीतिको केवला-प्रीति कहा जाता है। श्रीकृष्ण इस केवला-प्रीतिके ही सम्यक् रूपसे वशीभूत हैं।

जो हो, सेवा-वासनाके विकाशके तारतम्यके अनुसार प्रेम-भक्तिकी भी अनेक वैचित्री उत्पन्न होती हैं ; एवं श्रीकृष्णके लिए भी भक्तवश्यता-विकाशका अनेक तारतम्य उत्पन्न होता हैं। राय रामानन्दके साधारण भावसे प्रेमभक्तिकी बात कहनेपर प्रेमभक्तिके उत्कर्षमय विशेषत्वकी बात प्रकाश करानेके लिए प्रभुने कहा—'आगे कह आर'। प्रभुकी बात सुनकर राय रामानन्दने कहा—'दास्यप्रेम सर्व्वसाध्यसार'।

दास्यप्रेम साधारण भावसे कथित प्रेमभक्तिका ही एक वैचित्र्य या

वैशिष्ठ्य है। अब रामानन्द रायने प्रेमभक्तिका विशेष विवरण देना आरम्भ करके सबसे पहले दास्य-प्रेमकी बात कही। 'भगवान् सेव्य और मैं उनका सेवक हूँ; भगवान् प्रभु, और मैं उनका दास हूँ'—इस प्रकारका भाव ही दास्यभाव है। इस दास्यभावके स्फुरणसे जो सेवावासना होती है, वही दास्यप्रेम है। जीवका स्वरूपगत भाव दास्यभाव है। अनन्त भगवत्स्वरूपोंमें-से प्रत्येकके ही लीला-परिकर हैं; इन लीला-परिकरोंके चित्तमें भी दास्यभाव विराजित रहता है एवं प्रत्येक स्वरूपकी लीलामें ही उस स्वरूपके परिकरगण उनकी सेवा करते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि एक भगवान् ही प्रभु हैं, सेव्य हैं; और सभी उनके सेवक दास हैं।

एक कृष्ण सर्व्वसेव्य जगत-ईश्वर।
आर जन सब ताँर सेवकानुचर॥
चै.च.आ. ६.७०

सभी श्रीकृष्णके सेवा-अनुचर होनेपर भी सेवावासना-विकाशके तारतम्यके अनुसार दास्यप्रेम-विकाशका भी तारतम्य है। अतएव राय रामानन्दने जो दास्यप्रेमकी बात कही, उसको भी दास्यप्रेमके सम्बन्धमें साधारण उक्ति कहा जाता है।

परव्योम-स्थित भगवत-परिकरोंकी शान्त-रति होती है। उनकी बुद्धि भगवान्में निष्ठा-प्राप्त होती है। इसीसे श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुमें उनका चित्त आकृष्ट नहीं होता। इसीलिए शान्तको भी कृष्णभक्त कहा जाता है।

शान्तिरसे स्वरूपबुद्ध्ये कृष्णैकनिष्ठता।
शमोमन्निष्ठता बुद्धेः इति श्रीमुखगाथा॥
कृष्णबिना तृष्णात्याग तार कार्य्य मानि।
अतएव शान्त 'कृष्णभक्त' एक जानि॥
चै.च.म.१९. ३७३-३७४

किन्तु शान्त-भक्तके चित्तमें श्रीकृष्णके प्रति ममता बुद्धि नहीं है।

शान्तेर स्वभाव—कृष्णे ममता-गन्धहीन ।
परंब्रह्म - परमात्मा - ज्ञान - प्रवीण ॥

चै.च.म. १६.१७७

सेवावासनाके सम्यक् विकाशके अभावमें ही शान्त-भक्त श्रीकृष्णमें ममता बुद्धिहीन होता है ; इसीसे शान्त-भक्तकी सेवा भी कोई विशिष्ट रूप ग्रहण नहीं कर सकती ; अतएव परव्योममें ऐश्वर्यज्ञान-हीन दास्यप्रेमका विकाश भी नहीं है।

द्वारका-मथुरामें दास्यप्रेम है, सेवा है ; किन्तु पहले ही बताया जा चुका है कि वह ऐश्वर्यज्ञान-मिश्रित है। व्रजका दास्यप्रेम ऐश्वर्यज्ञान-हीन एवं स्वसुख-वासनाहीन है।

व्रजका दास्यप्रेम (अर्थात् सेवावासना) अपने विकाशके पथमें ऐश्वर्य-ज्ञानके द्वारा या स्वसुख-वासनाके द्वारा बाधा-प्राप्त नहीं होता। व्रजके दास-भक्तोंकी श्रीकृष्णमें ममता-बुद्धि (श्रीकृष्ण मेरे निज-जन हैं—इस प्रकारकी बुद्धि) होती है। इसीसे श्रीकृष्णकी प्रीतिके निमित्त उनकी सेवाकी वासना एवं सेवा भी उनके अन्दर होती है। शान्तमें केवल कृष्णैक-निष्ठता है और दास्यमें कृष्णैक-निष्ठता एवं सेवा—दोनों है। इसीसे शान्तकी अपेक्षा दास्यका उत्कर्ष है। और द्वारका-मथुराके दास्य-की अपेक्षा व्रजके दास्यका उत्कर्ष है ; क्योंकि द्वारका-मथुरामें ऐश्वर्य-ज्ञानादि द्वारा दास्य-प्रेम संकुचित हो जाता है और व्रजमें ऐश्वर्यज्ञान न होनेके कारण उससे उत्पन्न संकोच नहीं आ सकता।

जो हो, यहाँपर रामानन्द रायके द्वारा दास्यप्रेमके सम्बन्धमें साधारण भावसे कहे जानेपर भी दास्यभाव प्रेमकी सभी प्रकारकी वैचित्रीमें वर्तमान है ; क्योंकि प्रेमकी सभी प्रकारकी वैचित्रीमें सेवा द्वारा श्रीकृष्ण-की प्रीति-उत्पादनकी वासना एवं प्रयास विद्यमान है। सेवा-वासनाके विकाशके साथ-साथ यह दास्यभाव भी विकशित होकर प्रेमभक्तिकी नाना प्रकारकी वैचित्रीमें रूपायित होता रहता है। इस प्रकारकी दृष्टि

लेकर विचार करनेपर भी ऐसा लगता है कि राय रामानन्दने यहाँ साधारण भावसे ही दास्यप्रेमकी बात कही है।

दास्यप्रेमके सम्बन्धकी उक्तिके समर्थनमें राय रामानन्दने निम्नोद्धृत दो श्लोकोंका उल्लेख किया है।

तथाहि श्रीमद्भागवते ९.५.१६—

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१२॥

अन्वय—**यन्नामश्रुतिमात्रेण** (जिनके नाम श्रवणमात्रसे ही) **पुमान्** (पुरुष—जीव) **निर्मलः** (निर्मल—सर्व-उपाधि-विनिर्मुक्त होकर निर्मल) **भवति** (होता है) **तस्य** (उनके—उन) **तीर्थपदः** (भगवान्के) **दासानां** (दासोंको) **किं वा** (क्या) **अवशिष्यते** (अवशिष्ट—अभाव—है)?

अनुवाद—दुर्वासा ऋषिने अम्बरीष महाराजसे कहा—जिनके नाम श्रवणमात्रसे जीव सर्व-उपाधि-विनिर्मुक्त होकर निर्मल हो जाता है, उन तीर्थपद भगवान्के दासोंके लिए कौनसी प्राप्य वस्तु अवशिष्ट रहती है? अर्थात् समस्त प्राप्य-वस्तु ही उनको मिली रहती है, उनको कोई भी अभाव नहीं होता।

भगवन्नाम-श्रवणके फलसे जीवका माया-बन्धन—सब उपाधि—नष्ट हो जाता है, तब उनका चित्त निर्मल—विशुद्ध—शुद्धसत्वके आविर्भावके योग्य होता है; तब उनमें शुद्धसत्व आविर्भूत होकर प्रेमरूपमें परिणत हो जाता है; तब वे प्रेमके अधिकारी होते हैं; इस प्रेमके बलपर वे श्रीकृष्ण-को पा सकते हैं—श्रीकृष्णकी सेवा पा सकते हैं; श्रीकृष्णको जो पा लेते हैं, उनको और कुछ भी अभाव नहीं रहता।

तथाहि यामुनमुनिविरचिते स्तोत्ररत्ने ४६—

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं
प्रशान्तनिःशेष-मनोरथान्तरः।

कदाहमैकान्तिक-नित्यकिङ्करः

प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितः ॥१३॥

अन्वय—[हे नाथ] (हे नाथ) ! **अहं** (मैं) **कदा** (कभी—किसी दिन) **ते** (आपका) **ऐकान्तिक-नित्यकिङ्करः** (ऐकान्तिक नित्यकिङ्कर) **सन्** (होकर) **भवन्तः** (आपका) **एव** (ही) **निरन्तरं** (निरन्तर—सर्वदा) **अनुचरन्** (अनुसरण करके—सेवा करके), **प्रशान्तनिःशेष-मनोरथान्तरः** (अन्य वासनाओंको सम्यक् रूपसे प्रशमित करके) **सनाथजीवितं** (सनाथ-जीवनको) **प्रहर्षयिष्यामि** (आनन्दित करूँगा) ?

अनुवाद—हे नाथ ! (आपकी सेवा-वासनाके अतिरिक्त) अन्य सब वासनाओंका परित्याग कर, आपका ऐकान्तिक नित्य-किङ्कर होकर आपकी सेवा करते-करते कब मैं अपने सनाथ-जीवनको आनन्दित करूँगा ?

ऐकान्तिक-नित्यकिङ्करः—निरवच्छिन्नभावसे जो सेवा करे उसको नित्यकिङ्कर कहते हैं ; किङ्कर—दास। इस प्रकारकी सेवा ही एकान्त कर्तव्य है—यह मानकर, अन्य किसी भी विषयमें जिसका मन नहीं जाता, उसको कहते हैं ऐकान्तिक-नित्यकिङ्कर। किङ्कर शब्दका अर्थ दास होनेपर भी उसकी एक विशेष व्यंजना है। "**किं करोमि, किं करोमि** —प्रभुकी प्रीति-सम्पादनके लिए मैं क्या करूँ, मैं क्या करूँ, और क्या कर सकता हूँ, क्या करनेसे उनको सुख होगा"—इस प्रकार एक सेवा-व्याकुलता सदा सेवकके मनमें जागती रहती है, उसको किङ्कर कहा जाता है। इस व्याकुलता द्वारा सेवककी स्वसुख-वासना-हीनता भी सूचित होती है। **सनाथ-जीवितं**—नाथयुक्त जीवनको। आपकी किङ्करताके अभावमें, आपकी सेवा न पानेसे मेरा जीवन अब अनाथ हो रहा है, आपकी चरण-सेवा पानेपर, अर्थात् आपको पानेपर मेरा जीवन सनाथ (नाथयुक्त) होगा ; तब उस जीवनको 'सनाथ-जीवन' कहा जायगा।

प्रहर्षयिष्यामि—प्रकृष्ट रूपसे हर्षयुक्त (या आनन्दित) करूँगा। प्रभुको पानेपर जीवन सनाथ हो सकता है; किन्तु किस प्रकार इस जीवनको आनन्दमय किया जाय ?—यह बता रहे हैं। ऐकान्तिक नित्यकिङ्कर होकर—ऐकान्तिक भावसे एवं निरवच्छिन्न भावसे प्रभुकी सेवा करके ही जीवनको आनन्दयुक्त किया जाय—सेवाके अभावमें जो जीवन दुःखभाराक्रान्त था, उसको आनन्दमय किया जाय ऐकान्तिकी भगवत्सेवा द्वारा। किन्तु इस प्रकारकी सेवा क्या करनेसे मिले ? इसको बता रहे हैं **प्रशान्तनिःशेष—मनोरथान्तरः**—मनोरथ—वासना। **मनोरथान्तरः**--अन्य वासना; भगवत्सेवाकी वासनाके अतिरिक्त अन्य वासना। किंचित् मात्र भी शेष या अवशिष्ट नहीं है जिसकी, उसको कहते हैं निःशेष। भगवत्सेवाकी वासनाके अतिरिक्त अन्य सब वासना निःशेष प्रशान्त (प्रशमित, नष्ट) हो गयी है जिसकी, उसको कहते हैं प्रशान्त-निःशेषमनोरथान्तर। भगवत्सेवाकी वासनाके अतिरिक्त अन्य सब वासना जिनकी दूर हो गयी है,—नष्ट हो गयी है, वे ही श्रीभगवान्‌की ऐकान्तिकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त करके जीवनको धन्य कर सकते हैं।

"सब विषय-वासनाओंको त्याग कर कब मैं आपका ऐकान्तिक नित्यकिङ्करत्व प्राप्त कर आपकी सेवा द्वारा अपने जीवनको धन्य कर सकूँगा"—इस श्लोकमें इस प्रकारकी प्रार्थना की गयी है।

उल्लिखित दोनों श्लोकोंमें भी साधारण भावसे दास्यप्रेमकी बात कही गयी है; दास्यप्रेमके कोई भी विशेष स्तरकी बात नहीं कही गयी; अतएव दोनों श्लोकोंका मर्म द्वारका-मथुराका दास्य एवं ब्रजका दास्य- दोनों प्रकारके दास्य भावके सम्बन्धमें घट सकता है। दास्य-भावके सम्बन्धमें दोनों श्लोकोंका मर्म साधारण होनेपर भी यह पूर्वोल्लिखित प्रेमभक्तिके विषयमें वैशिष्ट-ज्ञापक है, इसीसे प्रेमभक्तिके पश्चात् इसके उल्लेखकी समीचीनता है।

सख्य-प्रेम

प्रभु कहे—एहो हय, आगे कह आर।
राय कहे—सख्यप्रेम सर्व्वसाध्यसार ॥६१॥

राम रायकी बात सुनकर प्रभुने कहा—"राय ! दास्यप्रेमकी जो बात बतायी, वह संगत ही है, किन्तु और भी कुछ कहो।"

प्रभुका इस प्रकार कहनेका हेतु यह है कि रामानन्द राय द्वारा कथित दास्यप्रेम द्वारका-मथुराके दास्यप्रेमको भी बता सकता है, व्रजके दास्यप्रेमको भी बता सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि द्वारका-मथुरामें ऐश्वर्यज्ञान होनेके कारण सेवावासनाका सम्यक् विकाश सम्भव नहीं होता; यत् किंचित् विकशित होता है, वह भी हठात् ऐश्वर्यज्ञानके उदयसे संकुचित हो जा सकता है; उसमें सम्भव है कि प्रारब्ध-सेवा भी संकुचित हो जा सकती है। और व्रजमें ऐश्वर्यज्ञान न रहनेपर भी, व्रजके दासभक्त श्रीकृष्णको ईश्वर न माननेपर भी, श्रीकृष्णके प्रति उनकी ममत्वबुद्धि रहनेपर भी, उनके चित्तमें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक प्रकारका सम्भ्रम या गौरव-बुद्धि है। ईश्वर-ज्ञानसे गौरव-बुद्धि नहीं, प्रभु-ज्ञानसे—मालिक-ज्ञानसे—गौरव-बुद्धि है। "श्रीकृष्ण मेरे प्रभु हैं, मैं सर्वभावसे उनका दास हूँ; उनके आदेश-पालनरूप सेवा तो कर ही सकूंगा, परन्तु उनका आदेश न होनेपर भी जिसमें उनकी असम्मति नहीं है, उनके सुखार्थ अपने मनकी अभिप्रेत सेवा भी मैं कर सकता हूँ। किन्तु जिस प्रकारकी सेवामें उनकी सम्मति नहीं है, या मेरी समझके अनुसार उनकी सम्मति नहीं हो सकती, उस प्रकारकी सेवा वास्तवमें उन्हें सुखप्रद होनेकी मुझे प्रतीति होनेपर भी, मेरी इच्छा होनेपर भी मैं नहीं कर सकूँगा; क्योंकि वे मेरे प्रभु हैं, उनकी सम्मति मिले बिना या उनकी असम्मति नहीं है—यह समझे बिना मै कुछ भी नहीं कर सकता।" व्रजके दास्यमें इस प्रकारकी गौरव-बुद्धि और सम्भ्रम है; अतएव संकोचवश

सब समय इच्छानुरूप सेवा नहीं की जा सकती। सेवा-वासना विकाशोन्मुख होनेपर भी वह कार्यमें प्रकाश नहीं पा सकती।

द्वारका-मथुराके दास्यकी अपेक्षा व्रजके दास्यभावकी विशेषता यही है कि एक तो, व्रजमें ऐश्वर्यज्ञान न होनेके कारण श्रीकृष्णमें ममता-बुद्धि उत्पन्न हो सकती है एवं वह ममता-बुद्धि अक्षुण्ण बनी रह सकती है; दूसरे, सेवा-वासना जितनी स्फुरित होती है, वह संकुचित नहीं होती एवं उन्मेषित सेवा-वासना जिस परिमाणमें कार्यमें (सेवामें) प्रकाश होती है, वह भी संकुचित नहीं होती; पर गौरव-बुद्धिके वश वह अधिकतर विकाश प्राप्त नहीं कर सकती है।

ऐश्वर्य ज्ञान रहनेसे श्रीकृष्णमें ममत्व-बुद्धि या मदीयतामय भाव विकशित नहीं हो सकता; तदीयतामय भाव ही (मैं श्रीकृष्णका हूँ—उनका अनुग्राह्य हूँ—इस प्रकारका भाव ही) विकशित हो सकता है। ईश्वर पूर्णवस्तु हैं,—उन्हें दूसरेकी सेवा-ग्रहणकी आवश्यकता नहीं होती—इस प्रकारकी बुद्धिसे सेवा-वासना संकुचित हो जाती है। व्रजमें इस प्रकारकी बुद्धि नहीं है। व्रजका प्रेम एवं अन्य धामका प्रेम—इस दृष्टिसे पृथक् है। व्रजप्रेमके अपूर्व वैशिष्ट्यवश ही ऐश्वर्यज्ञान-हीनता है। व्रजके अगाध प्रेम-समुद्रमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके सम्बन्धमें ईश्वरत्वका ज्ञान मानो अतलमें डूब गया है। इसीसे व्रजमें तदीयतामय भावको स्थान नहीं है, मदीयतामय भाव ही सदा जाग्रत् रहता है।

जो हो, दास्य-प्रेममें सेवावासनाका सम्यक् विकाश न होनेके कारण ही प्रभुने कहा—'आगे कह आर'।

प्रभुकी बात सुनकर राम रायने कहा—"सख्यप्रेम ही सर्वसाध्य-सार है।"

सख्यप्रेम— जो लोग प्रेमाधिक्यवश श्रीकृष्णको अपने ही समान मानते हैं, किसी भी प्रकार श्रीकृष्णको अपनेसे श्रेष्ठ नहीं मानते, उनको श्रीकृष्ण-का सखा कहा जाता है। उनकी विश्रम्भ-रतिको सख्यप्रेम कहते हैं।

इसमें शान्तकी एकनिष्ठता और दास्यकी सेवा तो है ही,—"मैं कृष्णके सुखके लिए जो कुछ भी करूँगा, उसको कृष्ण निश्चय ही प्रीतिके सहित स्वीकार करेंगे।"—इस प्रकारका विश्वासमय भाव भी है, जो दास्यमें नहीं है। इसलिए यह दास्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। सख्यमें दासकी तरह गौरव-बुद्धि, सम्भ्रम और सेवाका संकोच नहीं है।

श्रीकृष्णके किसी सखाने फल खाते-खाते अनुभव किया कि यह फल अति मधुर है, तत्क्षणात् उसने वह उच्छिष्ट फल कृष्णके मुखमें देकर कहा—"ले भाई कन्हाई, यह फल अत्यन्त मधुर है, तू खाकर देख!" कृष्णके मुखमें अपना उच्छिष्ट फल देनेके कारण उसके मनमें किसी प्रकारका संकोच उत्पन्न न होगा। किन्तु कोई भी दास इस प्रकारसे श्रीकृष्णको उच्छिष्ट देनेकी बातकी मनमें कल्पना भी न कर सकेगा; क्योंकि उसकी श्रीकृष्णमें गौरव-बुद्धि है। सख्यमें दास्यकी अपेक्षा ममता-बुद्धिके आधिक्यवश ही ऐसा होता है।

> शान्तेर गुण, दास्येर सेवन — सख्ये दुइ हय।
> दास्ये सम्भ्रम गौरव सेवा सख्ये विश्वासमय॥
> कान्धे चढे कान्धे चढ़ाय करे क्रीड़ारण।
> कृष्ण सेवे, कृष्णे कराय आपन सेवन॥
> विश्रम्भ-प्रधान सख्य — गौरव-सम्भ्रम-हीन।
> अतएव सख्यरसेर तिन गुण चिन्॥
> ममता अधिक कृष्णे, आत्मसम ज्ञान।
> अतएव सख्यरसे वश भगवान्॥
>
> चै.च.म. १९.१८१-१८४

एक बात और! पहले ही बताया जा चुका है कि दास्य और सख्य—दो जातीय भाव हैं—एक ऐश्वर्यात्मक और दूसरा शुद्ध-माधुर्यात्मक। ऐश्वर्यात्मक भावमें—श्रीकृष्ण ईश्वर, स्वयंभगवान् हैं—यह ज्ञान श्रीकृष्णको भी रहता है और उनके परिकरोंको भी रहता है। किन्तु माधुर्यात्मक

भावमें 'श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् हैं'—यह ज्ञान उनके परिकरोंको भी नहीं होता और स्वयं श्रीकृष्णको भी उसका भान नहीं रहता। द्वारका-मथुरादिमें ऐश्वर्यात्मक भाव है और व्रजमें माधुर्यात्मक। द्वारकादिमें श्रीकृष्ण-दासगणकी ऐश्वर्यात्मक दास्यरति है और व्रजमें रक्तक-पत्रकादि दास्यगणकी शुद्ध-दास्यरति है। अर्जुनादिकी ऐश्वर्यात्मक सख्यरति है और व्रजमें सुबल आदिकी माधुर्यात्मक सख्यरति है। देवकी-वसुदेवादिकी ऐश्वर्यात्मिका वात्सल्य-रति है और नन्द-यशोदादिकी शुद्ध-माधुर्यात्मिका वात्सल्यरति है।

सख्यप्रेमके सम्बन्धमें अपनी उक्तिके समर्थनमें राय रामानन्दने श्रीमद्भागवतके जिस श्लोकका उल्लेख किया है, उस श्लोकमें श्रीकृष्णके व्रजपरिकरभुक्त सखाओंके आचरणकी बात ही कही गयी है। इससे स्पष्ट समझमें आ जाता है कि व्रजका सख्यप्रेम ही रामानन्द रायका लक्ष्य है। द्वारका-मथुराके सख्यमें ऐश्वर्यज्ञानका मिश्रण होनेसे सेवावासनाका सम्यक् विकाश न होनेके कारण एवं ऐश्वर्यज्ञानके उदयसे, विकसित सख्य भी संकुचित हो जानेके कारण, और सेवा-वासनाका सम्यक् विकाश ही प्रभुको अभिप्रेत होनेके कारण, राय रामानन्दने द्वारका-मथुराके सख्यकी बात न कहकर व्रजके ऐश्वर्यज्ञानहीन शुद्ध-माधुर्यमय सख्यभावकी बात ही कही। यह द्वारका-मथुराके दास्यकी अपेक्षा तो उत्कर्षमय है ही, व्रजके दास्यभावकी अपेक्षा भी उत्कर्षमय है; क्योंकि, व्रजके सख्यमें प्रेमोत्कर्षजनित ममत्व-बुद्धिके आधिक्यवश दास्यकी गौरव-बुद्धि और सम्भ्रम नहीं है—श्रीकृष्णके साथ समत्व-बुद्धि है। समत्व-बुद्धि इतनी दूरतक वर्द्धित हुई है कि कोई भी सखा श्रीकृष्णके साथ खेलमें हार जाय तो श्रीकृष्णको कन्धेपर चढ़ाता है और खेलमें श्रीकृष्णके हारनेपर पूर्व नियमके अनुसार श्रीकृष्णके कन्धेपर चढनेमें संकोच नहीं करता। दास्यभावमें श्रीकृष्णके साथ इतने हेल-मेलका भाव असम्भव है।

निम्नोक्त श्लोकमें श्रीकृष्णके साथ उनके व्रज-सखाओंका अत्यन्त हेल-मेलका परिचय मिलता है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.१२.११—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
सार्द्धं विजुह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥१४॥

अन्वय—इत्थं (इस प्रकारके) सतां (ज्ञानियोंके सम्बन्धमें) ब्रह्मसुखानुभूत्या (ब्रह्मसुखानुभव-स्वरूप), दास्यं गतानां (दास्य भावसे भजनकारी-भक्तोंके सम्बन्धमें) परदैवतेन (परमाराध्य देवतास्वरूप), मायाश्रितानां (मायाश्रित व्यक्तियोंके सम्बन्धमें) नरदारकेण (नरबालक रूपसे प्रतीयमान श्रीकृष्णके) सार्द्धं (साथ) कृतपुण्यपुञ्जाः (कृतपुण्यपुञ्ज—अतिशय सौभाग्यशाली गोप-बालक वृन्दने) विजुह्रुः (विहार किया है)।

अनुवाद—श्रीशुकदेवजीने परीक्षित महाराजसे कहा- ज्ञानियोंके सम्बन्धमें ब्रह्मसुखानुभव-स्वरूप, दास्यभावसे भजनकारी भक्तोंके सम्बन्धमें परमाराध्य-देवतास्वरूप, मायाश्रित-व्यक्तियोंके सम्बन्धमें नरबालक रूपसे प्रतीयमान श्रीकृष्णके साथ अतिशय-सौभाग्यशाली गोपबालकोंने इस प्रकारसे बिहार किया था।

साधकोंमें साधारणतया तीन प्रकारके लोग देखनेमें आते हैं—ज्ञानी, कर्मी एवं भक्त। ये सब एक ही स्वयंभगवान् श्रीकृष्णका अपनी-अपनी साधनाके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभव करते हैं। इनमें-से कौन किस भावसे श्रीकृष्णको अनुभव करते हैं, यह बताकर इस श्लोकमें सख्यभावापन्न व्रजबालकोंके सौभाग्य-अतिशयकी प्रशंसा की गयी है। सतां—ज्ञानियोंके; जिन्होंने भक्तिमार्गके साहचर्यसे ज्ञानमार्गकी उपासना की है उनके (उनके अतिरिक्त अन्य ज्ञानी साधकोंके लिए ब्रह्मसुखानुभव असम्भव होनेके

कारण यहाँपर सतां-शब्दसे भक्तिसम्वलित-ज्ञानमार्गके उपासकोंको ही बताया है)। **ब्रह्मसुखानुभूत्या**—ब्रह्मसुखानुभव-स्वरूप। ज्ञानी लोग निर्विशेष ब्रह्मको ही परतत्व रूपसे मानकर उस ब्रह्मके साथ सायुज्य कामना करते हैं; साधनमें सिद्ध होनेपर वे उस आनन्दरूप ब्रह्मका ही अनुभव करते रहते हैं; स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण उनके लिए आनन्दस्वरूप ब्रह्म मात्र हैं—इस रूपसे ही वे लोग श्रीकृष्णको अनुभव करते हैं, श्रीकृष्ण भी उनको उसी प्रकारकी अनुभूति देते हैं, कारण **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**—इस गीता ४.११ वाक्यके अनुसार वे प्रत्येक साधकको उनकी साधनाके अनुरूप अनुभव देते हैं। जो हो, ज्ञानमार्गके साधक उनका निर्विशेष ब्रह्मरूपसे अनुभव करनेके कारण उनके साथ उनकी क्रीड़ादि असम्भव है। इस प्रकार जो श्रीकृष्ण ज्ञानियोंके लिए ब्रह्म-सुखानुभव-स्वरूप मात्र हैं, वे **दास्यगतानां**—दास्यभावसे भजन करनेवाले भक्तोंके लिए **परदैवतेन**—परदेवता या इष्टदेवता, परमाराध्य देवता हैं। जो दास्यभावसे भजन करते हैं, वे श्रीकृष्णके प्रति गौरव-बुद्धि करते हैं, इसलिए श्रीकृष्णके साथ बिहार आदि उनके लिए भी सम्भव नहीं, समान भाव हुए बिना बिहार या क्रीड़ा नहीं होती। इस प्रकार दास्यभावके भक्तोंके लिए जो श्रीकृष्ण परदेवताके तुल्य हैं, **मायाश्रितानां**—मायाश्रित व्यक्तियोंके लिए **नरदारकेण**—नरबालक तुल्य हैं। जो लोग मायाके आश्रित कर्मी हैं, वे श्रीकृष्णको नर-बालक ही मानते हैं। मायाश्रित होनेके कारण एवं श्रीकृष्णको नरबालक माननेके कारण उनका श्रीकृष्ण-भजन नहीं होता और श्रीकृष्णमें प्रीति भी नहीं होती; अतएव श्रीकृष्णके साथ उनकी क्रीड़ा तो दूरकी बात है, श्रीकृष्णकी किसी भी प्रकारकी अनुभूति उनके लिए दुर्लभ है। श्रीभगवान् हैं असाधारण स्वरूप-ऐश्वर्य-माधुर्य-विशिष्ट तत्व-विशेष। स्वरूपसे वे परमानन्द हैं, उनका ऐश्वर्य है असमोर्द्ध-अनन्त-स्वाभाविक-प्रभुत्व एवं उनका माधुर्य है सर्वमनोहारी स्वाभाविक रूप-गुण-लीलादिका असमोर्द्ध सौष्ठव। ज्ञानके साधनमें उनके

स्वरूपका (आनन्द-सत्वमात्रका), गौरवमिश्रा-प्रीतिमें उनके ऐश्वर्यका एवं शुद्धाप्रीतिमें उनके माधुर्यका अनुभव सम्भव है। इन तीन प्रकारके साधनोंमें-से किसी भी प्रकारका साधन जिनका नहीं है ऐसे मायाश्रित लोगोंके लिए कभी किसी अंशमें स्फूर्तिका आभासमात्र हो सकता है, किन्तु तत्त्व-स्फूर्तिकी सम्भावना नहीं हैं; क्योंकि मायारागसे रंजित चित्तके साथ मायातीत तत्त्व-वस्तुका स्पर्श होना सम्भव नहीं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

गीता ७.२५

ऐसे मायाश्रित मूढलोग नराकृति-परब्रह्म-श्रीकृष्णको मनुष्य मानते हैं।

तं ब्रह्म परमं साक्षाद्‌ भगवन्तमधोक्षजम्।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥

श्रीम. भा. १०.२३.११

ऐसे लोगोंके लिए भगवान्‌की किसी भी प्रकारकी अनुभूति सम्भव नहीं। ऐसे श्रीकृष्णके साथ **कृतपुण्यपुञ्जाः**—पुंजीभूत पुण्यवाले सखागण बिहार कर सकते हैं। ब्रजके सख्यभावापन्न गोपबालकोंको लक्ष्य करके 'कृतपुण्य-पुञ्जा' कहा गया है—भाव यह है कि ज्ञानमार्गके उपासकगण भी जिनको केवल निर्विशेष-ब्रह्मरूपसे अनुभव करते हैं, जिनके साथ वे लोग भी क्रीड़ा नहीं कर सकते; दास्यभावके भक्तगण भी जिनके साथ खेल नहीं सकते, कर्मीगण भी जिनकी किसी भी प्रकारकी अनुभूति नहीं पा सकते—उन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके साथ जो बराबरीके भावसे खेल सकते हैं, उनके न जाने कितने पुण्य हैं! यह कथन लौकिक उक्तिके अनुरूप कथन-मात्र है, ऐसे कोई भी पुण्य नहीं हो सकते, जिनके फलसे कोई समान भावसे स्वयं भगवान्‌के साथ खेलनेका अधिकार पा सके। ब्रजके गोप-बालकोंने किसी भी पुण्य वा साधनके फलसे यह अधिकार नहीं पाया। वे नित्यसिद्ध भगवत्परिकर हैं, अनादि कालसे वे लोग श्रीकृष्णके साथ इस

भावसे बिहार करते आते हैं। भगवान् ही सख्यरस आस्वादनके निमित्त इन सखाओंके रूपमें अनादिकालसे आत्मप्रकट करके विराजित हैं। इस प्रकारके व्रज-बालकोंका सौभाग्य-अतिशय प्रकाश करनेके लिए ही उनको कृतपुण्यपुञ्ज कहा गया है। अथवा, **कृतानां चरितानां भगवतः परम-प्रसादहेतुत्वेन पुण्याश्चारवः पुञ्जा येषां ते इत्यर्थः**—श्रीपाद सनातन। कृत-शब्दका अर्थ है (सखाओंका) चरित या आचरण। पुण्य—चारु। सखाओंका आचरण श्रीकृष्णके परम-प्रसादका हेतु होनेके कारण पुण्य या चारु, मनोहर है। पुञ्ज—समूह। श्रीकृष्णके प्रति सखाओंकी गाढ-प्रेम-जनित परिपक्व ममत्व-बुद्धि है; उसके फलस्वरूप श्रीकृष्णके साथ उनका गौरव-बुद्धिहीन निःसंकोच खेलना है। इस प्रकारके निःसंकोच खेल-कूदके फलसे ही उन लोगोंने श्रीकृष्णकी परम प्रसन्नता प्राप्त की है। इसीसे उनका इस प्रकारका आचरण श्रीकृष्णके लिए भी परम रमणीय (पुण्य—चारु) है; इस प्रकारके उनके मनोरम आचरण दो-चार नहीं—अनन्त (पुञ्ज) हैं। ऐसे आचरणशील सखाओंने श्रीकृष्णके साथ बिहार किया है। किस प्रकारसे बिहार किया है? इत्थं—इस प्रकारसे; श्रीमद्भागवतके १०.१२.८-१० श्लोकोंके वर्णनके अनुसार उन लोगोंने सभीने श्रीकृष्णकी तरह पत्र-पुष्पादि द्वारा अपने-आपको सज्जित किया, एक दूसरेके वेत्र-वेणु-श्रृङ्गादि अपहरण करने लगे, पकड़े जानेके भयसे उन वस्तुओंको पीछेके सखाओंके हाथमें सरकाने लगे; श्रीकृष्णके किसी भी कारणसे कुछ दूर चले जानेपर—कौन उनको पहले स्पर्श करेगा—इसके लिए दौड़ मचाने लगे; वेणु-श्रृङ्गादि द्वारा भ्रमर-मयूरादिके स्वरोंका अनुकरण करने लगे; मयूरके साथ नृत्य, बगुलेकी तरह जलके समीप उपवेशन, उड़ते हुए पक्षीकी छायाके साथ दौड़ा-दौड़ी करना, बन्दरोंकी पूँछ पकड़कर खींचना, उनके अनुसरणमें वृक्षोंपर चढ़ना, उनकी नकलमें मुख-विकृति करना, मेढकके अनुकरणमें उछलना-कूदना, अपनी छायाके साथ प्रतियोगिता इत्यादि रूपसे गोप-बालकोंने श्रीकृष्णके साथ खेल किया था।

राय रामानन्दने सख्यसे आरम्भ करके यथाक्रमसे वात्सल्य-प्रेम एवं कान्ता-प्रेमकी बात कही है। अपनी उक्तिके समर्थनमें जिन शास्त्र-प्रमाणों-का उल्लेख किया है, वे सभी श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्तिके विलासभूत नित्य-परिकरगणके सम्बन्धमें हैं। किन्तु सख्यप्रेमके पूर्व पर्यन्त जिन शास्त्र-प्रमाणोंका उल्लेख हुआ है, वे सभी साधक जीवके सम्बन्धमें हैं। सख्यप्रेम, वात्सल्यप्रेम एवं कान्ताप्रेमके सम्बन्धमें स्वरूपशक्तिके विलास-भूत नित्य-परिकरोंके दृष्टान्त उल्लिखित होनेका हेतु इस प्रकार लगता है। सेवा-वासनाके चरमतम विकाशसे ही साध्य-वस्तुका भी चरमतम विकाश है। सेवा-वासना दो प्रकारकी हो सकती है— स्वातन्त्र्यमयी एवं आनुगत्यमयी। जीव कृष्णका नित्यदास होनेके कारण आनुगत्यमयी सेवामें ही उसका अधिकार है; अतएव आनुगत्यमयी सेवाकी वासनाका विकाश ही जीवमें सम्भव है। किन्तु जो लोग स्वरूपशक्तिके विलासभूत (स्वरूप-शक्तिके मूर्त्त-विग्रहरूप) परिकर हैं, स्वरूप-शक्तिके मूर्त्तरूप होनेके कारण उनमें स्वातन्त्र्यमयी सेवाकी वासना भी है एवं स्वातन्त्र्यमयी सेवा भी है एवं किसी-किसी परिकरमें (जैसे कान्ताभावसे श्रीरूपमञ्जरी आदि-में) इस स्वातन्त्र्यमयी सेवाके आनुकूल्य विधानरूप आनुगत्यमयी सेवा भी है। अतएव इस प्रकारके नित्यसिद्ध परिकरोंके आचरणमें दोनों प्रकारकी सेवावासनाका दृष्टान्त मिलता है। सेवा-वासनाके सर्वतोमुखी विकाशमें ही साध्यवस्तुका सम्यक् विकाश है एवं इस प्रकारका विकाश ही प्रभुको अभिप्रेत है, इस प्रकारका अनुमान करके ही रामानन्द रायने नित्यसिद्ध परिकरोंके दृष्टान्तकी अवतारणा की है। विशेष करके स्वातन्त्र्यमयी सेवामें ही सेवावासनाका सर्वातिशायी विकाश है। स्वातन्त्र्यमयी सेवा जब पूर्वोल्लिखित नित्यसिद्ध परिकरोंके अतिरिक्त अन्य किसीमें भी सम्भव नहीं, तब उन्हींके दृष्टान्तमें ही सेवावासनाका अतिशय सर्वातिशायी विकाश है—अतएव साध्यवस्तुका भी सम्यक् विकाश प्रदर्शित हो सकता है। आनुगत्यमयी सेवामें ही (स्वातन्त्र्यमयी सेवाके आनुकूल्य विधानमें

ही) जिनका अधिकार है, उनकी सेवावासनाका विकाश भी स्वातन्त्र्यमयी सेवा-वासनाके अनुरूप भावसे ही विकशित होता है। अतएव जहाँपर स्वातन्त्र्यमयी सेवावासनाका जैसे विकाश होता है, वहाँ आनुगत्यमयी सेवावासनाका भी तदनुरूप विकास होता है। जैसे वात्सल्यभाव। वात्सल्यभावकी सेवामें श्रीश्रीनन्द-यशोदाका ही स्वातन्त्र्यमयी सेवामें अधिकार है। जो वात्सल्य भावके उपासक हैं, भगवत्कृपासे साधनमें सिद्धि प्राप्त करनेपर वे नन्द-यशोदाके आनुगत्यसे श्रीकृष्णसेवा पायेंगे; अर्थात् श्रीनन्द-यशोदाकी स्वातन्त्र्यमयी सेवाका आनुकूल्य विधान करेंगे; उनकी सेवावासना भी इस आनुगत्यमयी सेवाके उपयोगी भावसे ही विकशित होगी एवं वह होगी श्रीनन्द-यशोदाकी सेवावासनाके अनुरूप। इसी प्रकार सख्यभावके या कान्ताभावके उपासकोंकी सेवावासना भी व्रजसखा या व्रजकान्तागणकी स्वातन्त्र्यमयी सेवावासनाके आनुगत्यमें तदनुरूप भावसे ही विकशित होगी।

वात्सल्य-प्रेम

प्रभु कहे—एहोत्तम, आगे कह आर।
राय कहे—वात्सल्यप्रेम सर्व्वसाध्यसार ॥६२॥

राय रामानन्दकी बात सुनकर प्रभुने कहा—"हाँ, सख्यप्रेमके सम्बन्धमें जो कहा, वह उत्तम है; इसकी उपेक्षा भी उत्तम यदि और कुछ हो तो बताओ।"

एहोत्तम—सख्यप्रेमको महाप्रभुने उत्तम बताया, अबतक किसी भी साध्यको उत्तम नहीं बताया था, सख्यप्रेमको उत्तम कहनेका क्या तात्पर्य है? श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

"आपनाके बड़ माने आमाके समहीन।
सर्व्वभावे हइ आमि ताहार अधीन ॥ चै. च. आ. ४.२०

जो भक्त अपनेको मेरेसे बड़ा मानता है और अपनी अपेक्षा मुझे हीन समझता है, मैं सब प्रकारसे उसके अधीन हो जाता हूँ। मुझे अपनी अपेक्षा हीन न मानकर, जो भक्त मुझे अपने समान मानता है, अपनेसे जरा भी बड़ा नहीं मानता, मैं उसके भी वशीभूत हो जाता हूँ।" सखागण सख्यभावमें कृष्णको अपने समान मानते हैं, कृष्णको कभी भी बड़ा या किसी भी अंशमें श्रेष्ठ नहीं मानते ; इसीसे श्रीकृष्ण सख्यप्रेममें सखाओंके वशीभूत होते हैं। इसलिए महाप्रभुने सख्यप्रेमको उत्तम कहा है। शान्त-दास्य आदिमें श्रीकृष्णको बड़ा माना जाता है, और भक्त अपने आपको छोटा मानता है, इससे श्रीकृष्ण उस भक्तके अधीन नहीं होते।

আমাকে ঈশ্বর মানে আপনাকে হীন।
তার প্রেমে বশ আমি না হই অধীন॥

चै. च. आ. ४.१७

स्मरण रहे कि ये बातें नित्यसिद्ध भगवत्परिकरोंके सम्बन्धमें ही कही गयी हैं, साधक-जीवके सम्बन्धमें नहीं। साधकके यथावस्थित देहमें दास्यभाव ही प्रबल होता है।

संकोचके अभावके कारण स्वच्छन्द-सेवा सम्भव होती है, इसलिए सख्यप्रेम उत्तम हुआ। इसमें सेवा-वासनाका भी अत्यन्त विकाश है।

इसके बाद महाप्रभुने कहा कि सख्यप्रेम उत्तम होनेपर भी, इसकी उपेक्षा प्रेमकी कोई परिपक्व अवस्था यदि हो, तो वह बताओ।

प्रभुकी बात सुनकर राम-रायने कहा—"वात्सल्य-प्रेम ही सर्वसाध्यसार है।"

वात्सल्यप्रेम—माता, पिता आदि रूपमें जो लोग अपनेको श्रीकृष्ण-का गुरु-स्थानीय मानते हैं और श्रीकृष्णको अपना अनुग्रह पात्र मानते हैं, उनकी अनुग्रहमयी रतिको वात्सल्यप्रेम कहते हैं। इस रतिमें सख्यकी अपेक्षा भी ममताकी अधिकता है। इसलिए श्रीकृष्णको पाल्य मानकर एवं अपने-आपको पालक मानकर नन्द-यशोदा आदिने श्रीकृष्णका ताड़न,

भर्त्सन, बन्धन आदि किया है। इसमें शान्त, दास्य और सख्यकी निष्ठा, पालन-रूप सेवा, असंकोच भाव तो है ही, इससे भी अधिक श्रीकृष्णमें पाल्य-ज्ञान और अपनेमें पालक-ज्ञान है। इसलिए सख्यकी अपेक्षा वात्सल्य श्रेष्ठ है।

वात्सल्ये शान्तेर गुण दास्येर सेवन।
सेइ सेवनेर इहाँ नाम पालन॥
सख्येर गुण असङ्कोच अगौरव सार।
ममताधिक्ये ताड़न भर्त्सन व्यवहार॥
आपनाके पालक-ज्ञान कृष्णे पाल्य-ज्ञान।
चारि रसेर गुणे वात्सल्य अमृत समान॥
से अमृतानन्दे भक्त सह डुबेन आपने।
'कृष्ण-भक्त-वश' गुण कहे ऐश्वर्य्य ज्ञानिगणे॥

चै. च. म. १९.१८५-१८८

सख्यमें श्रीकृष्णको अपने समान माना जाता है, किन्तु वात्सल्यमें ममताकी इतनी अधिकता होती है कि श्रीकृष्णको छोटा समझकर, अपनेको बड़ा मानकर श्रीकृष्णके मंगल या भावी सुखके लिए उनका ताड़न-भर्त्सन आदि तक भी किया जाता है ; सख्यमें ताड़न-भर्त्सन आदि करने जैसी ममता-की अधिकता नहीं है ; इसलिए सख्यकी अपेक्षा वात्सल्य श्रेष्ठ है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.८.४६—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥१५॥

अन्वय—ब्रह्मन् (हे मुने)! **नन्दः** (नन्दमहाराजने) **महाभागा यशोदा वा** (एवं महाभाग्यवती यशोदाने) **महोदयं** (महापुण्य-जनक) **एवं** (ऐसा) **किं** (कौन-सा) **श्रेयः** (मंगल-कार्य) **अकरोत्** (किया था), **हरिः** (श्रीहरि—कृष्णने) **यस्याः** (जिनका) **स्तनं** (स्तन) **पपौ** (पान किया)?

अनुवाद—परीक्षित महाराजने श्रीशुकदेवजीसे पूछा—"हे मुने! नन्दमहाराजने महापुण्य-जनक ऐसा कौनसा मंगल कार्य किया था (जिसके फलस्वरूप उन्होंने श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें पाया)? और महाभागा यशोदाने भी ऐसा कौनसा मंगल-जनक कार्य किया था (जिसके फल-स्वरूप) श्रीहरिने (उनका पुत्रत्व स्वीकार करके) स्तन पान किया?

इस श्लोकमें वात्सल्य-रसके आश्रय नन्द-यशोदाकी श्रीकृष्णमें प्रीतिकी और ममता-बुद्धिकी अधिकता प्रदर्शित हुई है। श्रीकृष्णमें उनकी प्रीति एवं ममता-बुद्धि इतनी अधिक है कि जो अनन्त-कोटि विश्व-ब्रह्माण्डके एकमात्र अधीश्वर स्वयंभगवान् हैं, जिनका स्वयं गर्गाचार्यने भी **'नारायणसमो गुणैः'** बताकर वर्णन किया, जिनके पूतना-वधादि, मृद्भक्षण-लीलाके व्यपदेशसे (बहानेसे) मुख-गह्वरमें ब्रह्माण्ड-प्रदर्शनादि—अनेक ऐश्वर्योंका विकाश जिन्होंने स्वयं अपनी आँखोंसे देखा, वे उन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको अपना पुत्र मात्र—अपना लाल्य, अपने अनुग्रहका पात्र मात्र—माना करते, जो अनन्तकोटि विश्वब्रह्माण्डके पालनकर्त्ता हैं, स्वयंको उनका पालक माना करते। सर्वयोनि, सर्वाश्रम, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक-विभुतत्त्व, सर्वपूज्य, परम-ब्रह्म, स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण भी उनके वात्सल्यप्रेमसे वशीभूत होकर उनकी सन्तानरूपसे उनका ताड़न-भर्त्सन अंगीकार करते, नन्दबाबाकी पादुका मस्तकपर वहन करते, यशोदा-माताका स्तन्यपान करते एवं उनके द्वारा बन्धन आदि शास्ति (दण्ड) भी अंगीकार करते।

नन्द महाराज एवं यशोदा माता भी नित्यसिद्ध भगवत् परिकर हैं; वात्सल्य-रसके आस्वादनके निमित्त श्रीकृष्णकी ही सन्धिनी-शक्ति नन्द और यशोदा रूपमें आत्मप्रकट करके अनादिकालसे विराजित है। श्लोकमें जो उनके 'महापुण्य-जनक मंगल-कार्य' का उल्लेख है, वह केवल उनका सौभाग्यातिशय ख्यापनके उद्देश्यसे लौकिक रीतिके अनुरूप उक्ति है।

तथाहि तत्रैव १०.६.२०

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥१६॥

अन्वय—**विमुक्तिदात्** (विमुक्तिदाता श्रीकृष्णसे) **यत् प्रसादं** (जिस अनुग्रहको) **गोपी** (यशोदा) **प्राप** (प्राप्त हुई थी), **तं इमं** (वह प्रसाद) **विरिञ्चः** (ब्रह्माने) **भव** (शिवने), **अङ्गसंश्रया** (अङ्गसंलग्न—वक्ष-विलासिनी) **श्रीः** (लक्ष्मीने) **अपि** (भी) **न लेभिरे** (प्राप्त नहीं किया)।

अनुवाद—परीक्षितके प्रति श्रीशुकदेवजीने कहा—"विमुक्तिदाता श्रीकृष्णसे जिस प्रसादको गोपी यशोदा प्राप्त हुई, वह प्रसाद ब्रह्माने नहीं पाया, शिवने नहीं पाया, यहाँतक कि उनकी (श्रीकृष्णकी) अङ्गाश्रिता लक्ष्मीने भी नहीं पाया।"

इस श्लोकमें दाम-बन्धन-लीलाको लक्ष्य किया गया है। यशोदाने श्रीकृष्णको ऊखलमें बांधा था एवं सबके मुक्तिदाता होकर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने केवल मात्र यशोदाके प्रेमके वशीभूत होकर उस बन्धन-को अंगीकार किया था। दाम-बन्धन-लीला श्रीकृष्णके प्रेमवश्यताकी परिचायक है। किसकी क्षमता है कि स्वयंभगवान् विभुवस्तु श्रीकृष्णका बन्धन कर सके? यदि वे स्वयं बन्धन स्वीकार करें, तभी उनको बांधा जा सकता है। वे प्रेमके वश हैं, एकमात्र प्रेमके द्वारा ही उनको बांधा जाता है; यशोदाके प्रेममें वे इतने वशीभूत हो गये थे कि यशोदाका बन्धन तक भी उन्होंने स्वीकार किया। श्रीकृष्णने कहा है—"ममता-बुद्धिकी अधिकताके कारण जो भक्त अपनेको मेरी उपेक्षा बड़ा मानता है, और अपनेसे मुझको छोटा मानता है, मैं उसके प्रेमसे वशीभूत होकर सब प्रकार-से उसके अधीन होकर रहता हूँ।" पुत्र-ज्ञानसे यशोदा कृष्णको छोटा—अपना लाल्य—मानती थीं और अपनेको उनकी लालन करनेवाली माता होनेके कारण पालनकर्तृ मानती थीं; इसीसे श्रीकृष्णके मंगलके उद्देश्यसे

उनका शासन करनेके लिए उनका बन्धन किया था। वे ऐसा मानती कि कृष्ण तो शिशु है, भला-बुरा कुछ भी नहीं समझता, इसीसे दहीके भाण्ड आदि तोड़नेका अनुचित कार्य करता है, अभीसे शासन नहीं किया गया तो क्रमशः इसकी उद्धता बढ़ जायगी, और भविष्यमें इसका बड़ा अमंगल होगा ; मैं इसकी माँ हूँ, मैं शासन नहीं करूँगी तो और कौन करेगा। यह यशोदाकी कृष्णके प्रति अतिशय ममताका परिचायक है। यशोदाकी अतिशय-ममताके कारण ही श्रीकृष्ण उनके प्रेमके वशीभूत होकर उनके हाथसे बन्धाये थे, यही यशोदाके प्रति उनका अनुग्रह है। यशोदाने जो यह अनुग्रह प्राप्त किया उसको और कोई भी प्राप्त नहीं कर सका, यहाँतक कि कृष्णके पुत्र होकर भी ब्रह्मा उसको प्राप्त नहीं कर सके, आत्मभूत होकर भी शिव उसको नहीं पा सके, स्वयं लक्ष्मीदेवी जो सर्वदा उनके वक्षमें विराजती हैं, वे भी उनको नहीं पा सकी। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण भक्त-वात्सल्य-वश भक्तके प्रेमके वशीभूत होते हैं—यह सर्वविदित है, एवं 'अहं भक्तपराधीनः' इत्यादि वाक्योंसे उनकी यह अपनी स्वीकृति है। किन्तु उनकी भक्त-वश्यता यहाँतक उद्बुद्ध हो सकती है कि भक्तकी रस्सीका बन्धन तक अंगीकार कर सकते हैं ; यह केवल दाम-बन्धन-लीलामें ही प्रदर्शित हुआ है। यह भक्त-वश्यताकी चरम पराकाष्ठा है।

इन दो श्लोकोंमें वात्सल्य-प्रेमकी श्रेष्ठता प्रदर्शित हुई है। **'वात्सल्य प्रेम सर्व्वसाध्यसार'**—इस उक्तिके प्रमाणमें ये दो श्लोक हैं। सख्यकी अपेक्षा वात्सल्यमें उस सेवा-वासनाका एवं सेवामें उस वासनाका अधिकतर विकाश है, उक्त दो श्लोकोंमें यही दिखाया गया है।

उल्लिखित दो श्लोकोंकी कुछ और भी आलोचना करनेसे नन्द-यशोदा-के वात्सल्य-प्रेमका उत्कर्ष कुछ और भी परिस्फुटित हो सकता है। इसलिए कुछ और आलोचना की जा रही है।

मृद्भक्षण लीलामें यशोदा माताने श्रीकृष्णके मुखमें चराचर विश्वको, व्रजधामको, श्रीकृष्णको एवं अपने-आपको भी जब देखा, तब अनेक वितर्क-

के पश्चात् उन्होंने यह मनमें किया कि सम्भवतः श्रीकृष्णका ही यह कोई अचिन्त्य ऐश्वर्य है। उस समय ऐश्वर्य-ज्ञानसे उनका वात्सल्य संकुचित हो गया। किन्तु यशोदा माताके चित्तमें श्रीकृष्णका ऐश्वर्य-ज्ञान, उनका स्वरूप-ज्ञान विद्यमान रहनेसे रशिकशेखर श्रीकृष्णके लिए वात्सल्यका आस्वादन असम्भव हो जाता, इसलिए लीला-शक्ति (वात्सल्य प्रेम) ने यशोदा माताके ऐश्वर्य-ज्ञानको प्रच्छन्न कर दिया। उस समय वात्सल्यके प्राबल्यसे —यशोदा माताने श्रीकृष्णके मुखमें जो कुछ भी देखा था, वह सब मानो वे भूल गयीं, जैसे स्वप्नमें देखी हुई वस्तुको भूल जाय। उस समय वे परम-ब्रह्म स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको अपना आत्मज (पुत्र) करके मानने लगीं। श्रीपाद शुकदेवजीके मुखसे ये बातें सुनकर महाराज परीक्षितको बड़ा विस्मय उत्पन्न हुआ। विभुतत्त्व श्रीकृष्णको यशोदा माता किस प्रकारसे आत्मज करके मानने लगीं—यही सोचकर परीक्षितको विस्मय हुआ ; इसीसे उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे जिज्ञासा की कि **'नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन्'** इत्यादि—नन्द महाराजने ऐसा कौन-सा महान् पुण्य किया था कि स्वयंभगवान्को पुत्ररूपमें प्राप्त किया और महाभाग्यवती यशोदाने ही क्या किया था जिसके फल-स्वरूप पूर्णतम भगवान्ने भी उनका स्तन-पान किया था? परीक्षितका प्रश्न सुनकर श्रीशुकदेवजीने कहा था—"अष्ट वसुओंमेंसे श्रेष्ठ वसु द्रोण और उनकी पत्नी धरासे जब ब्रह्माने कहा कि तुम लोग पृथिवीपर जन्म-ग्रहण करके मथुरा-मण्डलमें गो-पालन-वृत्ति अवलम्बन करो और वसुदेवके साथ सख्य स्थापन करो ; तब ब्रह्माका आदेश पालन करनेको प्रस्तुत होकर उन्होंने ब्रह्मासे कहा कि पृथिवीपर हमारे जन्म-ग्रहण करनेपर विचित्र मधुरलीलामय सर्वमनोहारी विश्वेश्वर भगवान्में हमारी परम भक्ति हो—यह वर आप कृपा करके दीजिये ; धरा-द्रोणकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माने 'तथास्तु' कहा ; इसीसे महासौभाग्यशाली महायशस्वी द्रोणने नन्दरूपसे और उनकी पत्नी महासौभाग्यवती धरा देवीने यशोदारूपसे ब्रजमें जन्म ग्रहण किया।" श्रीशुकदेवजीकी उक्तिसे ऐसा

लगता है कि ब्रह्माके वरसे ही द्रोण एवं धराने व्रजमें नन्द एवं यशोदा रूपमें जन्म-ग्रहण करके श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें पाया। जैसा प्रश्न है, वैसा ही उत्तर है। धरा-द्रोणका उपाख्यान जिनके चित्तमें जाग्रत् है, महाराज परीक्षितने मानो उनका पक्ष अवलम्बन करके ही प्रश्न किया था। श्रीशुकदेवजीने भी यह समझकर ही परीक्षितके प्रति कुछ उदासीनता प्रकाश करके उल्लिखित रूपसे उत्तर दिया था। उत्तर प्रश्नके अनुरूप ही हुआ है। प्रश्नमें नन्द-यशोदाके पूर्व साधनका इङ्गित है, उत्तरमें भी साधनकी बात स्पष्ट कही गयी है। किन्तु यह यथार्थ उत्तर नहीं है। यथार्थ उत्तर तो इसके ठीक पश्चात् श्रीशुकदेवजीने जो दाम-बन्धन-लीला वर्णन की है, उस प्रसंगमें **'नेमं विरिञ्चो न भवः'** इत्यादि श्लोकमें व्यक्त हुआ है। जो हो, श्रीशुकदेवजीके उल्लिखित उत्तरमें धरा-द्रोण-सम्बन्धी उपाख्यानका भी एक समाधान मिलता है। स्वरूपतः द्रोण हैं श्रीनन्दके अंश और धरा हैं श्रीयशोदाका अंश। ब्रह्माण्डमें उनका अवतरण नर-लील-श्रीकृष्णके अवतरणका उपक्रम मात्र है। उनके चित्तमें नित्यसिद्ध वात्सल्य प्रेम नित्य वर्तमान है; जब वे लोग ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण हुए, तब उनमें वह प्रेम अक्षुण्ण था। प्रेमके स्वाभाविक दैन्य एवं तत्-जनित परम-उत्कण्ठावश श्रीकृष्ण-प्रीतिके लिए—पुत्ररूपसे प्राप्तिके लिए—उनकी स्वाभाविक बलवती वासना है। किन्तु जब ब्रह्मासे उन्होंने वर-प्रार्थना की, उस समय वहाँपर भगवान्के ऐश्वर्य-ज्ञान-प्रधान अनेक मुनि उपस्थित थे; उनके समक्ष धरा-द्रोणने अपना हार्दिक अभिप्राय प्रकट करनेमें संकोच अनुभव करके ही 'परम भक्तिकी प्राप्तिकी इच्छा' के आवरणमें उसको आवृत करके बात कही। परम-भक्तिका यथाश्रुत अर्थ जो भी हो,—धरा-द्रोणका हार्द-अर्थ है—शुद्धवात्सल्यमयी प्रीति, अपने पुत्र कृष्णको गोदमें पाना। नन्द-यशोदा स्वयंरूपसे जब अवतीर्ण हुए, तब उनके अंश द्रोण-धरा भी अंशीके साथ मिल गये—द्रोण मिले अपने अंशी श्रीनन्दके साथ और धरा मिली अपनी अंशिनी श्रीयशोदाके साथ। यह स्वाभाविक व्यापार

है। जब अंशी जगत्में अवतीर्ण होते हैं, उनके समस्त अंश उनके साथ मिले रहते हैं। धरा-द्रोणके प्रति ब्रह्माके वरदानके व्यपदेशसे यह तत्व ही लीलामें प्रकाश किया गया है। वास्तवमें ब्रह्माके वरसे कोई भी स्वयंभगवान् श्रीकृष्णके पिता-माता नहीं हो सकते। यही बात '**नेमं विरिञ्चो न भवः**' इत्यादि श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने इङ्गितसे व्यक्त की है। इस श्लोकमें कहा गया है कि स्वयं ब्रह्मा (विरिञ्चि) ने भी जिस प्रसादको नहीं पाया, उनके वरके प्रभावसे वह प्रसाद कोई नहीं पा सकता। श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्राप्त करनेका वर देनेकी योग्यता ब्रह्मामें है—यह बात ब्रह्माने स्वयं भी नहीं मानी। क्योंकि,

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥

श्रीम.भा. १०.१४.३४

इत्यादि श्लोकमें स्वयं ब्रह्माने कहा है कि सब वेद जिनकी चरण-धूलिकी कणिकाका अनुसन्धान करते हैं, वे मुकुन्द जिनके जीवन सदृश हैं, उन व्रजवासीगणमें-से किसी भी एक जनकी चरण-धूलिकी कणिका प्राप्तिकी सम्भावनामें गोकुलमें कोई भी जन्म प्राप्त करना परम सौभाग्यका परिचायक है। इसीसे देखा जाता है कि श्रीनन्द-यशोदाकी बात तो दूर रही, व्रजके किसी भी एक जनकी चरण-धूलि प्राप्त कर सकने पर ही ब्रह्मा अपनेको कृतार्थ मानते हैं। अतएव श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्राप्तिका वर देनेकी योग्यता ब्रह्मामें है—ऐसी बात वे स्वयं भी नहीं मानते, यह सहज ही समझमें आ जाता है। नन्द-यशोदाकी बात तो दूर रही, ब्रह्मा अपनेको किसी भी व्रजवासीसे हीन मानते हैं। उन्होंने जो धरा-द्रोणकी प्रार्थनाके उत्तरमें 'तथास्तु' कहा, उसका हेतु इस प्रकार हो सकता है। एक तो,

यथाश्रुत अर्थमें धरा-द्रोणने श्रीहरिमें भक्तिकी प्रार्थना की थी ; जगद्गुरु ब्रह्माने भी 'तथास्तु' कहा—तुम लोगोंकी भक्ति हो ; इसका अर्थ यह नहीं है कि 'तुम लोग श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्राप्त करो'। दूसरे, ब्रह्मा जानते थे कि द्रोण-धरा नन्द-यशोदाके अंश हैं ; उनके नित्यसिद्ध सम्बन्धके कारण श्रीकृष्ण तो उनके पुत्र हैं ही एवं जब श्रीकृष्ण जगत्‌में अवतीर्ण होंगे, उसके पूर्व नन्द-यशोदाके अवतीर्ण होनेपर द्रोण-धरा भी उनमें मिलित होकर श्रीकृष्णको अपनी गोदमें पायेंगे ही। इस प्रकार विचार करके ब्रह्माने मन-मनमें कहा—"कृष्ण तो तुम लोगोंके पुत्र हैं ही, वे जब अवतीर्ण होंगे तब नन्द-यशोदाके साथ मिलित होकर तुम लोग तो उनको अपनी गोदमें पाओगे ही। तथापि वात्सल्यके परम-उत्कण्ठावश तुम्हारे लिए श्रीकृष्ण-को पुत्ररूपसे प्राप्त करनेकी बात मेरे मुखसे सुन पाकर यदि तुम्हारे चित्तमें कुछ सान्त्वना उत्पन्न हो, तो मैं भी कहता हूँ, 'तथास्तु'।" जो अवधारित (निश्चित) है, वही बात 'तथास्तु' शब्दसे ब्रह्माने प्रकाश की।

वस्तुतः नन्द-यशोदा श्रीकृष्णके अनादि-सिद्ध परिकर हैं। वे श्रीकृष्णके जनक-जननी हैं—इसी रूपमें उनका अनादि-सिद्ध-अभिमान है। उसीके अनुसार उनका वात्सल्य-प्रेम भी अनादि-सिद्ध है। किसी साधनके प्रभावसे वे श्रीकृष्णके जनक-जननी नहीं बने ; कोई हो भी नहीं सकता। जिसको ब्रह्माने प्राप्त नहीं किया, शिवने नहीं पाया, यहाँतक कि भगवत्-वक्ष-विलासिनी लक्ष्मीदेवीने भी नहीं पाया—उस प्रकारका एक अपूर्व प्रसाद श्रीकृष्णसे यशोदाने अनादिकालसे पाया है। वह प्रसाद क्या है? जिसके प्रभावसे विभुतत्त्व श्रीकृष्णको भी रज्जु द्वारा बन्धन किया जाय, ऐसा परिपक्वतम वात्सल्य-प्रेम—जिसके वशीभूत होकर विभुतत्त्व होकर भी श्रीकृष्ण रज्जुका बन्धन तक अंगीकार करते हैं एवं अंगीकार करके परमानन्द अनुभव करते हैं। यह परम-प्रसाद साधन-लभ्य वस्तु नहीं हो सकता। स्वीय वात्सल्य-रस-लोलुपतावश स्वयं श्रीकृष्णने ही, उनके मातृत्वकी अभिमानिनी यशोदाको अनादिकालसे इस सौभाग्यसे

सौभाग्यवती करके रक्खा है। यही महाराज परीक्षितके प्रश्नका यथार्थ उत्तर है। इसके द्वारा यशोदामाताके वात्सल्य प्रेमका परमोत्कर्ष सूचित होता है एवं उनकी सेवावासनाका विकाश भी सूचित होता है। (प्रश्न हो सकता है कि वात्सल्यप्रेम यदि साधन-लभ्य नहीं होता, तो क्या वात्सल्यभावके साधकका साधन निरर्थक है ? नहीं, उसकी उपासना निरर्थक नहीं है। यशोदाके वात्सल्य जैसा वात्सल्य तो वह नहीं पा सकता, परन्तु उस वात्सल्यका आनुगत्यमय वात्सल्यप्रेम वह पा सकता है। यशोदामाताके आनुगत्यमें वात्सल्यभावसे श्रीकृष्णकी सेवा वह पा सकता है)।

कान्ता-प्रेम

प्रभु कहे—एहोत्तम, आगे कह आर।
राय कहे—कान्ताप्रेम सर्व्वसाध्यसार ॥६३॥

राम रायकी बात सुनकर प्रभुने कहा—"हाँ, यह भी—वात्सल्यप्रेम भी—उत्तम वस्तु है, किन्तु इसकी अपेक्षा भी कोई उत्तम वस्तु हो तो बताओ।"

एहोत्तम—वात्सल्य-रतिमें श्रीकृष्णको छोटा और अपनेको बड़ा माननेके कारण श्रीकृष्ण सर्वभावसे अधीन रहते हैं, इसलिए ही इस रतिको उत्तम बताया गया है। महाप्रभुने कहा—वात्सल्य-प्रेमकी अपेक्षा प्रेमकी और भी कोई परिपक्व अवस्था हो तो उसको बताओ।

प्रभुकी बात सुनकर रायने कहा—"कान्ताप्रेम ही सर्वसाध्यसार है।"

कान्ताप्रेम—श्रीकृष्णको अपना प्राणवल्लभ, और अपनेको उनकी उपभोग्या कान्ता मानकर अपनी समस्त सुख-वासना परित्याग कर एकमात्र श्रीकृष्णके सुखके निमित्त ही श्रीकृष्णके साथ जो सम्भोग-लालसा होती है, उसको कान्ताप्रेम कहते हैं। कान्ता कहनेसे यहाँपर परकीया-

भावापन्न व्रजगोपीगण समझी जाती हैं। कारण, परवर्ती 'नायं श्रियोऽङ्ग' इत्यादि श्लोकमें व्रजगोपीगणके कान्ताप्रेमका श्रेष्ठत्व ही प्रतिपन्न किया गया है। वात्सल्यप्रेम वृद्धि प्राप्त होकर 'अनुराग' पर्यन्त जा सकता है; किन्तु कान्ताप्रेम भाव और महाभाव पर्यन्त वर्द्धित होता है, इसलिए यह वात्सल्यसे श्रेष्ठ है।

कान्ताप्रेममें शान्तकी निष्ठा, दास्यकी सेवा, सख्यका असंकोच-भाव, वात्सल्यका लालन और ममताधिक्य तो है ही, इससे अधिक कृष्णके सुखके लिए निजाङ्ग देकर सेवा भी है। इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ है।

मधुर रसे कृष्णनिष्ठा सेवा अतिशय।
सख्ये असङ्कोच लालन ममताधिक्य हय॥
कान्ताभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
अतएव मधुर रसे हय पञ्चगुण॥
आकाशादिर गुण जेन पर पर भूते।
एक दुइ क्रमे बाड़े पञ्च पृथिवीते॥
एइमत मधुरे सब भाव समाहार।
अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार॥

चै.च.म. १९.१८९-१९२

श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

प्रिया यदि मान करि करये भर्त्सन।
वेदस्तुति हइते सेइ हरे मोर मन॥

चै.च.आ. ४.२३

परिपूर्ण कृष्णप्राप्ति एइ प्रेमा हैते।
एइ प्रेमेर वश कृष्ण—कहे भागवते॥

चै.च.म. ८.८९

श्रीमद्भागवत १०.३२.२१ ('न पारयेऽहं' इत्यादि) श्लोकमें श्रीकृष्णने स्वयं व्यक्त किया है कि गोपीगणके प्रेमके कारण वे उनके प्रति चिरकालके

लिए ऋणी हैं। इस ऋणको चुकानेका उनके पास कोई भी उपाय नहीं है। अतएव यह कान्ताप्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है।

दास्य, सख्य और वात्सल्य—इन तीन भावोंके परिकरोंके साथ श्रीकृष्णका कोई-न-कोई एक सम्बन्ध है। दास्यभावके भक्तके लिए श्रीकृष्ण प्रभु हैं, भक्त उनका दास है। सख्यभावके भक्तके साथ श्रीकृष्ण-का सख्यभावमय सम्बन्ध है। वात्सल्यभावमें नन्द-यशोदा श्रीकृष्णके पिता-माता हैं, और श्रीकृष्ण उनकी सन्तान। इन तीन भावोंमें-से प्रत्येकमें एक सम्बन्धकी अपेक्षा है; इन तीन भावोंके भक्तोंकी श्रीकृष्ण-सेवा उनके सम्बन्धकी अनुगामिनी है। जिसमें सम्बन्धकी मर्यादाका उल्लंघन हो, ऐसी कोई भी सेवा वे नहीं कर सकते और करनेकी प्रवृत्ति भी उनमें उदय नहीं होती। इन तीन भावोंके परिकरोंमें सम्बन्धकी मर्यादाकी ही प्रधानता है। उनके लिए पहले श्रीकृष्णके साथ उनका सम्बन्ध है, उसके बाद सम्बन्धके अनुकूल भावसे सेवा है। इसलिए उनकी कृष्ण-रतिको कहा गया है सम्बन्धानुगा रति। उनकी सेवा-वासना, विकाशके पथमें मानो सम्बन्धकी प्राचीर (दीवार) से प्रतिहत हुई रहती है, इसलिए सेवा-वासना अबाध रूपसे विकशित नहीं हो सकती। किन्तु कान्ता-भाववाली व्रजसुन्दरियोंके भाव अन्य प्रकारके हैं। उनके साथ भी श्रीकृष्णका एक सम्बन्ध—कान्ता-कान्त-सम्बन्ध तो है ही, किन्तु इस सम्बन्धकी प्रधानता नहीं है, प्रधानता है सेवा-वासनाकी। उनकी सेवा-वासना सम्बन्धके अनुगत नहीं है, सम्बन्ध ही सेवा-वासनाके अनुगत है। उनकी कृष्ण-सेवा-वासनाको अप्रतिहत भावसे विकशित होनेका सुयोग मिलता है। श्रीकृष्णसेवाकी वासनाके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उनके चित्तमें प्रधानता प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकारसे भी हो, श्रीकृष्ण-को सुखी करना ही उनकी एकमात्र काम्य-वस्तु है। इसके लिए वेद-धर्म, लोक-धर्म, स्वजन-आर्य-पथादिका त्याग करनेमें भी वे कुण्ठित नहीं होती, इसके लिए कोई विचार-विवेचना भी नहीं करती, उत्कण्ठामयी सेवा-

वासनाके स्रोतके मुखमें वेदधर्म-कुलधर्मादि स्वविषयक सारे अनुसन्धान तृणके समान दूर फेंककर चली जाती हैं ; उधर वे आँख उठाकर भी नहीं देखती। श्रीकृष्ण-सुखके लिए जो भी आवश्यक है, वही करनेको वे समुत्सुक रहती हैं, आवश्यक होनेपर निजांग द्वारा भी सेवा करके श्रीकृष्ण-को सुखी करती हैं। निजांग द्वारा सेवाके सुयोगके निमित्त ही उन्होंने श्रीकृष्णके साथ कान्ता-कान्त सम्बन्ध अंगीकार किया है। यह सम्बन्ध है सब प्रकारकी सेवा द्वारा श्रीकृष्णको सर्वभावसे सुखी करनेके लिए। उनकी अबाध-सेवा-वासनाका फल ही है यह कान्ता-कान्त सम्बन्ध। अतः यह सम्बन्ध है उनकी सेवा-वासनाका अनुगत। इसलिए व्रज-सुन्दरियोंकी कृष्ण-रतिको कहा जाता है कामानुगा-रति—कृष्णसेवा-वासनाकी (कृष्णसेवा-कामनाकी) अनुगामिनी रति। व्रजसुन्दरियोंकी सेवावासनाके विकाशमें बाधा दे सके, ऐसा कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है। इसीसे कान्ता-प्रेममें ही सेवा-वासनाका सर्वातिशय विकाश है। यही कान्ता-प्रेमका सर्वातिशायी उत्कर्ष है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.४७.६०—

नाहं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम् ॥१७॥

अन्वय—रासोत्सवे (रासोत्सवके समय) **अस्य** (इन श्रीकृष्णके) **भुजदण्डगृहीतकण्ठ-लब्धाशिषां** (भुजदण्ड द्वारा कण्ठ गृहीत होकर पूर्ण-मनोरथ) **व्रजसुन्दरीणां** (व्रज-सुन्दरियोंको) **यः** (जो प्रसाद) **उदगात्** (प्रकट हुआ था) **अयं** (तद्रूप) **प्रसादः** (प्रसाद) **अङ्गे** (अङ्गमें—श्रीकृष्णके अङ्गमें—वामवक्षःस्थलमें नियत-वर्तमान) **नितान्तरतेः** (परम-प्रेममयी)

श्रियः (लक्ष्मीदेवीको भी) उ (निश्चित) न (नहीं है), **नलिनगन्धरुचां** (पद्मकी तरह गन्ध और कान्तिसे युक्त) **स्वर्योषितां** (स्वर्गकी अङ्गनागण-को भी) [न] (नहीं है), **अन्याः** (अन्य रमणियोंको) **कुतः** (कहाँसे होगा) ?

अनुवाद—रासोत्सवमें भगवान् श्रीकृष्णकी भुजलताओं द्वारा परि-वेष्ठित कण्ठसे पूर्ण-मनोरथ उन व्रजसुन्दरियोंको जो प्रसाद प्राप्त हुआ, वह प्रसाद श्रीकृष्णके वामवक्षःस्थलमें स्थायी रूपसे विराजित परम प्रेममयी लक्ष्मीदेवीने भी प्राप्त नहीं किया, एवं पद्मकी-सी गन्ध और कान्तिवाली स्वर्ग-अङ्गना अप्सरागणने भी प्राप्त नहीं किया, अन्यान्य कामिनियोंकी तो बात ही क्या ?

रासोत्सवे—रासलीलाके समयमें। **भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां** —भुजरूपदण्ड भुजदण्ड ; दण्डके समान सुगोल एवं क्रमशः पतलापन लिये हुए सुशोभित बाहु ; उसके द्वारा गृहीत या आलिङ्गित हुए हैं कण्ठ जिनके ; रासोत्सवके समय रसिक-शेखर श्रीकृष्णने अपनी सुशोभित बाहु द्वारा प्रीतिपूर्वक जिनके कण्ठ परिवेष्ठित किये, एवं श्रीकृष्णकृत उस कण्ठालिङ्गन द्वारा आशिष्—मनोवासनाकी परिपूर्णता—प्राप्त की जिन्होंने, रासलीलामें श्रीकृष्ण द्वारा उस प्रकार आलिङ्गित होनेसे अभीष्ट पूर्ण हुआ है जिनका, उन व्रजसुन्दरियोंने श्रीकृष्णसे जो **प्रसादः**—अनुग्रह, निजांग द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करनेके अधिकाररूप जो अनुग्रह—अथवा श्रीकृष्णके अङ्ग-सङ्ग जनित परमसुखका जो उल्लास प्राप्त किया, उसको लक्ष्मी भी प्राप्त नहीं कर सकीं, स्वर्गकी अप्सरागण भी प्राप्त नहीं कर सकी। अङ्गे—देहपर ; रेखारूपसे श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर अवस्थित ; अथवा प्रेयसीरूपसे श्रीकृष्णके स्वरूप-विशेष श्रीनारायणके वक्षमें अवस्थित जो लक्ष्मी हैं, उनको एवं **नितान्तरतेः**—श्रीकृष्णमें नितान्त (अत्यन्त गाढ) रति (प्रेम) है जिनकी—श्रीकृष्णमें गाढ प्रेमवती जो लक्ष्मी हैं उनको भी यह अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सका। रासोत्सवमें श्रीकृष्णके सङ्ग-लाभके लिए लक्ष्मीदेवीने

तपस्या की थी (यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः श्रीम.भा. १०.१६.३६), किन्तु उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ। इसीलिए कहा गया है कि परम-प्रेमवती **श्रियः**—लक्ष्मीदेवीने भी उन व्रजसुन्दरियों जैसा सौभाग्य प्राप्त नहीं किया। **नलिनगन्धरुचां**—नलिन (पद्म) के समान गन्ध और रुचि (कान्ति) हैं जिनकी, जिनके अङ्गकी कान्ति पद्मके समान सुन्दर और स्निग्ध है एवं जिनके अङ्गकी गन्ध भी पद्मकी गन्धके समान मनोहर है, वैसी **स्वर्योषितां**—स्वर्गकी रमणीगण—अप्सरागणको भी व्रजसुन्दरियों जैसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। अन्य रमणीगणकी तो बात ही नहीं (श्रीधरस्वामी)। वैष्णवतोषणी सम्मत अर्थ इस प्रकार है। **स्वर्योषितां—स्वयोषितां स्वश्चूडामणि शुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्य-मित्युक्तदिशा दिव्यसुख-भोगास्पद-लोकगणशिरोमणि-वैकुण्ठ-स्थितानां भूलीलाप्रभृतानां मध्ये।** **स्वः**—दिव्यसुख-भोगास्पद लोकोंमें शिरोमणि तुल्य वैकुण्ठ। उस वैकुण्ठमें भू-लीला प्रभृति जो सब परम प्रेमवती भगवत्-कान्तागण हैं, **स्वर्योषित** शब्दसे यहाँ उन्हींको बताया गया है। उनमें-से भी **नितान्तरतेः**—परम-प्रेमयुक्ता **श्रियः**—लक्ष्मीदेवीको भी व्रजसुन्दरियों जैसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जिनकी अंग-कान्ति पद्मकी तरह सुन्दर और स्निग्ध है एवं जिनकी अंग-गन्ध भी पद्मगन्धकी तरह मनोहर है, भू-लीला प्रभृति वे भगवत्-कान्तागण भी भगवान्‌में अत्यन्त प्रेमवती हैं, किन्तु लक्ष्मीदेवीका प्रेम उनके प्रेमकी अपेक्षा भी बहुत गाढ़ है, किन्तु ऐसी लक्ष्मीदेवी भी व्रजसुन्दरियों जैसा सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकीं।

इस श्लोकमें साधारण रमणीगण, स्वर्गकी देवियाँ और अप्सराएँ, भगवत्स्वरूपकी कान्तागण, यहाँतक कि लक्ष्मीदेवीकी अपेक्षा भी श्रीकृष्णमें कान्ताभाववाली व्रजसुन्दरियोंका सौभाग्य-अतिशय वर्णित हुआ है। कान्ताभावकी श्रेष्ठताका प्रतिपादक यह श्लोक 'कान्ताप्रेम सर्व्वसाध्यसार' इस उक्तिका प्रमाण है।

तथा हि तत्रैव १०.३२.२—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ।।१८।।

अन्वय—**स्मयमान्मुखाम्बुजः** (सहास्य-मुख-पङ्कजयुक्त) **पीताम्बरधरः**—(पीतवसनधारी) **स्रग्वी** (बनमालाधारी) **साक्षान्मन्मथमन्मथः** (साक्षात् मन्मथमन्मथरूप) **शौरिः** (शूरवंशोद्भव श्रीकृष्ण) **तासां** (उन गोपियोंके) **[मध्ये]** (मध्यमें) **आविरभूत** (आविर्भूत हुए)।

अनुवाद—सहास्य-मुख-कमल, पीतवसन-धर एवं वनमाला-विभूषित मूर्तिमान मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण उन व्रजांगनाओंके मध्य-आविर्भूत हुए।

तासां—रासस्थलीसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर उनके विरह-दुःखसे रोदन-परायणा गोपबालाओंकी अवस्थाका पर्यविलोकन कर श्रीकृष्णने जब देखा कि उनके विरह-आर्त्तिमें व्रजसुन्दरियाँ प्रायः गत-प्राण हो गयी हैं; तभी वे उनके मध्य आविर्भूत हुए। वे किस रूपमें आविर्भूत हुए—यह बता रहे हैं। **स्मयमान्मुखाम्बुजः**—हँसीसे युक्त मुखरूप अम्बुज है जिनका; सहास्य-वदन। उनका मुख स्वभावसे ही अम्बुज याने कमलकी तरह सुन्दर एवं स्निग्ध है, अतएव दर्शन-मात्रसे सन्ताप-हरणमें समर्थ है; इसपर भी वे मन्द-हास्य-द्वारा उस मुखकी शोभा बढाकर गोपसुन्दरियोंके बीच उपस्थित हुए; उन्होंने सोचा था कि उनकी मन्द हँसीकी स्निग्ध धारासे उनका विरह-दुःख दूर हो जायगा, हृदय आनन्दसे भर उठेगा। मन्दहास्य द्वारा श्रीकृष्णने गोपबालाओंको यह जनानेकी चेष्टा की कि वे बहुत प्रफुल्लित हैं; किन्तु उन गोपियोंका हृदय सम्भवतः तब भी उनके विरह-आर्त्ति-जनित सन्तापसे दग्ध हो रहा था। **पीताम्बरधर**—कन्धेके ऊपरसे सामने लटकता हुआ पीत-वसन दोनों हाथोंसे धारण करके। पीताम्बर कहनेसे ही श्रीकृष्णको पीत-वसन-धारी समझा जाता है;

तथापि पीताम्बरधर कहनेका तात्पर्य यह है कि वे गलेसे लटकते पीताम्ब्ररको दोनों हाथोंसे धारण किये हैं, मानो गोपियोंको त्याग कर चले जानेसे उनकी जो विरह-आर्त्ति उत्पादन की, उस अन्याय कार्यके लिए गल-लानीकृत-वसनसे क्षमा-याचना कर रहे हैं—यही ध्वनित होता है। पीतवर्ण जो अम्बर (वस्त्र) है उसको धारण कर रक्खा है जिन्होंने वे पीताम्बरधर। **स्रग्वी** —अम्लान-वनमालाधारी। प्रेयसीवर्गने उनके गलेमें जो वनमाला अन्तर्धानके पूर्व पहना दी थी, वह अभी तक म्लान नहीं हुई थी, सही सूचित होता है। यह भी सूचित होता है कि प्रेयसी-दत्त वनमाला उन्होंने यत्नपूर्वक वक्षपर सुरक्षित रक्खी थी—यह समझ सकनेपर विरह-खिन्ना व्रजबालाओंका चित्त उनके प्रति प्रसन्न हो सकता है।

साक्षान्मन्मथमन्मथः—मूर्तिमान मन्मथ-मन्मथ। चतुर्व्यूहके अन्तर्गत प्रद्युम्न ही अप्राकृत मन्मथ या मदन है; द्वारका-चतुर्व्यूहके अन्तर्गत प्रद्युम्न ही अन्यान्य धामस्थ चतुर्व्यूह-समूहके अन्तर्गत प्रद्युम्नगणका मूल होनेसे द्वारकास्थ प्रद्युम्न ही मूल अप्राकृत मन्मथ है। व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण इन मन्मथकी शक्तिका मूल आश्रय होनेके कारण—जैसे दृष्टिशक्तिके मूल आश्रयको चक्षुके चक्षु कहा जाता है, वैसे ही श्रीकृष्णको मन्मथका मन्मथ (याने मन्मथ-मन्मथ) कहा जाता है। प्रद्युम्न-रूप अप्राकृत मन्मथ-की सर्वचित्त-मुग्धकारिता-शक्तिके मूल आश्रय श्रीकृष्ण होनेके कारण श्रीकृष्णको महामन्मथ कहा जाता है। श्रीकृष्ण महा-मोहनता-शक्तिके महासागर तुल्य हैं; इसके कणांशकी प्राप्तिसे ही कामदेवकी मोहनता-शक्ति है। साक्षात्-शब्दसे स्वयं कामदेव प्रद्युम्नका ही संकेत किया गया है, प्राकृत कामदेवका नहीं; कारण, प्राकृत कामदेव साक्षात् रूप नहीं हैं, वे प्रद्युम्नकी शक्तिके अंशसे आवेश-प्राप्त असाक्षात्-रूप हैं; प्रद्युम्नकी शक्तिके कणमात्रके आवेशको प्राप्त करके ही वे प्राकृत जगत्को मुग्ध करनेमें समर्थ हैं; किन्तु अप्राकृत-धाममें उनकी शक्ति कार्यकरी नहीं होती।

मन्मथ शब्दसे योगिक वृत्ति द्वारा मन्मथ-मन्मथ पदसे प्रद्युम्नरूप मन्मथकी क्षोभकारिता ध्वनित होती है।

इस श्लोकमें भी श्रीकृष्णमें कान्ताभाववाली व्रजसुन्दरियोंके सौभाग्य-अतिशयकी बात कही गयी है ; उनकी विरह-आर्त्ति देखकर श्रीकृष्ण और आत्मगोपन करके रह नहीं सके, अनति विलम्बसे (तत्क्षण) उनके मध्य आकर उनको कृतार्थ किया। श्रीकृष्णके साक्षात्-मन्मथ-मन्मथ-रूपमें ही श्रीकृष्ण-माधुर्यका चरम विकाश है ; कान्ताभावके अतिरिक्त और कोई भी भावमें इस माधुर्यका अनुभव सम्भव नहीं— यही इस श्लोकसे सूचित होता है।

यह श्लोक भी कान्ताभावकी श्रेष्ठताका प्रतिपादक है।

कृष्ण-प्राप्त्येर उपाय बहुविध हय।
कृष्ण-प्राप्त्येर तारतम्य बहुत आछय ॥६४॥

पयार संख्या ६४से ७२ तक कान्ताप्रेमकी श्रेष्टताका वर्णन कर रहे हैं।

कृष्णप्राप्त्येर उपाय इत्यादि —कृष्ण-प्राप्तिके अनेक प्रकारके साधन हैं ; किन्तु भिन्न-भिन्न साधनोंके द्वारा श्रीकृष्णको भिन्न-भिन्न रूपसे पाया जाता है, एक ही रूपसे नहीं। ज्ञानमिश्रा भक्ति द्वारा श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति-ब्रह्मको पाया जाता है ; ऐश्वर्य मिश्रित भक्ति द्वारा श्रीकृष्णके विलास-रूप श्रीनारायणको पाया जाता है, शुद्धा-भक्ति द्वारा स्वयंरूप श्रीकृष्णको पाया जाता है। इस प्राप्तिके प्रकार भेद हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर इत्यादि विभिन्न भावोंसे एक ही श्रीकृष्णको पाया तो जाता है, किन्तु इस पानेका भी स्तर-विशेष है ; यह पूर्वोल्लिखित साध्य-साधन तत्त्व-विचारसे जाना जाता है। कोई पाता है प्रभु भावसे, कोई सख्य भावसे, कोई पुत्र भावसे इत्यादि ; सब एक ही भावसे नहीं पाते।

किन्तु जार जेइ भाव—सेइ सर्व्वोत्तम।
तटस्थ हञा विचारिले आछे तरतम ॥६५॥

जार जेइ भाव—विभिन्न साधन प्रणालीमें कृष्ण-प्राप्तिकी विभिन्नता रहनेपर भी जो जिस भावसे साधन करते हैं, वे उसी भावको श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु तटस्थ (निरपेक्ष) होकर विचार करनेपर विभिन्न भावोंके बीच तारतम्य है, यह समझमें आ जाता है। **तटस्थ**—किसी भी भावमें आवेशहीन होकर ; निरपेक्ष।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ २.५.२६ (२.५.३८)—

यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि ।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित् ॥१६॥

अन्वय—**असौ** (ये) **रतिः** (पाँच प्रकारकी मुख्य रति) **यथोत्तरं** (उत्तरोत्तर क्रमसे) **स्वादविशेषोल्लासमयी** (स्वाद-विशेषकी अधिकता-वाली) **अपि** (होनेपर भी) **वासनया** (वासना भेदसे) **का अपि** (कोई भी रति) **कस्यचित्** (किसीकी भी—किसी भी भक्तकी) **स्वाद्वी** (अभिरुचिता) **भासते** (प्रतीयमान होती है)।

अनुवाद—(शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) ये पाँच प्रकारकी मुख्य-रति उत्तरोत्तर स्वाद-आधिक्य-विशिष्ट होनेपर भी वासना-भेदसे कोई भी रति किसी भक्त विशेषके लिए विशेष रुचिकर होती है।

पाँच प्रकारकी कृष्ण-रति उत्तरोत्तर स्वादाधिक्य-विशिष्ट होती है ; अर्थात् शान्त-रतिकी अपेक्षा दास्यरतिमें, दास्यरतिकी अपेक्षा सख्यरतिमें, सख्यरतिकी अपेक्षा वात्सल्यमें एवं वात्सल्यकी अपेक्षा मधुरमें स्वादकी अधिकता होती है ; इस प्रकार आस्वाद्यताके विषयमें मधुर-रति सर्वश्रेष्ठ है। (सब रसोंमें शृङ्गार-रसके ही माधुर्यकी अधिकता है, यही इससे प्रकाशित हुआ है)। अब प्रश्न हो सकता है कि यदि शृङ्गार-रसमें माधुर्यकी अधिकता है, तो सभी भक्त शृङ्गार-रसके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा क्यों नहीं करते ? किसी-किसी भक्तको अन्य रसमें रुचियुक्त

क्यों देखा जाता है ? उत्तर यह है कि वासना-भेदसे इस प्रकार होता है।

विभिन्न लोगोंकी (या जीव स्वरूपोंकी) विभिन्न रुचि होती है ; इसीसे कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी सब लोग कान्ताप्रेमकी उपासना नहीं करते ; दास्य सख्यादि रसोंमें-से जिस रसमें जिसकी रुचि होती है, वे उसी रसकी उपासना करते रहते हैं, यही इस श्लोकमें बताया गया है। यह पूर्ववर्ती पयारके प्रथमार्द्धका प्रमाण है।

पूर्व्व पूर्व्व रसेर गुण परे परे हय।
दुइ-तिन गणने पञ्चपर्य्यन्त बाढ़य ॥६६॥

रस—शान्त आदि कृष्णरति विभावादिके साथ युक्त होनेपर चमत्कृति-जनक परम आस्वाद्यता प्राप्त करके रस-रूपमें परिणत होती है ; इसी प्रकारसे विभाव-अनुभाव आदिके मिलनसे शान्त-रति शान्त-रसमें, दास्य-रति दास्य-रसमें, सख्य-रति सख्य-रसमें, वात्सल्य-रति वात्सल्य रसमें एवं मधुर-रति मधुर-रसमें परिणत होती है। (भूमिका ग्रन्थमें 'भक्तिरस' प्रबन्ध देखिये)।

पूर्व्व पूर्व्व रस—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर– इन पाँच रसोंमें वात्सल्य हुआ मधुरके पूर्व, सख्य हुआ वात्सल्यके पूर्व, दास्य हुआ सख्यके पूर्व एवं शान्त हुआ दास्यके पूर्व। **पूर्व पूर्व्व रसेर गुण** इत्यादि —शान्तके गुण दास्यमें, दास्यके सख्यमें, सख्यके वात्सल्यमें एवं वात्सल्यके मधुरमें वर्तमान हैं। इसीसे दुइ-तिन इत्यादि– शान्तमें एक, दास्यमें दो, सख्यमें तीन, वात्सल्यमें चार एवं मधुरमें पाँच गुण हैं। अतः गुणोंकी अधिकतामें कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ है—यह इस पयारमें बताया गया है।

गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाढ़े प्रति रसे।
शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्येर गुण मधुरेते बैसे ॥६७॥

गुणाधिक्य इत्यादि—जिस रसमें गुण जितने अधिक हैं, उस रसमें स्वादकी अधिकता भी उतनी ही अधिक है ; इसीसे शान्तकी अपेक्षा दास्यमें, दास्यकी अपेक्षा सख्यमें, सख्यकी अपेक्षा वात्सल्यमें एवं वात्सल्य-की अपेक्षा मधुरमें स्वादकी अधिकता है। **शान्त-दास्य** इत्यादि—मधुर-रसमें शान्तादि सब रसोंके गुण वर्तमान हैं ; अतएव सब रसोंका स्वाद भी वर्तमान है। अतः स्वादकी अधिकतासे भी कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ है—यही इस पयारमें दर्शाया गया है।

आकाशादिर गुण जेन पर पर भूते।

दुइ-तिन क्रमे बढ़ि पञ्च पृथिवीते ॥६८॥

पूर्व दो पयारोंकी उक्ति एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

आकाशादिर इत्यादि—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी—ये पञ्च-भूत हैं। **गुण**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच भूतोंके पाँच गुण हैं। आकाशका गुण शब्द ; वायुके गुण शब्द और स्पर्श ; तेजके गुण शब्द, स्पर्श और रूप ; जलके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, और रस ; एवं पृथिवीके गुण —शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। पृथिवीमें जिस प्रकार आकाशादि पूर्व सभी चारों भूतोंके गुण हैं, अधिकमें पृथिवीका विशेष गुण 'गन्ध' है, उसी प्रकार कान्ताप्रेममें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्यके गुण तो हैं ही, अधिकन्तु कृष्णसुखके लिए निजांग देकर सेवा भी है।

परिपूर्ण-कृष्ण-प्राप्ति एइ प्रेमा हैते।

एइ प्रेमेर वश कृष्ण—कहे भागवते ॥६९॥

एइ प्रेमा—कान्ताप्रेम। **परिपूर्ण-कृष्ण-प्राप्ति**—श्रीकृष्णकी परिपूर्ण-सेवाप्राप्ति। दास्यादि-प्रेममें अपने-अपने गुणानुरूप सेवा मिलती है, किन्तु कान्ताप्रेममें दास्यादि सब प्रेमोंके गुण एवं एक गुण और अधिक रहनेसे, इस प्रेम द्वारा ही परिपूर्ण रूपसे सेवा प्राप्त होती है। कान्ताप्रेम द्वारा परिपूर्ण रूपसे कृष्णसेवा प्राप्त होनेके कारण यह सर्वसाध्यसार है।

कान्ताप्रेमकी सेवामें दास्यादि सभी प्रेमोंकी सेवा है; शान्तका गुण कृष्णनिष्ठा, 'कृष्ण बिना तृष्णा त्याग' है ; कान्ताप्रेमवती व्रजसुन्दरियोंमें वह है—वे कृष्णके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहती, इसलिए श्रीकृष्णके लिए उन लोगोंने देह-गेह-आत्मीय-स्वजन सबका ही त्याग किया है। वे लोग दास्यकी तरह सब प्रकारकी सेवा भी करती हैं ; सखाओंकी तरह श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उनको भी कोई संकोच नहीं है, गौरव-बुद्धि नहीं है, प्रणय-अतिशयसे वे लोग भी श्रीकृष्णके साथ अपनेको अभिन्न मानती हैं। वात्सल्यका सार है मंगल-कामना, स्नेहवश तृप्तिके साथ भोजनादि कराना ; व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णके सम्बन्धमें वही करती हैं ; अधिकन्तु निजांग द्वारा कान्ता-रूपसे सेवा भी करती हैं ; दासकी सेवा, सखाकी सेवा, माताकी सेवा, एवं कान्ताकी तरह सेवा—सभी कान्ताप्रेममें है। सेव्यकी प्रीति उत्पादनके लिए जितनी प्रकारकी सेवा सम्भव है, वे सभी दास्यादि चार भावोंके अन्तर्भुक्त हैं ; एक मधुर-प्रेमकी सेवाके बीच वे सभी देखनेमें आती हैं। इसीलिए कहा गया है—कान्ताप्रेमकी सेवासे ही श्रीकृष्णकी परिपूर्ण सेवा है।

सबसे अधिक सेवा-प्राप्त करानेके हिसाबसे भी कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ है, यही इस पयारमें बताया गया।

कान्ताप्रेमसे परिपूर्ण कृष्णसेवा मिलती है एवं श्रीकृष्ण इस कान्ताप्रेमके ही सम्यक् रूपसे वशीभूत हैं, इसके प्रमाणमें परवर्ती श्लोक दिया गया है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.८२.४५—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥२०॥

अन्वय—मयि (मुक्तमें—श्रीकृष्णमें) **भक्तिः** (भक्ति) **हि** (ही) **भूतानां** (प्राणियोंके) **अमृतत्वाय** (अमृत या नित्य-पार्षदत्व प्राप्तिके लिए) **कल्पते** (योग्य होती है)। **भवतीनां** (तुम लोगोंके) **मदापनः**

(मत्प्रापक—मुझे प्राप्त करानेवाला) **मत्स्नेहः** (मेरे प्रति स्नेह) **यत्** (जो) **आसीत्** (उत्पन्न हुआ है), **[तत्]** (वह) **दिष्ट्या** (मेरे अच्छे भाग्यके कारण है)।

अनुवाद—श्रीकृष्णने गोपियोंसे कहा—"मेरे प्रति (नवविधा-साधन-भक्तिमें-से कोई भी एक) भक्ति ही प्राणियोंके संसार-विमोचनमें (या मत्पार्षदत्व-प्रदान करनेमें) समर्थ है। मेरे भाग्यवश ही मेरे प्रति तुमलोगों-का मदाकर्षक-स्नेह उत्पन्न हुआ है।"

कुरुक्षेत्र-मिलनमें जब श्रीकृष्णका व्रजसुन्दरियोंसे एकान्त मिलन हुआ था, तब श्रीकृष्णने उनसे कहा था—"सखियो ! शत्रु-क्षय-कार्योंमें व्यस्त रहनेके कारण बहुत दिनोंतक मैं तुम लोगोंसे साक्षात् नहीं मिल सका, इससे क्या तुम लोग मुझे अकृतज्ञ समझती हो !" इसके बाद प्रियजन-परवश श्रीकृष्णने परम-आर्त्ति-वश अपने ऐश्वर्यादिको भुलाकर कहा (वृहद्-वैष्णव-तोषिणी)—"देखो सखीगण ! भगवान् ही जीवोंका विच्छेद और मिलन कराते रहते हैं, इस विषयमें मनुष्यको कोई भी स्वाधीनता नहीं है; अतएव तुम लोगोंके साथ मिलनेकी इच्छा होनेपर भी मेरे भाग्यमें मिलना नहीं हो सका।" यह बात कहकर श्रीकृष्णने आशंका की कि शायद गोपीगण कहेंगी—"हे कृष्ण ! ईश्वरकी दुहाई देकर हमको ठग क्यों रहे हो ? तुम्हीं तो संयोग-वियोगके कर्त्ता ईश्वर हो; तुम तो इच्छा करते ही हम लोगोंके साथ मिल सकते हो।" इस प्रकार आशंका करके श्रीकृष्णने कहा—"मेरे साथ तुम लोगोंका जो विच्छेद हुआ, वह मंगलके लिए ही हुआ; कारण इस विरहने तुम लोगोंके मेरे विषयक प्रेम-अतिशयको बढाकर उसे मेरे और तुम लोगोंके चित्तकी परम-आर्द्रता सम्पादक एक ऐसे स्नेहमें परिणत किया है, जो—मैं कहीं भी किसी भी अवस्थामें क्यों न रहूँ—मुझको बलपूर्वक आकर्षण करके तुम्हारे पास लानेमें समर्थ है। जो लोग नव-विधा-भक्तिके किसी एक अंगका अनुष्ठान करते हैं, उनका यह एकांग साधन ही जब उनको संसार-बन्धनसे मुक्त करके मेरा पार्षदत्व

प्रदान करनेमें समर्थ है, तब—सब साधन-भक्तिका चरम लक्ष्य प्रेमपरिपाक विशेष रूप जो स्नेह है,—तुम लोगोंका वह स्नेह अति शीघ्र ही मुझे बलपूर्वक आकर्षण करके तुम्हारे निकट ले आय, इसमें क्या आश्चर्य है ?''

अथवा, भगवान् ही संयोग-वियोगके कर्त्ता हैं—यह बात कहकर श्रीकृष्णने आशंका की कि गोपीगण कह सकती हैं—''क्यों जी ! कोई-कोई तो तुमको ही परमेश्वर बताते हैं ; अथवा हे वाक्-पटु ! विच्छेदके लिए जिनपर दोषारोपण करते हो, वे सर्वलोक-विख्यात भगवान् तो तुम्हीं हो, यह हम जान चुकी हैं।'' इस प्रकारकी उक्तिकी आशंका करके श्रीकृष्णने कहा—''हे सखीगण ! यदि तुम लोग मुझे ही भगवान् मानो, तो भी मैं तुमलोगोंके स्नेहके अधीन हूँ। जब मेरे प्रति भक्ति मात्र ही जीवको संसारसे आकर्षण करके पार्षदत्व देनेमें समर्थ है, तब मेरे प्रति तुम्हारा प्रगाढ़ स्नेह—जो किसी भी स्थानसे या किसी भी अवस्थामें मुझको आकर्षण करके लानेमें समर्थ है, वह प्रगाढ़ स्नेह शीघ्र बलपूर्वक मुझे आकर्षण कर तुम लोगोंसे मिल सकता है, इसमें सन्देह नहीं। मेरे भाग्यवश ही मुझसे तुम लोगोंका इस प्रकारका स्नेह हुआ है।'' इस श्लोकसे प्रमाणित हुआ कि श्रीकृष्णके व्रजगोपियोंके शुद्ध-प्रेमके अधीन होनेके कारण ही उनका प्रेम श्रीकृष्णको किसी भी अवस्थामें किसी भी स्थानसे आकर्षण कर उनके पास लानेमें समर्थ है।

मयि भक्ति—श्रीकृष्ण-विषयिणी भक्ति ; एक वचनान्त भक्ति-शब्दकी व्यञ्जना यह है कि नवविधा साधन-भक्तिके किसी भी एक अंगके साधनसे जीव भगवत्-पार्षदत्व प्राप्त कर सकता है। **भूतानां**—प्राणियोंके ; इससे समझा जाता है कि प्रत्येक प्राणी श्रीकृष्ण-भजन करनेका अधिकारी है। **अमृतत्व**—मोक्ष या भगवत्-पार्षदत्व। **मदापन**—मुझ (श्रीकृष्ण) को प्राप्त करा सके वह (स्नेह)। **दिष्ट्या**—भाग्यवश। मेरे सौभाग्यवश (चक्रवर्ती)। श्रीकृष्णके प्रति गोपीगणकी जो प्रीति है, उसको श्रीकृष्ण मानते हैं कि उनके परम सौभाग्यवश ही गोपीगण उनके प्रति इस प्रकारकी प्रीति

पोषण करती हैं। श्रीकृष्ण प्रीति-रस-लोलुप होनेके कारण उनका ऐसा मनोभाव है। हम यदि किसी वस्तुके लिए अत्यन्त लालायित हों तो वह वस्तु मिलते ही अपने आपको कृतार्थ मानने लगते हैं और जिसने वह वस्तु हमको दी है, उसके लिए हम मानते हैं कि उसने हमारे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह किया है। रशिकशेखर श्रीकृष्ण प्रीतिरस-लोलुप होनेके कारण मानते हैं कि प्रेमिक भक्त उनके प्रति विशेष कृपायुक्त है, क्योंकि ऐसा भक्त श्रीकृष्णकी परम-लालसाकी वस्तु प्रीतिरसको श्रीकृष्णके उपभोगके लिए अपने हृदयमें धारण किये हुए हैं। उनका सान्निध्य पानेपर श्रीकृष्ण वह रस आस्वादन कर तृप्त हो सकते हैं। इसीसे, जिस प्रकार भक्त भगवान्के चरण सान्निध्य प्राप्त करनेको लालायित होते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी भक्तके सान्निध्यके लिए लालायित रहते हैं। श्रीवृहद्भागवतामृतमें देखा जाता है कि माथुर-विप्र श्रीजन शर्माके प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं—

"क्षेमं श्रीजनशर्मं स्ते कच्चिद्राजति सर्वतः।
क्षेमं सपरिवारस्य मम त्वदनुभारतः
त्वत्कृपाकृष्टचित्तोऽस्मि नित्यं त्वद्वत्र्म वीक्षकः ॥ २.७.३८

"हे जन शर्मन्! सब तरहसे कुशल तो है? तुम्हारे प्रभावसे मैं सपरिवार कुशल हूँ। मेरे विषयक जो कृपा तुममें वर्तमान है उसके द्वारा आकृष्ट-चित्त होकर मैं नित्य ही तुम्हारी प्रतीक्षामें रहता था—(कभी जन शर्मा आयेंगे इस आशामें)।

दिष्ट्या स्मृतोऽस्मि भवता दिष्ट्या दृष्टश्चिरादसि। २.७.३९

तुमने मुझे जो स्मरण किया है, यह मेरा सौभाग्य है, बहुत समयके बाद तुम जो मिले हो, यह भी मेरा सौभाग्य है।" भक्त जैसे भगवान्से प्रीति करते हैं, भगवान् भी वैसे ही भक्तसे प्रीति करते हैं। भक्तके प्रति भगवान्-की प्रीतिको हमलोग भक्त-वात्सल्य कहते हैं और भगवान्के प्रति भक्तकी प्रीतिको भगवान् अपने प्रति भक्तका अनुग्रह मानते हैं। भक्तके प्रीति-

रसको आस्वादन करनेके लिए भगवान् कितने उत्कण्ठित होते हैं, इससे यह समझा जाता है। यही भजनीय गुणकी पराकाष्ठा है।

भवतीनां—तुमलोगोंका ; भवतीनां शब्द सम्भ्रमार्थक है ; इससे समझा जाता है कि व्रजसुन्दरियोंके परित्याग-जनित अपराध स्खालनके निमित्त ही श्रीकृष्ण मानो उनसे अनुनय-विनय कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण गोपीगणके एकान्त वशीभूत हैं, वे कहीं भी क्यों न रहें, उन गोपियोंका प्रेम उन्हें आकर्षण करके उनके पास ले आनेमें समर्थ है, यही इस श्लोकमें प्रदर्शित हुआ है। इस प्रकारकी शक्ति दास्यादि अन्य किसी भी प्रेममें नहीं है।

कृष्णेर प्रतिज्ञा दृढ़ सर्व्वकाल आछे—।
जै जैछे भजे, कृष्ण तारे भजे तैछे ॥७०॥

जो भक्त श्रीकृष्णको जिस भावसे भजता है, श्रीकृष्ण भी उस भक्तके भावके अनुरूप उसपर अनुग्रह करते हैं ; जो अपने आपको श्रीकृष्णके अधीन मानकर उनके अनुग्रहकी प्रार्थना करता है, श्रीकृष्ण भी उसे अपने अधीन भक्त मानकर अधीनतासूचक अनुग्रह प्रकाश करते हैं। और जो भक्त श्रीकृष्ण-वशीकरण प्रेमकी प्रार्थना करते हैं, श्रीकृष्ण भी उनको वही प्रेम प्रदान करके उनके अधीन हुए रहते हैं। श्रीकृष्ण सर्वदा ही भक्तके प्रार्थनानुकूल अनुग्रह करते हैं। जो भक्त जिस प्रकारका चिन्तन करता है, श्रीकृष्ण उनपर तदनुरूप कृपा करते हैं, यही उनका स्वभाव या स्वरूपानुबन्धि धर्म है।

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् ४ ११—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२१॥

अन्वय—हे पार्थ (हे अर्जुन)! **ये** (जो लोग) **यथा** (जिस प्रकार) **मां** (मेरा) **प्रपद्यन्ते** (भजन करते हैं), **अहं** (मैं) **तथैव** (उसी प्रकारसे—

उनके भावानुसार ही) **तान्** (उनको) **भजामि** (अनुग्रह करता रहता हूँ)। **मनुष्याः** (मनुष्यगण) **सर्वशः** (सब प्रकारसे) **मम** (मेरा) **वर्त्म** (भजन-मार्ग) **अनुवर्तन्ते** (अनुसरण करते हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे पार्थ ! जो लोग जिस भावसे मेरा भजन करते हैं, मैं भी उनपर उसी भावसे अनुग्रह करता हूँ। मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे ही भजन-पथका अनुसरण करते हैं।

ये—जो लोग—भक्त हो, कर्मी हो, ज्ञानी हो, योगी हो, या इन्द्रादि अन्य देवताओंके उपासक हो, कोई भी क्यों न हो, वे लोग **यथा मां प्रपद्यन्ते** जिस प्रकार मेरा (सर्वेश्वर श्रीकृष्णका) भजन करते हैं—जगत्में नाना-भावके, नाना-स्वरूपके उपासक हैं ; उनमें-से कोई सकाम हैं, कोई निष्काम ; कोई मेरे (श्रीकृष्णके) जन्म-कर्म-आदिको नित्य मानते हैं, कोई अनित्य ; कोई परतत्वको साकार सविशेष मानते हैं, कोई निराकार निर्विशेष ; कोई मेरे विग्रहको (भगवद्-विग्रहको) सच्चिदानन्द मानते हैं, कोई मायिक ; इस प्रकार नाना-भावके साधकोंमें-से जो मुझको (श्रीकृष्ण-को) जिस भावसे भजते हैं—**तान्**—उन सब भक्त-कर्मी-ज्ञानी-योगी-आदिको **तथैव भजाम्यहं**—उनके भावानुरूप भावसे मैं अनुग्रह करता रहता हूँ।

जो लोग मेरे जन्म-कर्मादिको नित्य मानकर ऐश्वर्य-ज्ञानके साथ मेरा भजन करते हैं, मैं भी ईश्वर-रूपसे उनके जन्म-कर्मादिके नित्यत्व विधानके निमित्त अपने ऐश्वर्यमय विग्रहके नित्य-लीलास्थल ऐश्वर्य-प्रधान धाम वैकुण्ठमें चतुर्विधा-मुक्ति देता हूँ एवं यथा-समय उनके सहित जगत्में अवतीर्ण होता हूँ एवं यथा समय अन्तर्धान होता हूँ।

जो लोग ऐश्वर्य-ज्ञान परित्यागपूर्वक मुझे अपना नितान्त निज-जन मानकर मेरी माधुर्यमयी लीलामें मनोनिवेश करते हैं एवं प्रीतिपूर्वक मेरे सच्चिदानन्द विग्रहकी सेवा करके मुझे सुखी करनेकी चेष्टा करते हैं, मैं भी सच्चिदानन्दमय देह देकर माधुर्यमय व्रजधाममें उन लोगोंको

अपना परिकर बनाकर उन्हें असमोर्द्ध आनन्दका अधिकारी बनाता रहता हूँ।

जो ज्ञानमार्गके साधक मेरे विग्रहको मायिक मानते हैं एवं मेरे-जन्म-कर्मादिको अनित्य मानते हैं, मैं भी उनको मायापाशमें गिरा देता हूँ, और उनके बार-बार जन्म-कर्मका विधान करता रहता हूँ।

और जो ज्ञानमार्गके साधक मेरे विग्रहको सच्चिदानन्द मानते हैं, किन्तु मेरे निर्विशेष स्वरूपके साथ सायुज्य कामना करते हैं, मैं भी उनको अनश्वर ब्रह्मानन्द दान करनेके लिए अपने निर्विशेष स्वरूपके साथ सायुज्य देकर उनके जन्म-मृत्यु ध्वंश कर देता हूँ।

जो लोग मेरा कर्म-फलके दाता ईश्वर-रूपसे भजन करते हैं, मैं भी उनको उनका अभीष्ट कर्मफल देता हूँ।

इस प्रकार कोई भी साधक किसी भी भावसे मेरी उपासना क्यों न करे, मैं उसे उसके भावानुरूप फल देता रहता हूँ। मैं पूर्णतम वस्तु हूँ, मुझमें सब भगवत्-स्वरूपोंका एवं सब भावोंका समावेश है। और मैं ही विविध भगवत्स्वरूप एवं देवतान्तर-रूपसे विराजित हूँ ; अतएव किसी भी भगवत्स्वरूपकी या किसी भी देवतान्तरकी उपासना क्यों न की जाय, सब मेरे ही भजन-पथका अनुसरण करते रहते हैं। किसी भी भजन-पंथका अनुसरण क्यों न किया जाय, वह भी मेरा ही भजनपंथ है, सभी पंथोंका लक्ष्य मैं ही हूँ। इसीसे कर्मी-ज्ञानी-योगी आदि विभिन्न पंथोंके साधकोंके भावानुरूप साधन-फल मैं ही देता रहता हूँ।

सर्वशः—सब प्रकारसे ; कर्ममार्गमें हो, चाहे ज्ञानमार्गमें, अथवा भक्तिमार्गमें या अन्य किसी भी मार्गमें हो, सब प्रकारसे **मम वर्त्मानुवर्तन्ते**—मेरे भजनमार्गका ही अनुसरण करते हैं। सब भजन-पंथोंका लक्ष्य मैं ही हूँ ; विभिन्न भजन-पंथोंका उद्देश्य विभिन्न होनेपर भी, जब मैं ही सबका अभीष्ट प्रदान करता रहता हूँ, तब मूलतः मैं ही सबका लक्ष्य हूँ।

इस श्लोकमें दिखाया गया हैं कि साधकके भावानुरूप फल श्रीकृष्ण ही देते रहते हैं ; भावके अतिरिक्त कोई भी फल वे नहीं देते ; कारण, भावानुरूप फल देना ही उनका स्वभाव या स्वरूपगतधर्म है। इसीसे विभिन्न साधकोंको विभिन्न प्रार्थित फल देनेसे उनका पक्षपात नहीं होता ; अथवा ऐश्वर्य-ज्ञान-युक्त भक्तका ऐश्वर्य-ज्ञान दूर करके उनको भगवद्-वशीकरण-समर्थ प्रेम न देनेसे श्रीकृष्णकी सर्वशक्तिमत्ताकी भी हानि नहीं होती।

'ऐश्वर्यज्ञानसे सब जगत् मिश्रित' होनेके कारण एवं 'ऐश्वर्यशिथिल प्रेम' से श्रीकृष्णकी प्रीति न होनेके कारण, जिस प्रकारके भक्तके प्रेमरस-निर्यास आस्वादनके लिए वे इच्छुक हैं, उस प्रकारके भक्त इस जगत्में नहीं हैं, यही बात यहाँ तक बतायी गयी।

एइ प्रेमार अनुरूप ना पारे भजिते।
अतएव ऋणी हय—कहे भागवते ॥७१॥

एइ प्रेमार—कान्ताप्रेमके ! यदि कोई स्वसुख-वासनाकी सिद्धिके लिए श्रीकृष्णका भजन करते हैं, तब श्रीकृष्ण उनकी उस वासनाको पूर्ण करके एक प्रकारका अनुरूप भजन करते हैं। अथवा, जो जिस भावसे श्रीकृष्णके तृप्ति-साधनके लिए चेष्टा करते हैं, श्रीकृष्ण भी यदि ठीक उसी भावसे उनकी तृप्तिकी चेष्टा कर सकें, तब ही अनुरूप भजन हो सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण इन दोनों उपायोंमें-से किसी भी उपाय द्वारा गोपीगणके भजनके अनुरूप भजन नहीं कर सके। इसका कारण यह है कि एक तो—गोपियोंमें स्वसुख-वासनाका लेशमात्र भी नहीं है, अतएव उनकी वासना पूर्ण करके श्रीकृष्ण उनको कुछ भी नहीं दे सके ; उनकी वासना एक मात्र श्रीकृष्णका सुख है ; इस वासनाको वे पूर्ण करते हैं, तो अपना ही लाभ करते हैं, गोपीगणको कुछ भी देना नहीं होता। दूसरे —प्रत्येक गोपी सब कुछ त्यागकर अनन्य भावसे एक मात्र श्रीकृष्ण-सेवामें

लगी रहीं; किन्तु श्रीकृष्ण एक गोपीके लिए सब कुछ त्याग नहीं सके, अन्य गोपीगणका भी त्याग नहीं कर सके; अतएव वे अनन्य भावसे किसी भी एक गोपीकी सेवामें आत्मनियोग नहीं कर सके। इसीलिए वे गोपीगणके अनुरूप भजन नहीं कर सके। इसके प्रमाणमें परवर्ती श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.३२.२२—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

अन्वय—**निरवद्यसंयुजां** (अनिन्द्य-संयोगवती) **वः** (तुम लोगोंका) **स्वसाधुकृत्यं** (अपना साधुकृत्य—प्रत्युपकार) **अहं** (मैं) **विबुधायुषापि** (सुचिर-कालमें भी) **न पारये** (साधन करनेमें समर्थ नहीं होऊँगा)—**याः** (जो तुमलोगोंने) **दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः** (दुश्छेद्य-गृहश्रृङ्खलाओंको) **संवृश्च्य** (सम्यक् रूपसे छेदन करके) **मा** (मुझको) **अभजन्** (भजन किया है)। **वः** (तुमलोगोंके) **साधुना** (साधुकृत्य द्वारा ही) **तत्** (तुम लोगोंका साधुकृत्य) **प्रतियातु** (प्रतिकृत हो)।

अनुवाद—श्रीकृष्णने गोपीजनोंसे कहा—हे गोपीगण! दुश्छेद्य गृह-श्रृङ्खलाओंको पूर्णरूपसे छिन्न करके तुमलोगोंने मेरा भजन किया है। अनिन्द्य-भजनपरायणा तुमलोगोंके साधुकृत्यका प्रत्युपकार देव-परिमित आयुष्काल पाकर भी सम्पादन करनेमें मैं समर्थ नहीं होऊँगा; अतएव तुमलोगोंका अपना साधुकृत्य ही तुम्हारे द्वारा कृत्य साधुकृत्यका प्रत्युपकार हो।

श्रीकृष्णने कहा—"हे गोपीगण! मेरे साथ जो तुमलोगोंका संयोग—मिलन है, वह निरवद्य—अनिन्दनीय है; कारण, उसमें इह-कालकी या

पर-कालकी कोई भी स्वसुख-वासना नहीं है, उसमें लोकधर्म, वेदधर्म, गृहधर्म—आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं है; अतएव यह निरुपाधिक है। यह संयोग साधारण दृष्टिसे काममय रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी यह निर्मल प्रेम-विशेषमय है। इस संयोगमें तुमलोगोंका एकमात्र लक्ष्य है मेरा प्रीति-विधान। इस उद्देश्यकी सिद्धिके निमित्त तुम लोग कुलवधू होनेपर भी कुलवधुओंके लिए जो नितान्त असम्भव है, ऐसी गृह-सम्बन्धी ऐहिक और पारलौकिक लोक-मर्यादा, धर्म-मर्यादा आदिका निशेःष रूपसे छेदन करके, स्वजन-आर्य-पथादि सब कुछ त्याग करके मेरी सेवामें लगी हो। प्रेयसीगण ! इस प्रकारसे मेरे प्रति तुम लोगोंने सुशीलता और साधुता दिखायी है, देवताकी तरह सुदीर्घ आयु पाकर भी तुम लोगोंके प्रति उस प्रकारका प्रतिकृत्य करना मेरे लिए सम्पूर्ण रूपसे असम्भव होगा; कारण, पिता, माता, भाई, पति, श्वसुर, सास आदि सभी आत्मीय-स्वजनोंका त्याग करके तुम लोगोंने प्रत्येकने ही एक निष्ठासे एकमात्र मेरे सुखके निमित्त मुझमें आत्म-निवेदन किया है; किन्तु मेरे लिए पिता-माता, भ्रातादिका त्याग करना असम्भव है, और तुमलोगोंमें से भी अन्य सबका त्याग करके केवल एकके चित्त-विनोदनके लिए आत्म-नियोग करना भी मेरे लिए असम्भव है; अतएव तुम लोगोंकी तरह एकनिष्ठ होना भी मेरी क्षमताके बाहर है। तुम लोग चाहती हो केवल मेरा सुख; तुम्हारा यह अभीष्ट पूर्ण करनेमें लाभ केवल मुझको ही होता है, वास्तवमें तुम लोगोंको मेरी तरफसे कुछ भी देना नहीं होता। इसलिए कहता हूँ प्रेयसीगण ! तुमलोगोंका साधुकृत्य ही प्रत्युपकृत हो, मेरे द्वारा उस प्रकारका प्रत्युपकार असम्भव है—मैं तुम लोगोंका ऋणी ही रहा।

मा अभजन्—मेरा भजन (प्रीति-विधान) किया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—"मेरे प्रीति-विधानके लिए ही दुश्छेद्य गृहशृङ्खलाओंको सम्यक् रूपसे छेदन करके तुम मुझसे मिली हो, अपनी किसी भी प्रकारकी अभिलाषा तुम लोगोंके चित्तमें न थी, न है। इसलिए मेरे साथ तुम लोगोंका मिलना

निरवद्य—अनिन्दनीय है। यदि तुम लोगोंको स्वसुख-वासना होती तो यह मिलन निरवद्य नहीं कहा जा सकता था।

जो भक्त श्रीकृष्णका जिस भावसे भजन करता है, वे भी उस भक्तका उसीके अनुरूप भावसे भजन करते हैं—यही श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा है। लेकिन वे गोपीजनोंके भजनके अनुरूप भजन करनेमें असमर्थ हैं, अतएव गोपीजनके निकट वे चिरऋणी हैं, गोपीजनके भजनमें उनकी प्रतिज्ञाका निर्वाह नहीं हो सका—यह बात श्रीकृष्णने स्वयं ही **'न पारयेऽहं'**—इत्यादि श्लोकमें स्वीकार की है।

गोपीजनके प्रेमके अनुरूप भजन न कर सकनेके कारण श्रीकृष्ण उनके ऋणी बने रहे, उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है। इस श्लोक द्वारा कान्ता-प्रेमकी श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है; कारण, दास्यादि अन्य किसी भी भावका प्रेम श्रीकृष्णको इस प्रकार ऋणी नहीं कर सकता।

श्रीकृष्ण-वशीकरण-शक्ति कान्ताप्रेममें सबसे अधिक होनेके कारण यह सर्वश्रेष्ठ है, उसीके प्रमाणमें यह श्लोक एवं ७१वाँ पयार है।

यद्यपि कृष्णसौन्दर्य्य—माधुर्य्येर धुर्य्य।
व्रजदेवीर सङ्गे ताँर बाढ़ये माधुर्य्य ॥७२॥

माधुर्य्य—कोई भी अनिर्वचनीय रूप; अपूर्व मधुरता। **धुर्य्य**—पराकाष्ठा; श्रेष्ठ। श्रीकृष्णका सौन्दर्य—माधुर्यकी पराकाष्ठा—शेष सीमा प्राप्त हुआ है; यह सौन्दर्य और माधुर्य परिपूर्ण है, अतएव और वृद्धि नहीं पा सकता। किन्तु इस कान्ताप्रेममें ऐसी एक अचिन्त्य-अद्‌भुत शक्ति है कि व्रज-गोपीगणके साक्षात्‌में श्रीकृष्णका परिपूर्ण सौन्दर्य एवं माधुर्य भी उत्तरोत्तर वृद्धि-प्राप्त होता रहता है। इससे भी यह समझा जाता है कि कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीकृष्णकी माधुर्य-वर्द्धकताके हिसाबसे भी यह कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ है, यही इस पयारमें बताया गया।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.३३.७—

तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥२३॥

अन्वय—तत्र (उस स्थानमें—रासमण्डलमें) **हैमानां** (स्वर्ण-निर्मित या स्वर्णवर्णकी) **मणीनां** (मणियोंके बीच) **यथा** (जिस प्रकार) **महामरकतः** (महामरकत) **[शोभते]** (शोभा पाता है), **[तथा]** (उसी प्रकार) **ताभिः** (उनके द्वारा—स्वर्णवर्णा व्रजसुन्दरियों द्वारा परिवृत या आलिङ्गित होकर) **भगवान्** (सर्वैश्वर्य-पूर्ण और सर्वशोभा-सम्पन्न) **देवकीसुतः** (देवकीनन्दन) **अति शुशुभे** (अत्यन्त शोभा पाने लगे)।

अनुवाद—उस रास-मण्डलमें स्वर्णवर्णमणियोंके बीच महामरकत जिस प्रकार शोभा पाता है, उसी प्रकार उन स्वर्ण-वर्णा व्रजसुन्दरियों-से परिवृत या आलिङ्गित होकर भगवान् देवकीनन्दन अत्यन्त शोभा पाने लगे।

हैमानां मणीनां—हेमवर्ण (स्वर्णवर्ण) मणियोंके बीच। अथवा, स्वर्णनिर्मित गोलाकार वस्तु-समूह—जो देखनेमें ठीक मणिकी तरह दीखता है—उनके बीच। **महामरकतः**—मरकत हुआ इन्द्रनीलमणि ; महामरकत हुआ अनति-श्यामल मरकत मणि। श्रीकृष्णका वर्ण स्वभाव-से इन्द्रनीलमणिके वर्णकी तरह श्यामल है ; रासस्थलीमें स्वर्णवर्णा व्रज-सुन्दरियों द्वारा आलिङ्गित होनेके कारण उनकी पीतकान्तिकी छटासे उनके अंगका श्यामलत्व एक तरलता प्राप्त किया था, तब उनका वर्ण इन्द्रनीलमणिके वर्णकी अपेक्षा कुछ कम श्यामल हो गया था, उस समय वे अनति-श्यामल-इन्द्रनीलमणिके सदृश्य हो गये थे ; इस अनति-श्यामल-इन्द्रनीलमणिको ही—इन्द्रनीलमणिका वर्ण अपने स्वाभाविक श्यामल-वर्णकी अपेक्षा पीतवर्णकी छटासे कुछ कम श्यामल होनेपर जैसा होता है, उसको—पीतवर्णकी छटा-प्राप्त इन्द्रनीलमणिको ही—यहाँपर

'महामरकत' कहा गया है (तोषणी)। इन्द्रनीलमणिका स्वाभाविक सौन्दर्य हेम-मणिके बीचमें जिस प्रकार अनेक गुणा वर्द्धित होता है—उसी प्रकार नवघन-श्यामल श्रीकृष्णकी शोभा भी—रासस्थलीमें पीतवर्णा व्रजसुन्दरियों द्वारा आलिङ्गित होनेसे अत्यधिक परिवर्द्धित हुई थी। **अति शुशुभे**—अत्यन्त सुशोभित हुए थे ; स्वभावतः ही श्रीकृष्णका सौन्दर्य अतुलनीय, सर्वजन-मनोहर, **'आत्मपर्यन्त-सर्वचित्तहर'** है। परम-प्रेमवती नित्य-प्रेयसी व्रजसुन्दरियों द्वारा आलिङ्गित होनेसे उनकी शोभा मानो अनेक गुणी वर्द्धित हो गयी थी। **भगवान्** शब्दसे—श्रीकृष्ण सर्वैश्वर्यपूर्ण एवं सर्वशोभासम्पन्न हैं, अतएव स्वभावतः ही उनके सौन्दर्य-माधुर्यने चरमकाष्ठा प्राप्त की है—यही सूचित होता है। **देवकीसुतः**—देवकी-तनय ; साधारतः जो देवकीनन्दन नामसे ख्यात हैं, वे ही श्रीकृष्ण। अथवा, यशोदाका भी एक नाम देवकी है, इस अर्थमें देवकीसुतका अर्थ यशोदानन्दन है।

यहाँपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इस श्लोकमें वर्णित लीलामें श्रीकृष्ण एक मूर्तिमें थे या अनेक मूर्तियोंमें? श्लोकमें अनेक हेममणि एवं एक महामरकतका (श्लोकस्थ महामरकत शब्द एकवचनान्त होनेके कारण) उल्लेख है और (ताभिः शब्दसे सूचित) अनेक व्रजसुन्दरियोंका एवं एक देवकीसुतका उल्लेख है ; इससे ऐसा लगता है कि बहुतसी हेम-मणियोंके बीच जिस प्रकार एक महामरकत हो, उसी प्रकार बहुतसी व्रजसुन्दरियोंके बीच श्रीकृष्ण विराजित थे। किन्तु श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकके परवर्ती श्लोकमें व्रजसुन्दरीगणका **'मेघचक्रे विरेजुः'** बताकर उल्लेख किया है। यहाँपर **'मेघचक्रे'** शब्दके टीका-प्रसंगमें श्रीधर स्वामीपादने **'नानामूर्तिः कृष्णो मेघचक्रमिव'** लिखा है ; इससे स्पष्ट ही समझा जाता है कि श्रीकृष्ण बहुमूर्तिमें—एक-एक गोपीके बगलमें एक-एक

मूर्तिमें—रासस्थलीमें विराजित थे। विशेष करके पूर्ववर्ती—

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥

श्रीम. भा. १०.३३ ३

श्लोकमें स्पष्ट ही उल्लिखित हुआ है कि प्रति दो गोपियोंके बीच श्रीकृष्ण एक-एक रूपसे विराजित थे। इससे यही मानना होगा कि सामान्य-रूपसे ही महामरकत शब्दको एकवचनान्त किया गया है।

जो हो, व्रजसुन्दरियोंके संगके प्रभावसे श्रीकृष्णका माधुर्य अतिशय-रूपसे वर्द्धित होता है, यही इस श्लोकसे प्रमाणित हुआ। ७२वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

६४ से ७२ तक पयारोंमें प्रमाणित हुआ कि श्रीकृष्णकी परिपूर्ण-सेवाप्राप्तिके उपायके हिसाबसे, गुणाधिक्यमें, स्वादाधिक्यमें, श्रीकृष्ण-वशीकरणशक्तिमें एवं श्रीकृष्णके असमोर्द्ध सौन्दर्य-माधुर्यके वर्द्धिकत्व हिसाबसे भी कान्ताप्रेम सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीराधा-प्रेम

प्रभु कहे—एइ साध्यावधि सुनिश्चय।
कृपा करि कह यदि आगे किछु हय॥७३॥

एइ—यह कान्ताप्रेम साध्यावधि—साध्यवस्तुकी सीमा—सर्वश्रेष्ठ साध्यवस्तु है; आगे इत्यादि—इस कान्ताप्रेमके बीच यदि कोई विशेषता हो तो उसको बताओ।

राय कहे—इहार आगे पूछे हेनजने।
एतदिन नाहि जानि आछये भुवने॥७४॥

राय रामानन्दने विचार किया कि इसके भी आगे पूछनेवाला भी कोई संसारमें होगा इसको अब तक मैंने नहीं समझा था। उन्होंने कहा—

इहार मध्ये राधार प्रेम—साध्य शिरोमणि।

जाहार महिमा सर्व्वशास्त्रेते बाखानि ॥७५॥

इहार मध्ये—इस कान्ताप्रेमके बीच। पूर्ववर्ती ६३वें पयारमें केवल साधारण भावसे कान्ताप्रेमकी बात कही गयी है। कान्ताप्रेम कहनेसे श्रीकृष्णके प्रति कृष्णकान्ता-व्रजगोपीजनका प्रेम समझा जाता है। रसकी वैचित्री-सम्पादनके लिए व्रजगोपियोंके भी भावोंमें कुछ वैचित्री है; उनका प्रत्येकका प्रेम ही दास्य-सख्यादिसे श्रेष्ठ है; भावकी वैचित्रीके अनुसार उनके प्रेमका जो तारतम्य है, वही यहाँ बताया जा रहा है।

तथाहि लघुभागवतामृते उत्तरखण्डे ४'१—

पद्मपुराणवचनम्—

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।

सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥२४॥

अन्वय—राधा (श्रीराधा) **यथा** (जिस प्रकार) **विष्णोः** (श्रीकृष्णकी) **प्रिया** (प्रिया हैं), **तस्या** (उनका—श्रीराधाका) **कुण्डं** (कुण्ड) **तथा** (उसी प्रकार) **प्रियः** (प्रिय है)। **सर्वगोपीषु** (सब गोपीजनोंमें) **एका** (एक) **सा एव** (वह श्रीराधा ही) **विष्णोः** (श्रीकृष्णकी) **अत्यन्तवल्लभा** (अत्यन्त प्रिया हैं)।

अनुवाद—श्रीराधा श्रीकृष्णको जिस प्रकारसे प्रिय हैं, श्रीराधाका कुण्ड भी उसी प्रकार प्रिय है। सब गोपीजनोंमें एक श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी अत्यन्त प्रिय हैं अर्थात् श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी प्रियतमा प्रेयसी हैं।

रूपमें, गुणमें, सौभाग्यमें एवं प्रेममें सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण ही श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.३०.२८—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥२५॥

अन्वय—**अनया** (इस रमणी द्वारा) **हरिः** (भक्तजन-दुःख-हरणकारी) **ईश्वरः** (भक्त-अभीष्ट-दानसमर्थ) **भगवान्** (श्रीनारायण) **नूनं** (निश्चित) **आराधितः** (आराधित हुए हैं)। **यत्** (क्योंकि) **गोविन्दः** (गोविन्द—श्रीकृष्ण) **प्रीतः** (प्रीत) [**सन्**] (होकर) **नः** (हम लोगोंको) **विहाय** (त्यागकर) **यां** (इस रमणीको) **रहः** (गोपनीय स्थानमें) **अनयत्** (आनयन किया है)।

अथवा—हे **अनयाः** (हे अति महीयसी उस रमणीके साथ साम्यज्ञान-रूप अहंकार-वश प्रेम-नीति-ज्ञान-शून्या) ! **भगवान्** (सुन्दर, कामातुर) **ईश्वरः** (तुम लोगोंको वंचना करनेमें समर्थ) [**अयं**] (ये) **हरिः** (श्रीकृष्ण) **नूनं** (निश्चय ही) **राधितः** (राधाको प्राप्त हुए हैं) ; **यत्** (क्योंकि), **नः** (हम लोगोंको—हमारी जैसी सुन्दरियोंको) **विहाय** (परित्याग करके) **गोविन्दः** (गोविन्द—इन्द्रियोंके रमणकारी ; उन राधाके इन्द्रिय-समूहके रमणार्थ) **प्रीतः** (प्रीत) [**सन्**] (होकर) **यां** (जिस राधाको) **रहः** (निभृत स्थानमें) **अनयत्** (आनयन किया है)।

अनुवाद—भक्तजन-दुःख-हर्ता एवं भक्तजनोंकी अभीष्ट वस्तु प्रदान-करनेमें समर्थ भगवान् श्रीनारायण निश्चित ही इस रमणी द्वारा आराधित हुए हैं। क्योंकि गोविन्द (श्रीकृष्ण गोकुलके इन्द्र होनेके कारण उस रमणीके और हम लोगोंके लिए समान होनेपर भी उनके प्रति) प्रीत—प्रसन्न होकर हम लोगोंको परित्याग कर हम लोगोंके लिए अगम्य निभृत स्थानमें उन्हें ले गये हैं।

अथवा—हे अनयागण ! (अति महीयसी उस रमणीके साथ वृथा ही साम्य-अभिमान-पोषण-कारिणी प्रेम-नीति-ज्ञान-शून्या रमणीगण !) तुम

लोगोंको वंचन करनेमें समर्थ (ईश्वर), एवं सुन्दर या कामातुर (भगवान्) ये हरि निश्चय ही राधाको प्राप्त हुए हैं ; क्योंकि, हम लोगोंको परित्याग कर उस रमणीके (राधाके) इन्द्रिय-समूहके रमणार्थ गोविन्द प्रीत मनसे —प्रसन्नतापूर्वक उनको निभृत—एकान्त स्थानमें ले गये हैं।

यह श्लोक श्रीराधाके पक्षवाली सखियोंकी उक्ति है। शारदीय रास-रजनीमें श्रीकृष्ण जब रास-मण्डलीसे अकस्मात् अन्तर्हित हो गये, तब उनके विरहमें कातर होकर सब गोपसुन्दरियाँ उनके अन्वेषणमें वन-वनमें भ्रमण करने लगीं। भ्रमण करते-करते वे सब वनके एक एकान्त स्थानमें आकर उपस्थित हुईं। वहाँपर उन्होंने मृत्तिकामें श्रीकृष्णके पद-चिन्ह देखे। श्रीकृष्णके पद-चिह्न उन सबके ही परिचित थे, इसीसे उन्होंने पहचान लिये। श्रीकृष्ण पद-चिह्नके साथ-साथ वहाँ और भी कुछ छोटे-छोटे—अतएव रमणीके—पदचिह्न दिखायी दिये। किन्तु ये पदचिह्न किसके हैं—यह वे सब नहीं पहचान सकीं। श्रीराधाके पक्षकी सखीगण श्रीराधाके पदचिह्नोंको पहचानती थीं ; इससे केवल वे ही समझ सकीं कि ये पदचिह्न श्रीराधाके ही हैं। पदचिह्नोंकी एकत्र-अवस्थिति द्वारा वे समझ सकीं कि श्रीकृष्णके साथ उनकी प्राण-प्रियतमा श्रीराधा भी हैं, श्रीराधाको लेकर ही श्रीकृष्ण रासस्थलीसे अन्तर्हित हुए हैं। इससे श्रीराधाके सौभाग्यका परिचय पाकर वे मन-मनमें आश्वस्त एवं आनन्दित हुईं। किन्तु श्रीराधाके विपक्षवाली (चन्द्रावलीके पक्षकी) एवं तटस्थ-पक्षीया जो गोपियाँ वहाँ उपस्थित थीं, श्रीराधाके पदचिह्न न पहचाननेके कारण वे कोई भी इस रहस्यको न समझ सकीं। उन्होंने यही समझा कि किसी भाग्यवती रमणीने श्रीकृष्णके संग-लाभका सौभाग्य प्राप्त किया है, किन्तु वह भाग्यवती रमणी कौन है, यह वे नहीं जान सकीं। श्रीराधा पक्षकी सखियोंने भी इस बातको व्यक्त नहीं किया, किन्तु मनके आनन्द-अतिशय-से उस भाग्यवती रमणीके (श्रीराधाके) सौभाग्य-वर्णनका लोभ भी वे संवरण नहीं कर सकीं ; इसलिए श्रीराधाका नाम भङ्गिक्रमसे प्रच्छन्न

रखकर वे (श्रीराधा-पक्षीय सखी गण) उनका सौभाग्य वर्णन करके 'अनया राधितो नूनं' इत्यादि कहने लगी। श्रीराधाके सौभाग्य-वर्णन-के साथ-साथ कौशलक्रमसे विपक्षीय-गणाके दुर्भाग्यका भी इङ्गित किया। जो हो, इस श्लोकका एकसे अधिक अर्थ किया जाता है। क्रमशः उसको व्यक्त किया जा रहा है।

प्रथमतः—हरि, ईश्वर और भगवान्—इन तीन शब्दोंसे श्रीनारायण-को लक्ष्य किया गया है। गोपसुन्दरियोंका श्रीकृष्णमें शुद्ध-माधुर्यमय प्रेम है, श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका ज्ञान उनके चित्तमें स्थान नहीं पाता। ईश्वर कहनेसे वे लोग साधारणतया श्रीनारायणको ही समझती हैं। नारायण ही नरलीलाके व्रजवासियोंके उपास्य भगवान् हैं। इसलिए सारे व्रज-वासियोंकी तरह गोपसुन्दरियाँ भी मानती हैं कि श्रीनारायणकी कृपासे ही लोगोंके अभीष्ट सिद्ध हो सकते हैं और वे ही अपने भक्तोंके सब प्रकारके दुःख हरण करते हैं, इसलिए उनका एक नाम हरि भी है; और वे ईश्वर भी हैं। अतएव अपने भक्तोंका अभीष्ट दान करनेमें भी वे समर्थ हैं।

श्रीराधा-पक्षीय सखियोंने कहा—"जिस भाग्यवती रमणीके पदचिह्न श्रीकृष्णके पदचिह्नके साथ दिखायी दे रहे हैं, उसने निश्चय ही सेवा द्वारा श्रीकृष्णकी वासना-पूर्णकी योग्यता और सुयोग प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीनारायणकी आराधना की है—ऐसा हमको लगता है। योग्यताके अभावकी आशंका कर वह रमणी जो दुःख अनुभव करती थीं, उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर श्रीनारायणने उसके दुःखको दूर किया है (वे ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वे हरि हैं), एवं उन्होंने उस रमणीका अभीष्ट भी दान किया है (यह भी वे कर सकते हैं, क्योंकि वे ईश्वर हैं) एवं उस रमणीके प्रति कृपा करके श्रीनारायणने श्रीकृष्णके मनमें भी उस रमणीके प्रति समधिक प्रीति और अनुरागका उद्रेक किया है (ईश्वर होनेके कारण श्रीनारायण यह करनेमें भी समर्थ हैं)।" इस प्रकारके अनुमान-का हेतु भी वे बता रहीं हैं; जो इस प्रकार है—"देखो श्रीकृष्णको सभी

गोविन्द कहते हैं ; उसका हेतु भी है ; समस्त गोकुलके पालनकर्ता होनेके कारण वे श्रीकृष्ण गोकुलके इन्द्र हैं ; इसीसे उनको गोविन्द कहा जाता है। गोकुलके इन्द्र होनेके कारण गोकुलवासी सबके प्रति उन श्रीकृष्णकी समदृष्टि स्वाभाविक है ; अब तक हमने उनकी समदृष्टिका व्यतिक्रम भी साधारणतया नहीं देखा ; उनके लिए यह व्यतिक्रम सम्भव भी नहीं है— सर्व-शक्तिमान भगवान् नारायणके अतिरिक्त अन्य कोई भी उनकी (श्रीकृष्णकी) इस समदर्शितामें व्यतिक्रम घटित कर सके ऐसा नहीं लगता। इस समय उन श्रीकृष्णकी समदर्शितामें व्यतिक्रम देखा जा रहा है—हम लोग सभी एकसाथ रासस्थलीमें नृत्य कर रही थीं ; सभी सुन्दरी और नवयुवती थीं तो भी अन्य सबका रासस्थलीमें ही परित्याग कर वे केवल इस भाग्यवती रमणीको लेकर वनस्थलीके ऐसे निभृत प्रदेशमें आकर उपस्थित हुए हैं, जहाँपर किसीका भी पहुँच पाना प्रायः असम्भव है। इससे कहती हैं कि ईश्वर नारायणकी शक्तिके अतिरिक्त गोविन्दके चित्तमें ऐसा पक्षपात कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता एवं उस रमणीकी आराधनासे प्रसन्न होकर ही नारायणने इस प्रकार किया है। गोविन्द-सेवाका अभिप्राय हृदयमें पोषण करके हम लोगोंने किसीने नारायणकी आराधना नहीं की, इसीलिए हम लोगोंको किसीको भी श्रीगोविन्द द्वारा निभृत स्थानमें लाये जानेका सौभाग्य घटित नहीं हुआ।'' यहाँ संकेतसे कहा गया है कि हम लोगोंकी सखी श्रीराधिका ही श्रीकृष्णकी सर्वापेक्षा अधिकतर प्रीतिकी पात्री हैं, सर्वापेक्षा अधिकतर सौभाग्यवती हैं— अन्य कोई भी रमणी—(श्लेषसे, श्रीराधाकी विरूद्ध पक्षीय रमणी)— श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी प्रीतिकी पात्री नहीं है, वैसी सौभाग्यवती भी नहीं है।

जो आराधना करे, वह रमणी ही राधिका है ; यही राधिका शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ है। इस श्लोकमें **'अनयाराधित'** इत्यादि वाक्यमें कौशलक्रमसे राधिकाका नाम भी कह दिया गया। विरुद्धपक्षीय

गोपीगणके उपस्थित रहनेके कारण उनका इर्षोद्रेककी आशंकासे स्पष्ट रूपसे श्रीराधाका नाम नहीं कहा गया।

सेवा द्वारा श्रीकृष्णकी वासना-पूरणकी योग्यता प्राप्त करनेके लिए ही श्रीभानुनन्दिनीने नारायणकी आराधना की थी; अतएव कृष्ण-वाञ्छापूर्ति ही उनकी आराधनाका विषय रहा; अर्थात् उन्होंने कृष्ण-वाञ्छापूर्ति-रूप आराधना ही की थी, इसीसे उनका नाम राधिका हुआ। इस प्रकार यह श्लोक पूर्ववर्ती पयारका समर्थन ही करता है।

द्वितीयतः—हरि, ईश्वर और भगवान्—इन तीनों शब्दोंसे श्रीकृष्णको लक्ष्य किया गया है; तो भी तीनों शब्दोंके अर्थका वैशिष्ठ्य है। हरिका अर्थ—सबके मन प्राणको जो हरण करते हैं, वे श्रीकृष्ण। ईश्वरका अर्थ—जो (वञ्चनामें) समर्थ हैं। भगवान्‌का अर्थ—सुन्दर या कामातुर। अमरकोषके मतसे भगका अर्थ सौन्दर्य भी है, काम भी है; भग अर्थात् सौन्दर्य या काम है जिनका, वे ही हैं भगवान् अर्थात् सुन्दर या कामातुर अथवा दोनों ही। अनया और राधितः—दोनों शब्दोंकी सन्धिसे 'अनयाराधित' हुआ है, इसी प्रकार माना जाता है। यहाँपर राधित शब्दका अर्थ आराधित नही है; राधित—राधाको इत अर्थात् प्राप्त। हरि राधित हुए हैं, अर्थात् राधाको प्राप्त हुए हैं। अनया शब्दका अर्थ है नीतिज्ञानहीना।

श्रीराधा पक्षीय कोई एक गोपी अन्यान्य गोपीगणको लक्ष्य करके कहती है—"हे अनयाः! हे नीतिज्ञानहीन रमणीगण! जिस रमणीको लेकर श्रीकृष्ण अन्तर्हित हुए हैं, तुम लोग समझती हो कि तुम लोग उस रमणीके तुल्य हो; तुम्हारा इस प्रकारका अभिमान सम्पूर्ण रूपसे वृथा है; इस वृथा-अभिमानमें मत्त होनेके कारण ही तुम लोग प्रेमकी नीतिके सम्बन्धमें सम्पूर्ण अज्ञ हो। वास्तविक बात कहती हूँ, सुनो! सभी जानती हो कि श्रीकृष्ण परम सुन्दर हैं; अपने सौन्दर्य द्वारा ही उन्होंने हम सबका चित्त अपहरण किया है, उनके सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर ही कुलवती

होकर भी हम लोग रात्रिमें इस निभृत अरण्यमें आकर उपस्थित हुई हैं। यह भी तुम लोग जानती हो कि वे अत्यन्त कामातुर—प्रेम-पिपासु हैं (काम—प्रेम, गोपरामागणके प्रेमको ही काम कहा जाता है)।

प्रेमैव गोपरामाणां काम* इत्यगमत् प्रथाम् ।

भ. र. सि. पू. २. १४३ (२. २८५)

अतएव रासस्थलीमें हम लोग शतकोटि गोपियोंके रहनेपर भी, जिनके द्वारा उनकी कामातुरता सम्यक् रूपसे दूर हो सकेगी, ऐसा वे मानकर उनको लेकर अन्तर्हित होकर अपने अभीष्ट सिद्धिके निमित्त इस एकान्त स्थानमें आकर उपस्थित हुए हैं। श्रीराधाके अतिरिक्त हम लोगोंमें-से और किसीकी भी इस प्रकारकी योग्यता नहीं, जिससे कामातुर श्रीकृष्णका काम-निर्वापन हो सके।

शतकोटि गोपीते नहे कामनिर्व्वापन ।
इहाते अनुमानि श्रीराधिकार गुण ॥

चै. च. म. ८. ८८

हरि श्रीकृष्ण निश्चय ही राधाको प्राप्त हुए हैं (राधित हुए हैं); वे श्रीकृष्ण उन श्रीराधाको लेकर इस निभृत स्थानमें आये हैं। अपने संग-सुखसे हम लोगोंको वंचित करनेके लिए ही वे हम लोगोंको परित्याग करके आ गये; वञ्चना करनेके विषयमें उनको यथेष्ट सामर्थ्य है (क्योंकि इस विषयमें वे ईश्वर हैं), इसीसे जब वे हम लोगोंको परित्याग करके राधाके साथ मिले, तब हम लोग कोई भी उस बातको नहीं समझ सकीं। श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णकी कितनी अधिक प्रीति है, इस बातको अब तुम लोग सहज ही समझ सकती हो; इतनी प्रीति क्या तुम लोगोंके प्रति है?

---

*कामका अर्थ यहाँ 'अप्राकृत काम' है। व्रजसुन्दरियोंके प्रेमको कामकी आख्या केवल इसलिए दी जाती है कि उनके आचरण और प्राकृत काममें बाह्य-साम्य है। आगामी पयार छन्द संख्या ८७ की टीका देखिये।

(विरुद्ध पक्षीय गोपीगणको लक्ष्य करके यह बात कही जा रही है कि) यदि तुम लोगोंके प्रति इतनी प्रीति होती तो श्रीकृष्ण तुम लोगोंको परित्याग कर अपने संग-सुखसे वञ्चित नहीं करते। यदि तुम लोग यह समझो कि तुम लोग भी राधाके बराबर हो, तो तुम्हारा यह अभिमान सम्पूर्ण रूपसे वृथा है। प्रेमकी रीति ही ऐसी होती है कि अन्य सबको त्याग करके परस्पर प्रेमास्वादनके लिए प्रिय व्यक्ति अपनी प्रियाको लेकर एकान्तमें चले जाते हैं। वृथा अभिमानमें मत्त होकर तुम लोग इस प्रीति-रीतिकी बात मनमें भी नहीं लाती हो, इसीसे भाग्यवती राधाके प्रति इर्षान्वित हो रही हो।

"श्रीराधा अत्यन्त प्रेमवती हैं, सेवा द्वारा श्रीकृष्णकी वासना पूर्ण करके उनको सुखी करनेके लिए वे अत्यन्त उत्कण्ठित रहती हैं, उनकी इस प्रेमोत्कण्ठाने ही प्रेमवान भगवान् (भग=काम=प्रेम) हरि श्रीकृष्णके प्रेम-समुद्रमें प्रबल तरंग उत्तोलित की है (हम लोगोंमें-से और किसी भी रमणीका प्रेम ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हुआ) ; इसीसे श्रीकृष्ण भी—जो स्वयं भी अपनी प्रियाके सुख-विधानके लिए उत्कण्ठित रहते हैं ; वे भी—श्रीराधाके इन्द्रियवर्गके रमणार्थ उनको लेकर अत्यन्त प्रीतिके साथ इस एकान्त स्थानमें आये हैं। हम लोगोंका किसीका भी प्रेम श्रीराधाके प्रेमकी तरह उत्कर्ष प्राप्त नहीं कर सका, इसीलिए वे हमलोगोंका त्याग करके चले आये हैं। हम लोग भी सुन्दरी हैं, किन्तु केवल सौन्दर्य हीन-कामुकके चित्तको ही सामयिक भावसे विचलित कर सकता है—प्रेमिकके चित्तको मुग्ध नहीं कर सकता ; श्रीकृष्ण प्रेमिक हैं, कामुक नहीं। इसीसे वे प्रेमवती राधाके प्रेमके वशीभूत हुए हैं।

श्लोकस्थ 'प्रीतः' शब्दकी ध्वनि यह है कि प्रेमिक श्रीकृष्ण प्रीतिके साथ श्रीराधाको ले गये हैं ; इसके द्वारा श्रीराधाकी कृष्ण-वाञ्छापूर्ति-वासना ही व्यञ्जित होती है।

इन दोनों श्लोकोंमें श्रीराधाका सर्वातिशायी माहात्म्य प्रदर्शित होता है।

श्रीकृष्णके राधा-प्रेमकी अन्यनिरपेक्षता

प्रभु कहे—आगे कह, शुनि पाइये सुखे।
अपूर्व्व अमृत नदी बहे तोमार मुखे ॥७६॥

अपूर्व्व—अद्भुत ; चमत्कारप्रद। अमृत नदी—अमृतकी नदी ; जिस नदीमें जलके बदले अमृतकी धारा बहे।

इस पयारका तात्पर्य यह है कि रामानन्द राय जो कहते जा रहे हैं, वह सुनकर प्रभुका चित्त निरवच्छिन्न आनन्दधारामें बहता जा रहा है—उनकी बात प्रभुको अमृतके समान सुस्वादु लग रही है। इससे प्रभुने कहा—और आगे कहो, ये सुनकर बड़ा सुख मिल रहा है।

चुरि करि राधाके निल गोपीगणेर डरे।
अन्यापेक्षा हैला प्रेमेर गाढ़ता ना फुरे ॥७७॥
राधा-लागि गोपीरे यदि साक्षात् करे त्याग।
तबे जानि राधाय कृष्णेर गाढ़ अनुराग ॥७८॥

चुरि करि—गोपनमें, अन्यान्य गोपियोंसे छिपाकर।
श्रीमद्भागवतके—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ १० २९.४८

श्लोकमें श्रीशुकदेवजीकी उक्ति द्वारा यह जाना जाता है कि गोपी-गणके गर्व-प्रशमनके लिए एवं मान-प्रसादनके लिए श्रीकृष्ण रास-स्थलीसे अन्तर्हित हो गये। किन्तु अन्तर्हित होनेके समय वे किसीको भी संग ले गये कि नहीं—यह बात उक्त श्लोकसे जानी नहीं जाती। परवर्ती—

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः॥

कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥
श्रीम.भा. १०.३०.११

श्लोकमें गोपीगणकी उक्ति द्वारा जाना जाता है कि श्रीकृष्णके संगमें उनकी कोई 'प्रिया' रही (**प्रियया सह अच्युतः**)। और इसके पश्चात् सर्वगोपी-परिचित ध्वज-वज्र-पद्म-अंकुश-यवादि चिह्नित श्रीकृष्णके पदचिह्न एवं थोड़े आगे चलनेपर उसी पदचिह्नके पास किसी रमणीके पदचिह्न उन विरहार्त गोपीगणको दिखायी दिये। यह रमणी पूर्वोल्लिखित श्रीकृष्णप्रिया है, इसमें सन्देह नहीं। परवर्ती '**अनयाऽऽराधितो नूनं** ......' इत्यादि श्लोकोक्ति द्वारा जाननेमें आता है कि वह श्रीकृष्णप्रिया गोपी श्रीकृष्णकी सर्वापेक्षा प्रियतमा है। कृष्णान्वेषणमें लगी गोपीगणने और भी आगे चलकर श्रीकृष्ण द्वारा परित्यक्ता उस कृष्णप्रियतमाको भी पाया। सब गोपियोंमें श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं। अतः श्रीराधाको साथ लेकर ही श्रीकृष्ण रासस्थलीसे अन्तर्धान हुए थे, यह समझा जाता है। लेकिन श्रीशुकदेव गोस्वामीने इस बातका स्पष्ट रूपसे उल्लेख क्यों नहीं किया,—इस सम्बन्धमें श्रीजीव गोस्वामीने पूर्वोद्धृत '**अप्येणपत्न्युपगतः**......' श्लोककी वैष्णव-तोषिणी टीकामें बताया है—अनन्त भगवत् स्वरूपोंमें-से माधुर्यघन-विग्रह स्वयंभगवान् व्रजेन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही श्रीशुकदेवजीके परम आग्रह हैं; और श्रीकृष्णके असंख्य परिकरोमें-से व्रजपरिकरवर्गमें, और उनमें-से श्रीकृष्णप्रेयसी-गोपीगणमें, एवं उनमें-से भी श्रीकृष्णप्रेयसी-शिरोमणि श्रीराधामें ही उनका परम आग्रह है तथा राधाके सहित श्रीकृष्णकी लीला ही उनका परम हार्द है। यह लीला परम रहस्यमय—परम गूढ़तम होनेके कारण उन्होंने इसका प्रत्यक्ष भावसे प्रकाश नहीं किया। श्रीराधाका—यहाँतक कि अन्य गोपीका—नाम भी उन्होंने प्रकाश नहीं किया। प्रसंगक्रमके बहाने अन्य गोपियों-के मुखसे प्रियतमाको साथ लेकर श्रीकृष्णके अन्तर्धानका इशारा मात्र

किया है। श्रीजीवने और भी लिखा है कि रासस्थलीसे श्रीकृष्ण जब अन्तर्धान हो गये, तब श्रीराधाके यूथकी गोपीगणके चित्तमें इस प्रकारका एक संशय उठा था कि श्रीकृष्ण राधाको साथ तो नहीं ले गये। सम्भवतः वे लोग जिस प्रकार श्रीकृष्णको रासस्थलीमें नहीं देख पा रही थी, उसी प्रकार श्रीराधा भी दिखायी नहीं दे रही थीं ; इसीसे उन्हें इस प्रकारका सन्देह हुआ। जो हो, वे लोग अन्य गोपियोंसे पृथक् होकर चलने लगीं। अन्य गोपी तो अनुसन्धान कर रही थी श्रीकृष्णका ; और वे लोग अनुसन्धान कर रही थी श्रीश्रीराधाकृष्णका। जब श्रीकृष्णके पदचिन्हके साथ किसी गोप-रमणीका पदचिन्ह दीख पड़ा, तब श्रीराधाके यूथकी गोपीगणने पहचान लिया कि यह गोपरमणी श्रीराधा ही हैं, और कोई नहीं। सभी गोपियाँ श्रीकृष्णकी पद-सेवा किया करतीं ; इसीसे श्रीकृष्ण-के पदचिन्हसे सभी परिचित थीं ; किन्तु श्रीराधाके यूथकी गोपीगणके अतिरिक्त और कोई भी गोपी श्रीराधाके पदचिन्हको नहीं पहचानती थीं ; क्योंकि अन्य किसीके भी लिए श्रीराधाकी पदसेवाका सौभाग्य नहीं घटा था। जो हो, पदचिन्हके दर्शनके पश्चात् श्रीराधाके यूथकी गोपीगणको दृढ निश्चय हो गया कि श्रीराधाको लेकर श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेका जो उन्होंने अनुमान किया था, वह सत्य है। उक्त आलोचनासे समझा गया कि श्रीराधाको साथ लेकर ही श्रीकृष्ण रास-स्थलीसे अन्तर्हित हुए थे ; किन्तु वे श्रीराधाको संग लेकर जा रहे हैं—यह बात अन्य कोई भी गोपी नहीं जानती थी। सबके बिना जाने ही वे श्रीराधाको ले गये थे—इसके प्रति लक्ष्य रखकर ही प्रभुने कहा—'चुरि करि राधाके निल गोपीगणेर डरे'।

श्रीरामानन्द रायने कहा था—'**राधारप्रेम साध्य शिरोमणि। जाहार महिमा सर्व्वशास्त्रेते बाखानि॥**' राधाप्रेम वास्तवमें यदि साध्य-शिरोमणि हो, तब अवश्य ही उसकी महिमा भी सबसे अधिक होगी। राधाप्रेमके महिमाके सर्वातिशायित्वकी बात राय रामानन्दके

मुखसे प्रकाश करानेके उद्देश्यसे मानो प्रभुने एक आपत्ति उठायी। प्रभुने कहा—"राय ! राधाप्रेम यदि साध्य-शिरोमणि ही हो, उसकी महिमा यदि सर्वातिशायी ही हो, तब उसमें अन्यापेक्षा नहीं रह सकती; अन्यापेक्षा रहनेसे ही लगता है कि प्रेमका—सेवावासनाका— सर्वातिशायी या अबाध विकाश नहीं है। किन्तु ऐसा लगता है कि राधाप्रेममें अन्यापेक्षा है। यदि ऐसा न हो, तो गोपीगणके भयसे उनकी जानकारी-के बिना श्रीराधाको चुपचाप श्रीकृष्ण अन्यत्र क्यों ले गये? यदि राधाके प्रति श्रीकृष्णका गाढ़ अनुराग होता, तो अन्य गोपियोंकी किसी भी प्रकारकी अपेक्षा न रखकर उनके सामनेसे ही श्रीराधाको ले जाने; अथवा श्रीराधाके सहित मिलित होनेके लिए श्रीकृष्ण साक्षात् भावसे ही अन्य गोपियोंको त्याग कर जाते। जब उन्होंने ऐसा नहीं किया, शारदीय महारासमें जब देखनेमें आता है कि अन्य गोपीगणके अज्ञातमें ही श्रीकृष्ण श्रीराधाको लेकर भाग गये, तब स्पष्ट ही लगता है कि श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णका गाढ़ प्रेम नहीं है।"

लगता है कि प्रभुकी आपत्ति, प्रकरण-सङ्गत नहीं है। प्रसंग चल रहा है राधाप्रेमका; श्रीराधाप्रेम अन्यापेक्षाहीन है या नहीं—यही प्रतिपाद्य है। किन्तु प्रभु श्रीकृष्णके प्रति राधाके प्रेमकी बात न कहकर आपत्ति उठाते हैं श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णके प्रेम-सम्बन्धकी। इससे लगता है मानो प्रभुकी आपत्ति प्रकरण-संगत नहीं है। किन्तु वास्तवमें वैसी बात नहीं है। यह आपत्ति उठाये बिना श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाके प्रेमकी महिमा सम्यक् प्रकारसे व्यक्त हो पाती या नहीं—इसमें सन्देह है। जो वस्तु प्रत्यक्ष-रूपसे देखी न जा सके, उसको जानना होता है उसका प्रभाव देखकर। ज्वर देखनेमें नहीं आता, ज्वरका अस्तित्व जानना होता है देहके उपर उसके प्रभावके द्वारा। देहमें ज्वर जो ताप उत्पादन करता है, उसके परिमाण द्वारा ज्वरका परिमाण निर्णय किया जाता है। श्रीराधाका प्रेम भी दिखायी देने वाली वस्तु नहीं है। इस प्रेमकी महिमा

जाननेके लिए प्रेमके विषय जो श्रीकृष्ण हैं, उनके ऊपर इसका किस प्रकार-का प्रभाव है, यह जानना होगा। जिस प्रकार झंझावातका गतिवेग वृक्षके हिलने-डुलनेके परिमाण द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार राधा-प्रेमकी महिमा जानी जायगी—उसके प्रभावसे श्रीकृष्ण-चित्तके डोलनेके परिमाण द्वारा। श्रीकृष्ण-विषयक राधा-प्रेम-रूप प्रबल झंझावात यदि श्रीकृष्णके राधा-विषयक अनुराग-समुद्रको इस प्रकारसे उद्वेलित कर सके, यदि इस अनुराग-समुद्रमें ऐसी प्रकारकी उतुङ्ग तरङ्गमाला उद्बुद्ध कर सके, कि उसके सम्मुख श्रीकृष्णके राधा-प्रीति विकाशके पथमें समस्त बाधा-विघ्नको, सब प्रकारकी अन्यापेक्षाको चूर्ण-विचूर्ण करके क्षुद्र तृण-खण्डकी तरह-तीव्रवेगसे बहुत दूर बहाकर ले जाय, तभी राधा-प्रेमकी महिमा—प्रभावको सर्वातिशायी समझना सम्भव है।

कारण, भक्तके प्रति भगवान्‌का भाव होता है भगवान्‌के प्रति भक्तके भावके अनुरूप। इसीलिए एक ही स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण नन्द-यशोदाके निकट वात्सल्यके विषय हैं, सुवल-मधुमङ्गलके निकट सख्यके विषय हैं, और व्रजगोपीगणके प्राणवल्लभ हैं। भक्तका प्रेम जितना विकसित होगा, भगवान्‌की प्रेम-वश्यता या भक्त-पराधीनता उतनी ही विकसित होगी और यह जाना जा सकेगा भक्तके सम्बन्धमें भगवान्‌के आचरण द्वारा। जो प्रेम साध्य-शिरोमणि होगा, उसमें किसी भी प्रकारकी अपेक्षाको स्थान नहीं रह सकता। श्रीराधाका प्रेम यदि साध्य-शिरोमणि हो, सर्वश्रेष्ठ ही हो, तब श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णका जो प्रेम है, वह भी अन्यान्य सब भक्तोंके प्रति, अन्य समस्त गोपीगणके प्रति उनके (श्रीकृष्णके) प्रेमकी अपेक्षा श्रेष्ठ होगा—इसमें अन्य गोपीगणके लिए किसी भी प्रकारकी अपेक्षा रखनेको अवकाश नहीं रहेगा, श्रीराधाके सम्बन्धमें श्रीकृष्ण अपने किसी भी आचरणमें अन्य गोपीगणकी किसी भी प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखेंगे। किन्तु श्रीराधाके सम्बन्धमें श्रीकृष्णके आचरणमें इस प्रकारकी अपेक्षा-शून्यताका प्रमाण तो मिलता नहीं। श्रीकृष्ण तो रासस्थलीसे

श्रीराधाको लेकर भाग गये। कहीं अन्य गोपीगण अभिमान कर बैठें इस आशंकासे उन्हें अन्य गोपीगणके सामने श्रीराधाको लेकर रासस्थली त्याग करनेका साहस नहीं हुआ। इसलिए वे उनके अनजानेमें—छिपकर—श्रीराधाको ले गये। इसीसे समझा जाता है कि अन्य गोपियोंकी अपेक्षा श्रीकृष्णको है, प्रकट रूपसे वे अन्य गोपीगणकी उपेक्षा नहीं कर सके—श्रीराधाके निमित्त भी नहीं। अन्य गोपीगणका उन्हें डर लगता है। किन्तु इस प्रकारकी अपेक्षा रहनेसे प्रेमकी गाढ़ता प्रकाश नहीं पाती। श्रीराधाके लिए यदि श्रीकृष्ण साक्षात् रूपसे अन्य गोपीगणकी उपेक्षा कर सकते, यदि उनके सामनेसे ही श्रीराधाको ले जा सकते, तभी समझा जा सकता था कि श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णका गाढ़ अनुराग, गाढ़-प्रेम है एवं श्रीकृष्णके प्रेमकी इस गाढ़तासे ही श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाके प्रेमकी—राधाप्रेमकी भी—सर्वातिशायिनी गाढ़ता, सर्वश्रेष्ठत्व, साध्य-शिरोमणित्व प्रमाणित होता। किन्तु ऐसा जब नहीं हुआ, तब किस प्रकार समझा जाय कि 'राधाप्रेम साध्यशिरोमणि' है?

राधाप्रेमकी सर्वातिशायिता

राय कहे—ताहा शुन प्रेमेर महिमा।
त्रिजगते नाहि राधाप्रेमेर उपमा ॥७९॥
गोपीगणेर रासनृत्य-मण्डली छाड़िया।
राधा चाहि वने फिरे विलाप करिया ॥८०॥

रामानन्द रायने खूब निपुणताके साथ प्रभुकी इस आपत्तिका खण्डन किया। उन्होंने जो कहा उसकी व्यञ्जना इस प्रकार है—

प्रभु! शारदीय-महारासमें अन्य गोपीगणके अनजानेमें श्रीकृष्ण राधाको ले गये थे, यह सत्य है एवं श्रीकृष्ण अन्य गोपीगणकी अपेक्षा रखते हैं, इससे यह भी प्रमाणित होता है; इसको भी अस्वीकार नहीं

किया जा सकता। किन्तु प्रभु! श्रीकृष्णके प्रत्येक आचरणमें ही यदि इस प्रकारकी अन्य-अपेक्षा दीखती, किसी भी समय यदि उनकी अपेक्षा-हीनता नहीं दीखती, तभी इस प्रकारका सिद्धान्त संगत होता कि श्रीकृष्ण किसी भी समय अन्यापेक्षाहीन नहीं हैं। किन्तु प्रभु! श्रीकृष्ण-का आचरण उस प्रकारका नहीं है। श्रीराधाके सम्बन्धमें श्रीकृष्णके व्यवहारसे समय-समयपर लगता है कि वे अन्य गोपियोंकी अपेक्षा रखते हैं; किन्तु विचार करनेसे स्पष्ट हो जायगा कि इस प्रकारकी अन्यापेक्षा दिखाते भर हैं—या तो रस-वैचित्रीविशेषके प्रकटनके उद्देश्यसे, अथवा अन्य किसी विशेष कारणसे। शारदीय-महारासमें श्रीकृष्णके अचानक अन्तर्धान होनेका उद्देश्य था—जिनके चित्तमें मान या सौभाग्य-गर्वका उदय हुआ है, उनके चित्तसे वह गर्व या मान दूर करना, अदर्शनके तीव्र तापसे उत्कण्ठा वर्द्धित करके उन सबके चित्तको रासलीला-रसोद्गारके पक्षमें सम्यक् रूपसे उपयोगी करना। किन्तु यदि उनके देखते-देखते वे श्रीराधाको लेकर अन्यत्र चले जाते, तो उनके मानका प्रशमन न होता, बल्कि असूयाका उद्भव होता। ऐसा होनेपर रासलीला ही सम्पन्न न हो पाती। इसीलिए वे उनके अनजानेमें ही श्रीराधाको ले गये। इससे देखनेमें ऐसा लगता है कि वे अन्य गोपियोंकी अपेक्षा रखते हैं; किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है; वे अपेक्षा नहीं रखते। वे अपेक्षा नहीं रखते—यह बात जयदेव वर्णित वसन्त-रासकी घटनासे निःसन्देह प्रमाणित होती है। विषय इस प्रकार है—

शतकोटि गोपसुन्दरियोंके साथ वसन्त-रास-लीला आरम्भ हो चुकी है। अचानक किसी भी कारणसे (परवर्ती पयारोंमें कारण देखिये) श्रीकृष्णके प्रति अभिमानिनी होकर श्रीराधा रास-स्थली त्याग कर चली गयीं। एक श्रीराधाके अतिरिक्त शतकोटि गोपियोंमें-से सभी रास-स्थलीमें उपस्थित हैं। तथापि अचानक मानो मध्यान्ह सूर्य अस्तमित हो गया; रासलीला-रसका उत्स मानो बन्द हो गया; आनन्दकी तरंगों-

का प्रवाहित होना बन्द हो गया। ऐसा क्यों हुआ ? श्रीकृष्णने देखा कि रासमण्डलीमें रासेश्वरी नहीं हैं। उसी क्षण वे श्रीराधाकी स्मृतिको हृदयमें धारण कर रासस्थली छोड़कर श्रीराधाके अन्वेषणमें दौड़ पड़े। शतकोटि गोपियाँ रासस्थलीमें पड़ी रहीं। श्रीकृष्णने उनकी ओर मुड़कर भी नहीं देखा ; वे उनके सामनेसे ही चले गये। जाते समय कहकर भी नहीं गये कि मैं श्रीराधाकी खोजमें जा रहा हूँ, तुम लोग कुछ अपेक्षा करना। इसीसे समझा जा सकता है कि श्रीराधाके लिए श्रीकृष्ण साक्षात् भावसे अन्य गोपियोंको छोड़कर जा सकते हैं ; अन्य किसी भी गोपीकी अपेक्षा वे नहीं रखते। श्रीराधाके प्रति उनके अनुरागकी गाढ़ता ही इसके द्वारा प्रमाणित होती है। जो हो, श्रीराधाके लिए श्रीकृष्ण साक्षात् रूपसे अन्य गोपियोंको त्याग कर गये हैं, इसके प्रमाणमें श्रीजयदेवके गीत गोविन्दसे दो श्लोकोंका उल्लेख किया जाता है।

तथाहि श्रीगीतगोविन्दे ३.१—

कंसारिरपि संसार-वासनावद्धश्रृङ्खलाम् ।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः ॥२६॥

अन्वय—**कंसारिः** (श्रीकृष्ण) **अपि** (भी) **संसार वासना-वद्ध श्रृङ्खलां** (सम्यक् रूपसे सार वासनाके दृढ़ीकरणमें श्रृङ्खलारूपा) **राधां** (श्रीराधाको) **हृदये** (हृदयमें) **आधाय** (सम्यक् रूपसे धारण करके) **व्रजसुन्दरीः** (व्रजसुन्दरीगणको) **तत्याज** (त्याग किया था)।

अनुवाद—कंसारि श्रीकृष्णने (रासलीलाभिलाषरूप) अपनी सम्यक् सारभूत-वासनाके दृढ़ोकरणमें श्रृङ्खलारूपा श्रीराधिकाको हृदयमें धारण कर अन्य व्रज-सुन्दरीगणका परित्याग किया।

यह श्लोक श्रीजयदेवकृत वसन्त-रास-वर्णनाका श्लोक है। श्रीराधाने जब देखा कि प्रत्येक गोपीके पार्श्वमें श्रीकृष्ण जिस प्रकार विद्यमान हैं, उसी प्रकार उनके अपने पास भी विद्यमान हैं—

शतकोटि गोपी सङ्गे रास विलास ।
तार मध्ये एक मूर्ति रहे राधा पाश ॥
साधारण प्रेम देखि सर्व्वत्र समता ।
राधार कुटिल प्रेम हइल बामता ॥

चै. च म. ८ ८२,८३

श्रीकृष्ण अन्यान्य गोपीगणके संग जिस प्रकारका व्यवहार करते हैं, श्रीराधाके संग भी ठीक उसी प्रकारका व्यवहार करते हैं, उनके अपने साथ किसी भी प्रकारका विशेष व्यवहार नहीं कर रहे हैं, तो श्रीराधाका वाम्यभाव उपस्थित हुआ ; वे रासमण्डली छोड़कर चली गयीं । तब श्रीकृष्ण अन्य सब गोपीगणको छोड़कर श्रीराधाके अन्वेषणमें शीघ्र गतिसे चले गये ।

अपि—भी । गीतगोविन्दके पूर्ववर्ती श्लोकोंमें श्रीकृष्णके निमित्त श्रीराधाकी उत्कण्ठाकी बात वर्णित हुई है । उसके बाद इस श्लोकमें दिखाते हैं कि केवल श्रीराधा ही श्रीकृष्णके निमित्त उत्कण्ठित हो, ऐसा नहीं है ; परन्तु कंसारि श्रीकृष्ण भी* श्रीराधाके लिए उत्कण्ठित हैं, यही 'अपि' शब्दका तात्पर्य है । श्रीकृष्णके भी श्रीराधाके लिए उत्कण्ठित होनेके कारण श्रीराधाके अन्तर्धान होनेपर समस्त गोपियोंको छोड़कर भी वे श्रीराधाके अन्वेषणके लिए दौड़ पड़े ।

संसार—सम् + सार = संसार । सम्यक् रूपसे सार (या हार्द) ; सारभूत ; संसार शब्द वासनाका विशेषण है ।

संसार-वासना—सम्यक् रूपसे सार जो वासना ; सारभूत-वासना । रसास्वादनके विषयमें श्रीकृष्णकी जो सब वासनाएँ हैं ; उन सबमें सार या श्रेष्ठ वासना है रासलीलाकी वासना । यहाँ संसार-वासना शब्दसे समस्त सारभूत उस रासलीलाकी वासनाको ही लक्ष्य किया गया है ।

---

*कंसका वध करनेवाले सामर्थ्यवान् श्रीकृष्ण भी श्रीराधाके वियोगको सहन नहीं कर सके ।

पूर्वमें जिसकी अनुभूति हो चुकी है, ऐसे किसी भी विषयका स्मरण होने पर उसके भोग करनेकी इच्छाको कहते हैं वासना (**पूर्वानुभूत-स्मृत्युपस्थापित-विषयस्पृहा वासना**)। इसके पूर्व शरद पूर्णिमाको जिस रासलीला-रसका श्रीकृष्णने अनुभव किया है, उसी लीला-रसकी बात स्मरण आनेपर पुनः उसके आस्वादनका संकल्प करके वे वसन्त-रासके लिए उद्यत हुए हैं। अतएव इस समय यह वसन्त-रासलीलाकी वासना ही हुई उनकी सम्यक् सारभूत वासना या संसार वासना। **बद्ध शृङ्खला**—बन्धन (दृढ़ीकरण) विषयमें शृङ्खला-रूपा; किसी भी वस्तुको दृढ़रूपसे आबद्ध करनेके (बांधनेके) लिए शृङ्खला (सांकल) की आवश्यकता होती है। सांकल द्वारा बांधकर रखनेसे ही वह वस्तु ठीक रहती है, नहीं तो उसके छूट कर दूर चले जानेकी आशंका रहती है। **संसार-वासनाबद्ध-शृङ्खला**—यह राधा शब्दका विशेषण है; राधा ही संसार-वासनाबद्ध-शृङ्खला स्वरूपा हैं। संसार-वासनाबद्ध-शृङ्खला शब्दका अर्थ हुआ—रासलीलाभिलाष रूप सारभूत जो वासना, उसके बन्धन (दृढ़ीकरण) विषयमें शृङ्खला-स्वरूपा (श्रीराधा)। श्रीराधा ही रासेश्वरी हैं; अन्य शतकोटि गोपियाँ उपस्थित रहनेपर भी श्रीराधा यदि उपस्थित न रहें, तो रासलीला निष्पन्न नहीं हो सकती; श्रीराधा ही हुईं रासलीलाकी परमाश्रयभूता। अतएव श्रीराधाके न रहनेपर रासलीला असम्भव होनेके कारण रासलीलाकी वासना भी श्रीकृष्णके हृदयमें रह नहीं सकती। रासलीलाकी वासनाको हृदयमें दृढ़ रूपसे धारण (बन्धन) करनेके लिए श्रीराधाकी उपस्थिति आवश्यक है; अतएव श्रीराधा हुईं—हृदयमें रास-लीलाकी वासनाको दृढ़ रूपसे आबद्ध करनेके लिए शृङ्खला सदृशा। अर्थात् रासलीलाकी परमाश्रयभूता। **राधामाधाय हृदये**—राधाको हृदयमें सम्यक् रूपसे धारण करके—चिन्ता द्वारा, साक्षात् भावसे नहीं; कारण, श्रीराधा पहले ही रासमण्डली छोड़कर चली गयीं; मन-मनमें श्रीराधाको हृदयमें धारण करके।

इस श्लोकसे जाना जाता है कि श्रीराधा ही रासलीलाकी परम आश्रयभूता हैं ; रासस्थलीसे उनके चले जानेपर रासलीला असम्भव मानकर श्रीराधाकी चिन्ता हृदयमें धारण करके श्रीकृष्णने रासस्थलीका त्याग किया। श्रीराधाके अतिरिक्त और भी असंख्य व्रज सुन्दरियाँ उसी रासस्थलीमें वर्तमान थीं ; उनका सबका रूप-गुण-माधुर्यादि भी एवं उनका सबका प्रेम-सम्भार भी श्रीकृष्णको रासस्थलीमें पकड़कर नहीं रख सका ; वे सबको त्यागकर श्रीराधाके अन्वेषणमें चले गये।

तथाहि तत्रैव ३.२—

इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिका-
मनङ्गवाण - व्रणखिन्नमानसः।
कृतानुतापः स कलिन्दनन्दिनी-
तटान्तकुञ्जे विषसाद माधवः ॥२७॥

अन्वय—अनङ्गवाण - व्रणखिन्नमानसः—(कन्दर्प - शराघात व्रणसे व्यथित चित्त) **सः** (वे) **माधवः** (श्रीकृष्ण) **इतस्ततः** (चारों ओर) **तां** (उन) **श्रीराधिकां** (श्रीराधिकाको) **अनुसृता** (अनुसरण करके—अन्वेषण करके) **कृतानुतापः** (अनुतप्त चित्तसे) **कलिन्द-नन्दिनी-तटान्तकुञ्जे** (यमुना-तीरवर्ती कुञ्जमें) **विषसाद** (विषाद करने लगे)।

अनुवाद—कन्दर्प-शराघातसे व्यथित चित्त वे श्रीकृष्ण, उन श्रीराधाको चारों ओर अन्वेषण करके भी (कहीं भी न पाकर) अनुतप्त चित्तसे यमुना तीरपर स्थित कुञ्जमें (बैठकर) विषाद करने लगे।

अनङ्गवाण-व्रणखिन्नमानसः—अनङ्ग (कामदेव) के वाण द्वारा खिन्न (व्यथित) हुआ है मानस (चित्त) जिनका, वे श्रीकृष्ण। श्रीराधाके रासस्थली त्यागकर चले जानेसे श्रीकृष्ण कन्दर्प-पीड़ासे अत्यन्त व्याकुल हो गये ; वहाँपर और भी शतकोटि व्रज-सुन्दरियाँ उपस्थित थीं ; किन्तु श्रीराधाके बिना उन सबके द्वारा श्रीकृष्णका मनोभिलाष पूर्ण नहीं

हुआ। इसीसे कन्दर्प-पीड़ा-व्याकुल वे श्रीकृष्ण इधर-उधर श्रीराधाका अन्वेषण करने लगे ; किन्तु कहीं भी उनको न पाकर श्रीराधाके प्रति अपने पूर्व व्यवहारकी बात स्मरण करके वे अत्यन्त अनुतप्त हुए। (अन्य गोपीगणकी अपेक्षा श्रीराधा अनेक गुणोंमें श्रेष्ठा होनेपर भी—अन्य गोपियोंके साथ श्रीकृष्णने जिस प्रकारका व्यवहार किया था, श्रीराधाके साथ भी ठीक उसी प्रकारका व्यवहार किया था ; श्रीराधाके प्रति किसी भी प्रकारकी विशेषता नहीं दिखायी थी, इसीलिए श्रीराधाने मान करके रासस्थलीका त्याग किया था। श्रीकृष्ण अब समझ पाये कि वास्तवमें उनका व्यवहार असंगत हुआ, इसीलिए वे अनुतप्त हुए)। अनुतप्त चित्तसे घूमते-घूमते **कलिन्द-नन्दिनी-तटान्त-कुञ्जे**—कलिन्द-नन्दिनी (यमुना) के तटान्तकुञ्ज (तीरवर्ती कुञ्ज) में जाकर उपस्थित हुए। मनमें समझा था कि वहाँ श्रीराधा मिल जायंगी ; किन्तु मिली नहीं ; न मिलनेसे वहाँ बैठे-बैठे श्रीकृष्ण **विषसाद**—विषाद प्रकाश करने लगे—आक्षेप करने लगे।

'राधा चाहि वने फिरे' इत्यादि पयारार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है। श्रीकृष्ण श्रीराधाका अन्वेषण करनेके लिए ही रासस्थली त्याग करके आये हैं, छिपकर श्रीराधाको लेकर एकान्त स्थलमें विहार करनेके लिए श्रीराधाके साथ युक्ति करके नहीं आये हैं— इस श्लोकसे यह प्रमाणित हुआ।

एइ-दुइ श्लोकेर अर्थ विचारिले जानि।
विचारिते उठे जेन अमृतेर खनि ॥ ८१ ॥

पूर्वोक्त दोनों श्लोकोंका अर्थ विचार करनेसे राधाप्रेमकी महिमा ज़ानी जायगी।

शतकोटि गोपीसङ्गे रासविलास।
तार मध्ये एक मूर्ति रहे राधा पाश ॥ ८२ ॥

साधारण प्रेम देखि सर्व्वत्र समता।
राधार कुटिल प्रेम हइल बामता ॥८३॥

श्रीकृष्ण शतकोटि प्रकाशमूर्तिसे शतकोटि गोपियोंके संग रास-विलास करते हैं; उनकी उन शतकोटि प्रकाशमूर्तियोंमें-से (श्रीकृष्णकी) एक मूर्ति श्रीराधाके बगलमें रहती हैं। सब जगह साधारण प्रेमकी समता देखकर राधाके मनमें वामता उपस्थित हुई; कारण, प्रेम कुटिल होता है। कहीं-कहीं 'कुटिल प्रेमे' पाठ भी देखनेमें आता है; तब अर्थ होगा—राधाके कुटिल प्रेमसे—कुटिल प्रेमके वश वामता उपस्थित हुई।

शतकोटि गोपी सङ्गे इत्यादि—यहाँपर एक बात बतानी आवश्यक है। व्रजमें ऐश्वर्य और माधुर्य पूर्ण मात्रामें विराजित रहनेपर भी माधुर्य-के अनुगत होकर ही ऐश्वर्य प्रच्छन्न भावसे बना रहता है। श्रीकृष्ण ऐश्वर्य-शक्तिको वर्जित करके पूर्ण माधुर्य लेकर व्रजमें प्रकट हुए हैं। किन्तु ऐश्वर्यको वर्जित करनेपर भी पति द्वारा परित्यक्ता पतिगतप्राणा स्त्रीकी तरह ऐश्वर्य-शक्ति उनका त्याग नहीं करती; ऐश्वर्य-शक्ति प्रच्छन्न भावसे उनका अनुगमन करती है। पति द्वारा परित्यक्ता पति-गतप्राणा स्त्री जैसे अवसर मिलते ही पतिके अनजानेमें पतिकी सेवा करती रहती है, वैसे ही ऐश्वर्य-शक्ति भी अवसर मिलते ही, श्रीकृष्णकी इच्छाशक्तिके इङ्गित मात्रसे, श्रीकृष्णके अलक्षित-भावसे उनकी सेवा करती रहती हैं। रासमें भी यही हुआ है। रासक्रीड़ाके लिए शतकोटि गोपियाँ एकत्रित हुई हैं, उनमें-से प्रत्येककी इच्छा है कि वे श्रीकृष्णको एकान्त-भावसे अपने निकट पाकर उनकी सेवा करें। उनकी ऐसी इच्छाके प्रभावसे उनके प्रत्येकके साथ ही नृत्य-गीतादि करनेके लिए रसिकशेखर श्रीकृष्णकी इच्छा हुई। इस इच्छाका इङ्गित पाते ही ऐश्वर्य-शक्तिने शतकोटि गोपियोंके बगलमें शतकोटि श्रीकृष्ण-मूर्ति प्रकाशित की; श्रीराधिकाके निकट भी एक श्रीकृष्ण-मूर्ति रही, यह ठीक है। किन्तु यह जो एक-एक गोपीके बगलमें एक-एक श्रीकृष्णमूर्ति प्रकट हुई, यह बात योगमायाके प्रभावसे श्रीकृष्ण

जान नहीं सके, गोपी भी कोई इसे नहीं जान सकी। प्रत्येक गोपी यही समझती रही कि श्रीकृष्ण उसीके पास हैं, और किसीके पास नहीं हैं। पूर्णानन्द-घनमूर्ति रसिकशेखर श्रीकृष्णको अपने समीप पाकर अन्य गोपियोंके प्रति दृष्टि करनेका अवकाश भी किसी गोपीको नहीं था—ऐसा प्रतीत होता है। जो हो, दैवात् मण्डलीकी किसी एक गोपीकी ओर श्रीमती राधिकाकी दृष्टि जा पड़ी ; उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण उस गोपीके साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। उसी कालमें वे उनके अपने समीप भी हैं, यह बात योगमायाके प्रभावसे श्रीमती राधिका नहीं जान सकीं। पश्चात् अन्य एक गोपीके प्रति उनकी दृष्टि पड़ी, तब उन्होंनें श्रीकृष्णको उस अन्य गोपीके निकट देखा। यह देखकर उन्होंने समझा कि पूर्व गोपीको त्यागकर श्रीकृष्ण अब इस गोपीके पास आ गये। इस प्रकार श्रीराधिका जिस गोपीकी ओर दृष्टि फेरती हैं, उसी गोपीके पास श्रीकृष्णको देखती हैं और देखकर मान लेती हैं कि श्रीकृष्ण एक-एक करके सबके साथ नृत्य-गीतादि कर रहे हैं, सभीका उपभोग कर रहे हैं। यह देखकर उन्होंने विचारा—"कृष्ण कैसे शठ, कैसे लम्पट, और कैसे मायावी हैं कि मेरे सामने ही इतनी गोपियोंके साथ विहार कर रहे हैं?" यह सोचकर ही उनके मनमें असूयाका उद्रेक हुआ। जैसे ही अपने निकट दृष्टि डाली तो देखा कि वे उनके ही पास हैं। इससे उन्हें और भी क्रोध हुआ ; कारण, उन्होंने सोचा—"अब तक मेरी आँखोंके सामने ही अन्य गोपियोंके साथ विहार करके अन्तमें मेरे पास आये हैं।" उन्होंने और भी विचारा—"अन्य शतकोटि गोपियोंके साथ जिस प्रकार रास-नृत्यादि किया है, उसी प्रकार मेरे साथ भी करने आये हैं ; ऐसी अवस्थामें अन्य गोपियोंके साथ जिस प्रकारका श्रीकृष्णका भाव है, मेरे प्रति भी ठीक वैसा ही भाव है, मेरे प्रति उनके प्रेमका विशेषत्व तो कुछ भी नहीं है, सबके प्रति उनका समान भाव है।" इस प्रकार मनमें आनेपर श्रीराधाके कुटिल-प्रेमने वाम्यभाव धारण किया और वे मान करके क्रोधमें भरकर मण्डली छोड़कर चली गयीं।

तार मध्ये एकमूर्ति—जिन शतकोटि मूर्तियोंसे श्रीकृष्ण शतकोटि गोपियोंके संग रासविलास कर रहे थे, उन शतकोटि मूर्तियोंमें से एक मूर्ति।

साधारण प्रेम—जिस प्रेमसे सबके साथ ठीक एक ही प्रकारका व्यवहार हो; जिस प्रेममें किसीके भी सम्बन्धमें कोई भी विशेषता नहीं हो। **सर्व्वत्र समता**—सब गोपियोंके प्रति एक-सा व्यवहार; दूसरी गोपियोंके साथ जिस प्रकारका व्यवहार, स्वयं श्रीराधाके प्रति भी ठीक उसी प्रकारका व्यवहार। **कुटिलप्रेम** इत्यादि—प्रेम कुटिल होनेके कारण उसमें वामता या वाम्यभाव उत्पन्न हुआ। **वामता**—वाम्य, अदाक्षिण्य।

'कुटिलप्रेम'के स्थानपर 'कुटिलप्रेमे' पाठान्तर भी है; अर्थ—कुटिल प्रेमवश, प्रेमकी कुटिलतावश। प्रेम कुटिल होता है, इसके प्रमाणमें निम्नलिखित श्लोक उद्धृत होता है। रस-पुष्टिके लिए ही प्रेमकी यह कुटिलता है।

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ, श्रृङ्गारभेदकथने ४२. (१५.१०२)

अहेरिव गतिः प्रेम्नः स्वभाव कुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च युनोर्मान उदञ्चति ॥२८॥

अन्वय—**अहेः** (सर्पकी) **इव** (तरह) **प्रेम्नः** (प्रेमकी) **गतिः** (गति) **स्वभावकुटिला** (स्वभावसे ही कुटिल होती है)। **अतः** (इसलिए) **हेतोः** (हेतु रहनेपर) **अहेतोः च** (हेतु न रहनेपर भी) **युनोः** (युवक-युवतीका) **मानः** (मान) **उदञ्चति** (उदित होता है)।

अनुवाद—सर्पकी गतिकी तरह प्रेमकी गति भी स्वभावसे ही कुटिल होती है; इसलिए हेतु रहनेपर अथवा हेतु न रहनेपर भी युवक-युवतीका मान उदय होता रहता है

इस श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार है—प्रेमकी गति स्वभावतः ही कुटिल—वक्र होती है। इसीलिए मानका कोई भी हेतु रहनेपर तो

मान उत्पन्न हो ही सकता है, कोई हेतु न रहनेपर भी केवल प्रेमके स्वभाव-के कारण युवक-युवतीमें मान उत्पन्न हो सकता है। श्रीराधाके मानका हेतु था श्रीकृष्णके व्यवहारकी समता ; अतः श्रीराधा वाम्यभावका अवलम्बन करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

क्रोध करि रास छाड़ि गेला मान करि।
ताँरे ना देखिया व्याकुल हइला श्रीहरि ॥८४॥

श्रीराधा मानवती होकर वाम्यभावका अवलम्बन करनेके कारण रुष्ट होकर रासस्थली छोड़कर चली गयी हैं। उनको रासस्थलीमें न देख पानेसे राधागत-प्राण श्रीकृष्ण अत्यन्त व्याकुल हो गये। व्याकुलताका हेतु परवर्ती दो पयारोंमें व्यक्त हुआ है।

क्रोध करि—श्रीराधाको स्व-सुखवासनाकी गन्धमात्र भी नहीं है। वे श्रीकृष्ण-सुखसे ही सुखी हैं। श्रीकृष्ण यदि शतकोटि गोपियोंके साथ रास-विलास करके सुखी होते हैं, तो इससे श्रीराधाको क्रोध क्यों होता है ? इसका उत्तर—कुटिल-प्रेमके स्वभाव-वश वामता होनेसे क्रोधादि करतीं हैं, अपनी स्व-सुखवासना-वश नहीं।

समुद्रकी तरङ्ग जिस प्रकार समुद्रकी ही अङ्ग-विशेष है, बाहरकी कोई वस्तु नहीं, उसी प्रकार मलिनता, कुटिलता, वामता आदि भी प्रेमके अङ्ग-विशेष हैं, प्रेमकी एक-एक विशेष-अवस्था मात्र हैं, बाहरकी कोई वस्तु नहीं हैं ; अतः इन्हें प्रेमकी मलिनता नहीं समझना चाहिये, इन सबके द्वारा प्रेम और भी आस्वादनीय होता है।

सम्यक् सार वासना कृष्णेर रासलीला।
रासलीला-वासनाते राधिका शृङ्खला ॥८५॥

सम्यक् सार वासना—उपर्युक्त 'कंसारिरपि संसार-वासनाबद्ध-शृङ्खला' इत्यादि श्लोकस्थ 'संसार-वासना' शब्दका अर्थ किया गया है 'सम्यक् सार वासना', 'सम्यक् रूपसे सार या सारभूत वासना'।

श्रीकृष्णकी जितनी वासनाएँ हैं, उन सबमें 'रासलीलाकी वासना ही सम्यक् रूपसे सारभूत वासना'—सर्वापेक्षा प्रधान वासना है। विभिन्न भगवत्-स्वरूपोंसे एवं स्वयं रूपसे भी श्रीकृष्णकी अनन्त लीलाएँ हैं। इन सब लीलाओंमें-से प्रत्येक उनकी मनोहारिणी है; किन्तु रासलीलाकी मनोहरता सर्वातिशायी है। इसीसे श्रीकृष्णने स्वयं ही कहा है—रासलीला आस्वादनकी बात तो अलग रही, रासलीलाकी बात मनमें आते ही उनके मनकी अवस्था किस प्रकारकी हो जाती है, उसको वे स्वयं भी नहीं बता सकते।

सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत्॥

भ.र.सि. २.१.१११. (२.१.१०९) धृत वृहद्वामनपुराणवचन।

यह रासलीला स्वयं श्रीकृष्णकी भी चमत्कृति-वर्द्धनकारिणी है।

हरेरपि चमत्कृतिप्रकर-वर्द्धनः किन्तु मे विभर्ति हृदि
विस्मयं कमपि रासलीलारस। भ. र. सि. २.१.१११

श्रीकृष्णकी रासलीला ही सब लीलाओंकी मुकुटमणि है, इसीसे रास-लीलाकी वासना उनकी सर्वापेक्षा प्रधान वासना है।

रासलीला वासनाते राधिका श्रृङ्खला—किसी भी वस्तुको बाँधकर रखनेके लिए जैसे श्रृङ्खला (साँकल—जंजीर) की आवश्यकता होती है, श्रीकृष्णकी रासलीला वासनाको आबद्ध करके रखनेके लिए, दृढ़ीकरणके लिए कोई एक श्रृङ्खलाकी आवश्यकता है। यह श्रृङ्खला ही श्रीराधा है। अर्थात् श्रीकृष्णके रासक्रीड़ाकी एकमात्र उपाय है श्रीराधिका; श्रीकृष्णकी रासक्रीड़ा वासनाकी परमाश्रय-स्वरूपा हैं श्रीराधिका। श्रीराधिकाके बिना रासक्रीड़ा असम्भव है, यही इसका भावार्थ है।

किसी-किसी ग्रन्थमें प्रथम पयार्द्धके स्थानपर 'सम्यक् वासना कृष्णेर इच्छा रासलीला' पाठान्तर मिलता है। इसमें 'वासना' और

'इच्छा'—ये दोनों शब्द एकार्थ बोधक हैं, केवल मूल पयारके 'सार-वासना' का 'सार' इसमें नहीं है।

ताँहा बिनु रासलीला नाहि भाय चिते।
मण्डली छाड़िया गेला राधा अन्विषिते ॥८६॥

ताँहा बिनु—श्रीराधाके बिना। नाहि भाय—प्रकाश नहीं होता, स्फुरित नहीं होता। मण्डली छाड़िया—रासस्थली छोड़कर।

श्रीराधाके चले जानेपर, रासस्थलीमें श्रीराधाके अतिरिक्त और सभी गोपियाँ थीं, तो भी रासलीलामें श्रीकृष्णका मन नहीं रहा। श्रीराधाकी अनुपस्थितिका विषाद शतकोटि गोपियोंकी उपस्थितिसे भी दूर नहीं हुआ। इसीलिए श्रीराधाका अन्वेषण करनेके लिए श्रीकृष्ण स्वयं रासस्थली छोड़कर चले गये—वे छिपकर नहीं गये, सब गोपियोंके सामने—उन सबकी उत्सुक-दृष्टिके सामने—उनकी उपस्थितिकी उपेक्षा करके चले गये। सभी गोपियाँ समझ गयीं कि श्रीकृष्ण किस उद्देश्यसे कहाँ जा रहे हैं।

पूर्ववर्ती ७७-७८ संख्यक पयारोंकी उक्तिका उत्तर इस पयारमें दिया गया। प्रथमतः कहा गया है—श्रीकृष्ण राधाको यहाँ 'चोरी' करके नहीं ले गये। मान करके, श्रीकृष्णसे नाराज होकर श्रीराधा पहले ही रासस्थली छोड़कर चली गयीं; वे श्रीकृष्णके इङ्गितसे, श्रीकृष्णके साथ युक्ति करके नहीं गयीं। द्वितीयतः कहा गया है—श्रीराधाके न दिखायी देने पर अन्यान्य शतकोटि गोपियोंके सामने ही, उनके देखते-देखते, उनकी जानकारीमें, उन सबकी उपस्थितिकी उपेक्षा करके ही श्रीकृष्ण श्रीराधाका अन्वेषण करनेके लिए प्रकाश्य भावसे रासस्थली छोड़कर चले गये। इससे स्पष्ट समझा जाता है कि श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णका प्रेम अन्य गोपियोंकी कोई भी अपेक्षा नहीं रखता। अतः श्रीराधाप्रेमके साध्य-शिरोमणित्वके सम्बन्धमें श्रीमन् महाप्रभुने जो आपत्ति उत्थापन की, वह आपत्ति निराधार प्रमाणित हुई।

श्रीकृष्णकी काम-खिन्नता

इतस्ततः भ्रमि काहाँ राधा ना पाइया ।

विषाद करेन काम-वाणे खिन्न हैया ॥८७॥

पूर्ववर्ती 'इतस्ततस्तामनुस्मृत्य' इत्यादि श्लोकके अनुवादमें यह पयार है। **कामवाणे खिन्न हैया**—श्लोकस्थ 'अनङ्गवाण-व्रणखिन्नमानसः' शब्दका अर्थ है।

यहाँपर जो 'काम' का उल्लेख हुआ है, वह प्राकृत काम नहीं है, यह प्रेमकी एक वैचित्रीविशेष है। कामका तात्पर्य है निजका सुख। यहाँ पर श्रीकृष्ण अपने सुखके निमित्त चञ्चल होकर श्रीराधाके अनुसन्धानमें नहीं निकले। श्रीराधा जिस प्रकार श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिए उत्कण्ठिता हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी श्रीराधाको सुखी करनेके निमित्त उत्कण्ठित हैं। श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णके प्रेमसे ही इस उत्कण्ठाका उद्भव है एवं इस प्रेमजनित उत्कण्ठाको ही यहाँ काम कहा गया है। श्रीराधिका निजाङ्ग द्वारा सेवा करके श्रीकृष्णको सुखी करना चाहती हैं; उनके प्रेमके वशीभूत होकर श्रीकृष्ण भी निजाङ्ग द्वारा सेवा करके, अथवा श्रीराधाका प्रार्थित सेवादान करके, श्रीराधाका सुख-सम्पादन करनेको उत्कण्ठित हैं। प्राकृत काममें पशुवत् क्रिया है, श्रीकृष्ण और व्रज-गोपियोंका व्यवहार वैसा नहीं है। उज्ज्वलनीलमणिके सम्भोग-प्रकरणमें—

दर्शनालिङ्गनादीनामानुकुल्यान्निसेवया ।

यूनोरुल्लासमारोहन् भावः सम्भोग ईर्य्यते ॥ (उ.नी. १५.१८८)

श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है—'**सानुकुल्यादिति काममयः सम्भोगो व्यावृतः**। एवं श्रीचक्रवर्तीपादने लिखा है—'**यूनोर्नायिका नायकयोः परस्पर-विषयाश्रययोर्दर्शनालिङ्गन-चुम्बनादीनां नितरां या सेवा वात्स्यायन-भरत-कलाशास्त्रोक्तरीत्या**

आचरणं तयेति। पशुवच्छृङ्गारो व्यावृतः। आनुकुल्यात् परस्परसुखतात्पर्य्यकत्वेन पारस्परिकादित्यर्थः।' श्रीकृष्ण और व्रजसुन्दरियोंके व्यवहारमें परस्परके सुखके निमित्त परस्परका दर्शन-आलिङ्गन-चुम्बनादि हैं तो; किन्तु पशुवत् शृङ्गार नहीं है। प्रियके सुखके लिए प्रियाको, एवं प्रियाके सुखके लिए प्रियको आलिङ्गनादिकी स्पृहा उत्पन्न होती है; यह आलिङ्गनादिकी स्पृहा भी ह्लादिनीशक्तिकी वृत्तिविशेष है प्रेमकी वैचित्रीविशेष है। जिसको क्षुधा नहीं हो, उसको भोजन कराना, या जिसको प्यास नहीं हो उसको जल पिलाना—इससे भोजन करानेकी और जल-पान करानेकी उत्कण्ठा परितृप्त नहीं होती। क्षुधा-तृष्णा जितनी अधिक बलवती होगी, पान-आहार कराके पान-आहार करानेकी उत्कण्ठा भी उतनी ही अधिक तृप्ति लाभ करेगी—यह स्वाभाविक नियम है। इसीसे भगवान् स्वरूपतः निर्विकार एवं आत्माराम होनेपर भी, किसीकी सेवा-ग्रहणकी आवश्यकता उन्हें न रहनेपर भी, भक्तके प्रति अनुग्रह प्रकाशित करनेके निमित्त, भक्तको कृतार्थ करनेके निमित्त, भक्तकी सेवा ग्रहण करनेकी इच्छा एवं प्रयोजनीयताका अनुभव चिच्छक्तिकी क्रियासे ही भगवान्‌के चित्तमें उद्‌बुद्ध होता है। भगवान् **'रसो वै सः'**—रस रूपसे भक्तके द्वारा आस्वाद्य हैं एवं रसिक रूपसे वे भक्तके प्रेमरस-निर्यासादिके आस्वादक हैं। उनमें आस्वादनकी स्पृहा न रहे तो वे आस्वादनका आनन्द उपभोग नहीं कर सकते, उनकी रसिकता भी वृथा हो जाती है; इसीलिए लीलारस आस्वादनके लिए रसास्वादन-की स्पृहा भी लीलाशक्तिकी क्रियासे उनमें उद्‌बुद्ध होती है। देखनेमें ये सब स्पृहा उनके अपने लिए प्रतीयमान होनेपर भी इसके परिपूरणमें जो आनन्द और तृप्ति होती है, वह आनन्द और तृप्ति श्रीकृष्णके अपने लिए होती-सी दीखनेपर भी इसका पर्यवसान भक्तकी प्रीतिमें ही होता है। श्रीकृष्णकी प्रीति देखकर भक्त प्रीतियुक्त होते हैं, इसीसे भक्तवत्सल श्रीकृष्णके चित्तमें लीलाशक्ति और कृपाशक्ति इन सब स्पृहाओंको जगा

देती है, जिससे भक्त परम-उत्साहसे, प्राणपनसे उनकी सेवा करके धन्य हो सके, एवं उसके द्वारा रस-स्वरूप श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यादि आस्वादन करके कृतार्थ हो सके। गोपीप्रेमकी विशेषताके सम्बन्धमें कहा जा चुका है—

········अद्भुत गोपीभावेर स्वभाव।
बुद्धिर गोचर नहे जाहार प्रभाव॥
गोपीगण करे जबे कृष्ण-दरशन।
सुखवाञ्छा नाहि, सुख हय कोटिगुण॥
गोपिका दर्शने कृष्णेर जे आनन्द हय।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय॥
ताँ सँभार नाहि निज सुख-अनुरोध।
तथापि बाढ़ये सुख, पड़िल विरोध॥
ए विरोधेर एक एइ देखि समाधान।
गोपिकार सुख कृष्णसुखे पर्य्यवसान॥
अतएव सेइ सुखे (गोपी सुखे) कृष्णसुख पोषे।
एइ हेतु गोपीप्रेमे नाहि कामदोषे॥

चै.च.आ.४.१५६-१६०,१६६

गोपीभावका ऐसा ही अद्भुत—आश्चर्यजनक स्वभाव है। वह बुद्धिके गोचर नहीं है। अग्निमें हाथ देनेसे न चाहनेपर भी हाथ जल जाता है; क्यों जल जाता है, यह बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता, यह तो अग्निका वस्तुगत धर्म है। इसी प्रकार गोपीके दर्शनकर श्रीकृष्णको जो आनन्द होता है, श्रीकृष्णके दर्शनकर सुख-वाञ्छा न रहनेपर भी गोपीको उससे कोटिगुणा आनन्द होता है। सुखकी लालसा न रहनेपर भी सुख होना —यह विरोधाभास है। इसका समाधान यही है कि गोपियोंके सुखका कृष्णसुखमें पर्यवसान है—अर्थात् कृष्णको सुखी देखकर कृष्णप्रेमके वस्तुगत धर्मके अनुसार गोपियोंके चित्तमें सुखका उदय होता है; और गोपियोंको

सुखी—प्रफुल्ल देखकर श्रीकृष्णको भी आनन्द-वृद्धि होती है ; सुखके आस्वादनके बिना सुख-प्रफुल्लता उत्पन्न नहीं हो सकती और इच्छा न रहने पर सुखका आस्वादन सम्भव नहीं, इसीसे कृष्ण-सुखकी पुष्टिके उद्देश्यसे लीलाशक्ति ही गोपियोंके चित्तमें, उनके अनजानेमें ही कृष्णसुख-दर्शनजात आनन्द-आस्वादनकी स्पृहा जगा देती है और उनके द्वारा यह आनन्द आस्वादन कराती है, जिसके फलस्वरूप उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें प्रफुल्लताकी एक उज्ज्वल तरङ्ग खेलती रहती है, जिस तरङ्गको देखकर कृष्णका सुख भी शतगुण वर्द्धित होता रहता है। स्थूल बात यह है कि गोपियोंके चित्तमें सुखका उद्रेक होता है कृष्ण-सुख-दर्शनसे, अपनी सुख-वासनासे नहीं ; और लीलाशक्ति उनके चित्तमें उस आस्वादनकी इच्छा भी उत्पन्न करती है केवल कृष्णसुखकी पुष्टिके निमित्त, गोपियोंके सुख-आस्वादनके निमित्त नहीं ; गोपीगण कर्तृक उस सुखास्वादनके फलसे श्रीकृष्णका सुख ही वर्द्धित होता है, अतः गोपियोंका सुख भी कृष्णके सुखमें परिणति प्राप्त करता है। गोपियोंके लिए कृष्णदर्शनजनित सुख आस्वादनका प्रवर्तक हुई कृष्णसुखपुष्टिकी वासना, अपने सुखपुष्टिकी वासना नहीं। अतएव सुखवाञ्छाके अभावमें भी सुखास्वादनमें कोई भी विरोध नहीं रह सकता —देखनेमें जो विरोध लगता है, वह वास्तवमें विरोध नहीं है। अतएव गोपियोंके चित्तमें जो सुख होता है, वह सुख भी श्रीकृष्णका सुख पोषण—वर्द्धन करता है (कारण, सुखसे गोपियोंकी प्रफुल्लता और शोभा बढ़ती है, उसको देखकर कृष्ण सुखी होते हैं) ; गोपियोंका यह सुख कृष्णके सुखवृद्धि-का निमित्त है, इसलिए गोपीभावमें कामदोष नहीं रह सकता।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात कही जाती है ; भक्तकृत सेवाग्रहणकी इच्छाके, अथवा लीलारस-आस्वादनकी इच्छाके परिपूरणमें श्रीकृष्णको जो सुख होता है, उससे भक्तोंके या लीलापरिकरोंके सुखकी ही पुष्टि साधित होती है, इसलिए यह काम नहीं है। सम्भोग स्पृहादिका भी तात्पर्य इसी प्रकारका है—**'परस्परसुखतात्पर्यकत्वेन**

पारस्परिकादित्यर्थः—चक्रवर्ती । उ.नी. सम्भोग प्रकरण श्लोक ४ की टीका।' मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः॥ यही श्रीकृष्णकी उक्ति है।

जो हो, भगवान्‌की सेवा करनेकी इच्छा जिस प्रकार भक्तके हृदयमें नित्य वर्तमान रहती है, उसी प्रकार भक्त कर्तृक सेवाग्रहणकी या भक्तके प्रेमरस-निर्यास-आस्वादनकी स्पृहा भी भगवान्‌के हृदयमें नित्य वर्तमान रहती है। भगवान् जब जिस प्रकारके भक्तके या लीला-परिकरके सान्निध्यमें रहते हैं, तब उसी भावकी सेवाप्राप्तिके निमित्त—उसी भावके भक्तके प्रेमरस-निर्यास आस्वादनके निमित्त ही उनकी स्पृहा बलवती हो उठती है; भक्त उसको जान सकनेपर तदनुरूप सेवा द्वारा उनकी तृप्ति विधान करते हैं। भगवान्‌की अभीष्ट सेवा न कर पा सकनेसे भक्त जिस प्रकार उत्कण्ठा और विषादसे खिन्न हो जाता है, प्रिय भक्तकी सेवा ग्रहण न कर सकनेपर—प्रिय भक्तके प्रेमरसनिर्यास-आस्वादन न कर पा सकनेपर भक्तवत्सल भगवान् लीलाशक्तिकी क्रियासे उसी प्रकार खिन्न हो जाते हैं (ऐसा न होनेपर, भक्तका प्रेम एवं भगवान्‌का भक्तवात्सल्य या प्रेमवश्यता निरर्थक हो जाती है)।

रासस्थलीमें व्रजगोपियोंके सान्निध्यवश कान्ताभावकी सेवा ग्रहण करनेके निमित्त एवं मधुर-रस आस्वादन करनेके निमित्त श्रीकृष्णकी स्पृहा जाग्रत होना स्वाभाविक है। प्रेम-पराकाष्ठाकी प्रतिमूर्ति महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधाके सान्निध्यवश श्रीकृष्णकी यह स्पृहा एवं तज्जनित उत्कण्ठा चरम सीमाको प्राप्त हुई थी; कारण, श्रीराधाकी सेवा-वासना भी असमोर्द्ध—चरमसीमा-प्राप्त थी। श्रीराधाके रासस्थली त्यागकर चले जानेपर उनकी पराकाष्ठा-प्राप्तसेवा ग्रहण न कर पा सकनेपर श्रीकृष्ण अत्यन्त खिन्न हो गये; यही श्रीकृष्णके कामवाणसे खिन्न होनेका तात्पर्य है। कामका अर्थ है वासना, यहाँपर कान्तागण-शिरोमणि श्रीराधाकी सेवा ग्रहण करनेकी वासना; वही वासनारूप वाण कामवाण; उसके

द्वारा खिन्न। वाणसे विद्ध होनेपर जिस प्रकारकी यन्त्रणा होती है, कान्ताकी सेवाग्रहणकी आशा एवं श्रीराधाके प्रीतविधानकी आशा भंग होनेसे श्रीकृष्णके मनमें वैसी ही यन्त्रणा हुई थी—यही तात्पर्य है।

श्रीराधाका सर्वप्रेयसी शिरोमणित्व

शतकोटि गोपीते नहे काम-निर्व्वापण।
इहातेइ अनुमानि श्रीराधिकार गुण ॥८८॥

काम—प्रेयसीकी सेवाके ग्रहणकी या कान्ताप्रेम आस्वादनकी वासना। **निर्व्वापण**—बुझा देना, शान्त कर देना ; जैसे अग्नि बुझा देना, शान्त कर देना। **कामनिर्व्वापन**—काम-रूप अग्निका शान्त करना। भगवान् जब जिस भावके भक्तके सान्निध्यमें रहते हैं, तब उसी भावके भक्तकी सेवा ग्रहणकी—उसी भावके भक्तके प्रेमरस आस्वादनकी वासना उनके चित्तमें जाग्रत होती है (पूर्व पयारकी टीका देखिये)। रासस्थलीमें कान्तागणके द्वारा परिवेष्टित और आलिङ्गित होकर रहनेसे श्रीकृष्णके चित्तमें कान्ताप्रेम आस्वादनकी वासना जाग्रत हुई थी ; रासक्रीड़ा द्वारा वह वासना ही परिपूरणकी ओर अग्रसर हो रही थी, अचानक श्रीराधाके रासस्थली छोड़कर चले जानेपर, ज्येष्ठ मासके रौद्रसे तप्त तीव्र-पिपासातुर व्यक्तिके हाथसे प्रथम घूँट लेनेके बाद ही सुगन्धित और सुशीतल शर्बतका गिलास ले लिये जानेपर उसकी प्यास जिस प्रकार अधिकतर तीव्रता धारण करके ज्वालामयी हो उठती है, उसी प्रकार श्रीराधाके अचानक रासस्थली छोड़ जानेपर, श्रीकृष्णकी कान्ताप्रेमरस-आस्वादनकी वासना भी अचानक मानो तीव्रतर हो उठी, घृत-आहुति-प्राप्त अग्निकी तरह दहक उठी ; श्रीकृष्ण और किसी भी प्रकार उस अग्निको शान्त नहीं कर सके ; वहाँ रासस्थलीपर शतकोटि गोप किशोरियाँ

विद्यमान रहनेपर भी श्रीकृष्णकी कान्ताप्रेमरस-आस्वादनकी वासना प्रशमित नहीं हुई, उनके द्वारा प्रशमित होनेकी सम्भावना भी श्रीकृष्णको नहीं दीखी ; उनको लगा कि श्रीराधाकी सेवा बिना, श्रीराधाके प्रेमरस सिञ्चन बिना इस अग्निके शान्त होनेकी सम्भावना नहीं है। राज-प्रासादमें अग्नि लगनेपर लोटा-लुटियाके जलसे या लोटा-लुटिया भरकर तालाबके जलसे वह अग्नि बुझायी नहीं जा सकती ; बहुत शक्तिशाली साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है—अग्निशामक-दल द्वारा तीव्र वेगसे अजस्र धारासे जल डालनेपर ही उस अग्निके बुझनेकी सम्भावना होती है, इसीसे प्रासादवासी लोटा-लुटियाके लिए दौड़ा-दौड़ी न करके या तालाबके घाट पर न जाकर, अग्निशामक-दलके पास दौड़कर जाते हैं। श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार कान्ताप्रेमरस-आस्वादनकी तीव्र वासनासे निपीड़ित होकर रासस्थली स्थित शतकोटि गोपियोंकी उपेक्षा करके श्रीराधाके अन्वेषणके लिए चल दिये। इससे स्पष्ट समझा जाता है कि कान्ताप्रेमरस-आस्वादनकी वासना जिस परिमाणमें शतकोटि गोपियों द्वारा तृप्ति पा सकती थी, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक परिमाणमें श्रीकृष्णके चित्तमें वासना जाग्रत हुई थी तथा यह अधिक परिमाणकी वासना इन शतकोटि गोपियोंके साहचर्यसे जाग्रत नहीं हुई थी ; यदि ऐसा होता तो उनके द्वारा ही उसकी तृप्ति हो सकती थी। तब मानना पड़ेगा कि वे श्रीराधा रास-स्थलीमें पहले उपस्थित थीं, उन श्रीराधाके साहचर्यसे ही—श्रीराधाकी अपनी सेवा-वासनाकी प्रतिक्रियासे ही—श्रीकृष्णके चित्तमें यह अधिक-परिमित कान्ता-प्रेमास्वादन-वासना जाग्रत हुई है ; अतएव श्रीराधाके अतिरिक्त और किसीके भी द्वारा—यहाँतक कि शतकोटि गोपियोंकी सम्मिलित प्रेमसेवाद्वारा भी यह वासना तृप्त नहीं हो सकती थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्यान्य शतकोटि गोप-सुन्दरियोंका प्रेम एकत्र करनेपर जितना होता है, अकेली श्रीराधाका प्रेम उसकी अपेक्षा 'बहुत अधिक है। इसीसे श्रीराधाका प्रेम साध्य-शिरोमणि है।

प्रभु कहे—जे लागि आइलाङ् तोमा स्थाने।
सेइ-सब-रसवस्तुतत्त्व हैल ज्ञाने ॥८६॥

रसवस्तुतत्त्व—रसरूप वस्तुका तत्त्व या विवरण। रस-शब्दका तात्पर्य भूमिका ग्रन्थमें 'भक्तिरस' शीर्षक प्रबन्धमें देखिये। किसी-किसी ग्रन्थमें 'वस्तुतत्त्व' पाठान्तर मिलता है।

प्रभुने कहा—जिस लिए मैं तुम्हारे पास आया, वह सब—रसवस्तु-तत्त्वकी जानकारी हो गयी।

एबे से जानिल सेव्य-साध्येर निर्णय।
आगे आर किछु शुनिबार मन हय ॥९०॥

एबे—तुमसे तत्त्व कथा सुनकर। **सेव्य-साध्य**—सेव्य श्रीकृष्ण एवं साध्य श्रीराधाप्रेम। 'सेव्यसाध्य' की जगह 'साध्यसाधन' पाठान्तर भी है।

रायके मुखसे उल्लिखित विवरण सुनकर राधाप्रेमकी सर्वातिशायी महिमाकी जानकारी पाकर प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रीति-गद्गद कण्ठसे राय रामानन्दसे कहा—जिस लिए मैं तुम्हारे पास आया था वह सब रसवस्तु-तत्त्वकी जानकारी मिली; सेव्य वस्तु क्या है, साध्य वस्तु क्या है—इसका भी निर्णय हुआ। किन्तु प्रभुका कौतुहल मानो अभी भी उपशान्त नहीं हुआ। इसीसे उन्होंने कहा—आगे और भी कुछ सुननेका मन होता है। प्रतीत होता है कि राधाप्रेमकी महिमाके सम्बन्धमें और भी कुछ सुननेके लिए प्रभुकी इच्छा हुई। किन्तु प्रभुने जिज्ञासा कुछ और ही की। (परवर्ती पयारकी टीका देखिये)।

कृष्णेर स्वरूप कह—राधिका स्वरूप।
रस कोन् तत्त्व, प्रेम कोन् तत्त्व रूप? ॥९१॥
कृपा करि एइ तत्त्व कह त आमारे।
तोमा नहि केहो इहा निरूपिते नारे ॥९२॥

प्रभुने रामानन्द रायसे जिज्ञासा की—"कृष्णका स्वरूप क्या है, राधिकाका स्वरूप क्या है, रसका तत्त्व क्या है और प्रेमका तत्त्व क्या है ?" यह प्रश्न सुनकर ऐसा लग सकता है कि साध्य-तत्त्व एवं राधा-प्रेमकी महिमाके सम्बन्धमें प्रभुने जो जानना चाहा था, वह सब जाना जा चुका ; अब अन्य प्रसंग उठाया गया है। ऐसा लग सकता है कि सेव्य और साध्य विषयके तत्त्वज्ञान बिना सेवा और साधनमें प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती ; इसीलिए मानो प्रभुने सेव्य और साध्यका स्वरूप विषयक एवं रसादि तत्त्वविषयक प्रश्न किया है। किन्तु प्रभुके प्रश्नका उद्देश्य वैसा नहीं लगता। परवर्ती पयारोंसे स्पष्ट हो जायगा कि अभी तक साध्यतत्त्वके सम्बन्धमें प्रभुका कौतुहल निवृत्त नहीं हुआ। राय रामानन्दने राधाप्रेमको साध्यशिरोमणि बताया है ; उसी प्रसङ्गमें प्रभुने राधाप्रेमकी महिमा जाननी चाही है। उनका उद्देश्य है—प्रेमकी महिमा-के चरमतम विकाश अर्थात् साध्यशिरोमणि राधा-प्रेमके विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करना। राधाप्रेमकी महिमाके सम्बन्धमें इससे पहले प्रभुने एक प्रश्न पूर्वपक्षके रूपमें उठाया था। वसन्त-रासके दृष्टान्तसे राय रामानन्दने उसका समाधान किया। इस समाधानसे प्रभु सन्तुष्ट हुए ; किन्तु राधाप्रेमकी महिमाके सम्बन्धमें प्रभुका कौतुहल तब भी बना रहा। इसीसे उन्होंने कहा—"अब साध्यका निर्णय तो जान लिया—अर्थात् राधाप्रेम ही चरम साध्य वस्तु है, यह समझमें आ गया।" किन्तु 'राधाप्रेम साध्यशिरोमणि है, वह समझमें आ गया'—यह बात प्रभुने नहीं कही। प्रभुका मनका भाव ऐसा लगता है—"अन्यनिरपेक्षता प्रेमकी महिमाकी परिचायक है, यह सत्य है ; एवं राधाका प्रेम अन्य-निरपेक्ष है, यह भी सत्य है। किन्तु केवल अन्यनिरपेक्षता ही राधाप्रेमकी चरमतम विकाशकी परिचायक नहीं है। राधा-प्रेम विकाशकी जिस चरमतम सीमामें पहुँचकर उपस्थित हुआ, वह जबतक नहीं जाना जायगा, तबतक उसको साध्यशिरोमणि कहना सङ्गत नहीं होगा।" वास्तवमें राधाप्रेम

विकाशकी जिस चरमतम सीमातक पहुँचा है, वह बात राय रामानन्दके मुखसे प्रकाश करानेके अभिप्रायसे प्रभुने कहा—"आगे और भी कुछ सुननेका मन होता है।" किन्तु प्रभुने प्रकाश्य भावसे किसी भी प्रकारका पूर्वपक्ष उपस्थित न करके एक प्रकारके कौशल—(चतुराई) का आश्रय ग्रहण किया। इस कौशलके प्रथम स्तवकका पता चलता है कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व आदिके सम्बन्धकी जिज्ञासासे। और एक स्तवक विकशित होगा विलासतत्त्वकी जिज्ञासामें।

जिन श्रीकृष्णको श्रीराधाके प्रेमने सम्यक् रूपसे वशीभूत कर रखा है, जिन कृष्णकी अन्यापेक्षाको दूर कर दिया है, उन कृष्णका तत्त्व जाने बिना राधाप्रेमकी महिमाका गुरुत्व सम्यक् रूपसे जाना नहीं जा सकता। इसीसे कृष्ण तत्त्वके सम्बन्धमें प्रभुकी जिज्ञासा है। पवनके वेगसे तृणादि हिलते हैं, तरु-गुल्मादि हिलते हैं; और विराट वृक्ष भी उखड़ जाते हैं। जिस वेगसे विराट वृक्षतक उखड़ जाते हैं, उनकी शक्ति या महिमा बहुत अधिक है। अतएव वायुवेगकी शक्तिका परिमाण जाननेके लिए जिस वस्तुपर उसका प्रभाव दीखता है, उसका स्वरूप जानना आवश्यक है—वह क्षुद्र तृण है या विराट वृक्ष, यह जानना आवश्यक है।

राधाके जिस प्रेमने कृष्णको उल्लिखित रूप अवस्थामें ला दिया है, उन राधाका तत्त्व जाने बिना उनके प्रेमकी महिमा सम्यक् रूपसे नहीं जानी जा सकती। इसलिए राधातत्त्वके सम्बन्धमें प्रभुकी जिज्ञासा है। सभी प्रकारके रसगुल्लोंमें आस्वाद्यतत्त्व है; किन्तु किसी-किसी मिष्टान्न बनानेवालेके रसगुल्लोंकी आस्वादन-चमत्कारिता अपूर्व होती है। इसीसे रसगुल्लोंकी आस्वादन-चमत्कारिताका परिचय पानेके लिए मिष्टान्न बनानेवालेका परिचय भी जानना आवश्यक है।

जिस प्रेमका ऐसा अद्भुत प्रभाव है, उस प्रेमका तत्त्व क्या है? वह प्रेम स्वरूपतः क्या वस्तु है?—इसके जाने बिना भी उसकी महिमा सम्यक् रूपसे उपलब्ध नहीं हो सकती। इसीसे प्रेमतत्त्वके सम्बन्धमें जिज्ञासा है।

यह मणि जो इस अन्धकारमें चम-चम कर रही है, यह क्या सर्पके मस्तककी मणि है या कोई खनिज मणि है, या स्पर्शमणि—यह निश्चित रूपसे जाननेपर ही उसके मूल्यादिके सम्बन्धमें निश्चित धारणा करना सम्भव हो सकता है।

रसस्वरूप श्रीकृष्ण जिस रसके विकाश हैं, उस रसका तत्त्व जाने बिना भी प्रेमकी महिमा सम्यक् रूपसे जानी नहीं जा सकती ; क्योंकि परिकर भक्तोंके प्रेमके प्रभावसे ही रसतत्त्वका विकाश होता है। राधाप्रेमके प्रभावसे श्रीकृष्णमें जिस रसत्वका विकाश होता है, उसके स्वरूपकी जानकारी होनेसे ही राधाप्रेमकी महिमा भी जानी जाती है। इसीलिए रसतत्त्वके सम्बन्धमें प्रभुकी जिज्ञासा है।

राय कहे—इहाँ आमि किछुइ ना जानि।
जे तुमि कहाओ सेइ कहि आमि वाणी ॥९३॥
तोमार शिक्षाय पढ़ि—जेन शुकेर पाठ।
साक्षात् ईश्वर तुमि, के बुझे तोमार नाट ? ॥९४॥
हृदये प्रेरण कर, जिह्वाय कहाओ वाणी।
कि कहिये भाल मन्द किछुइ ना जानि ॥९५॥

राय रामानन्दने उत्तर दिया—"मैं तो (तुमने जो कुछा पूछा) वह कुछ भी नहीं जानता, तुम जो कहलाना चाहते हो, वही मेरी वाणी कहती है। जैसे शुक पक्षीको जो पाठ पढ़ाया जाता है, वही वह पढ़ता है। ऐसे ही तुम जो पढ़ाते हो, वही मैं पढ़ देता हूँ। तुम साक्षात् ईश्वर हो। तुम्हारा नाट—रहस्य कौन जान सकता है ? हृदयमें प्रेरणा करके जिह्वासे वाणी कहाते हो। मेरे मुँहसे अच्छा बुरा, क्या निकलता है, मैं तो कुछ भी नहीं जानता।

प्रभु कहे—मायावादी आमि त सन्न्यासी।
भक्ति तत्त्व नाहि जानि, मायावादे भासि ॥९६॥
सार्व्वभौम-सङ्गे मोर मन निर्म्मल हैल।
कृष्णभक्ति तत्त्वकथा ताँहारे पुछिल ॥९७॥
तेंहो कहे—आमि नाहि जानि कृष्णकथा।
सबे रामानन्द जाने, तेंहो नाहि एथा ॥९८॥
तोमार ठाँइ आइलाङ् तोमार महिमा सुनिञा।
तुमि मोरे स्तुति कर सन्न्यासी जानिञा ॥९९॥

यहाँपर आत्मगोपनके लिए प्रभुकी दैन्योक्ति है।

प्रभुने कहा—"मैं तो मायावादी संन्यासी हूँ, भक्तितत्त्व कुछ नहीं जानता, मायावादमें डूबा रहता हूँ। सार्वभौमके संगसे मेरा मन निर्मल हुआ, तब मैंने उनसे कृष्णभक्ति तत्त्वकथा पूछी। उन्होंने उत्तर दिया कि मैं तो कृष्णकथा जानता नहीं, रामानन्द सब जानते हैं। वे यहाँ हैं नहीं। तुम्हारी महिमा सुनकर तुम्हारे पास आया हूँ और तुम मेरा संन्यासीवेश देखकर मेरी स्तुति कर रहे हो।

ये सब प्रभुकी दैन्योक्ति है। वे वास्तवमें मायावादी नहीं थे। इसका प्रमाण यही है कि वासुदेव सार्वभौम और प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ वेदान्त-विचारमें उन्होंने मायावादका खण्डन कर परब्रह्मके सविशेषत्व एवं परब्रह्म श्रीकृष्णका सच्चिदानन्द-विग्रहत्व स्थापन किया था; ज्ञान-योग-कर्मादिसे भक्तिका उत्कर्ष एवं श्रीकृष्णप्रेमकी परमपुरुषार्थता प्रतिपन्न करके प्रेमप्राप्तिके उपाय रूपमें भक्तिमार्गके साधनका ही उपदेश दिया था।

सार्वभौम भट्टाचार्यको अपनी मायासे मुग्ध करके प्रभुने जो उनके मुखसे

भक्तिका माहात्म्य प्रकाश कराया था, इस बातका श्रीवृन्दावन दास ठाकुरने अपने श्रीचैतन्य भागवत ग्रन्थमें वर्णन किया है।

सन्न्यासी जानिञा—संन्यासी जानकर। मैं संन्यासी हूँ, तुम गृही हो ; इसलिए तुम समझते हो कि मुझे उपदेश देनेका तुम्हें अधिकार नहीं है। किन्तु रामानन्द ! तुम्हारी इस प्रकारकी धारणा संगत नहीं है। कृष्णतत्त्वज्ञान ही होता है उपदेश-दानकी योग्यताका परिचायक, वर्ण या आश्रम योग्यताका परिचायक नहीं। तुम कृष्णतत्त्ववेत्ता हो, श्रीकृष्णके सम्बन्धमें परोक्ष एवं अपरोक्ष—दोनों प्रकारका ज्ञान तुमको है; अतएव कृष्णतत्त्व-विषयक उपदेश देनेकी सम्यक् योग्यता तुम्हारेमें है, संन्यासीको भी तुम उपदेश देनेमें समर्थ हो। पारमार्थिक कार्यमें सामर्थ्य ही अधिकार दान करती है। कृष्णकथा सुननेके लिए प्रद्युम्न मिश्रको राय रामानन्दके पास भेजकर प्रभुने यह अधिकारकी बात स्पष्ट कर दी।

गुरु कौन हो सकता है ?

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
जेइ कृष्ण-तत्त्व-वेत्ता—से-इ गुरु हय ॥१००॥

किवा विप्र किवा न्यासी—विप्र हो, संन्यासी हो, चाहे शूद्र हो, जो श्रीकृष्णतत्त्वसे अवगत हैं, वे ही गुरु हो सकते हैं। यहाँपर 'गुरु' शब्द द्वारा 'शिक्षागुरु और दीक्षागुरु' दोनों समझे जाते हैं। अब प्रश्न उठ सकता है कि कृष्णतत्त्ववेत्ता शूद्र ब्राह्मणका मन्त्रदाता गुरु हो सकता है या नहीं ? उत्तर—'किवा विप्र' इत्यादि पयारके अभिप्रायसे यही समझमें आता है कि कृष्णतत्त्ववेत्ता शूद्र भी ब्राह्मणका मन्त्रदाता गुरु हो सकता है। शूद्रवंशोद्भव कृष्णतत्त्ववेत्ता महापुरुषोंमें-से अनेकोंके ही ब्राह्मण-क्षत्रिय-जातीय मन्त्रशिष्य रहे हैं। नरोत्तम दास ठाकुर महाशय कायस्थ थे, श्यामानन्द ठाकुर महाशय सद्गोप थे ; अनेक ब्राह्मण-क्षत्रियोंने

भी इनसे दीक्षा ग्रहण की थी ; आज भी इनके सब मन्त्रशिष्य-परिवार विद्यमान हैं। श्रीश्रीहरिभक्तिविलासमें गुरुके लक्षणके सम्बन्धमें मन्त्र-मुक्तावलीसे जो प्रमाण उद्धृत हुआ है, उसमें जाति विशेषका कोई भी उल्लेख नहीं है, केवल अवदातान्वयादि (वंश-पातित्यादि दोष राहित्य) कई गुणोंका उल्लेख है। इससे समझा जाता है कि जिनमें ये गुण हैं, वे ही मन्त्रगुरु हो सकते हैं, चाहे वे ब्राह्मण हों, या शूद्र हों। मनु-संहितामें भी इसके अनुकूल प्रमाण मिलता है।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ २.२३८

श्रद्धायुक्त होकर इतरलोकसे भी श्रेयस्करी विद्या ग्रहण कर लेना चाहिये। अति अन्त्यज-चाण्डालादिसे भी परम धर्म प्राप्त कर लेना चाहिये, एवं स्त्रीरत्न दुष्कुलजात होनेपर भी ग्रहण कर लेना चाहिये (पञ्चानन तर्करत्न कृत अनुवाद)।

इस श्लोककी टीकामें श्रीमत् कुल्लूक भट्टने 'अन्त्यात्' शब्दका अर्थ लिखा है—"**अन्त्यश्चण्डालः तस्मादपि**—अन्त्यज चाण्डालसे भी परम धर्म ग्रहण कर लेना चाहिये।" एवं '**परं धर्मम्**' वाक्यका अर्थ लिखा है—"**परंधर्म मोक्षोपायमात्मज्ञानम्**—मोक्षलाभके उपायस्वरूप आत्मज्ञान।"

अन्त्यज चाण्डाल भी उपयुक्त होनेपर मोक्षलाभके उपायस्वरूप आत्मज्ञानको देनेके अधिकारी हैं अर्थात् वे भी दीक्षागुरु हो सकते हैं—यही बात इस मनुवचनसे जानी जाती है।

तब प्रश्न उठ सकता है कि अगस्त संहितामें जो उल्लेख है—'ब्राह्मणोत्तम' ही गुरु हो सकता है, और नारद-पञ्चरात्रमें भी वर्णन है कि क्षत्रिय ब्राह्मणका एवं शूद्र क्षत्रिय और ब्राह्मणका गुरु नहीं हो सकता, इसका क्या तात्पर्य है? उत्तर—अगस्त संहितामें और नारद-पञ्चरात्रमें जो विधि है, वह साधारण विधि है; जातीय अभिमान जिनको है, उनके

लिए ही साधारण विधि है। किन्तु जो जाति आदिके अभिमानसे शून्य हैं, शुद्ध-भक्ति परायण हैं, उनके लिए यह विधि नहीं है। जो भी कृष्ण-तत्त्ववेत्ता, भजनविज्ञ रसिक भक्त हों, उनको ही वे गुरु पदपर वरण कर सकते हैं, चाहे वे शूद्र हों या ब्राह्मण हों, इसका उन्हें कोई विचार नहीं करना चाहिये; कारण, वास्तवमें संसारमें दो ही जाति हैं—एक श्रीकृष्ण-भजन-परायण और दूसरी श्रीकृष्ण-बहिर्मुख। जो भजन-परायण हैं, वे किसी भी वंशमें जन्म ग्रहण क्यों न करें, वे ही गुरु-पदवाच्य हैं।

द्वौ भूत सर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्तः स्मृतोदैव आसुरस्तद् विपर्ययः॥ पद्मपुराण

अर्थात् इस जगतमें दैव और आसुर—इन दो प्रकारके प्राणियोंकी सृष्टि है; उनमें-से जो विष्णुभक्ति-परायण हैं वे दैव हैं, और जो विष्णभक्तिहीन हैं वे आसुर हैं।

गुरुके सम्बन्वमें श्रुतिका कहना है— **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥** उस ब्रह्मको जाननेके लिए हाथमें समिधा लेकर वेदवित् एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुके शरणापन्न होना चाहिये। मुण्डक १.२.१२

श्रीमद्भागवतका भी कहना है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ ११.३.२१

उत्तम श्रेय जाननेके जो इच्छुक हों, उनको उन गुरुदेवके शरणापन्न होना चाहिये जो वेदोंका एवं वेदानुगत शास्त्रोंका सम्यक् रूपसे ज्ञान रखते हों एवं जो परब्रह्म भगवान्के अपरोक्ष-अनुभव-सम्पन्न हों तथा काम-क्रोधादिके वशीभूत न हों। इसकी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—**शाब्दे ब्रह्मणि वेद तात्पर्यज्ञापके शास्त्रान्तरे निष्णातं निपुणम्**—वेद एवं वेद-तात्पर्य प्रकाशक अन्य शास्त्रोंमें निपुण (गुरुके शरणापन्न होवे)। शिष्यका संशय मिटानेके लिए गुरुके लिए शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है;

शिष्यका संशय दूर हुए बिना वह भजन विषयमें विमना हो जा सकता है, उसकी श्रद्धा भी शिथिल हो जा सकती है—**शिष्यस्य संशयच्छेदाभावे वैमनस्येच सति कस्यचित् श्रद्धाशैथिल्यमपि सम्भवेत्।** और यदि गुरु परब्रह्म भगवान्में अपरोक्ष अनुभूति सम्पन्न न हों, तो उनकी कृपा भी फलवती नहीं होगी—**परे ब्रह्मणि च निष्णातम्, अपरोक्षानुभवसमर्थम्, अन्यथा तत्कृपा सम्यक् फलवती न स्यात्।** काम-क्रोध-लोभादिके वशीभूत न होनेके गुण द्वारा परब्रह्मकी अनुभूति समझी जानी चाहिये—**परब्रह्मनिष्णातत्वद्योतकमाह उपशमाश्रयम्, क्रोधलोभाद्यवशीभूतम्।**

इस प्रकारसे श्रुति एवं श्रीमद्भागवतसे भी जाना गया कि जो शास्त्रज्ञ हों एवं जो भगवान्के अपरोक्ष अनुभव सम्पन्न हों, वे ही गुरु होनेके योग्य हैं, वे चाहे किसी भी वर्णमें जन्म ग्रहण क्यों न करें, या किसी भी आश्रममें क्यों न रहें।

कृष्णतत्त्व-वेत्ता—जो परब्रह्म श्रीकृष्णके तत्त्वको जानते हैं। तत्त्वज्ञ दो प्रकारके होते हैं—तत्त्व सम्बन्धी परोक्ष ज्ञान या शास्त्रज्ञान जिनको है, वे भी तत्त्वज्ञ कहे जाते हैं; और तत्त्वके सम्बन्धमें अपरोक्ष ज्ञान या साक्षात् अनुभूति जिनको है, वे भी तत्त्वज्ञ हैं। इन दोनों प्रकारके तत्त्व-ज्ञानमें अपरोक्ष ज्ञान ही श्रेष्ठतर है– यही विज्ञान है। और परोक्ष ज्ञान (या केवल मात्र शास्त्रोंका आक्षरिक ज्ञान) है मात्र ज्ञान। अपरोक्ष ज्ञान हुए बिना परोक्ष ज्ञानका मर्म भी सम्यक् समझमें नहीं आता। इस पयारमें कृष्णतत्त्व-वेत्ता शब्दसे—जो श्रीकृष्णकी अपरोक्ष-अनुभूति सम्पन्न हैं एवं श्रीकृष्ण-तत्त्वादिके सम्बन्धमें शास्त्रज्ञान भी जिनको है, यही समझना चाहिये। श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ज्ञान और विज्ञान—ये दोनों ही जिनको हो, वे ही कृष्णतत्त्व-वेत्ता हैं एवं वे ही गुरु (दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु—दोनों ही) होने योग्य हैं, किसी भी वर्णमें उनका जन्म क्यों न हो, या किसी भी आश्रममें वे क्यों न रहें।

सन्न्यासी बलिया मोरे ना कर वञ्चन ।
राधाकृष्णतत्त्व कहि पूर्ण कर मन ॥१०१॥

रामानन्दसे प्रभु कहते हैं कि संन्यासी जानकर मुझे बञ्चित नहीं करना। राधाकृष्णतत्त्व बताकर मेरी कामना पूर्ण करो।

यद्यपि राय प्रेमी महाभागवते ।
ताँर मन कृष्णमाया नारे आच्छादिते ॥१०२॥
तथापि प्रभुर इच्छा परम प्रबल ।
जानि तेहो रायेर मन हैल टलमल ॥१०३॥

यद्यपि राय प्रेमी इत्यादि—यदि कहा जाय कि किसी अनभिज्ञ शिक्षार्थीके प्रश्नपर विज्ञ-जन जिस प्रकारका उत्तर देते हैं, महाप्रभुके प्रश्नका भी राय रामानन्द उसी प्रकारसे उत्तर दे रहें हैं ; तब महाप्रभु स्वयं-भगवान् हैं, यह बात क्या रामानन्द राय समझ नहीं पाये ? क्या उन्होंने महाप्रभुको केवल एक शिक्षार्थी संन्यासी मात्र समझा ? यह तो सम्भव हो नहीं सकता ! कारण, जिनका मन मायामुग्ध है, वे ही स्वयंभगवान्‌को साक्षात् देखनेपर भी पहिचान नहीं पाते। माया तो रामानन्द रायके चित्तको स्पर्श भी नहीं कर सकती ; क्योंकि एक तो वे महाभागवत हैं, और दूसरे महाप्रेमी भी हैं ; अतएव वे महाप्रभुको पहिचान नहीं पाये हों, यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता। तब इसकी मीमांसा क्या है ? **'तथापि प्रभुर इच्छा'** इत्यादि पयारमें इसका उत्तर दे रहे हैं।

यह सत्य है कि परमभागवत महाप्रेमी रामानन्द रायके मनको माया स्पर्श भी नहीं कर सकती, किन्तु रामानन्द राय जिससे प्रभुको सम्यक् पहिचान न सकें—इसी उद्देश्यसे, उनके मनको आच्छादित करनेके लिए महाप्रभुकी इच्छा परम प्रबल है। अपने प्रेमके प्रभावसे महाप्रभुका स्वरूप-तत्त्व जान सकनेपर भी, महाप्रभुकी बलवती इच्छाके फलसे रायका मन

टलमल हो गया ; इसीसे राय महाप्रभुको सम्यक् जानकर भी मानो समय-समयपर भूल जाते थे। इसीसे राय रामानन्द प्रभुके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए असम्मत नहीं हुए। यदि प्रभु-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान समय-समयपर रायके चित्तमें प्रच्छन्न हुआ नहीं रहता, तो गौरव-बुद्धिके कारण रामानन्द राय प्रभुके प्रश्नका उत्तर नहीं दे पाते ; रायकी इस प्रकार अवस्था जिससे न बन जाय, इसी उद्देश्यसे प्रभुकी इच्छाशक्तिका इङ्गित पाकर उनकी लीलाशक्ति उनके स्वरूपतत्त्वको समय-समयपर रायके चित्तमें प्रच्छन्न करके रखती।

प्रभुर इच्छा—रायके मनको आच्छादित करनेके लिए महाप्रभुकी वासना। **जानि तेहो**—अपने प्रेमके प्रभावसे राय रामानन्द महाप्रभुको स्वयंभगवान् जाननेपर भी। **टलमल**—विचलित ; प्रभुके स्वरूपज्ञानसे विचलित।

राय कहे—आमि नट, तुमि सूत्रधार।
येमन नाचाह, तैछे चाहि नाचिवार ॥१०४॥

नट—नर्तक। **सूत्रधार**—नाटकका पात्र विशेष ; नाटकके नान्दी वचनके पीछे सूत्रधार आकर नाटकके विषयकी सूचना देते हैं। सूत्रधारके इङ्गितपर नटको नृत्य करना होता है, नटका अपना कर्तृत्व कुछ नहीं होता।

अथवा **नट**—नृत्यकारी पुतली। **सूत्रधार**—जो सूत्र पकड़कर सूत्रकी सहायतासे पुतलीको नचाता है। पुतलीके नाचनेमें अचेतन पुतलीका जिस प्रकार कोई भी कर्तृत्व या कृतित्व नहीं है, जो सूत्रकी सहायतासे पुतली को नचाता है, उसीका सम्पूर्ण कर्तृत्व या कृतित्व रहता है। राय रामानन्द कहते हैं, हे प्रभु ! उसी प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देनेमें मेरा भी किसी प्रकारका कोई कर्तृत्व या कृतित्व नहीं है ; कर्तृत्व या कृतित्व तुम्हारा ही है ; तुम जो कहलाओ; वही मैं कहता हूँ।

मोर जिह्वा वीणा-यन्त्र, तुमि वीणाधारी।
तोमार मने जेइ उठे—ताहाइ उच्चारि ॥१०५॥

रायने और भी कहा—"वीणाधारीके बजाये बिना जैसे वीणा नहीं बजती, वीणाधारी वीणासे जो शब्द उठाना चाहता है, वीणासे वही शब्द उठता है, अन्य प्रकारका शब्द उससे नहीं उठता, उसी प्रकार तुम मेरे द्वारा जो कहलाना चाहो, वही मैं कहता हूँ; तुम्हारे इङ्गितके बिना मैं कुछ भी नहीं कह सकता।"

कृष्ण तत्त्व

ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान्।
सर्व्व अवतारी सर्व्व कारण प्रधान ॥१०६॥
अनन्त वैकुण्ठ आर अनन्त अवतार।
अनन्त ब्रह्माण्ड इहा सभार आधार ॥१०७॥
सच्चिदानन्दतनु व्रजेन्द्र - नन्दन।
सर्व्वैश्वर्य्य - सर्व्वशक्ति - सर्व्वरसपूर्ण ॥१०८॥

पूर्ववर्ती ९१ पयारमें प्रभुने चार विषय जानने चाहे हैं—कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, रसतत्त्व और प्रेमतत्त्व। रामानन्द राय क्रमसे इन चारों तत्त्वोंको ही प्रकाश कर रहे हैं। सबसे पहले कृष्णतत्त्व १०६ से ११४ तकके पयारोंमें व्यक्त कर रहे हैं।

ईश्वर परम कृष्ण—श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं, सर्वश्रेष्ठ ईश्वर हैं। **सर्व्व-अवतारी**—सब अवतारोंके मूल हैं। **सर्व्वकारण-प्रधान**—सब कारणोंके भी कारण हैं।

अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त अवतार और अनन्त ब्रह्माण्ड—इन सबके आधार या आश्रय हैं। श्रीकृष्ण ही आश्रय तत्त्व हैं।

सच्चिदानन्दतनु—श्रीकृष्णका तनु (विग्रह, देह) प्राकृत रक्त-मांसादि द्वारा गठित नहीं है, परन्तु सत्, चित् एवं आनन्दमय—शुद्ध-सत्वमय है। परब्रह्म श्रीकृष्णके तनुकी बात श्रुतिमें भी है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्।** मुण्डक ३.२.३॥' गोपालतापनी श्रुति भी कहती है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वद्युताम्बरम्।

द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालीनमीश्वरम्॥ पूर्व तापनी २.१

ॐ योऽसौ परंब्रह्म गोपालः ॐ॥ उत्तर गोपालतापनी ९४॥

भूमिका ग्रन्थमें 'श्रीकृष्णतत्त्व' प्रबन्ध देखिये।

व्रजेन्द्रनन्दन इत्यादि—श्रीकृष्णका व्रजेन्द्र - नन्दन - स्वरूप ही स्वयं-भगवान्, सर्वकारण - कारण है; अन्य कोई भी स्वरूप स्वयंभगवान् नहीं है। स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन सर्वैश्वर्यपूर्ण, सर्वशक्तिसम्पन्न एवं सर्वरसपूर्ण हैं।

यहाँपर एक बात विवेच्य है। पूर्ववर्ती ९१ संख्यक पयारमें प्रभुने चार तत्त्व जानने चाहे—कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व एवं रसतत्त्व। किन्तु देखनेमें लगता है कि रामानन्द रायने मुख्यतः केवल दो तत्त्वोंका वर्णन किया है—कृष्णतत्त्व और राधातत्त्व; १०६ से ११४ तकके पयारोंमें कृष्णतत्त्व एवं ११५ से १४५ पयारोंमें राधातत्त्व। राधातत्त्व वर्णन प्रसङ्गमें १२०-१२३ पयारोंमें प्रेमतत्त्वका वर्णन अवश्य हुआ है। परवर्ती १४६वें पयारमें प्रभुने कहा—**'जानिल कृष्ण-राधा-प्रेमतत्त्व।'** रसतत्त्वके सम्बन्धमें प्रभुने और कोई भी प्रश्न नहीं किया। इसका क्या तात्पर्य है?

इसका तात्पर्य इस प्रकार लगता है। रायके मुखसे श्रीकृष्णका परमोत्कर्ष ख्यापित करके श्रीराधाकी प्रेममहिमाका चरमोत्कर्ष ख्यापन ही प्रभुका उद्देश्य है। श्रुतिने परब्रह्मको रस-स्वरूप बतलाया है—**रसो वै सः; रसो ब्रह्म।** और गीता भी कहती है—श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं,

'परं ब्रह्म परं धाम—गीता १०.१२'। अतएव श्रुतिने परब्रह्म श्रीकृष्णको ही रसस्वरूप बताया है। रसत्वके पूर्णतम विकाशमें ही ब्रह्मत्वका भी पूर्णतम विकाश है ; रसत्वके पूर्णतम विकाश व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण हैं (भूमिका ग्रन्थमें श्रीकृष्णतत्त्व, श्रीकृष्ण कर्तृक रसास्वादन और व्रजेन्द्र-नन्दन—तीनों प्रबन्ध देखिये)। अतएव रसतत्त्व भी श्रीकृष्णतत्त्वके अन्तर्भुक्त है, अथवा श्रीकृष्णतत्त्व भी रसतत्त्वके अन्तर्भुक्त है; जो रस है, वही कृष्ण है अथवा जो कृष्ण है वही रस है। इसीसे कृष्णतत्त्व वर्णन प्रसङ्गमें ही १०८-११४ पयारोंमें श्रीकृष्णके रस स्वरूपत्वकी बात या रसत्वकी बात वर्णित हुई है। 'रस' शब्दके दो अर्थ हैं—आस्वाद्य एवं आस्वादक ; आस्वाद्यरूपसे श्रीकृष्ण परम-मधुर, परम-चित्ताकर्षक हैं एवं आस्वादकरूपसे वे परम रसिक, रसिकेन्द्र-शिरोमणि हैं। १०८-११४ पयारों-में उनके आस्वाद्यत्वका—परमचित्ताकर्षकत्वका विशेष रूपसे वर्णन हुआ है ; क्योंकि राधा-प्रेम-महिमाका उत्कर्ष ख्यापनके लिए इसीका विशेष प्रयोजन है। अपने माधुर्यसे जो आत्म-पर्यन्त सर्वचित्ताकर्षक हैं, श्रीराधा-के जिस प्रेमसे वे भी आकृष्ट होकर श्रीराधाकी वश्यता स्वीकार करते हैं, उस प्रेमका एक अद्‌भुत अपूर्व वैशिष्ट्य स्वीकार करना ही होगा। उनकी रसिकताका वर्णन एक बार भी नहीं हुआ हो ऐसा नहीं है ; १११वें पयारमें उनको रसका विषय बताया है, इसीसे उनकी रसिकताकी बात स्पष्ट रूपसे आ जाती है (१११वें पयारकी टीका देखिये) ; अन्य पयारोंमें भी वह प्रच्छन्न भावसे विद्यमान है। अतएव श्रीकृष्णतत्त्व वर्णनके प्रसङ्गमें ही रसतत्त्व वर्णित हुआ है ; राय रामानन्दने प्रभुके जिज्ञासित चारों तत्त्वोंका वर्णन दिया है।

श्रीकृष्ण केवल माधुर्यके ही सर्वातिशायी विकाश हों, ऐसी बात नहीं है ; वे ऐश्वर्यके भी सर्वातिशायी विकाश हैं ; १०६-१०७ पयारोंमें यही बताया गया है। वे परम-ईश्वर, सब ईश्वरोंके ईश्वर, स्वयंभगवान् हैं, उन्हींसे अन्य सब भगवत् स्वरूपोंकी भगवत्ता है। वे ही सर्व-अवतारी,

सबके मूल एवं एकमात्र कारण हैं, उनका कोई भी पृथक् कारण या मूल नहीं है, वे स्वयं सिद्ध हैं, वे आश्रय-तत्त्व हैं—अनन्त-भगवत्-स्वरूप, अनन्त भगवत्स्वरूपोंके अनन्तधाम, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड—ये सब उन्हींमें अवस्थित हैं। कितनी बड़ी विराट वस्तु, विराट तत्त्व हैं वे; किन्तु ऐसा विराट तत्त्व होनेपर भी वे श्रीराधाके प्रेमके वशीभूत हैं।

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् ५.१—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥२९॥

अन्वय—कृष्णः (श्रीकृष्ण) **परमः** (परम) **ईश्वरः** (ईश्वर), **सच्चिदानन्द-विग्रहः** (सच्चिदानन्द-विग्रह), **अनादिः** (अनादि), **आदिः** (सबके आदि), **गोविन्दः** (गोविन्द), **सर्वकारणकारणं** (सब कारणोंके कारण हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्ण परम-ईश्वर हैं, वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अनादि हैं, किन्तु सबके आदि हैं, गोविन्द एवं सब कारणोंके कारण हैं।

कृष्णः—स्थावर-जङ्गम आदि सब वस्तुओंको, सब भगवत्-स्वरूपोंको, सम्पूर्ण शक्तियोंको, यहाँतक कि स्वयं अपने आप तकको आकर्षण करनेमें जो समर्थ हों, वे आनन्द विग्रह ही श्रीकृष्ण हैं।

परमः ईश्वरः—सर्वश्रेष्ठ ईश्वर, ईश्वरोंके भी ईश्वर; सभी भगवत्-स्वरूपोंमें ईश्वरत्व है, अतः सब भगवत्-स्वरूप ईश्वर हैं; श्रीकृष्ण उनके भी ईश्वर या प्रभु हैं, इसीसे श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं। **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः।'** करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें जो समर्थ हों, वे ही ईश्वर हैं। सभी भगवत्-स्वरूपोंके ईश्वर होनेपर भी, उनका ईश्वरत्व श्रीकृष्णसे ही प्राप्त है, अतएव श्रीकृष्ण ही सब ईश्वरत्वके मूल हैं, इसीसे वे परम ईश्वर हैं। अथवा परा (श्रेष्ठा) या (शक्ति) है जिनमें, वे हैं परम; सम्पूर्ण शक्तियोंके अधिष्ठान हैं श्रीकृष्ण, इसीसे वे परम हैं; अथवा

अखिल शक्तिवर्गकी अधिष्ठात्री श्रीराधा नित्य ही जिनके साथ रहती है, वे हैं परम—श्रीकृष्ण। भगवत्-स्वरूप सभी ईश्वरोंमें शक्ति है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट शक्ति है एकमात्र श्रीकृष्णमें, इसीसे श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं।

सच्चिदानन्द विग्रहः—सत, चित् एवं आनन्दमय विग्रह (देह) है जिनका, वे हैं सच्चिदानन्द-विग्रह। स्वयं भगवान् नरवपु, द्विभुज हैं। उनकी देह है, किन्तु देह रहनेपर भी, वह प्राकृत जीवोंकी देहकी तरह पाञ्चभौतिक नहीं है, प्राकृत रक्त-मांस आदिसे गठित नहीं है; घनीभूत आनन्द ही उनकी देह है। यह आनन्द भी मायिक आनन्द नहीं है, परन्तु चिन्मय अर्थात् स्वप्रकाश-अप्राकृत आनन्द है। उनकी देह चिदानन्दघन है। सत् शब्दसे सत्ता समझी जाती है। उनकी देह सत् अर्थात् नित्य-सत्तायुक्त है, कभी भी उसका ध्वंस नहीं होता। इस देहकी सत्ताका अभाव भी कभी नहीं था, अर्थात् यह अन्य पदार्थ नहीं है, यह नित्य सद्वस्तु है, 'नित्यो नित्यानाम्'—गोपाल तापनी ६.२२॥' श्रीकृष्णकी देह नित्य एवं चिदानन्दमय है। उनकी देह चिदानन्दमय होनेके कारण, जीवकी तरह उसमें देह-देही-भेद नहीं है। जीवकी देह प्राकृत जड़ वस्तु है, किन्तु देही जीव चित्कण वस्तु है, इसीसे जीवकी देह और देही दो भिन्न जातीय वस्तु हैं, इसीलिए जीवमें देह-देही भेद है। किन्तु श्रीकृष्णकी देह जिस प्रकार चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण भी वैसे ही चिदानन्दमय हैं; वे ही विग्रह हैं, एवं विग्रह ही वे हैं। उनकी देह उनसे पृथक् नहीं है, अतएव श्रीकृष्णमें देह-देही-भेद नहीं है। जीवमें चित्कण वस्तु देहीकी शक्तिसे इन्द्रिय आदि शक्तिमान् हैं; देह और देही भिन्न जातीय होनेसे एवं इन्द्रिय आदिका उपादान सन्निवेश भी विभिन्न होनेके कारण देहीकी शक्ति विभिन्न इन्द्रिय द्वारा विभिन्न भावसे विकसित होती है; इसीलिए जीवकी एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियका काम नहीं कर सकती—कान देख नहीं सकते, आँखें सुन नहीं सकतीं। किन्तु चिदानन्द-घनविग्रह श्रीकृष्णमें देह-देही-भेद न होनेके कारण, उनके विग्रहमें सर्वत्र ही एक ही

आनन्दघन वस्तु एक ही भावसे विद्यमान होनेके कारण उनकी इन्द्रियोंमें स्वरूपतः शक्ति-पार्थक्य नहीं है—उनकी कोई-सी भी इन्द्रिय किसी भी इन्द्रियका काम कर सकती है; '**अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रिय-वृत्तिमन्तीति**'—ब्रह्मसंहिता ५.३२॥ आनन्द वस्तु विभु है—'**भूमैव सुखम्**।' अतएव आनन्दघन श्रीकृष्ण-देह भी विभु है—सर्वव्यापक वस्तु है; परिच्छिन्नकी तरह लगनेपर भी श्रीकृष्ण-देह विभु—सर्वव्यापक है। श्रीकृष्णकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सम्भव है। नरवपुमें ही वे विभु हैं—मृद्भक्षण लीलामें, दाम-बन्धन लीलामें एवं चतुर्मुख ब्रह्माके समक्ष द्वारका-माहात्म्यके प्रकटनमें उन्होंने यह दिखाया है। अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे वे अणुसे भी सूक्ष्म अर्थात् क्षुद्र हो सकते हैं, और सबकी अपेक्षा वृहद् अर्थात् बड़े भी हो सकते हैं, '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**'—कठोपनिषत् १ २ २०॥ वे जब अणु होते हैं, तब भी विभु हैं, विभुत्व उनका स्वरूपानुबन्धी धर्म है, क्योंकि वे आनन्द स्वरूप ब्रह्म हैं।

अनादिः—जिनका कोई आदि न हो। श्रीकृष्णका कुछ भी आदि नहीं है, वे स्वयंसिद्ध हैं और अनादिकालसे ही नित्य विराजमान हैं। वे अनादि होनेके कारण, किसीके भी अंश या किसीके भी अवतार नहीं हैं।

आदिः—श्रीकृष्ण सभीके आदि हैं; जितने भी भगवत्-स्वरूप या भगवद्धाम हैं, सभी श्रीकृष्णसे आविर्भूत हैं; अनन्तकोटि प्राकृत ब्रह्माण्ड भी श्रीकृष्णसे उद्भूत—प्रकट हैं; अतएव श्रीकृष्ण सभीके—नारायण आदिके भी आदि हैं। सबके आदि होनेके कारण वे **सर्वकारण-कारणं**—साक्षात् भावसे पुरुष आदिसे ब्रह्माण्डका उद्भव—प्रकट होता है; अतएव पुरुष आदि जगतके कारण हैं; श्रीकृष्ण उन पुरुष आदिके भी कारण हैं; अतएव वे सर्वकारण-कारण हैं।

गोविन्दः—गो का अर्थ है गाय या पृथिवी; और विद् धातुका अर्थ है पालन। गो-पालन करते हैं जो, वे हैं गोविन्द। व्रजलीलामें श्रीकृष्णने

गोचारण किया था; इसलिए उनको गोविन्द कहते हैं। और ब्रह्माण्डकी सृष्टि और पालनके कर्त्ता होनेके कारण भी वे गोविन्द हैं। गोका अर्थ इन्द्रिय भी होता है; श्रीकृष्ण इन्द्रियोंके अधिष्ठाता होनेके कारण भी गोविन्द—हृषिकेश हैं। अथवा उनके अन्तरंग परिकरवर्ग इन्द्रियोंको उनके अपने-अपने विषयोंमें आनन्द द्वारा पालन या पोषण करते हैं, इसलिए भी उनको गोविन्द कहते हैं।

१०६ से १०८ पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

कामबीज

वृन्दावने अप्राकृत नवीन मदन।
कामगायत्री कामबीजे जाँर उपासन ॥१०९॥

वृन्दावने—वृन्दावनमें। **अप्राकृत**—जो प्राकृत नहीं है, जो चिन्मय है उसको कहते हैं अप्राकृत; जो प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं है। **नवीन**—नया; नित्य नवायमान। **मदन**—जो मत्तता उत्पन्न करे। जो कामना उत्पन्न करे उसको कहते हैं काम। उद्दाम कामना उत्पन्न करके जो मत्तता उत्पन्न करे उसको कहते हैं मदन। जो प्राकृत वस्तुमें—देह-दैहिक वस्तुमें कामना उत्पन्न करे उसको कहते हैं प्राकृत काम (या कामदेव)। जो अप्राकृत वस्तुमें कामना उत्पन्न करे—अप्राकृत वस्तु पानेके लिए इच्छा उत्पन्न करे, वे हैं अप्राकृत कामदेव। प्राकृत वस्तुमें उद्दाम कामना उत्पन्न करके जो मत्त बना दे, वे हैं प्राकृत मदन; और अप्राकृत वस्तुकी उद्दाम कामना (या बलवती इच्छा) उत्पन्न करके जो उन्मत्त कर देते हैं, उनको अप्राकृत मदन कहते हैं। श्रीकृष्ण अप्राकृत वस्तु हैं; उनका सौन्दर्य-माधुर्य सभी कुछ अप्राकृत वस्तु है। इस अप्राकृत वस्तुमें—अपने प्रति अपने सौन्दर्य-माधुर्य आदिके आस्वादनके निमित्त—कामना उत्पन्न करनेके कारण श्रीकृष्ण अप्राकृत कामदेव हैं एवं कामनाको उद्दाम—अत्यन्त

बलबती बनाकर मत्तता उत्पन्न कर देनेके कारण वे **अप्राकृत मदन** हैं। प्राकृत जगत्में देखनेमें आता है कि काम्य वस्तु प्राप्त होनेके उपरान्त उसकी प्राप्तिकी लालसा प्रशमित हो जाती है, प्राप्त वस्तु आस्वादनके पश्चात् आस्वादन-लालसा भी प्रशमित हो जाती है—उस लालसामें या आस्वादन-में नयापन कुछ नहीं रह जाता। किन्तु, श्रीकृष्ण सम्बन्धी व्यापारमें—अप्राकृत वस्तुके विषयमें—वैसा नहीं होता; कृष्ण प्राप्तिसे कृष्णप्राप्तिकी लालसा—कामना और भी बढ़ जाती है। श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्य आदिके आस्वादनकी वासना कम नहीं होती, बल्कि और भी बढ़ जाती है—(**तृष्णा शान्ति नहे, तृष्णा बाड़े निरन्तर**—चै. च. आ. ४.१३०)। कृष्णप्राप्ति एवं कृष्णमाधुर्य आदिके आस्वादनके पश्चात् भी श्रीकृष्ण एवं उनके सौन्दर्य-माधुर्य आदि प्रति मुहूर्त मानो नित्य नये—नित्य नवायमान-से लगते हैं, प्रति मुहूर्त उन सबकी प्राप्ति और उनके आस्वादन-की कामना मानो बढ़े हुए वेगसे नयी-नयी करके जाग उठती है—नयी-नयी शक्ति धारण करके नयी-नयी उद्दामता प्राप्त करके नयी-नयी उन्मत्तता उत्पन्न कर देती है। श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे, अचिन्त्य माहात्म्यसे अपने सौन्दर्य-माधुर्य आदिके विषयमें नित्य-नवायमान कामनाकी उद्दामता द्वारा इस प्रकारकी नित्य-नवायमान मत्तता उत्पन्न कर देते हैं, इसलिए उनको **अप्राकृत नवीन-मदन** कहा जाता है। इन अप्राकृत नवीन मदनका धाम वृन्दावन है।

किन्तु श्रीकृष्णके अप्राकृत नवीन मदन होनेपर भी उनके सौन्दर्य-माधुर्य आदिके प्रबल वेगसे सब लोगोंके चित्तको आकर्षित करनेपर भी मायामुग्ध जीवके चित्तमें उस आकर्षणकी ओर ध्यान देनेकी योग्यता उत्पन्न करनेके लिए उपासना और साधनकी आवश्यकता है। वह उपासना किस प्रकार करनी होगी—यह बताते हैं कामबीज इत्यादि वाक्य द्वारा।

कामबीज—अप्राकृत कामदेव-श्रीकृष्णकी उपासनाका बीज; बीज

मन्त्र। **कामगायत्री**—अप्राकृत कामदेव-श्रीकृष्णकी उपासनाकी गायत्री। **"गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता**—जो व्यक्ति गायत्रीमन्त्र पाठ करता है, उसके द्वारा वह व्यक्ति परित्राण पाता है, इसलिए इसको गायत्री कहते हैं।" जिस भावकी प्रधानता देकर जिस देवताकी उपासना की जाती है, उस भावका द्योतक—स्वरूप प्रकाशक—ध्यानात्मक मन्त्र ही गायत्री है। श्रीकृष्ण अप्राकृत-नवीन-मदन—अप्राकृत कामदेव हैं; उसी प्रकार स्वरूप-द्योतक गायत्री मन्त्र ही कामगायत्री—कामदेवकी गायत्री है। इस गायत्रीके जपके फलसे श्रीकृष्णका अप्राकृत नवीन-मदनरूप चित्तमें उद्‌भासित हो सकता है एवं उद्‌भासित होकर उनकी प्राप्तिके निमित्त बलवती कामना चित्तमें उद्‌बुद्ध करा सकता है। इसीसे इस गायत्रीका नाम कामगायत्री है। कामगायत्री और कामबीज गुरुके निकट ज्ञातव्य है।

क्लीं—यह है कामबीज; क, ल, ई, ँ—इन कई अक्षरोंसे कामबीज बना है। वृहद्‌गौतमीय तन्त्र कहता है—कामबीजके अन्तर्गत क-कारका अर्थ है सच्चिदानन्द विग्रह परमपुरुष श्रीकृष्ण; ई-कारका अर्थ है नित्य-वृन्दावनेश्वरी परमा-प्रकृति (सर्व-प्रेयसी शिरोमणि, सर्वशक्ति-गरीयसी) श्रीराधा; ल-कारका अर्थ है श्रीराधाकृष्णका आनन्दात्मक प्रेमसुख; नाद विन्दु ँ का अर्थ है श्रीश्रीराधाकृष्णका परस्पर चुम्बन-आनन्द-माधुर्य।

> **ककारः पुरुषः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।**
> **ई-कारः प्रकृति राधा नित्यवृन्दावनेश्वरी॥**
> **लश्चानन्दात्मकं प्रेमसुखं तयोश्च कीर्तितम्।**
> **चुम्बनानन्दमाधुर्यं नादविन्दु समीरितः॥**

इस प्रमाणसे कामबीज लीलाविलसित-श्रीश्रीराधा-माधवके परम मधुर युगलित स्वरको ही सूचित करता है। श्रुति कहती है—क्लीं या क्लीम् एवं ॐकार एक एवं अभिन्न है।

क्लीमोंकारस्यैकत्वं पठ्यते ब्रह्मवादिभिः ॥

उत्तर गोपालतापनी ५६

ॐकारके द्वारा जिस प्रकार विश्वकी सृष्टि है, क्लीम्-से भी उसी प्रकार विश्वकी सृष्टिकी बात जानी जाती है। बृहद्गौतमीय तन्त्र कहता है—

"क्लीङ्कारादसृजद्विश्वमिति प्राह श्रुतेः शिरः।

श्रुति कहती है कि भगवान्ने इस कामबीजसे ही विश्वकी सृष्टि की है।" इसके द्वारा कामबीज और प्रणवका एकत्व ही सूचित होता है; किन्तु दोनों एक एवं अभिन्न होनेपर भी कामबीज श्रीश्रीराधा-कृष्णके परम-मधुर युगलित-स्वरूपको एवं श्रीकृष्णके मदनमोहन रूपको—अप्राकृत-नवीन-मदन-रूपको अनावृत भावसे सूचित करनेके कारण प्रणवका रसात्मक रूप माना जाता है। इस प्रकार कामगायत्री भी साधारण वैदिक-गायत्रीका ही रसात्मक रूप है (भूमिका ग्रन्थमें 'प्रणवका अर्थ विकाश' प्रबन्ध देखिये)।

पूर्ववर्ती १०८ संख्यक पयारमें वात्सल्यभावके अनुरूप रसत्वके विकाश-की बात कही गयी है। वात्सल्यभाव-विग्रह नन्द-यशोदा श्रीकृष्णका वात्सल्यभावोचित माधुर्य आस्वादन करते हैं और श्रीकृष्ण भी उनका वात्सल्यरस आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण वात्सल्यभावके आस्वाद्य रस एवं वात्सल्यरसके आस्वादक रस हैं। किन्तु, वात्सल्य-भावोचित-रसकी अपेक्षा भी जिस रसका परम-उत्कर्षमय विकाश है वही यहाँ बताया गया है। यह परम-वैशिष्ट्यमय विकाश है मधुरभावोचित या कान्ताभावोचित। श्रीकृष्णके स्वरूपतः माधुर्यघन विग्रह होनेपर भी परिकर लोगोंका प्रेम ही उनके माधुर्यको बाहर अभिव्यक्त करके उच्छलित और तरङ्गायित करता है; जिन परिकरमें प्रेमका जितना विकाश है, उनके सान्निध्यमें श्रीकृष्ण-का माधुर्य भी उतना ही विकसित होता है। महाभागवती कृष्णकान्ता व्रजसुन्दरियोंमें प्रेमका सर्वातिशायी विकाश है; इसीसे उनके सान्निध्यमें श्रीकृष्णके माधुर्यका सर्वातिशायी विकाश है—इतना अधिक विकाश है कि वे उस समय अप्राकृत-नवीन-मदन-रूपसे प्रतिभात होते हैं।

श्रीकृष्ण रसमय-विग्रह, भावमय-विग्रह हैं; इसीसे जिस रसोचित भावके सान्निध्यमें जिस समय वे रहते हैं, उस समय वही रसोचित धर्म उनमें प्रकाश पाता है। इसीलिए यशोदा माताकी गोदमें वे स्तन्य-अभिलाषी शिशु हैं, व्रजसुन्दरियोंके निकट वे नवकिशोर नटवर हैं। जीवके प्राकृत देहमें इस प्रकारका भावानुरूप परिवर्तन सम्भव नहीं; सुनिपुण अभिनेताके मुखपर भावोंका अन्तर केवल सामान्य छाया ही डाल सकता है। किन्तु भगवान् या उनके नित्यसिद्ध परिकरवर्गकी देह शुद्ध सत्वमय है, उनके भाव भी शुद्धसत्वका विलास-विशेष हैं। भाव और उनका विग्रह स्वरूपतः एक ही वस्तु है; इसलिए उनकी देह आदि भावानुरूप धर्म सम्यक् रूपसे ग्रहण कर सकती है। भगवती-भावके आवेशमें महाप्रभुने सम्यक् रूपसे भगवतीका रूप धारण किया था, उनके वक्षसे स्तन्य भी क्षरित हुआ था।

'अप्राकृत-नवीन-मदन' रूपसे श्रीकृष्ण आस्वाद्य रस हैं एवं व्रज-सुन्दरियोंके कान्तरसके आस्वादक भी हैं, वह भी इस पयारमें सूचित होता है।

प्रश्न उठ सकता है कि इस पयारके प्रथम अर्द्धमें श्रीकृष्णको अप्राकृत-नवीन-मदन कहकर उनके माधुर्यके—अतएव रसतत्त्वके—चरमतम विकाश-की बात ही कही गयी है; यह प्रासङ्गिक है; किन्तु द्वितीय पयारार्द्धमें उनकी उपासना विधिकी बात कही गयी है, उसमें प्रासङ्गिकता कहाँ है? श्रीकृष्णके रसत्व-विकाशके प्रसङ्गमें उनकी उपासना विधिकी बात क्यों कही गयी? उत्तर यह है—"उपासनाका मन्त्र और बीज उपास्य स्वरूपका ही परिचायक है। प्रणव ब्रह्म-स्वरूप है, अतएव अत्यन्त व्यापक है; प्रणव अनन्त-भगवत्-स्वरूपोंका द्योतक है, क्योंकि अनन्त-भगवत्-स्वरूप हुए प्रणवात्मक परब्रह्म श्रीकृष्णके ही विभिन्न प्रकाश। प्रणव और कामबीज एक ही हैं, अभिन्न हैं। अभिन्न होनेपर भी कामबीज है प्रणवका ही रसात्मक रूप (भूमिका ग्रन्थमें 'प्रणवका अर्थ-विकाश' प्रबन्ध

देखिये)। रसत्वका एवं ब्रह्मत्वका पूर्णतम विकाश व्रजेन्द्रनन्दनके बीच जैसे अनन्त भगवत्-स्वरूप, उन सबके अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त ब्रह्माण्ड आदि विराजमान है, उसी प्रकार कामबीजके बीच भी प्रणवका सम्पूर्ण अर्थ विद्यमान है। तथापि सबके आधार होकर भी रसस्वरूप व्रजेन्द्रनन्दन जैसे अप्राकृत-नवीन-मदन हैं—परम रसमय, परम चित्ताकर्षक हैं—उसी प्रकार प्रणवार्थगर्भ कामबीज भी परम मधुर, परम चित्ताकर्षक है। इसीसे कामबीज और प्रणव एक ही वस्तु होनेपर भी कामबीजका रूप ही शुद्ध रसात्मक है। अनन्त-भगवत्-रूप आदि जिस प्रकार श्रीकृष्णके सर्वचित्तहर परम मधुर रूपके अन्तरालमें छिपे हैं, उसी प्रकार ॐकार रूप प्रणवके अनन्त अर्थ भी कामबीजके परम चित्ताकर्षक रूपके अन्तरालमें छिपे हैं। गायत्रीके सम्बन्धमें भी यही बात है। साधारण जप्य-वैदिक-गायत्रीका रसात्मक रूप ही कामगायत्री है (भूमिका ग्रन्थमें 'प्रणवका अर्थ विकाश' प्रबन्ध देखिये)। साधारण वैदिक गायत्रीका एकसे अधिक अर्थ सम्भव है ; कोई अर्थ परब्रह्मके माधुर्यमय स्वरूपके बदलेमें भीति-सञ्चारक ऐश्वर्य-प्रधान रूप भी बता सकता है ; किन्तु कामगायत्रीका एक ही प्रकारका अर्थ सम्भव है और वह अर्थ है—अप्राकृत नवीन मदन। इन अप्राकृत-नवीन-मदनके बीच अनन्त भगवत्-स्वरूप आदि सभी अन्तर्भूत हैं, उसी प्रकार साधारण जप्य वैदिक-गायत्रीके सब अर्थ कामबीज गायत्रीके अन्तर्भूत हैं ; तथापि यह कामगायत्री परिचय देती है अप्राकृत-नवीन-मदनका ; अतएव वैदिकगायत्री एवं कामगायत्री—प्रणव और कामबीजकी तरह—अभिन्न होनेपर भी कायगायत्रीका रूप ही रसमय है—यह वैदिक गायत्रीका ही रसमय स्वरूप है। इस रसात्मक कामबीज एवं रसात्मक कामगायत्री द्वारा जिनकी उपासना है, वे परम रसमय, परम मधुर, परम चित्ताकर्षक हैं, इसमें सन्देहका अवकाश नहीं। ऐसे कामबीज एवं कामगायत्री द्वारा जिनकी उपासना है, ऐश्वर्य-प्रधान-भाव आदि द्योतक बीज एवं गायत्री द्वारा उपासनासे जिनके परम-स्वरूपका परिचय नहीं

मिलता है, उन्हीं अप्राकृत-नवीन-मदनके अपूर्व वैशिष्ट्य सूचनाके लिए ही उनकी उपासना-विधिके भी अपूर्व-वैशिष्ट्यकी बात कही गयी है। उपासना-तत्त्वके वैशिष्ट्य द्वारा उपास्य तत्त्वका वैशिष्ट्य सूचित होता है। अतएव आलोच्य १०९ संख्यक पयारके द्वितीयार्द्धमें उपासना विधिका उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं है। इसके द्वारा श्रीकृष्णके रसत्व-विकाशकी अपूर्वता सूचित हुई है।

पुरुष योषित् किवा स्थावर जङ्गम ।
सर्व्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ-मदन ॥११०॥

योषित्—स्त्री लोग। **स्थावर**—जो चल-फिर न सकें, जैसे वृक्ष-लतादि। **जङ्गम**—जो चल-फिर सकें, जैसे मनुष्य-पशु-पक्षी आदि। **सर्व्वचित्ताकर्षक**—सबके चित्तको आकर्षण करते हैं जो। **साक्षात्**—स्वयं। **मन्मथ**—मनको मथित करते हैं जो ; **मदन**—मत्तता उत्पन्न करे जो ; कामदेव।

मन्मथ-मदन—जो सबके चित्तको मथित करते हैं, ऐसे जो कामदेव हैं, उनके चित्तको भी मथित करके जो उन्मत्त बना देते हैं, वे श्रीकृष्ण ही मन्मथ-मदन हैं। परवर्ती श्लोककी टीका देखिये।

श्रीकृष्ण अप्राकृत मदन होनेके कारण पुरुष-नारी, स्थावर-जङ्गम आदि सबके चित्तको तो आकर्षण करते ही हैं—दूसरोंके चित्तको मथित करनेवाले जो कामदेव हैं, वे कामदेव भी श्रीकृष्णके माधुर्यादि दर्शन करके मोहित हो जाते हैं।

'मन्मथ-मदन' शब्दसे मदन-मोहनको बताते हैं। **'राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।'**—इस प्रमाणके बलसे श्रीराधाके सान्निध्यसे ही श्रीकृष्णका मदन-मोहनत्व है, अप्राकृत-नवीन-मदनत्वका चरमतम विकाश, माधुर्यका (अतएव आस्वाद्य-रसत्वका) चरमतम विकाश सम्भव है ; श्रीराधाका सर्वातिशायी विकाशमय प्रेम ही इस प्रकारके माधुर्य-

विकाशका हेतु है। अतएव श्रीकृष्ण मन्मथ-मन्मथ या मन्मथ-मदन हैं, इसके प्रमाणमें परवर्ती श्लोक उद्धृत हुआ है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.३२.२

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥३०॥

अन्वय—स्मयमानमुखाम्बुजः (सहास्य-मुख-पङ्कजयुक्त) **पीताम्बरधरः** (पीतवसनधारी) **स्रग्वी** (वनमालाधारी) **साक्षान्मन्मथमन्मथः** (साक्षात् मन्मथ-मन्मथरूप) **शौरिः** (शूरवंशोद्भव श्रीकृष्ण) **तासां** (उन गोपियोंके) **[मध्ये]** (मध्यमें) **आविर्भूत** (आविर्भूत हुए)।

अनुवाद—सहास्य-मुखकमल, पीतवसनधर एवं वनमाला विभूषित मूर्तिमान् मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण उन व्रजाङ्गनाओंके मध्य आविर्भूत हुए।

तासां—रासस्थलीसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर, उनके विरह-दुःखसे रोदन-परायणा गोपबालाओंकी अवस्थाका पर्यालोचन करके जब श्रीकृष्णने देखा कि उनके विरहकी आर्तिसे व्रजसुन्दरीगण प्रायः गतप्राण हो चुकी हैं, उसी समय वे उनके मध्य आविर्भूत हो गये।

वे किस रूपमें आविर्भूत हुए—यह बताते हैं। **स्मयमानमुखाम्बुजः**—हास्ययुक्त मुखरूप अम्बुज है जिनका ; सहास्य-वदन। जिनका वदन स्वभावसे ही अम्बुज याने कमलकी तरह सुन्दर एवं स्निग्ध है, अतः दर्शन-मात्रसे सन्ताप-हरणमें समर्थ है ; इसपर भी मन्द हास्य द्वारा उस मुखकी शोभा वर्द्धन करके गोपसुन्दरियोंके बीच श्रीकृष्ण उपस्थित हुए। उन्होंने सोचा कि उनके मन्द-हास्यकी स्निग्ध धारासे गोपसुन्दरियोंका विरह-दुःख दूर हो जायगा, हृदय आनन्दरससे परिपूर्ण हो उठेगा। मन्द-हँसी द्वारा श्रीकृष्णने गोपवधुओंको यह जतानेकी चेष्टा की कि वे बहुत प्रफुल्ल हैं ; किन्तु उन गोपसुन्दरियोंका हृदय तब भी उनके विरह-आर्ति-जनित

सन्तापसे दग्ध हो रहा था। **पीताम्बरधरः**—स्कन्धके ऊपरसे सामने लटकता हुआ पीतवसन दोनों हाथोंमें धारण करके। पीताम्बरका उल्लेख ही पीतवसनधारी श्रीकृष्णको बताता है ; तथापि पीताम्बरधर कहनेका तात्पर्य यह है कि उन्होंने दोनों हाथोंसे गलेमें लटकते पीताम्बरको धारण कर रक्खा है, मानो गोपीगणको त्याग कर जाकर उनको विरह-आर्ति उत्पादन करना उनके लिए अन्याय कार्य हुआ है एवं गल-लग्नीकृत-वसनसे मानो उस अन्याय कार्यके लिए क्षमा प्रार्थना कर रहे हैं—यही ध्वनि निकलती है। पीतवर्णका जो अम्बर (वस्त्र) है, उसको धारण कर रक्खा है जिन्होंने, वे पीताम्बरधर। **स्रग्वी**—अम्लान-वनमालाधारी। प्रेयसीवर्गने उनके गलेमें जो वनमाला अन्तर्धान होनेके पूर्व पहनायी थी, वह अभी भी म्लान नहीं हुई थी, यही सूचित होता है। और यह भी सूचित होता है कि प्रेयसीदत्त वनमालाकी उन्होंने यत्नपूर्वक वक्षपर रक्षा की थी ; यह देखकर विरहखिन्ना व्रजबालाओंका चित्त उनके प्रति प्रसन्न हो सकता है।

साक्षान्मन्मथमन्मथः—मूर्तिमान् मन्मथ-मन्मथ। चतुर्व्यूहके अन्तर्गत प्रद्युम्न ही अप्राकृत मन्मथ या मदन हैं। द्वारका-चतुर्व्यूहके अन्तर्गत प्रद्युम्न ही अन्यान्य धामस्थ चतुर्व्यूह-समूहके अन्तर्गत प्रद्युम्नगणका मूल होनेसे द्वारकास्थ प्रद्युम्न ही मूल अप्राकृत मन्मथ हैं। जिस प्रकार दृष्टि-शक्तिके मूल आश्रयको चक्षुका चक्षु कहा जाता है, उसी प्रकार व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण इन मन्मथकी शक्तिके मूल आश्रय होनेके कारण उनको मन्मथका मन्मथ (या मन्मथ-मन्मथ) कहा गया है। प्रद्युम्न रूप अप्राकृत मन्मथकी सर्वचित्त-मुग्धकारिता-शक्तिके मूल आश्रय श्रीकृष्ण होनेके कारण श्रीकृष्णको महामन्मथ कहा जाता है। श्रीकृष्ण महा-मोहनता-शक्तिके महासागर-तुल्य हैं ; इनके कणांश प्राप्तिसे ही कामदेवकी मोहनता-शक्ति है। साक्षात्-शब्दसे स्वयं कामदेव प्रद्युम्नको ही लक्ष्य किया गया है, प्राकृत कामदेवको लक्ष्य नहीं किया गया है ; कारण, प्राकृत

कामदेव साक्षात्-रूप नहीं है, वे प्रद्यम्नकी शक्तिके अंशके आवेश-प्राप्त असाक्षात्-रूप हैं। प्रद्युम्नकी शक्तिका कणमात्र आवेश प्राप्त होकर ही वे प्राकृत जगत्को मुग्ध करनेमें समर्थ हैं; किन्तु अप्राकृत धाममें उनकी शक्ति कार्यकरी नहीं होती; मन्मथ शब्दकी यौगिक वृत्ति द्वारा मन्मथ-मन्मथ पदसे प्रद्युम्न रूप मन्मथकी क्षोभकारिता ध्वनित होती है।

श्रीकृष्णका रस-स्वरूपत्व और माधुर्य

नाना भक्तेर रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय ॥१११॥

श्रीकृष्णका रस-स्वरूपत्व दिखा रहे है, एवं उसके द्वारा आनुषङ्गिक भावसे रसत्व सम्बन्धी प्रश्नका भी उत्तर दे रहे हैं। रस ही सबके चित्तको आकर्षण करता है। श्रीकृष्ण रस-स्वरूप होनेके कारण ही वे सर्वचित्ताकर्षक हैं, इसीसे यहाँ उनके रस-स्वरूपत्वका उल्लेख है।

नान भक्तेर—शान्त-दास्यादि नाना भावोंके नाना प्रकारके भक्तोंके। **नानाविध रसामृत**—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, ये पाँच मुख्य रस एवं हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत, ये सात गौण रस—सब बारह रस हैं।

विषय आश्रय—श्रीकृष्ण इन बारह रसोंके विषय एवं आश्रय (या आधार) दोनों ही हैं। शान्तादि रसके भक्तगण जब अपने-अपने भावके अनुकूल सेवा द्वारा उनको शान्तादि रस आस्वादन कराते हैं, तब वे इन सब रसोंके विषय होते हैं; और श्रीकृष्ण जब अनुरूप कार्य द्वारा अपने शान्तादि भावोंके भक्तगणको उनके अपने-अपने भावोंके अनुरूप रस आस्वादन कराते हैं; तब वे इन सब रसोंके आश्रय या आधार होते हैं। खेलनेमें हारकर सखागण जब श्रीकृष्णको कन्धेपर चढ़ाते हैं, अथवा जब कोई सखा प्रीतिसे उनके मुखमें उच्छिष्ट फल देता है, तब वे सख्य-रसके

विषय हैं ; और जब खेलमें हारकर वे अपने सखागणको कन्धेपर चढ़ाकर वहन करते हैं या प्रीतिसे किसी सखाके मुखमें उच्छिष्ट फल देते हैं, तब सख्य-रसके आश्रय हैं। अन्यान्य रसोंके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारकी बात है।

इस पद्यारोक्तिके प्रमाणमें निम्नोद्धृत श्लोक है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे
सामान्यभक्तिलहर्याम् १—

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥३१॥

अन्वय—अखिलरसामृतमूर्तिः (सब रसोंकी आश्रय है जिनकी परमानन्द मूर्ति) **प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः** (प्रसरणशील कान्ति द्वारा जिन्होंने तारका-पालिकाको रुद्ध किया है), **कलितश्यामाललितः** (जिन्होंने श्यामा और ललिताको आत्मसात् किया है), **राधाप्रेयान्** (श्रीराधाके प्रिय) **विधुः** (श्रीकृष्णरूप चन्द्र) **जयति** (जययुक्त हों)।

अनुवाद—शान्तादि सब रसोंकी आश्रय है जिनकी परमानन्द-मूर्ति, प्रसरणशील कान्ति द्वारा जिन्होंने तारका और पालिका नामकी गोपीद्वयको वशीभूत किया है, जिन्होंने श्यामा और ललिताको आत्मसात् किया है एवं जो श्रीराधाके प्रिय हैं, वे श्रीकृष्ण जययुक्त हों।

भक्तिरसामृतसिन्धुके प्रारम्भमें श्रीरूप गोस्वामीने इस श्लोकसे मङ्गलाचरण किया है श्रीकृष्णका जय कीर्त्तन करके।

इस श्लोकका मूल वाक्य है—**विधुः जयति**—विधु जययुक्त हों, सर्वोत्कर्षसे विराजें। **विधुः—विधुनोति खण्डयति सर्वदुःखं अतिक्रमति सर्वञ्चेति। यद्वा, विदधाति करोति सर्वसुखं सर्वञ्च** (श्रीजीव)। जो सब दुःखोंका खण्डन करते हैं, सबको अतिक्रम करते हैं (**अतः** जो सर्ववृहत्तम, असमोर्द्ध हैं); अथवा जो सभी सुख-विधान

करते हैं, सब कुछ करते हैं—वे ही विधु हैं। उक्तरूप अर्थोंका पर्यवसान एक मात्र श्रीकृष्णमें है ; क्योंकि वे असुरोंको भी मुक्ति-दान करके उनका संसार-दुःख दूर करते हैं, अपने प्रभावसे सबको अतिक्रम करते हैं (जिनके प्रभावके निकट अन्य सबका प्रभाव पराभूत हो), परम अपूर्व-स्वविषयक-प्रेम-महासुख विस्तार करके सबको परमानन्द महासमुद्रमें निमज्जित करते हैं। इन सब अर्थोंका किञ्चित्-किञ्चित् भाव लौकिक चन्द्रमें भी दीखता है। चन्द्र अन्धकारजनित दुःखका हरण करता है एवं उसके द्वारा अन्धकार-क्लिष्ट और ताप-क्लिष्ट लोगोंका सुख विधान करता है ; पूर्णचन्द्रमें इस गुणका सर्वाधिक विकाश है। सूर्य भी अन्धकार दूर करता है, किन्तु उत्ताप-जनित दुःख दूर नहीं कर सकता, बल्कि समय विशेषसे उसको बढ़ाता है ; इसीसे विधु शब्दसे सूर्य नहीं समझा जाता। इस प्रकार देखा गया कि विधु शब्दके दो अर्थ हैं—चन्द्र एवं स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण, कृष्णचन्द्र। भगवान् और उनके माहात्म्यादि लोगोंकी प्राकृत बुद्धिके अगोचर हैं। उनके किसी-किसी गुणके सामान्य आभासके साथ यदि हमारी परिचित किसी भी वस्तुके गुणकी समानता दीखे, तभी उस वस्तुके साथ उपमा देकर भगवद्गुणादिका परिचय देनेकी चेष्टा होनेपर हमारे लिए धारणा करनेकी कुछ सुविधा हो सकती है, इसीलिए श्लोककारने चन्द्रके साथ उपमा देकर श्रीकृष्णका दुःखहारित्व और सुखकारित्व समझानेकी चेष्टा की है। इस प्रकार देखा जाता है कि इस श्लोकका दो प्रकारका अर्थ हो सकता है—एक अर्थ श्रीकृष्ण-पक्षमें, और दूसरा अर्थ चन्द्र-पक्षमें। श्रीजीव गोस्वामीकी टीकाका अनुसरण करके दोनों प्रकारके अर्थ-प्रकाशकी चेष्टा यहाँ की जा रही है।

वह विधु किस प्रकारका है ? इसका कुछ विशेषणोंके द्वारा प्रकाश किया जा रहा है। **अखिल-रसामृतमूर्तिः—(कृष्ण पक्षमें)** अखिल (समस्त) रस (शान्तादि बारह रसोंमें-से सभी अखण्ड भावसे) जिनमें विद्यमान् हैं, वह अमृत ही (या परमानन्द ही) मूर्ति है जिनकी—जिनका

१४

परमानन्द-घनविग्रह शान्तादि सब रसोंका आश्रय है। अथवा शान्तादि द्वादश-रसरूप अमृतकी (परम आस्वाद्य वस्तुकी) मूर्ति हैं जो, वे ही श्रीकृष्ण। (श्रीकृष्ण समस्त रसोंके आश्रय हैं, इस विशेषणसे यही प्रदर्शित हुआ)। उक्त विशेषणका **चन्द्र-पक्षमें** अर्थ इस प्रकार है—अखिल (अखण्ड) रस (आस्वाद) जिसमें है, वैसी अमृत (पीयूष) रूप मूर्ति (मण्डल) है जिसकी ; जिसका मण्डल सब आस्वादरूप अमृतके तुल्य है, वह चन्द्र। केवल आस्वाद्यत्व अंशमें कृष्णके साथ चन्द्रका कुछ सादृश्य है। चन्द्र स्निग्ध, रमणीय है ; श्रीकृष्ण उसकी अपेक्षा अनन्तगुण-स्निग्ध और रमणीय हैं।

वह विधु और किस प्रकारका है—**प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः**—(**कृष्ण-पक्षमें**) **प्रसृमर** (प्रसरणशील) **रुचि** (कान्ति) द्वारा **रुद्धा** वशीकृत्ता) हुई हैं तारका और पालि (पालिका—तारका और पालिका नामक दो गोपी) जिसके द्वारा ; जिन्होंने अपनी प्रसरणशील (अपने अङ्गसे सब ओर प्रसारित) कान्ति द्वारा तारका और पालिकाको वशीभूत किया है ; जिनकी सर्वचित्तहर कान्ति दर्शन करके तारका और पालिकाने उनमें आत्मसमर्पण किया है, जिनकी मधुर कान्तिके जालमें वे आबद्ध हो गयी हैं, वे कृष्णचन्द्र। श्रीकृष्णकी असंख्य प्रेयसियोंमें-से भविष्योत्तरके मतसे दस मुख्या हैं—गोपाली, पालिका, धन्या, विशाखा, धनिष्ठिका, राधा, अनुराधा, सोमाभा, तारका और दशमी (दशमी एक व्यक्तिका नाम है); विशाखाकी जगह 'विशाखा धनिष्ठिका'—इस प्रकारका पाठान्तर भी मिलता है ; इस पाठान्तरके हिसाबसे विशाखाके पश्चात् धनिष्ठिकाका नाम आयगा एवं 'दशमी' होगा 'तारका'का विशेषण—जिसका अर्थ होगा दशम-स्थानीया गोपीका नाम 'तारका'। स्कन्दपुराणके अन्तर्गत प्रह्लाद-संहितामें द्वारका माहात्म्यमें राधा, धन्या, विशाखादिका उल्लेख करके ललिता, श्यामला, शैव्या, पद्मा एवं भद्राका नाम भी आया है। **चन्द्र-पक्षका अर्थ** इस प्रकार होगा—प्रसरणशील कान्ति द्वारा तारकाओंकी पालि (श्रेणी) रुद्ध हुई है जिसके द्वारा, वह चन्द्र। आकाशमें पूर्ण-चन्द्रके

चारों ओर असंख्य तारकावली विराजित रहती हैं, वे मानो चन्द्रके मधुर किरण-जालमें आबद्ध होकर ही वहाँ अवस्थित हैं, वे मानो दूर हटकर नहीं जा पातीं। उसी प्रकार कृष्णके माधुर्य द्वारा आकृष्ट होकर तारका-पालिका (उनके उपलक्षणसे सम्पूर्ण गोपसुन्दरीगण ही मानो) उनके सान्निध्यसे अन्यत्र चले जानेकी सामर्थ्य खो बैठी।

वह विधु और किस प्रकारका है—**कलितश्यामा-ललितः** (**कृष्ण-पक्षमें) कलित** (आत्मसात्कृत) हुई हैं श्यामा और ललिता (उपलक्षणसे समस्त प्रधाना गोपियाँ) जिसके द्वारा। श्रीकृष्णके माधुर्यसे आकृष्ट होकर इन लोगोंने उनके निकट आत्म-समर्पण कर दिया है। **चन्द्रपक्षमें —कलित** (अङ्गीकृत) हुआ है श्यामाका (रात्रिका) ललित (विलास) जिसके द्वारा (विश्वप्रकाशमें श्यामा शब्दका एक अर्थ निशा मिलता है); रात्रिमें ही पूर्णचन्द्र उदय होकर नक्षत्रों सहित विलसित होकर आकाश-की शोभा बढ़ाते रहते हैं। श्रीकृष्ण भी निशाकालमें गोपसुन्दरियों सहित वृन्दावनमें विहार करते हैं। यहाँपर रात्रि-विलासित्व अंशसे दोनोंका सामञ्जस्य है।

वह विधु और किस प्रकारका है ? **राधाप्रेयान्—(कृष्णपक्षमें)** श्रीराधाके अतिशय प्रीतिकर्त्ता ; जो सम्यक् रूपसे श्रीराधाका प्रीतिविधान करते हैं ; श्रीराधाके प्रिय—प्राणवल्लभ हैं जो, वे श्रीकृष्णचन्द्र। **चन्द्रपक्षमें** —राधामें (विशाखा नामकी तारकामें) **प्रेयान्** (अधिकतर प्रीतिमान्); वैशाखी पूर्णिमाका चन्द्र विशाखा नक्षत्रमें रहता है (विशाखा-नक्षत्रका दूसरा नाम राधा-नक्षत्र है); अतएव उस समय (ऋतुराज-वैशाखमें) चन्द्र विशाखाके अत्यन्त निकटवर्ती रहता है, इसलिए चन्द्रको विशाखा नक्षत्रमें सर्वाधिक प्रीतिमान् कहा गया है। चन्द्र जिस प्रकार विशाखा नक्षत्रके प्रति अत्यन्त प्रीतिमान् है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी श्रीराधाके प्रति अत्यन्त प्रीतिमान् हैं। प्रीतिमत्व अंशमें दोनोंका सादृश्य है।

अन्तिम तीन विशेषणोंमें से एक विशेषणमें तारका और पालिकाकी

बात, दूसरे विशेषणमें श्यामा और ललिताकी बात और अन्तिम विशेषणमें केवलमात्र श्रीराधाकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह है—भाव विकाशकी तरफसे कृष्णकान्ता गोपसुन्दरियोंमें अनेक श्रेणी विभाग हैं ; यहाँ प्रधान तीन श्रेणियोंका उल्लेख हुआ है—तारका और पालिका एक श्रेणीके बीच एवं श्यामा और ललिता दूसरी एक श्रेणीके बीच मुख्या हैं ; और श्रीराधा अकेले ही एक श्रेणी हैं। तारका और पालिका जिस श्रेणीमें हैं, उसकी अपेक्षा श्यामा और ललिताकी श्रेणीका अधिक उत्कर्ष है ; श्यामा और ललिताकी श्रेणीकी अपेक्षा श्रीराधा परमोत्कर्षमयी हैं। श्रीराधिका कृष्णाकान्ता-शिरोमणि हैं—रूपमें, गुणमें, माधुर्यमें, वैदग्धी आदिमें सब गुणोंमें सबकी अपेक्षा गरीयसी हैं ; इसीसे उनके निकट श्रीकृष्णकी वश्यता भी सर्वातिशायिनी है। इन तीन विशेषणोंसे यह भी सूचित होता है कि श्रीकृष्ण मधुर-रसके (एवं उसके उपलक्षणसे अन्य सब रसोंके भी) विषय हैं। पूर्ववर्ती १११ वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

शृङ्गार - रसराजमय - मूर्त्तिधर।

अतएव आत्मपर्य्यन्त सर्व्वचित्तहर ॥११२॥

शृङ्गार-रसराजमय - मूर्त्तिधर— शान्त आदि सब रसोंसे शृङ्गार (मधुर) रस श्रेष्ठ होनेके कारण इसको रसराज कहा गया है। **शृङ्गार-रसराज**—रसके राजा-स्वरूप जो शृङ्गार है। रसके राजा-स्वरूप जो शृङ्गार रस है, श्रीकृष्ण उसी शृङ्गार रसके प्रतिमूर्ति स्वरूप हैं ; शृङ्गार रसमय ही श्रीकृष्णकी मूर्ति है। पहले कहा गया है **'सच्चिदानन्दतनु व्रजेन्द-नन्दन'** ; अब कहा गया है **'शृङ्गार-रसराजमय-मूर्त्तिधर'** ; इन दोनों वाक्योंका समन्वयमूलक अर्थ इस प्रकार होगा—श्रीकृष्णकी मूर्ति सच्चिदानन्दमय एवं शृङ्गार-रसराजमय है। इसके द्वारा श्रीकृष्णकी जो शृङ्गार-रसराजमय-मूर्ति है, उसकी प्राकृतता निवारित हुई। श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमय विग्रह शृङ्गार रसका प्रतिमूर्ति स्वरूप, मूर्तिमान शृङ्गार-

रस है। **अतएव**—श्रीकृष्ण शृङ्गार रसकी प्रतिमूर्ति होनेके कारण **आत्मपर्य्यन्त**—औरोंकी बात तो दूर रही, श्रीकृष्ण स्वयं निजपर्यन्त **सर्व्वचित्तहर**—सबके चित्तका हरण करनेवाले हैं। 'सर्वचित्त' कहनेसे यहाँ जिनका चित्त शृङ्गार-रससे भावित है, जो श्रीकृष्णको अपना प्राणवल्लभ मानती हैं, केवल उन्हींको बताया है (चक्रवर्ती)। कारण, यहाँ श्रीकृष्ण शृङ्गार-रसराज रूपसे जिनके चित्तका हरण करते हैं, उन्हींकी बात कही गयी है ; शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य भावका आश्रय जिनको है, उनके चित्तमें श्रीकृष्णका शृङ्गार-रसराज रूप स्फुरित नहीं होता, हो भी नहीं सकता ; क्योंकि, श्रीकृष्णका माधुर्य आदि अपने-अपने प्रेमानुरूप भावसे ही भक्तगण अनुभव कर सकते हैं।

जो हो, श्रीकृष्ण मूर्तिमान् शृङ्गार-रस होनेके कारण जिनका अन्तःकरण शृङ्गार रससे भावित है, उन सबका चित्त तो आकर्षण करते ही हैं—वे सब कान्तारूपसे निजाङ्ग द्वारा उनकी सेवा करनेके निमित्त तो उत्कण्ठित होती ही हैं, श्रीकृष्ण निजपर्यन्त अपने शृङ्गार-रसराज रूपसे आकृष्ट होते हैं, श्रीराधाकी तरह स्वयं भी अपने सौन्दर्य-माधुर्य आदि आस्वादन करनेको उत्कण्ठित होते हैं। अथवा मधुरा रतिमें शान्त-दास्यादि रतिके गुण होनेके कारण मधुर रसमें भी या शृङ्गार रसमें भी शान्त-दास्यादि रसके गुण हैं। मधुर-रसको रसराज कहनेका तात्पर्य भी यही है ; मधुर-रस या शृङ्गार-रस रस-समूहका राजा होनेसे अन्यान्य रस उसके परिकर स्थानीय होते हैं। जहाँ राजा होते हैं, वहीं जैसे राज-परिकर रहते हैं, उसी प्रकार जहाँ शृङ्गार-रस है, वहीं शान्तादि सब रस विद्यमान रहेंगे। इस प्रकार श्रीकृष्णमें सभी रस वर्त्तमान रहनेसे सभी प्रकारके भक्त अपने-अपने भावानुरूप माधुर्यादि उनमें आस्वादन कर सकते हैं एवं अपने स्वभावके अनुरूप माधुर्यादि द्वारा श्रीकृष्ण सबके—सब भावोंके भक्तोंके—चित्तको आकृष्ट कर सकते हैं। इस प्रकार 'सर्वचित्तहर' शब्दके अन्तर्गत 'सर्व' शब्दसे शान्त-दास्य आदि सब भावोंके भक्तोंको

ही समझा जा सकता है। इस प्रकारका अर्थ ही अधिकतर समीचीन लगता है।

श्रीकृष्ण जो 'शृङ्गार-रसराजमय मूर्तिधर' हैं, उसके प्रमाणमें **'विश्वेषामनुरञ्जनेन'** इत्यादि श्लोक उद्धृत हुआ है।

तथाहि गीतगोविन्दे १.११—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीड़ति ॥३२॥

अन्वय—**सखि** (हे सखि) ! **अनुरञ्जनेन** (प्रीति सम्पादन द्वारा) **विश्वेषां** (सब गोपीगणको) **आनन्दं** (आनन्द) **जनयत्** (उत्पन्न कराके) **इन्दीवर-श्रेणी-श्यामल-कोमलैः** (नील-पद्म-श्रेणीसे भी श्यामल और कोमल) **अङ्गैः** (अङ्गों द्वारा) **अनङ्गोत्सवं** (अनङ्गोत्सव) **उपनयन्** (प्राप्त कराके) **स्वच्छन्दं** (बिना संकोचके) **व्रजसुन्दरीभिः** (व्रजसुन्दरीगण कर्तृक) **अभितः** (सर्वाङ्ग द्वारा) **प्रत्यङ्गं** (प्रति अङ्गसे) **आलिङ्गितः** (आलिङ्गित) [**सन्**] (होकर) **मुग्धः** (मुग्ध) **हरिः** (श्रीकृष्ण) **मधौ** (वसन्त कालमें) **मूर्तिमान् शृङ्गारः इव** (मूर्तिमान् शृङ्गार-रस-स्वरूपसे) **क्रीड़ति** (क्रीड़ा करते हैं)।

अनुवाद—हे सखि ! अनुरञ्जनके द्वारा सब गोपीगणको आनन्द उत्पन्न कराके एवं नीलपद्म-श्रेणीसे भी श्यामल और कोमल अङ्गों द्वारा उनके हृदयमें अनङ्गोत्सव उदय कराके एवं बिना संकोचके उनके अङ्गों द्वारा प्रति अङ्गसे आलिङ्गित होकर मूर्तिमान् शृङ्गार रस-स्वरूप मुग्ध श्रीकृष्ण वसन्त समयमें क्रीड़ा कर रहे हैं।

अनुरञ्जनेन—गोपीगणने जिस परिमाणमें रसास्वादनकी आशा कर रक्खी थी, उसकी अपेक्षा अनेक अधिक रस आस्वादन कराके।

इन्दीवर—नील पद्म। श्रीकृष्णके अङ्ग किस प्रकारके हैं? **इन्दीवर-श्रेणी-श्यामल-कोमल**—नील पद्मोंसे भी अधिक श्यामल एवं कोमल। इन्दीवर शब्दसे अङ्गोंकी शीतलता, श्रेणी शब्दसे माधुर्यकी नवनवायमानता, श्यामल शब्दसे सुन्दरता एवं कोमल शब्दसे श्रीकृष्णके अङ्गोंकी सुकुमारता सूचित होती है। इस प्रकारके अङ्गों द्वारा श्रीकृष्णने गोपीगणके हृदयमें अनङ्गोत्सव उदित कराया। इस प्रकारसे नायक-शिरोमणि श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया। और व्रजसुन्दरीगणने भी समस्त-द्विधा-संकोचका परित्याग कर स्वच्छन्द चित्तसे अपने सब अङ्गों द्वारा श्रीकृष्णके प्रति-अङ्गको आलिङ्गन करके अपना अनुराग प्रकाश किया। नायक-नायिकाके लिए इस प्रकार परस्परमें प्रीति सम्पादनकी चेष्टासे प्रेम-परिपाकोद्‌गत पूर्ण रसका आविर्भाव हुआ। और मूर्तिमान् शृङ्गार-रस-स्वरूप श्रीकृष्ण भी उस रस-समुद्रमें अवगाहन करके वसन्त-कालमें प्रेयसीवर्गके सहित क्रीड़ा करने लगे, शृङ्गार-रसकी सर्वाधिक वैचित्री प्रकट करके आस्वादन करने लगे।

लक्ष्मीकान्त-आदि अवतारेर हरे मन।
लक्ष्मी-आदि नारीगणेर करे आकर्षण ॥११३॥

अपने सौन्दर्य-माधुर्य आदिके द्वारा श्रीकृष्ण केवल अपने परिकरवर्गका चित्त आकर्षण करते हैं, इतना ही नहीं; वे सब भगवत्स्वरूपोंका एवं उनके कान्तादिका चित्त भी अपहरण करते हैं—यही बात इस पयारमें कही गयी है।

लक्ष्मीकान्त-आदि—नारायण। श्रीकृष्ण अपने माधुर्य द्वारा नारायण आदिके मन तकको हरण करते हैं। इसके प्रमाणमें **'निजात्मजा मे'** इत्यादि श्लोक उद्धृत हुआ है।

लक्ष्मी-आदि—स्वयं लक्ष्मी, जो नारायणकी वक्षोविलासिनी हैं, जो पतिव्रता शिरोमणि हैं, उन लक्ष्मीने भी श्रीकृष्णके माधुर्यसे आकृष्ट

होकर अपने पति नारायणके सङ्गमय-भोगका त्याग करके श्रीकृष्णको पानेके लिए कठोर तपस्या की थी ; इसके प्रमाणमें 'कस्यानुभावोऽस्य' इत्यादि श्लोक दिया गया है ।

इस पयारकी टीकामें चक्रवर्तीपादने लिखा है—कृष्ण-सौन्दर्यसे लुब्ध होकर लक्ष्मीदेवी उनको पानेके लिए तपस्या कर रही थीं, उस समय श्रीकृष्णने उनके पास जाकर उनकी तपस्याके कारणकी जिज्ञासा की। तब लक्ष्मी देवीने कहा—"गोपी रूपसे गोष्ठमें विहार करनेकी मेरी वासना है ।" यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"यह तो दुर्लभ है ।" लक्ष्मीने फिर कहा—"नाथ ! तब स्वर्ण-रेखा-रूपसे तुम्हारे वक्षःस्थलपर अवस्थान करनेकी इच्छा करती हूँ ।" श्रीकृष्णने 'तथास्तु' कह दिया। तबसे लक्ष्मी देवी स्वर्ण-रेखा-रूपसे श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर विराजित हैं ।

श्रीः प्रेक्ष्य कृष्णसौन्दर्यं तत्र लुब्धा ततस्तपः ।
कुर्वतीं प्राह तां कृष्णः किं ते तपसि कारणम् ॥
विजीहीर्षे त्वया गोष्ठे गोपीरूपेति साब्रवीत् ।
तद्दुर्लभमिति प्रोक्ता लक्ष्मीस्त्वं पुनरब्रवीत् ॥
स्वर्णरेखैव ते नाथ वस्तुमिच्छामि वक्षसि ।
एवमस्त्ववति सा तस्य तद्रूपा वक्षसि स्थिता ॥
सदा वक्षःस्थलस्थापि वैकुण्ठेशितुरिन्दिरा ।
कृष्णोरःस्पृहया स्यैव रूपं विवृणुतेऽधिकम् ॥

श्रीकृष्ण-माधुर्यने नारायणादि-पुरुषावतारगणके एवं लक्ष्मी आदि नारिगणके मन तकका हरण किया है, तब औरोंकी तो बात ही क्या ?

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.८६.५६—

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।

कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥३३॥

अन्वय—धर्मगुप्तये (धर्म रक्षाके निमित्त) **कलावतीर्णौ** (सर्व-शक्ति-समन्वित होकर अवतीर्ण हे कृष्ण-अर्जुन) ! **युवयोः** (तुम दोनोंके) **दिदृक्षुणा** (दर्शनकी अभिलाषासे) **मया** (मेरे द्वारा) **मे** (मेरे) **भुवि** (पुरमें) **द्विजात्मजाः** (द्विज-पुत्रगण) **उपनीताः** (आनीत हुए हैं) ; **भूयः** (पुनर्वार) **[युवां]** (तुम लोग) **अवनेः** (पृथिवीके) **भरासुरान्** (भारभूत असुरगणको) **हत्वा** (हनन करके) **मे** (मेरे) **अन्ति** (निकट) **त्वरयेतं** (शीघ्र प्रेरण करो)।

अनुवाद—धर्म-रक्षाके निमित्त पूर्णरूपसे (सर्वशक्ति समन्वित होकर) अवतीर्ण हे कृष्ण-अर्जुन ! तुम दोनोंके दर्शनोंके अभिप्रायसे मैं द्विज-बालकोंको मेरे पुरमें ले आया हूँ। पुनर्वार तुम लोग पृथिवीके भारभूत असुरगणको संहार करके शीघ्र मेरे निकट प्रेरण करो।

द्वारावतीके निकटवर्ती कोई एक ब्राह्मणकी क्रमसे नौ सन्तानकी मृत्यु होनेसे ब्राह्मण अत्यन्त दुःखित होकर काल-यापन करने लगे। प्रत्येक पुत्रकी मृत्यु होते ही ब्राह्मण मृत-पुत्रको गोदीमें लेकर राजद्वारपर उपस्थित होते एवं राजाके किसी भी प्रकारका प्रतिकार न कर सकनेपर उन्होंने निश्चय किया कि राजाके दोषसे ही उसको पुत्र-शोक भोगना पड़ रहा है। श्रीकृष्णके पास आये अर्जुनने लोगोंसे यह संवाद जानकर ब्राह्मणको आश्वासन देकर कहा—"मैं आपके पुत्रकी रक्षा करूँगा ; न कर सकनेपर अग्निप्रवेश करके प्राण-त्याग कर दूँगा।" समय पाकर ब्राह्मणीके पुनः गर्भवती होनेपर ब्राह्मणने यह बात अर्जुनको बतायी और अर्जुनने गर्भस्थ सन्तानकी रक्षाके लिए शर-जालसे सूतिका-गृहको ढक दिया। समयपर ब्राह्मण-पत्नीके पुत्रने जन्म लेकर कुछ रोदन किया और उसी क्षण आकाश-मार्गसे सशरीर अन्तर्हित हो गया। तब ब्राह्मण

श्रीकृष्णके पास आकर अर्जुनका यथेष्ट तिरस्कार करके बोला—"मिथ्या-वादी ! धिक्कार है तुमको ! वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध तक मेरी सन्तानकी रक्षा नहीं कर सके, और तुम उसकी रक्षा करोगे ! तुम मेरे मृत पुत्रोंको लोकान्तरसे लाओगे !" अर्जुन अस्त्र धारण करके यमपुरी पहुँचे। उन्होंने समझा था कि यमपुरीमें ब्राह्मणके पुत्रगण हैं। उनको वहाँ न पाकर क्रमसे ऐन्द्री, आग्नेयी, नैऋती, सौम्या, वायव्या, और वारुणी पुरीमें एवं रसातल, स्वर्ग एवं अन्यान्य—ब्रह्माओंके—स्थानोंमें खोज की। किसी भी जगह ब्राह्मण-पुत्रोंको न पाकर प्रतिज्ञा-पालनमें असमर्थ हो अर्जुनने अग्निप्रवेश करनेकी इच्छा की। श्रीकृष्णने अनेक प्रकारसे समझाकर उन्हें ऐसा करनेसे रोका और आश्वासन देकर कहा—"मैं तुम्हें द्विज कुमारोंको दिखाऊँगा।" तब वे अर्जुनके साथ दिव्य अश्वोंसे जुते रथपर चढ़कर अनेक गिरि, नदी, समुद्रादि पार करके महाकालकी पुरीमें पहुँचे। वहाँके भूमापुरुषने श्रीकृष्ण-अर्जुनको सम्बोधन करके जो कहा, वही उक्त श्लोकमें व्यक्त हुआ है। उनको उक्तिका मर्म इस प्रकार है ब्राह्मण-तनयगण उनके पास हैं, वे ही उनको वहाँ ले आये हैं—उनके अनुसंधानमें श्रीकृष्ण अर्जुन वहाँ जायँगे, तब श्रीकृष्णके दर्शन करनेका सुयोग उनको मिलेगा—यह सोचकर वे ब्राह्मण-कुमारोंको ले आये हैं। इसीसे समझा जाता है कि श्रीकृष्णरूपके दर्शन करनेके लिए भूमापुरुष उत्कण्ठित हुए थे। उपर्युक्त विवरणमें जो महाकालपुरकी बात कही गयी है, वह है परव्योमाधिपति नारायणका कारणार्णव-जलमध्यस्थित धाम; और जो भूमापुरुषकी बात कही गयी है वे हैं महाकालपुरमें अवस्थित परव्योमाधिपति नारायण।

धर्मगुप्तये—धर्मकी रक्षाके लिए। **कलावतीर्णौ**—कला (अंशसमूह या शक्ति-समूह) के सहित अवतीर्ण हुए हैं जो दो जन। श्रीकृष्ण सर्वशक्ति एवं समस्त अंशोंके सहित अवतीर्ण हैं, अतएव पूर्णतम स्वयंभगवान् हैं, यही सूचित होता है। उनके अवतीर्ण होनेका हेतु है—धर्मरक्षा। भूमापुरुषने

कहा—तुम दोनोंके **दिदृक्षुणा मया**—दर्शनोंका अभिलाषी मुझ द्वारा; तुम दोनोंके दर्शन करनेकी मेरी बलवती वासना होनेके कारण मेरे द्वारा मेरे **भुवि**—ग्राममें, पुरीमें **द्विजात्मजाः**—द्विज-बालकोंको, जिनका तुम लोग अनुसंधान कर रहे हो, लाना हुआ है, मैं ही उनको यहाँ लाया हूँ। तुम लोग कृपा कर आये हो, तुम लोगोंके दर्शन करके मैं कृतार्थ हुआ। अब **अवनेः**—पृथिवीके **भरासुरान्**—भारभूत या भार सदृश जो असुरगण हैं, उनका संहार करके मेरे पास **त्वरयेतं**— शीघ्र भेज दो, यहाँ आते ही वे मुक्त हो जायँगे।

श्रीकृष्ण भूमापुरुषके या नारायणके—एवं तदुपलक्षणसे समस्त भगवत्स्वरूपोंके मनको हरण करते हैं, उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तत्रैव (श्रीम. भा.) १०.१६.३६—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥३४॥

अन्वय—**देव** (हे देव)! **श्रीर्ललना** (परम सुकोमला लक्ष्मी देवी) **यद्वाञ्छया** (जिसकी वासनासे—जिस पद-रेणुके स्पर्शाधिकारकी प्राप्ति-की वासनासे) **कामान्** (सब कामनाओंको) **विहाय** (त्याग करके) **धृतव्रता** (नियमबद्ध होकर) **सुचिरं** (बहुत कालतक) **तपः आचरत्** (तपस्या की थी), **अस्य** (इसको—इस कालिय नागको) **तव** (तुम्हारी) **अङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः** (चरण-रेणुका स्पर्शाधिकार) **कस्य** (किसका) **अनुभावः** (फल है) **न विद्महे** (नहीं जानतीं)।

अनुवाद—कालियनागकी पत्नियोंने श्रीकृष्णके प्रति कहा था— "हे देव! जिसको पानेकी इच्छासे कमलाने सब कामनाओंका त्याग कर

धृतव्रत होकर तपस्या की थी, वह पद-रेणु पानेका इस कालियनागको किस पुण्यसे अधिकार प्राप्त हुआ, वह हम लोग नहीं जानतीं।

कालियदमन लीलामें श्रीकृष्ण जब कालियनागको दण्ड दे रहे थे तब कालियनागकी पत्नियोंने श्रीकृष्णके क्रोधके उपशमनके उद्देश्यसे उनकी स्तुति करते हुए जो कहा था, उसमेंकी कुछ बात इस श्लोकमें व्यक्त हुई है। उनकी उक्तिका तात्पर्य यह है—"हे देव ! तुम इस कालियनागके फण-फणपर नृत्य करके उसको अपनी चरण-रेणुके स्पर्शका अधिकार दे रहे हो ; किन्तु किसके प्रभावसे यह कालिय ऐसे सौभाग्यका अधिकारी हुआ, वह हम लोग समझ नहीं पा रही हैं। यह निश्चय ही किसी तपस्याका फल नहीं है। हम जानती हैं कि इस महापापी कालियनागकी बात तो दूर रही, जो तुम्हारे नारायण-स्वरूपकी वक्षोविलासिनी हैं, जो पवित्रता-की उत्स—स्रोत हैं एवं ब्रह्मादि देवगण भी जिनके चरणोंका ध्यान करते हैं, उन लक्ष्मीदेवीने परम सुकोमला होकर भी, वृन्दावन-विहारी तुम्हारे चरणोंकी रेणुके स्पर्शका अधिकार पानेके लिए, कठोर व्रत धारण करके बहुत समयतक तपस्या की थी, किन्तु वे भी उसको नहीं पा सकीं। कालियने किस सौभाग्यसे ऐसी दुर्लभ वस्तु प्राप्त की, यह हमारी बुद्धिके समझसे बाहरकी बात है।

स्वयं लक्ष्मीदेवी भी श्रीकृष्णके माधुर्यसे आकृष्ट हुई थीं, उसके (११३ पयारोक्तिके) प्रमाणमें यह श्लोक है। माधुर्यसे आकृष्ट होकर उस माधुर्यके आस्वादनका अधिकार प्राप्त करनेके लिए उन्होंने तपस्या की थी।

आपन माधुर्य्यें हरे आपनार मन।
आपने आपना चाहे करिते आलिङ्गन ॥११४॥

अपने माधुर्यसे श्रीकृष्ण स्वयं मुग्ध हो जाते हैं ; दर्पण आदिमें अपना रूप देखकर वे इतने मुग्ध हो जाते हैं कि श्रीराधा जिस भावसे उनका माधुर्य आस्वादन करती हैं, ठीक उसी भावसे वे स्वयं भी अपने माधुर्यका आस्वादन करनेको प्रलुब्ध होते हैं। परवर्ती श्लोक इसका प्रमाण है।

तथाहि ललितमाधवे ८.३४—

अपरिकलितपूर्व्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः ।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥३५॥

अन्वय — अपरिकलितपूर्वः (अननुभूतपूर्व) **चमत्कारकारी** (चमत्कार-जनक) **कः** (कैसा अनिर्वचनीय) **गरीयान्** (श्रेष्ठ) **एषः** (यह) **मम** (मेरे) **माधुर्यपूरः** (माधुर्य-समूह) **स्फुरति** (प्रकाश पा रहा है) **यं** (जो—जो माधुर्य-समूह) **प्रेक्ष्य** (दर्शन करके) **अयं** (यह) **अहमपि** (मैं श्रीकृष्ण भी) **लुब्धचेता.** (लुब्धचित्त) **[सन्]** (होकर) **राधिका इव** (श्रीराधाकी तरह) **सरभसं** (उत्सुकता सहित) **उपभोक्तुं** (उपभोग करनेके लिए) **कामये** (अभिलाषा करता हूँ)।

अनुवाद—मणि-भित्तिमें प्रतिविम्बित अपना माधुर्य देखकर श्रीकृष्ण विस्मय सहित कहते हैं—"अहो ! अननुभूतपूर्व चमत्कार-जनक एवं गरीयान् (श्रेष्ठ) कैसी अनिवचनीय मेरी माधुर्य-राशि प्रकाश पा रही है, जिसका दर्शन करके मैं भी लुब्ध-चित्त होकर श्रीराधाकी तरह उत्सुकता सहित उपभोग करनेकी अभिलाषा करता हूँ।"

अपरिकलितपूर्वः—जिसका पहले कभी अनुभव नहीं किया गया, इस प्रकारका। यह **'माधुर्यपुरः'** का विशेषण है ; श्रीकृष्णके माधुर्यका ऐसा एक असाधारण गुण है कि जब भी उसको देखा जाय, तभी लगता है मानो ऐसा माधुर्य पूर्वमें कभी भी देखनेमें नहीं आया ; इस प्रकारका मनका भाव दूसरोंका तो होता ही है, स्वयं श्रीकृष्णका भी होता है। श्रीकृष्णका माधुर्य नित्य-नवनवायमान होनेके कारण ऐसा होता है।

चमत्कारकारी—चमत्कार-जनक ; विस्मय-जनक ; जो वस्तु पहले कभी देखनेमें न आयी हो, चिन्तनसे परे ऐसी कोई भी वस्तु देखनेपर

लोगोंको विस्मय होता है। श्रीकृष्णके माधुर्यका दर्शन करनेपर भी इस प्रकारका विस्मय उत्पन्न होता है—औरोंको तो उत्पन्न होता ही है, स्वयं श्रीकृष्णको भी उत्पन्न होता है।

गरीयान्—अन्य सभी माधुर्यसे श्रेष्ठ। **अहमपि**—मैं भी। जो पूर्ण, आत्माराम, निर्विकार है ; किसी भी वस्तुको देखकर विचलित होना जिसके लिए सम्भव नहीं। किन्तु श्रीकृष्ण-माधुर्यमें एक ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है कि यह पूर्ण भगवान्, निर्विकार श्रीकृष्णको भी विचलित करती है। अथवा, जिसके प्रतिविम्बका ऐसा माधुर्य है, वह मैं भी। यही 'अपि' शब्दकी सार्थकता है।

हन्त—विषाद (अमरकोष) ; खेद (मेदिनी)। अपने माधुर्यका दर्शन करके सम्यक् रूपसे उसका आस्वादन करनेके लिए श्रीकृष्णको इतना लोभ उत्पन्न हुआ कि उसका आस्वादन नहीं कर पा सकनेके कारण उनको विषाद या खेद उत्पन्न हुआ। यही 'हन्त' शब्दका तात्पर्य है। अपना माधुर्य आस्वादन न कर सकनेका कारण यह है कि मादनाख्य-महाभावका (श्रीराधिकाके भावका) आश्रय हुए बिना श्रीकृष्ण-माधुर्यका सम्यक् आस्वादन सम्भव नहीं ; श्रीकृष्ण मादनाख्य महाभावके विषय मात्र हैं, आश्रय नहीं ; इसीसे उनको खेद हुआ।

राधिकेव—श्रीराधाकी तरह, श्रीराधा उत्सुकताके सहित श्रीकृष्ण-का माधुर्य जिस प्रकार आस्वादन करती हैं, श्रीकृष्ण भी ठीक उसी प्रकार आस्वादन करनेके लिए लालायित हुए। 'राधिकेव' शब्दकी ध्वनि यह है कि श्रीराधाका भाव ग्रहण करके श्रीराधाकी तरह प्रेमके आश्रय रूपसे अपना माधुर्य-आस्वादन करनेके लिए श्रीकृष्णकी इच्छा हुई।

अयं अहमपि—यह मैं भी ; जिसका प्रतिविम्ब दर्पणमें प्रतिफलित हुआ है, वह मैं भी। साधारणतया अपने माधुर्यके आस्वादनके लिए किसीको लोभ नहीं हुआ करता ; बल्कि अपना माधुर्य अपने प्रिय व्यक्तिको आस्वादन करानेके लिए इच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु

श्रीकृष्ण-माधुर्यका ऐसा एक अद्भुत स्वभाव है कि उसके आस्वादनके लिए पूर्णतम-स्वरूप आत्माराम श्रीकृष्णको भी बलवती लालसा जाग उठती है।

कृष्ण - माधुर्य्येर एक स्वाभाविक बल।
कृष्ण - आदि नरनारी करये चञ्चल॥

चै.च.आ. ४.१२८

सरभसम् - उत्कण्ठाके सहित। प्रति क्षण नवनवायमान उत्सुकताके सहित। श्रीकृष्ण-माधुर्य-आस्वादनके लिए श्रीराधाको उत्कण्ठा होती है; जब श्रीकृष्णके दर्शनादि होते हैं, तब वे उनका आस्वादन भी करतीं हैं; किन्तु उससे उत्कण्ठा प्रशमित—शान्त नहीं होती, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, 'तृष्णा शान्ति नहे, तृष्णा बाढ़े निरन्तर।' श्रीकृष्ण कहते हैं—"प्रतिक्षण नव-नवायमान उत्सुकताके सहित श्रीराधा जिस प्रकार मेरा माधुर्य उपभोग करतीं हैं, उसी प्रकार प्रतिक्षण नव-नवायमान उत्सुकताके सहित अपना माधुर्य उपयोग करनेके लिए मुझे भी लोभ होता है।

राधातत्त्व और श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ

संक्षेपे कहिल एइ कृष्णेर स्वरूप।
एबे संक्षेपे कहि शुन राधातत्त्व रूप॥११५॥

संक्षेपे इत्यादि—संक्षेपमें १०६ से ११४ तकके पयारोंमें कृष्णतत्त्व कहा गया।

श्रीकृष्णके स्वरूप-तत्त्वके वर्णनमें ऐश्वर्य और माधुर्य (रसत्व) की बात कही गयी है। १०६ और १०७ पयारमें श्रीकृष्णके असमोर्द्ध ऐश्वर्यकी बात कही गयी है—उनका इतना ऐश्वर्य है कि वे सब अवतारोंके, सब भगवत्स्वरूपोंके, उनके धामादिके एवं अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके भी मूल एवं

आश्रय हैं। ऐसा ऐश्वर्य जिनका हो उनको दूसरा कोई भी वशीभूत नहीं कर सकता ; किन्तु वे भी श्रीराधाके प्रेमके वशीभूत हैं ; ऐसी श्रीराधा-प्रेमकी महिमा है। और १०८ से ११४ तकके पयारोंमें श्रीकृष्णके असमोर्द्ध माधुर्यका (उनके रसत्वका) वर्णन किया गया है—वे अशेष-रसामृत-वारिधि, आत्मपर्यन्त सर्वचित्त-हर, साक्षात् मन्मथ-मदन हैं। जिनके माधुर्यकी ऐसी आकर्षिणी शक्ति है, वे और किसीके द्वारा आकृष्ट हो सकते हैं? आकृष्ट होकर किसीकी भी वश्यता स्वीकार कर सकते हैं? किन्तु वे भी श्रीराधाप्रेमके वशीभूत हैं। इसके द्वारा भी राधा-प्रेमकी अपूर्व महिमाकी बात व्यक्त हुई है ; विशेषतः श्रीकृष्णके इस मदन-मोहन रूपके असमोर्द्ध माधुर्यके विकाशका हेतु भी श्रीराधाका प्रेम ही है। यह भी राधा-प्रेमकी महिमा ही सूचित करता है।

ऐसे अदभुत महिमावाले प्रेमका क्या स्वरूप है और यह प्रेम जिनका है, उन श्रीराधाका क्या स्वरूप है, यही अब बताया जा रहा है। पूर्ववर्ती ६१ संख्यक पयारकी टीका देखिये।

कृष्णेर अनन्तशक्ति, ताते तिन प्रधान—।

चिच्छक्ति, मायाशक्ति,—जीवशक्ति नाम ॥११६॥

अन्तरङ्गा बहिरङ्गा तटस्था कहि जारे।

अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति—सभार ऊपरे ॥११७॥

कृष्णकी शक्ति संख्यामें अनन्त हैं। इन अनन्त शक्तियोंमें तीन प्रधान हैं—चिच्छक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति।

चिच्छक्तिका दूसरा नाम अन्तरङ्गा-शक्ति है, मायाशक्तिका दूसरा नाम बहिरङ्गा-शक्ति है एवं जीव-शक्तिका दूसरा नाम तटस्था-शक्ति है। अन्तरङ्गा-शक्ति ही श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्ति है एवं यही शक्ति सर्वश्रेष्ठा है।

इन दोनों पयारोंके प्रमाणमें निम्नलिखित श्लोक है।

तथाहि विष्णुपुराणे ६.७.६१

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥३६॥

अन्वय—**विष्णुशक्तिः** (विष्णुशक्ति) **परा** (पराशक्ति नामसे) **प्रोक्ता** (कही जाती है) ; **अपरा** (दूसरी शक्ति) **क्षेत्रज्ञाख्या** (क्षेत्रज्ञ शक्ति नामसे कही जाती है) ; **अन्या तृतीया** (अन्य एक तृतीया शक्ति) **अविद्याकर्म-संज्ञा** (अविद्या-कर्म नामसे) **इष्यते** (जानी जाती है)।

अनुवाद—विष्णुशक्ति परा-नामसे जानी जाती है, दूसरी एक शक्तिका नाम क्षेत्रज्ञा शक्ति है, अन्य एक तृतीया शक्ति अविद्या-कर्म नामसे जानी जाती है।

भगवान्‌की शक्तिको साधारणतः तीन श्रेणीमें विभक्त किया जाता है। प्रथमतः **विष्णुशक्ति**—यहाँपर स्वरूप शक्ति या अन्तरङ्गा चिच्छक्तिको ही विष्णुशक्ति कहा गया है ; कारण, इसको **परा**—श्रेष्ठा कहा गया है ; अन्तरङ्गा चिच्छक्ति ही सब शक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ है। द्वितीयतः **क्षेत्रज्ञाख्या**—क्षेत्रज्ञ-नामकी शक्ति ; इसका दूसरा नाम जीव-शक्ति या तटस्था शक्ति है। तृतीयतः **अविद्याकर्मसंज्ञा**—मायाशक्ति। **"व्याप्य-व्यापक-भेद-हेतुभूतं विष्णोः शक्त्यन्तरमाह अविद्येति कर्मेति च संज्ञा यस्या सा तथाच मायोपलक्ष्यते हेतुहेतुमतोरविद्याकर्मणो-रेकीकृत्योक्तिः संसारलक्षणकार्यैक्यात् ।"** अविद्या है व्यापक, कर्म है उसका व्याप्य ; यहाँ व्याप्य और व्यापकको—हेतु और हेतुमान्‌को एकीभूत करके कहा गया है। अविद्या और कर्म संज्ञा है जिसकी—माया। अविद्याका अर्थ है माया—यह भगवान्‌की बहिरङ्गा शक्ति है ; संसार भी मायाका कार्य है—कार्य-कारणका अभेद मान लेनेसे, वह भी माया है—बहिरङ्गा शक्ति अतएव कारणरूपा अविद्या एवं उसका कार्य-रूप संसार—ये दोनों ही भगवान्‌की बहिरङ्गा शक्ति माया हैं ; यही

तृतीया शक्ति है। यह बहिरङ्गा शक्ति होनेपर भी तटस्थशक्तिमय जीवको आवृत कर सकती है।

सच्चित् - आनन्दमय — कृष्णेर स्वरूप।
अतएव स्वरूपशक्ति हय तिनरूप— ॥११८॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे संवित्—जारे 'ज्ञान' करि मानि ॥११६॥

श्रीकृष्णका स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है; अतएव इन तीन अंशोंके संश्रवसे उनकी स्वरूप शक्ति भी तीन रूपसे जानी जाती है।

सत् शब्दसे सत्ता, या अस्तित्व समझा जाता है और चित् शब्दसे चैतन्य या जड़ातीत वस्तु।

सत, चित् और आनन्द—इनमें-से किसी भी एकको दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता—जहाँ एक होगा वहाँ दूसरे दोनों भी हैं ही; इनका परस्परका सम्बन्ध और युगपत् अवस्थान अपरिहार्य है।

सत्-स्वरूप एवं आनन्द-स्वरूप चित् ही श्रीकृष्ण हैं; अतएव श्रीकृष्णकी स्वरूप-स्थिता शक्ति ही हुई चित्‌की शक्ति या चिच्छक्ति—चैतन्यमयी शक्ति। यह जड़रूपा माया शक्तिसे अलग केवल चैतन्य-रूपिणी शक्ति है। चित् स्वरूप श्रीकृष्णकी स्वरूप-स्थिताका साधारण नाम है चिच्छक्ति या स्वरूप शक्ति।

आनन्दांशे ह्लादिनी—सच्चिदानन्द-पूर्ण श्रीकृष्णके जिस अंशका नाम 'आनन्द' है, उस अंशकी शक्तिका नाम ह्लादिनी शक्ति है। **सदंशे सन्धिनी**—सच्चिदानन्दपूर्ण श्रीकृष्णके जिस अंशका नाम 'सत्' है, उस अंशकी शक्तिका नाम सन्धिनी शक्ति है। **चिदंशे संवित्**—सच्चिदानन्द-पूर्ण श्रीकृष्णके जिस अंशका नाम 'चित्' है, उस अंशकी शक्तिका नाम संवित् शक्ति है। **जारे**—उस संवित्‌को। **ज्ञान करे मानि**—संवित्‌के द्वारा जाना जानेके कारण संवित्‌को 'ज्ञान' कहा जाता है।

इन तीनों शक्तियोंमें सन्धिनीकी अपेक्षा संवित्का एवं संवित्की अपेक्षा ह्लादिनीका उत्कर्ष है ; "अत्र चोत्तरोत्तरत्र गुणोत्कर्षेण सन्धिनी संवित् ह्लादिनीति क्रमो ज्ञेयः। इति विष्णुपुराणोक्त ह्लादिनी सन्धिनी संविदित्यादि १.१२ ६९ श्लोककी टीकामें श्रीधर स्वामी।" इस प्रकार ह्लादिनी ही सर्वशक्ति-गरीयसी है ; लगता है कि इसीसे ह्लादिनीका नाम सबसे पहले दिया गया है।

सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनीके केवल स्वरूप लक्षणकी बात ऊपर कही गयी है। सत्, चित् और आनन्दके सहित संश्लिष्ट व्यापारमें अभिव्यक्त चिच्छक्ति ही यथाक्रमसे सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी नामसे कही जाती है। अब इन तीन शक्तियोंके तटस्थ लक्षण या क्रिया सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है।

श्रीकृष्ण स्वयं आह्लादक होनेपर भी जिसके द्वारा स्वयं आह्लादित होते हैं एवं दूसरोंको भी आह्लादित करते हैं, उसका नाम है आह्लादिनी। श्रीकृष्ण स्वयं ज्ञान-रूप होनेपर भी जिसके द्वारा जान सकते हैं एवं दूसरोंको भी जना सकते हैं, उसका नाम है संवित्। और श्रीकृष्ण स्वयं सत्-स्वरूप अर्थात् नित्यसत्ताविशिष्ठ होनेपर भी जिसके द्वारा वे अपनी एवं दूसरोंकी सत्ताको धारण करते हैं एवं सत्ता दान करते हैं, उसका नाम है सन्धिनी। "भगवान् सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकालद्रव्यादि—प्राप्ति करी सन्धिनी। तथासम्विद्रूपोऽपि यया सम्वेत्ति सम्वेदयति च सा सम्वित्। तथा ह्लादरूपोऽपि यया सम्विदुत्कर्षरूपया तं ह्लादं सम्वेत्ति सम्वेदयति च सा ह्लादिनीति विवेचनीयम्। भगवत्सन्दर्भ ११८।"

सत्, चित् और आनन्द—इन तीन वस्तुओंमें-से किसी भी एकको दूसरे दो-से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सन्धिनी सम्वित् एवं ह्लादिनी—इन शक्तियोंमें-से भी (अथवा एक ही चिच्छक्तिकी तीन

वृत्तियोंमें-से) किसी भी एकको दूसरी दोनोंसे अलग नहीं किया जा सकता ; जहाँपर चिच्छक्तिका विकाश दिखायी देगा, वहाँ ह्लादिनी-सन्धिनी-सम्वित्का युगपत् विकाश दिखायी देगा। चिद् वस्तु स्वप्रकाश है; चिच्छक्ति भी स्वप्रकाश एवं चिच्छक्तिकी वृत्ति भी स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश वस्तु अपनेको भी प्रकाश करती है एवं दूसरी वस्तुको भी प्रकाश करती है; स्वप्रकाश सूर्यसे यह प्रमाणित होता है—सूर्य उदित होकर निजको भी प्रकाश करता है और अन्य वस्तुओंको भी प्रकाश करता है। स्वप्रकाश चिच्छक्ति या चिच्छक्ति वृत्ति भी उसी प्रकार निजको भी प्रकाश करती है, अन्य वस्तुको भी प्रकाश करती है। ह्लादिनी-सन्धिनी-सम्विदात्मिका चिच्छक्तिकी जिस स्वप्रकाश-लक्षणवृत्ति विशेषके द्वारा भगवान्, उनका स्वरूप या स्वरूपशक्तिकी परिणति परिकर आदि—विशेष रूपसे प्रकाशित या आविर्भूत होते हैं, उस वृत्ति-विशेषको विशुद्ध सत्त्व कहते हैं। **"तदेवं तस्या मूलशक्ते स्त्र्यात्मकत्वे सिद्धे येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्तिविशेषेण स्वरूपं स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वाविर्भवति तद्विशुद्धसत्त्वम्। अस्य मायया स्पर्शाभावात् विशुद्धत्वम्। भगवत् सन्दर्भः ११८।"**

मायाके साथ इसका कोई भी संस्पर्श नहीं होनेके कारण इसको विशुद्ध सत्त्व कहा जाता है। इस विशुद्ध सत्त्वमें ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—ये तीनों शक्ति युगपत् अभिव्यक्त रहनेपर भी उनकी अभिव्यक्ति-का परिमाण सर्वत्र समान नहीं रहता ; कहीं-कहींपर तीनों शक्ति ही समपरिमाणमें अभिव्यक्त होती है और कहीं-कहीं कोई एक शक्ति अधिक रूपमें अभिव्यक्त होती है। विशुद्ध सत्त्वमें जब सन्धिनी शक्तिकी अभिव्यक्ति प्रधानता प्राप्त करती है, तब उसको आधार शक्ति कहते हैं ; यह सन्धिन्यंश प्रधान विशुद्ध सत्त्वकी (आधार शक्तिकी) परिणति ही भगवद्धामादि, एवं श्रीकृष्णके माता, पिता, शैया, आसन, पादुकादि हैं। विशुद्ध सत्त्वमें जब सम्वित् शक्तिकी अभिव्यक्ति प्रधानता प्राप्त करती है, तब उसको कहते

हैं आत्मविद्या। आत्मविद्याकी दो वृत्ति हैं—यह ज्ञान है और ज्ञानकी प्रवर्तक भी, इसके द्वारा उपासकको भी ज्ञान प्रकाशित होता है। विशुद्ध सत्त्वमें जब ह्लादिनीकी अभिव्यक्ति प्रधानता प्राप्त करती है, तब उसको कहते हैं गुह्यविद्या। गुह्यविद्याकी भी दो वृत्ति हैं—यह भक्ति है और भक्तिकी प्रवर्तक भी ; इसके द्वारा प्रीत्यात्मिका भक्ति (या प्रेम भक्ति) प्रकाशित होती है। और विशुद्ध सत्त्वमें जब तीनों शक्ति युगपत् समान भावसे अभिव्यक्ति प्राप्त करे, तब इस विशुद्ध सत्वको कहते हैं मूर्ति।

"इदमेव विशुद्धसत्वं सन्धिन्यंश-प्रधानं चेदाधारशक्तिः। सम्विदंशप्रधानमात्मविद्या। ह्लादिनी सारांशप्रधानं गुह्यविद्या। युगपत्शक्तित्रयप्रधानं मूर्तिः। भगवत्-सन्दर्भः ११८।" शक्तित्रयप्रधान विशुद्ध सत्त्व द्वारा भगवान्‌का श्रीविग्रह प्रकाशित होता है (भगवान्‌का श्रीविग्रह शक्तित्रयप्रधान शुद्ध सत्वमय होता है) इसलिए इसको 'मूर्ति' 'कहते हैं। 'भगवदाख्यायाः सच्चिदानन्दमूर्तेः प्रकाशहेतुत्वात् मूर्तिः। भगवत् सन्दर्भ।"

इन शक्तियोंकी दो प्रकारकी स्थिति है—एक तो केवल मात्र शक्ति रूपसे अमूर्त ; दूसरे शक्तिके केवल अधिष्ठात्री रूपसे मूर्त। अमूर्त शक्ति-रूपमें वे लोग भगवद्‌विग्रह आदिके साथ एकात्मता प्राप्त करके रहते हैं और मूर्त अधिष्ठात्री रूपसे वे लोग भगवत्-परिकरादि रूपसे रहते हैं। "तासां केवल शक्तिमात्रत्वेन अमूर्तानां भगवद्-विग्रहाद्येकात्म्येन स्थितिः, तदधिष्ठात्रीरूपत्वेन मूर्तानां तू तत्तदावरणतयेति द्विरूपत्वमपि ज्ञेयमिति दिक्। भगवत् सन्दर्भः ११८।"

जो हो, श्रीकृष्णमें ह्लादिनी आदि तीन शक्तियाँ हैं, उसके प्रमाणमें विष्णुपुराणका एक श्लोक उद्धृत किया जाता है।

तथाहि विष्णुपुराणे १.१२.६९—

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंस्थितो।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥३७॥

अन्वय—[हे भगवान्] (हे भगवन्)! **एका** (मुख्या, अव्यभिचारिणी, स्वरूपभूता) **ह्लादिनी** (ह्लादिनी, आह्लादकरी) **सन्धिनी** (सत्ता-सम्बन्धिनी) **सम्वित्** (ज्ञान सम्बन्धिनी [**शक्तिः**] (शक्ति) **सर्वसंस्थितौ** (सबकी अधिष्ठानभूत) **त्वयि** (तुममें) **एव** (ही) **अस्ति** (है)। **ह्लादकरी** (मनकी प्रसन्नता-विधायिनी सात्विकी) **तापकरी** (विषय-वियोगादिमें तापकरी तामसी) **मिश्रा** (तदुभय मिश्रा विषयजनिता राजसी) [**शक्तिः**] (शक्ति) **गुणवर्जिते** (सत्वादि प्राकृत-गुण-शून्य) **त्वयि** (तुममें) **नो** (नहीं है)।

अनुवाद—हे भगवन् ! तुम्हारी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—ये तीन प्रकारकी शक्तियाँ, सर्वाधिष्ठानभूत तुममें ही अवस्थित हैं (जीवोंमें नहीं)। और ह्लादकरी (अर्थात् मनकी प्रसन्नता-विधायिनी सात्विकी), तापकरी (अर्थात् विषय-वियोगादिमें मानसिक तापदायिनी तामसी) एवं (सुखजनित प्रसन्नता और दुःख जनित ताप—इन दोनोंसे) मिश्रा (विषयजन्या राजसी—ये तीन शक्तियाँ तुम जो प्राकृत-सत्वादि-गुणवर्जित हो, इसलिए तुममें नहीं है किन्तु जीवोंमें है)।

ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—स्वरूपशक्तिकी ये तीन वृत्तियाँ केवल श्रीभगवान्‌में ही अवस्थित हैं, जीवमें नहीं (स्वामी) ; किन्तु प्राकृत जीवोंमें प्राकृत गुणमयी तीन शक्तियाँ हैं—उनके नाम हैं सात्विकी, तामसी और राजसी। मायिक सत्वगुणकी शक्ति ही सात्विक शक्ति है, यह चित्तकी प्रसन्नता विधान करती है। मायिक जगत्‌में मायिक वस्तुसे जीव जो मानसिक आनन्द पाता है, वह इस सत्वगुणोद्भूता सात्विकी शक्तिका कार्य है, ह्लादिनीका कार्य नहीं है। मायिक तमोगुणकी शक्ति तामसी शक्ति है। विषयोंमें आसक्ति एवं धन-जनादि-विषय-वियोग जनित मानसिक ताप इस तामसी शक्तिका कार्य है ; इसलिए इस शक्तिको तापकरी शक्ति भी कहते हैं। मायिक रजोगुणकी शक्तिको कहते हैं राजसी शक्ति। विषय-भोग जनित सुखके बीच भी जो भोगसे उद्भूत एक

प्रकारका दुःख या ताप अनुभव होता है, वह इस राजसी शक्तिका कार्य है; इसमें सात्विकी शक्तिकी तरह सुख भी है, और तामसी शक्तिकी तरह दुःख भी है; इसलिए इसको मिश्रा भी कहते हैं। भगवान्में ये तीन मायिकी शक्ति नहीं है, क्योंकि वे मायातीत हैं, मायिक गुण उनमें नहीं है।

प्रश्न उठ सकता है कि श्लोकमें भगवान्को 'सर्वसंस्थितौ'—सबका अधिष्ठानभूत बताया है; तथापि कहा गया है कि भगवान्में ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् है; किन्तु सात्विकी, राजसी और तामसी शक्ति उनमें नहीं है। सात्विकी आदि तीन शक्तियाँ यदि उनमें नहीं रहे, तो भगवान् सबके अधिष्ठानभूत किस प्रकार हो सकते हैं? उत्तर यह है--श्रीभगवान् सर्वाधिष्ठानभूत होनेके कारण सात्विकी आदि शक्तियों-के अधिष्ठान भी वे ही हैं, ह्लादिनी आदिकी तरह सात्त्विकी आदि भी उनके ही आश्रित हैं; अन्तर इतना ही है कि ह्लादिनी आदि भगवान्की स्वरूप शक्ति होनेके कारण—स्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण—उनके साथ सर्वत्र युक्त-भावसे अवस्थित रहती हैं। और सात्विकी आदि गुणमयी शक्ति उनकी स्वरूपशक्ति होनेके कारण--उनकी बहिरङ्गा शक्ति होनेके कारण, अर्थात् जड़त्व-प्रयुक्त जड़ातीत भगवान्को स्पर्श कर सकनेके कारण—उनके साथ अयुक्त भावसे अवस्थित रहती हैं। भगवान्की अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे गुणमयी शक्तिके अधिष्ठाता होनेपर भी उस शक्तिसे दूर अवस्थित रहते हैं; वास्तवमें यही उनका ईश्वरत्व है। "एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः। न युज्यते। श्रीम. भा. १.११.३९।" पद्मपत्रपर जलकी तरह।

आलोच्य श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीपादने लिखा है—जीवोंमें स्वरूप शक्ति नहीं है। श्लोकस्थ 'एका' शब्दका अर्थ उन्होंने लिखा है—"एका मुख्या अव्यभिचारिणी स्वरूपभूतेतियावत्— यह स्वरूप शक्ति अव्यभिचारी भावसे एकमात्र भगवान्के स्वरूपमें ही अवस्थान करती है—

यह भगवान्की स्वरूपभूता है।" अन्यत्र नहीं रहती। स्वामीपादकी उक्ति वैष्णव आचार्य गोस्वामिगण द्वारा भी अनुमोदित है। ह्लादिनी-सन्धिनी-सम्विद्-रूपा स्वरूपभूता शक्ति "**सर्वाधिष्ठानभूते त्वयि एव न तु जीवेषु। जीवेषु या गुणमयी त्रिविधा साबत्यि नास्ति।** भगवत् सन्दर्भः १८१।" इस उक्तिके अनुकूल कुछ युक्ति और प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं।

(क) शुद्ध जीव भगवान्का चित्कण अंश है; जीव अणुचित् है, भगवान् विभुचित् हैं। विभुचित् अपनी स्वरूपशक्तिके साथ युक्त है; इसलिए स्वरूपशक्तियुक्त कृष्णको शुद्धकृष्ण भी कहा जाता है; क्योंकि स्वरूपशक्ति उनकी स्वरूपभूता है। श्रीजीवने अपने परमात्म-सन्दर्भमें कहा है—जीवशक्तियुक्त कृष्णका अंश ही जीव है, स्वरूपशक्ति युक्त शुद्ध-कृष्णका अंश नहीं—"**जीवशक्तिविशिष्टस्यैव तव जीवोंऽशः नतु शुद्धस्य** ३१।" यदि जीवमें स्वरूपशक्ति होती, तो स्वरूपशक्ति विशिष्ठ कृष्णका अंश जीव होता। भगवत्स्वरूप समूह ही स्वरूपशक्ति विशिष्ठ कृष्णके अंश हैं, इसलिए उनको स्वांश कहते हैं; जीव उनका स्वांश नहीं है—विभिन्नांश है।

स्वांश विस्तार—चतुर्व्यूह अवतारगण।
विभिन्नांश जीव ताँर शक्तिते गणन॥

चै. च. म. २२.७

जीव स्वरूपशक्ति न होनेके कारण उनका विभिन्नांश है; स्वरूपशक्ति होनेपर ही जीव भगवान्का स्वांश होता है।

(ख) विष्णुपुराणके ६.१.६१ '**विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता**' आदि श्लोक (इस प्रकरणका ३६वाँ श्लोक) का उल्लेख करके श्रीजीवने अपने परमात्म-सन्दर्भ (२५वाँ अनुच्छेद) में कहा है—विष्णुपुराणके उक्त श्लोकमें जब स्वरूप-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्ति—इन तीन शक्तियोंका पृथक्-शक्तित्व निर्दिष्ट हुआ है, तब स्वरूपशक्ति या मायाशक्तिकी तरह जीव-

शक्ति भी (क्षेत्रज्ञा शक्ति भी) एक पृथक् शक्ति है। अर्थात् जीवशक्ति दूसरी दो शक्तियोंके अन्तर्भुक्त नहीं है। जीव इस जीवशक्तिका ही (इस जीवशक्ति विशिष्ठ कृष्णका ही) अंश है। जीवशक्तिका और एक नाम तटस्था शक्ति है। स्वरूपशक्तिके अन्तर्भुक्त भी नहीं एवं मायाशक्तिके अन्तर्भुक्त भी नहीं होनेके कारण जीव शक्तिको तटस्था (दोनों शक्तिके मध्य-स्थिता) शक्ति कहा जाता है। **"तत्तटस्थत्वञ्च उभयकोटावप्रविष्टत्वात्**—परमात्मसन्दर्भः।।" इससे भी समझा जाता है कि जीव स्वरूपशक्ति नहीं है; यदि होता तो जीवशक्तिका नाम तटस्था शक्ति न होता।

(ग) श्रीमद्भागवतके **'जन्माद्यस्य यतः'** इत्यादि प्रथम श्लोकके अन्तर्भुक्त **'धाम्ना स्वेन निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि'** वाक्यके **'धाम्ना'** शब्दका अर्थ श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—'स्वरूपशक्त्या।' इस अर्थमें **'धाम्ना स्वेन निरस्तकुहकं'** का तात्पर्य यह होगा कि—"सत्य स्वरूप भगवान्ने अपनी स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे कुहक (माया) को निरस्त (दूर—अपसारित) किया है।" श्रीम. भा. १०.३७.२२ में भी नारदने श्रीकृष्णसे कहा है—**"स्वतेजसा नित्य निवृत्तमायागुणप्रवाहम्।"** यहाँपर **'स्वतेजसा'** शब्दका अर्थ श्रीधरस्वामीने लिखा है—**'चिच्छक्त्या'** एवं श्रीपाद सनातनने लिखा है—**'स्वरूपशक्तिप्रभावेन'**। तब उल्लिखित **'स्वतेजसा'** इत्यादि वाक्यका मर्म यह है कि श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे मायाका गुण-प्रवाह उनसे नित्य ही निवृत्त हुआ है।

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्य स्थित आत्मनि ।।

श्रीम. भा. १.७.२३

श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी इस उक्तिसे भी जाना जाता है कि स्वरूपशक्तिके प्रभावसे माया श्रीकृष्णसे दूर रहती है। मायाने भगवान्पर आक्रमण

किया हो और भगवान्‌ने अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे उसे विताड़ित कर दिया हो—ऐसी बात नहीं। आक्रमण करना तो दूरकी बात 'विलज्जनानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया' इत्यादि श्रीम. भा. २.५ १३ श्लोकके प्रमाणके बलसे जाना जाता है कि माया भगवान्‌के दृष्टिपथमें आनेसे ही लज्जित होती है; इसलिए वह भगवान्‌से दूर, उनकी लीलास्थलादिके बाहर ही रहती है। मायाकी इस लज्जाका, इस प्रकार दूर-दूर रहनेका कारण है भगवान्‌की स्वरूपशक्तिका प्रभाव। भगवान्‌की स्वरूपशक्ति है इसीलिये माया उनके निकटवर्तिनी नहीं हो सकती। स्वरूपशक्तिके अस्तित्वके कारण ही माया उनसे दूर रहनेको बाध्य है—यही 'धाम्ना स्वेननिरस्तकुहकम्' आदि वाक्यका मर्म है। यदि जीवमें स्वरूपशक्ति होती तो माया उसके भी निकटवर्तिनी नहीं हो सकती थी। संसारके जीव मात्र ही माया द्वारा ग्रसित हैं। जीवकी यह मायावद्धता ही प्रमाणित करती है कि उसमें स्वरूपशक्तिका अभाव है। अपनेमें स्वरूपशक्तिके अभावके कारण ही जीव माया द्वारा ग्रसित होकर अशेष दुःख भोग कर रहा है एवं इस परमानन्दमयी स्वरूपशक्ति द्वारा आलिङ्गित रहनेके कारण ही भगवान् सच्चिदानन्द ईश्वर सदा उससे मुक्त हैं। **तदुक्तं सर्वज्ञमुक्तौ—**

> **ह्लादिन्या सम्विदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।**
> **स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥**

वि. पु. १.१२.६९

श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीधृतवचन।

(घ) रस-लोलुप भगवान्‌को भक्ति अपने आनन्द द्वारा उन्मादित करती रहती है, यह बहुत प्रसिद्ध बात है। श्रीजीव गोस्वामीने अपने प्रीति-सन्दर्भके ६५वें अनुच्छेदमें 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' न्यायसे भक्तिके लक्षण-निर्णय करते हुए कहा है—भगवान्‌को भक्ति जो आनन्द देती है (१) वह आनन्द सांख्य मतके अवलम्बियोंके प्राकृत सत्वमय मायिक

आनन्दकी तरह नहीं है, कारण श्रुतिसे जाना जाता है कि भगवान् कभी माया परवश नहीं होते ; विशेषतः भगवान् स्वतःतृप्त हैं—अपने द्वारा ही (अपनी स्वरूपशक्तिके द्वारा ही) तृप्त हैं ; माया उनकी स्वरूपशक्ति न होनेके कारण मायिक आनन्द उनको उन्मादित नहीं कर सकता ; (२) वह आनन्द निर्विशेषवादियोंके ब्रह्मानुभवजनित आनन्दकी तरह भी नहीं हो सकता ; कारण, निर्विशेष ब्रह्मानन्द भी स्वरूपानन्द ही है ; यह स्वरूपानन्द स्व-स्वरूपमें भगवान् नित्य ही अनुभव करते रहते हैं ; इस आनन्दके अनुभवसे वे उन्मादित नहीं होते ; इसमें आनन्दका आधिक्य एवं चमत्कारातिशय्य नहीं है ; (३) वह आनन्द जीवका स्वरूपानन्द भी नहीं है—यह कहना ही व्यर्थ है ; कारण, जीव अति क्षुद्र है। "**अतो नतरां जीवस्य स्वरूपानन्दरूपा, अत्यन्त-क्षुद्रत्वात्तस्य।**" (जीव स्वरूपसे चिद् वस्तु है, अतएव आनन्दात्मक, चिदानन्दात्मक है ; जीवका आनन्द भी स्वरूपानन्द है किन्तु स्वरूपशक्ति-हीन स्वरूपानन्द ; अतएव स्वरूपशक्ति-विशिष्ट भगवत् स्वरूपानन्दकी तुलनामें अति तुच्छ है ; इसीसे जीवका स्वरूप अति क्षुद्र है, जीव चित्-कण—आनन्दकणा-मात्र है ; यह विभु-भगवान्‌को उन्मादित नहीं कर सकता। यहाँ शुद्धजीवस्वरूपकी बात कही गयी है)। इस प्रकारसे विचार करके श्रीजीवने कहा है—"**विष्णुपुराण १.१२.६९** (इस प्रकरणका ३७ वाँ श्लोक) **अनुसारेण ह्लादिन्याख्यतदीय स्वरूपशक्त्यानन्दरूपै-वेत्यवशिष्यते यया खलु भगवान् स्वरूपानन्दविशेषीभवती। ययैव तं तमानन्दमन्यनपि अनुभावयतीति।** ऐसा होनेपर ह्लादिनी-सन्धिनी-सम्वित् इत्यादि विष्णुपुराणके आलोच्य श्लोकके अनुसार जिस भक्तिके द्वारा भगवान् अभूतपूर्व स्वरूपानन्द-विशिष्ट होते हैं, वह भक्ति श्रीभगवान्-की ह्लादिनीनाम्नी स्वरूपशक्ति-आनन्दरूपा है—यही अन्तमें स्थिर होता है। यह भक्ति वह आनन्द अन्यको भी (भक्तोंको भी) अनुभव कराती रहती है।" इसके पश्चात् श्रीजीवने कहा है—"**अथ तस्या**

अपि भगवति सदैव वर्तमानतयातिशयानुपपत्ते स्त्वेवं विवेचनीयम्।—वह ह्लादिनी शक्ति भी सर्वदा श्रीभगवान्‌में विराजित होनेके कारण उसका आनन्दातिशय्य प्रतिपन्न नहीं हो सकता, इसलिए निम्नलिखित प्रकारसे विवेचना की जाती है। (ह्लादिनी शक्ति भक्ति-रूपमें परिणत होनेपर ही भगवान्‌को एवं भक्तको आनन्दातिशय्यका अनुभव करा सकती है, ह्लादिनी शक्ति भगवान्‌में रहकर उनको स्वरूपा-नन्दका अनुभव मात्र करा सकती है, किन्तु आनन्दातिशय्य या आस्वादन-चमत्कारिताका अनुभव नहीं करा सकती। ह्लादिनी श्रीभगवान्‌के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। श्रीजीव ये सब विवेचना करके सिद्धान्त करते हैं कि **श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्यर्थापत्ति प्रमाणसिद्धत्वात् तस्य ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाना भगवत् प्रीत्याख्यया वर्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति।**—श्रुत-अर्थ-आपत्ति-प्रमाण-बलसे सिद्धान्त किया जाता है—उस ह्लादिनीकी ही कोई एक सर्वानन्दशायिनी वृत्ति नियत भक्तवृन्दमें निक्षिप्त होकर भगवत्-प्रीति नाम धारण करके अवस्थान करती है; इस प्रीतिका अनुभव करके श्रीभगवान् भी भक्तगणके प्रति अतिशय प्रीतिमान होते हैं।" अर्थात् भगवानमें जो ह्लादिनी शक्ति है, श्रीभगवान् उसको सर्वदा सब ओर निक्षिप्त करते रहते हैं; भक्तके विशुद्ध चित्तमें ही वह गृहीत हो सकती है, मलिन चित्तमें नहीं। भक्तके विशुद्ध चित्तमें गृहीत होकर वह ह्लादिनी प्रीति रूपमें परिणति प्राप्त करती है एवं वह तभी श्रीभगवान्‌की आस्वाद्य हो जाती है। इससे भी जाना गया कि जीवमें स्वरूपशक्ति (अतएव ह्लादिनी) नहीं है; होनेसे भगवान्‌को उसे निक्षिप्त करना नहीं पड़ता। शुद्धजीव बिना उसके निक्षिप्त हुए ही भगवान्‌को आनन्दातिशय्यका अनुभव करा सकता, किन्तु वैसा वह कर नहीं सकता, यह पूर्ववर्ती तीसरी आलोचनामें बता दिया गया है।

श्रीजीव उपर्युक्त सिद्धान्तपर पहुँचे हैं—**'श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्यर्थापत्ति'** प्रमाणके बलसे। भक्ति आस्वादन करके भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, भक्तके वशीभूत हो जाते हैं, श्रुति यह बात बताती है। **'भक्तिवशः पुरुषः—माठर श्रुति।'** किन्तु श्रीजीव एक-एक करके बताते हैं—यह परम आस्वाद्य वस्तु मायिक वस्तुमें नहीं है, निर्विशेष ब्रह्ममें नहीं है, शुद्ध जीवमें भी नहीं है। इसके बाद विष्णुपुराणके प्रमाणसे सिद्ध किया है—ह्लादिनी ही यह आनन्द दान करती रहती है। वह ह्लादिनी रहती है भगवान्में, जीवमें नहीं। परन्तु भक्तजीवके चित्तमें स्थित भक्ति-रसका भी वे आस्वादन करते हैं। इसलिए **'भक्तिवशः पुरुषः'**—यह श्रुति-वाक्य युक्ति द्वारा प्रमाणित करनेके लिए उन्होंने सिद्धान्त किया—भगवान् ही अपनी ह्लादिनी शक्तिको भक्तके चित्तमें निक्षिप्त करते हैं। यह सिद्धान्त किये बिना युक्ति द्वारा श्रुतिवाक्य प्रमाणित नहीं हो सकता, इसलिए इसको श्रुतार्थापत्ति प्रमाण कहा गया है। यदि जीवके चित्तमें स्वभावसे ही ह्लादिनी रहती, तो श्रीजीवको इस प्रकारके श्रुतार्थापत्ति प्रमाणका आश्रय लेना नहीं पड़ता।

(ङ) श्रीमन् महाप्रभुके अवतरणके द्वारा भी श्रीधर स्वामीकी उक्ति प्रमाणित हो सकती है। कलिका युगधर्म है नाम-संकीर्त्तन। स्वयं भगवान्के अंश युगावतार द्वारा ही नाम-संकीर्त्तन प्रचारित हो सकता है। **'युगधर्म प्रवर्त्तन हय अंश हैते—चै. च. आ. ३.२०।'** युगावतारके द्वारा नाम-संकीर्त्तन प्रवर्तित होनेपर, नाम-संकीर्त्तनसे ही जीवको प्रेम एवं कृष्णसेवा पर्यन्त प्राप्त हो सकते थे। प्रेम-प्राप्तिका उपाय युगावतार ही बता सकते थे। किन्तु केवल उपाय बताना महाप्रभुका संकल्प नहीं था —वह द्वापरके श्रीकृष्णका संकल्प था—**'रागमार्गेर भक्ति लोके करिब प्रचारण'**। श्रीमन् महाप्रभु आये प्रेम-दान करनेके लिए, प्रेम उदबुद्ध करनेके लिए नहीं। वे प्रेमका भण्डार लेकर आये, जबतक वे धराधाम पर प्रकट रहे, जिस-तिसको प्रेमदान दिया। यदि जीवके चित्तमें ह्लादिनी

होती, तो प्रेमदानका प्रश्न ही न उठता ; जीवके चित्तको शुद्ध कर देने पर ही कलुष-आच्छादित ह्लादिनी आत्मप्रकाश कर प्रेमरूपमें परिणति प्राप्त कर सकती थी एवं चित्तशुद्धिका प्रकृष्ट उपाय नाम-संकीर्त्तनका प्रवर्तन युगावतार ही कर सकते थे, अतएव प्रेमदानके लिए श्रीमन् महाप्रभु-का अवतरण आवश्यक होता।

'कृष्णके आह्लादे'—ताते नाम ह्लादिनी।
सेइ-शक्तिद्वारे सुख आस्वादे आपनि ॥१२०॥

ह्लादिनी शब्दका अर्थ आह्लादिनी, आह्लाददात्री ; यह शक्ति श्रीकृष्ण-को (एवं भक्तगणको भी) आह्लादित करती है, इसलिए इसका नाम ह्लादिनी है। **सेई शक्तिद्वारे**— उस ह्लादिनी शक्तिके द्वारा **सुख आस्वादे आपनि**—श्रीकृष्ण स्वयं आनन्द आस्वादन करते हैं।

सुखरूप कृष्ण करे सुख-आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण ॥१२१॥

सुखरूप कृष्ण—श्रीकृष्णस्वयं सुखस्वरूप हैं— आनन्दस्वरूप एवं रस स्वरूप होनेके कारण श्रीकृष्णको सुखरूप कहा गया है। किन्तु सुखरूप होनेपर भी वे स्वयं भी सुख आस्वादन करते हैं। इस पयारार्द्धमें श्रुतिके '**रसो वै सः**' वाक्यका अर्थ है। श्रीकृष्ण रस रूपसे भक्तगणके द्वारा आस्वाद्य (सुख) हैं एवं रसिक रूपसे प्रेमरस-निर्यातके आस्वादक। **भक्तगणे सुख** इत्यादि—भक्तगण जो सुख या आनन्द आस्वादन करते है, वह भी इस ह्लादिनी-शक्तिके प्रभावसे ही करते हैं।

प्रेमकी व्याख्या

ह्लादिनीर सार अंश — तार 'प्रेम' नाम।
आनन्द-चिन्मय-रस — प्रेमेर आख्यान ॥१२२॥

ह्लादिनीर सार—ह्लादिनी शक्तिकी श्रेष्ठतम परिणति ; ह्लादिनी प्रधान शुद्धसत्त्वकी वृत्ति विशेष है। 'आसां (गोपीनां) महतत्त्व ह्लादिनी सारवृत्तिविशेषप्रेमरससारविशेषप्राधान्यात्। श्रीकृष्णसन्दर्भः १८८।' पूर्ववर्ती ३७ वें श्लोकको टीकामें (घ) आलोचना। पृष्ठ २३४ पर देखिये।''

प्रेम—प्रीति ; कृष्ण-इन्द्रिय तृप्तिकी इच्छाको प्रेम कहते हैं। मनकी एक वृत्तिका नाम इच्छा है ; किन्तु प्रेमरूपा कृष्णेन्द्रिय तृप्तिकी इच्छा प्राकृत मनकी वृत्ति नहीं है ; यह श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनी-प्रधान शुद्धसत्त्वकी वृत्तिविशेष है। भजनके प्रभावसे भगवत् कृपासे जब चित्तकी सब मलिनता दूर हो जाती है, तब चित्में शुद्धसत्त्वका आविर्भाव होता है और श्रीकृष्णके द्वारा निक्षिप्त ह्लादिनीशक्ति (ह्लादिनी प्रधान-शुद्धसत्त्व) तब भक्तके चित्तमें स्थान प्राप्त करता है ; भक्तका चित्त तब शुद्धसत्त्वके साथ तादात्म्य प्राप्त होकर शुद्धसत्त्वके समान धर्म प्राप्त करता है। लोहा जब अग्निके साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, लोहेको आश्रय करके अग्नि भी अपनी क्रिया प्रकाश करती है एवं यह क्रिया भी तादात्म्य-प्राप्त लोहे-की क्रिया ही बतायी जाती है। उसी प्रकार शुद्धसत्त्वके साथ तादात्म्य-प्राप्त मनके योगसे ही शुद्धसत्त्व अपनी क्रिया प्रकाश कर सकता है ; ऐसी अवस्थामें श्रीकृष्ण-प्रीतिके निमित्त ह्लादिनी-अंश-प्रधान शुद्धसत्त्वकी जो वृत्ति प्रकाशित होती है, वह भी इस मनकी ही वृत्ति बतायी जाती है एवं वही कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा या प्रेम नामसे कथित होती है। जो नित्यसिद्ध भगवत्-परिकर हैं, उनके चित्तादि इन्द्रिय अप्राकृत विशुद्ध-सत्त्वमय है ; अनादिकालसे ही उनके चित्तमें शुद्धसत्त्वकी वृत्तिरूपा कृष्ण-प्रीति-इच्छा या प्रेम विराजित है। ह्लादिनी-अंश-प्रधान शुद्धसत्त्व गाढ़ताको प्राप्त होकर ही प्रेम कहलाता है ; इसीसे कहा गया है **'ह्लादिनीर सार—प्रेम।'** यही प्रेमका स्वरूप लक्षण है। प्रेमका आविर्भाव होनेपर चित्त सम्यक् रूपसे मसृण या निर्मल होता है एवं श्रीकृष्णमें तब अत्यन्त ममता-बुद्धि उत्पन्न होती है।

सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयान्वितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

भ.र.सि.पू. ४.१

यह प्रेम नित्यसिद्ध परिकरमें एवं श्रीकृष्णमें नित्य विराजित है ; परिकर-रूप भक्तगण चाहते हैं श्रीकृष्णको सुखी करना, और श्रीकृष्ण चाहते हैं उनको सुखी करना । इस प्रकारसे परस्परकी प्रीतिकी इच्छासे श्रीकृष्ण और परिकर-भक्तगण परस्परके प्रति अनुरक्त हो उठते हैं, एक प्रकारके भावके बन्धनमें मानो वे आबद्ध हो गये हैं ; "अतस्तदनुभावेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयेत् भजत इति । अतएव तत्सुखेन भक्तभगवतोः परस्परमविशमाह । प्रीतिसन्दर्भः ६५ ।' यह भाव-बन्धनका हेतु भी प्रीति-इच्छा या प्रेम होनेके कारण कार्य-कारणके अभेदवश उसको भी प्रेम कहा जाता है । इस प्रेमरूप भाव-बन्धनका एक विशेष लक्षण यह है कि ध्वंसका कारण विद्यमान रहनेपर भी इस भाव-बन्धनका ध्वंस नहीं होता—कान्ताप्रेमको उपलक्ष्य करके श्रीउज्ज्वल-नीलमणि ग्रन्थमें यही बताया है—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंस कारणे ।
यद्भाव-बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः ॥

उ.नी.स्थायी.४६ (१४.६३)

आनन्दचिन्मयरस—आनन्दका अनुभवरूप चिन्मय रस । प्रेमेर आख्यान—प्रेमकी ख्याति । आनन्दके अनुभव या आस्वादनको ही चिन्मय रस कहा गया है ; यह आनन्द-अनुभव ही प्रेमकी ख्याति या कीर्ति है ; प्रेम इस आनन्दका अनुभव उत्पन्न करता है, इसलिए आनन्द-अनुभव ही है प्रेमकी ख्याति या कीर्ति । मर्म इस प्रकार है—प्रेम ही आनन्द-अनुभवरूप चिन्मय रस उत्पन्न करता है अर्थात् प्रेम ही आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्णको लीला-रसका आस्वादन करा सकता है ; प्रेम न रहे तो कोई भी उसका आस्वादन नहीं कर सकता । श्रीकृष्णने भी कहा है—

आमार माधुर्य्य नित्य नव नव हय ।

स्व-स्व प्रेम अनुरूप भक्त आस्वादय ॥ चै.च. आ. ४.१२५

प्रोढ़ निर्म्मलभाव प्रेम सर्व्वोत्तम ।

कृष्णेर माधुरी आस्वादनेर कारण ॥ चै. च. आ ४.८८

अथवा, **आख्यान**—आख्या, नाम । प्रेमका एक नाम है आनन्द-चिन्मय-रस । ह्लादिनीका सार होनेसे प्रेम स्वरूपतः ही आस्वाद्य है । शान्त-दास्य-आदि पञ्च विधा रति प्रेमकी ही विभिन्न वैचित्री हैं—वे भी स्वरूपतः आस्वाद्य हैं । विभाव-अनुभावादिके मिलनसे वे भी चमत्कृति-जनक परम आस्वाद्य रसरूपमें परिणत होती हैं ; इस प्रकार प्रेम भी सामान्यतः परम आस्वाद्य रस ही है ; किन्तु यह चिच्छक्ति-ह्लादिनीकी सारभूत वस्तु होनेके कारण चिन्मय रस है, जड़-प्राकृत-रस नहीं है। सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णके आनन्द-उत्सकी शक्ति ही है ह्लादिनी ; शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद होनेके कारण ह्लादिनी भी ह्लादिनीका सारभूत प्रम और आनन्द स्वरूप है । इस प्रकार प्रेम है आनन्दरूप चिन्मय-रस। इसीसे आनन्द-चिन्मय-रस प्रेमका एक नाम है । इस पयारमें साधारण भावसे प्रेमका आनन्द-चिन्मय-रस कहनेसे समझा जाता है कि प्रेमकी कोई भी वैचित्री आनन्द-चिन्मय-रस है ; इसीसे सब भावोंका प्रेम रस ही रसिकशेखर श्रीकृष्णका आस्वाद्य है । ब्रह्मसंहिताके **'आनन्द-चिन्मय-रसप्रतिभावितामि'** इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीजीव गोस्वामीने **'आनन्द-चिन्मय-रस'** शब्दका अर्थ लिखा है—परम प्रेममय उज्ज्वल रस ; कारण, व्रजसुन्दरियोंके प्रेमकी बात ही इस श्लोकमें कही गयी है एवं प्रेमकी जो वैचित्री उनमें अभिव्यक्त है, वह उज्ज्वल प्रेम ही है ; कान्ताप्रेम ही उज्ज्वल प्रेम है । अथवा, **आख्यान**—विशेष विवरण । प्रेमके माहात्म्यादिका यदि विशेषरूपसे विवरण किया जाय, तब जाना जायगा कि प्रेम आनन्दमय चिन्मय रस, आनन्दरूप परम आस्वाद्य चिन्मय वस्तु है ।

इस पयारमें संक्षेपमें प्रेमके स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण बताये गये हैं—स्वरूप लक्षणसे प्रेम है ह्लादिनीका सार और तटस्थ लक्षण (या कार्य) से यह आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण सम्बन्धी चिन्मय रसका आस्वादन कराता है, अथवा यह परम आस्वाद्य एक चिन्मय वस्तु है।

प्रेमका सार—महाभाव

प्रेमेर परम सार—'महाभाव' जानि।
सेइ महाभावरूपा राधाठाकुराणी ॥१२३॥

प्रेमेर परम सार—प्रेमकी गाढ़तम अवस्था या चरम परिणति। **भाव**—प्रेमकी अभिव्यक्तिकी सर्वोच्च अवस्थाका नाम है भाव। किन्तु भावके क्या लक्षण हैं—इसकी विवेचना की जाय। प्रेम जब परमोत्कर्ष प्राप्त करके प्रेमविषयकी उपलब्धिको प्रकाशित करे एवं चित्तको द्रवीभूत करे, तब उसको **'स्नेह'** कहा जाता है। प्रेममें भी उपलब्धि है, यह सत्य है, किन्तु तैलादिकी प्रचुरतासे दीपकी उष्णता और उज्ज्वलताके आधिक्यकी तरह प्रेमकी अपेक्षा स्नेहमें श्रीकृष्णकी उपलब्धिका एवं चित्तकी द्रवताका आधिक्य है। स्नेहका उदय होनेपर श्रीकृष्ण-दर्शनादिके द्वारा भी दर्शनादिकी लालसाकी तृप्ति नहीं होती। यह स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्त करके अननुभूतपूर्व नया माधुर्य अनुभव करावे एवं स्वयं भी कुटिलता धारण करे, तब उसको **'मान'** कहा जाता है। मानमें स्नेहकी अपेक्षा ममता-बुद्धिका आधिक्य होनेसे कुटिलता सम्भव होती है—यह स्वार्थ-मूलक घृणित कुटिलता नहीं है, यह प्रीतिकी ही एक वैचित्री है। ममता बुद्धिके आधिक्यके कारण प्रेमसे भी अधिक उत्कर्ष प्राप्त करके जब एक ऐसी अवस्थामें जा पहुँचे, जिसमें अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह एवं परिच्छदादि (वस्त्रादि) के साथ प्रियजनके प्राण, मन, बुद्धि, देह एवं परिच्छदादिको अभिन्न अनुभव करावे, तब उसको **'प्रणय'**

कहा जाता है। यह प्रणय और भी उत्कर्ष प्राप्त करके जब एक ऐसी अवस्थामें जा पहुँचे, जिससे श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावना रहनेपर अत्यन्त दुःखको भी सुखकी-सी प्रतीति एवं श्रीकृष्णकी अप्राप्तिमें अत्यन्त सुखको भी परम दुःखकी-सी प्रतीति करावे, तब उसको '**राग**' कहा जाता है। यह राग जब और भी उत्कर्ष प्राप्त करता है, तब सर्वदा अनुभूत प्रियजनको भी प्रतिक्षण नया-नया-सा अनुभव कराता है; इस अवस्थामें पहुँचे हुए प्रेमको '**अनुराग**' कहा जाता है। इस अनुरागकी चरम परिणतिका नाम है 'भाव'। जिस दुःखके निकट प्राण-विसर्जनका दुःख भी तुच्छ-सा लगे, श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिए वह दुःख भी भावोदयमें परम सुख प्रतीत होता है। श्रीरूपगोस्वामिपादने भाव और महाभावको एकार्थ-बोधक ही माना है। किन्तु कविराज गोस्वामिचरणने भाव और महाभावमें पृथक्ता बतायी है; भावके परेके उद्धतर स्तरको उन्होंने महाभाव माना है। श्रीरूपगोस्वामीने भावके दो स्तर किये हैं—रूढ़ और अधिरूढ़। कविराज गोस्वामीने रूढ़को भाव और अधिरूढ़को महाभाव माना है या नहीं, यह स्पष्ट समझमें नहीं आता; कारण, उन्होंने कहीं भी किसी प्रकारकी सीमाका निर्देश नहीं किया है। विशेष आलोचना मध्यलीलाके २३वें परिच्छेदके २२वें पयारकी टीका 'सनातन शिक्षा' ग्रन्थमें पृष्ठ ५००-५०१ पर देखिये।

महाभाव—भावकी गाढ़तम अवस्था या चरम परिणति, तथा प्रेम-विकाशके उच्चतम स्तरका नाम महाभाव है। यहाँपर कविराज गोस्वामी मादनाख्य-महाभावको ही महाभाव बताते हैं—ऐसा प्रतीत होता है। श्रीउज्ज्वलनीलमणिमें मादनके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

उ. नी. स्थायीभाव ११५. (१४.२१९)

ह्लादिनीके साररूप प्रेममें यदि समस्त भाव उल्लासशील हों, तब उसको 'मादन' कहते हैं ; यह मादन मोदनादि भावसे भी उत्कृष्ट है और यह केवल श्रीराधामें ही विराजित है, अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता। मादन-भावोदयमें श्रीकृष्ण द्वारा आलिङ्गन-चुम्बनादि अनन्त विलास-वैचित्रीका सुख एक ही समय एक ही देहमें साक्षात् भावसे (स्फूर्ति रूपसे नहीं) अनुभूत होता रहता है, यही मादनका अद्भुत वैशिष्ट्य है।

भाव या महाभाव केवलमात्र कान्ता-प्रेम या मधुर-रतिमें देखा जाता है ; दास्य-वात्सल्यमें भाव या महाभाव नहीं होता। सख्यमें भी साधारणतया भाव या महाभाव नहीं होता ; सुबलादि दो-एक सखाओंका प्रेम केवल भाव पर्यन्त वर्द्धित होता है।

दास्यरति राग पर्य्यन्त क्रमे त बाढ़य ॥
सख्य-वात्सल्य पाय अनुराग सीमा ।
सुबल्याद्येर भाव पर्य्यन्त प्रेमेर महिमा ॥

चै. च. म. २३ ३४,३५

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ—राधाचन्द्रावल्याः
श्रेष्ठता कथने २. (४.३)

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥३८॥

अन्वय—तयोः (उनके—श्रीराधा-चन्द्रावलीके) **उभयोः** (दोनोंके) **मध्ये** (बीच) **अपि** (भी) **राधिका** (श्रीराधा) **सर्वथा** (सब प्रकारसे) **अधिका** (श्रेष्ठा हैं) **[यतः]** (इसलिए) **इयं** (ये श्रीराधा) **महाभाव-स्वरूपा** (महाभाव स्वरूपा), **गुणैः** (गुण द्वारा) **अति वरीयसी** (अति श्रेष्ठा हैं)।

अनुवाद—(श्रीराधा और चन्द्रावली) इन दोनोंके बीच श्रीराधा

सब प्रकारसे श्रेष्ठा है ; क्योंकि ये (श्रीराधा) महाभाव-स्वरूपा एवं गुण-प्रभावमें अत्यधिक श्रेष्ठा हैं।

श्रीकृष्ण-प्रेयसीगणमें श्रीराधा ही सर्वश्रेष्ठा हैं—यही बात इस श्लोकमें कही गयी है। उज्ज्वलनीलमणिके इस श्लोकके पूर्ववर्ती श्लोकमें कहा गया है कि समस्त कृष्ण-वल्लभाओंमें श्रीराधा एवं श्रीचन्द्रावली ही श्रेष्ठा हैं। इस श्लोकमें कहा गया है कि श्रीराधा और चन्द्रावलीके बीच श्रीराधिका ही सब प्रकारसे श्रेष्ठा हैं ; अतएव श्रीराधा ही सब कृष्ण-प्रेयसीगणमें सर्वश्रेष्ठा हैं, यही बताया गया है। उनकी श्रेष्टताका हेतु भी बताया गया है—वे महाभाव स्वरूपा हैं। उनको महाभाव-स्वरूपा कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सभी ब्रजसुन्दरियोंमें महाभाव विद्यमान है, तथापि महाभावका-परमोत्कर्ष जो मादनाख्य-महाभाव है, वह केवल श्रीराधामें ही है, और किसीमें भी नहीं है, जिनमें महाभावका चरमोत्कर्ष विद्यमान हो, वे ही महाभाव-स्वरूपा हो सकती हैं, और दूसरी कोई नहीं हो सकती। इससे समझा गया कि प्रेमके उत्कर्षमें श्रीराधिका अद्वितीया, सर्वश्रेष्ठा हैं। प्रमके परमोत्कर्षके कारण जो सब गुण अभिव्यक्त होते हैं, उनमें ये सभी परमोत्कर्ष प्राप्त किये हैं ; अतएव गुणके आधारके हिसाबसे भी श्रीराधिका सर्वापेक्षा अत्यधिक रूपसे श्रेष्ठा—अद्वितीया हैं।

प्रेमकी प्रतिमूर्ति—श्रीराधा

प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमविभावित।
कृष्णेर प्रेयसी-श्रेष्ठा जगते विदित ॥१२४॥

प्रेमेर स्वरूप देह—श्रीराधाकी देह ही प्रेमका स्वरूप या प्रतिमूर्ति तुल्य है—श्रीराधा प्रेमकी प्रतिमा हैं।

प्रेम विभावित—प्रेम द्वारा प्रकाशित ; अथवा प्रेमके द्वारा विशेष रूपसे उत्पादित या गठित।

कोई भी बस्तु अन्य किसी वस्तु द्वारा जब सर्वतोभावसे अणुप्रविष्ट हो, तब कहा जाता है कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु द्वारा भावित हुई है। जैसे चिकित्सक लोग किसी-किसी बटिका (गोली) को पानके रससे भावित करते हैं, बटिकाके प्रति अंशमें पानका रस अणुप्रविष्ट कराते हैं। जलमें कर्पूर डालनेसे जलके प्रतिक्षुद्रतम अंशमें भी कर्पूर अणुप्रविष्ट होकर कर्पूर-वासित कर देता है ; इस प्रकार जल कपूर द्वारा भावित हुआ। लोहके प्रति अणुमें अग्नि प्रवेश करके जब लोहको अग्नि-तादात्म्य बनाता है, तब कहा जाता है कि लोह अग्नि द्वारा भावित हुआ है। 'भावित' शब्दका इस प्रकार अर्थ लेकर 'देह प्रेम विभावित' अंशका अर्थ होगा— श्रीराधाका चित्त, इन्द्रिय, काय— सबमें कृष्णप्रेम सर्वतोभावसे अणुप्रविष्ट होकर चित्त-इन्द्रिय-आदिको प्रेम-विभावित कर रक्खा है या प्रेम-तादात्म्य प्राप्त करा रक्खा है। प्रेमकी चरम-परिणति महाभावका एक यही धर्म है कि यह महाभाववतीके मनको एवं मनकी वृत्ति-स्वरूप अन्यान्य इन्द्रियगणको महाभाव-रूपत्व प्राप्त कराता है—

"वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत् ।
उ. नी. स्था. ११२ (१४.१५७)

मनः स्वं स्वरूपं नयेत् महाभावात्मकमेव मनः स्यात् महाभावात् पार्थक्येन मनसो न स्थितिरित्यर्थः। तेन इन्द्रियाणां मनोवृत्तिरूपत्वाद् व्रजसुन्दरीणां मनः आदि सर्वेन्द्रियाणां महाभावरूपत्वादित्यादि ॥ आनन्द - चन्द्रिका टीका ॥"

अग्नि-भावित लोह अग्नि-तादात्म्य प्राप्त होनेपर जिस प्रकार अग्निसे उसका कोई पार्थक्य लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार प्रेम-विभावित चित्त इन्द्रिय-कायादि भी प्रेम-तादात्म्य प्राप्त होनेपर प्रेमसे उनका पार्थक्य लक्षित नहीं होता। ऐसी अवस्थामें चित्त-इन्द्रिय-कायको भी प्रेमकी ही परिणति-विशेष या प्रेमका ही विकार कहा जाता है।

तथाहि ब्रह्मसंहितायाम् ५.३७

आनन्द-चिन्मयरस - प्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥३६॥

अन्वय—अखिलात्मभूतः (सबके—समस्त गोलोक-वासियोंके एवं अन्यान्य प्रियजन-वर्गके—प्रियजन) यः (जो) [गोविन्द] (गोविन्द) एव (ही) आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविताभिः (आनन्द-चिन्मयरस द्वारा प्रतिभाविता) निजरूपतया (स्वदारत्ववशतः प्रसिद्धा) कलाभिः (ह्लादिनी-शक्तिरूपा) ताभिः (उन) [गोपीभिः] (गोपीगणके सहित) गोलोक एव (गोलोकमें ही) निवसति (वास करते हैं), ते (उन) आदिपुरुषं (आदि पुरुष) गोविन्दं (गोविन्दको) अहं (मैं) भजामि (भजता हूँ) ।

अनुवाद—(गोलोकवासी और अन्यान्य प्रियजन) सबके परमप्रिय जो गोविन्द आनन्द चिन्मय रस (या परम-प्रेमरस मधुर-रस) द्वारा प्रतिभाविता, स्वकान्त रूपसे प्रसिद्धा, अपनी स्वरूपशक्ति-ह्लादिनीरूपा उन व्रजदेवीगणके सहित गोलोकमें वास करते हैं, उन आदि पुरुष गोविन्दको मैं (ब्रह्मा) भजता हूँ ।

आनन्द-चिन्मय रस—प्रीतिभक्ति-रस ; परम प्रेममय उज्ज्वल रस ; कान्ताप्रेम रस । प्रतिभाविता—प्रति क्षणमें (सर्वदा, नित्य) भाविता सम्पादित सत्ता, अथवा जाता या गठिता । आनन्द - चिन्मय - रस प्रतिभाविता—कान्ता-प्रेमरसके द्वारा जिनकी (जिन गोपीगणकी) सत्ता प्रतिक्षण सम्पादित होती रहती है । श्रीकृष्णप्रेयसी गोपीगण कान्ता-प्रेमरस द्वारा ही गठिता हैं ; श्रीकृष्ण प्रतिक्षण अपनी ह्लादिनी शक्तिको सब ओर निक्षिप्त करते हैं ; यह ह्लादिनी शक्ति प्रतिक्षण ही उनके देह-

इन्द्रिय-आदिपर गिरकर मधुराप्रीति रूपमें परिणत होती है एवं उनके देह-इन्द्रियादिका पुष्टि साधन करती है। 'प्रति' शब्दकी एक ध्वनि इस प्रकार भी है—उपकार पाकर जो किसीका उपकार करते हैं, उनके उपकारको कहते हैं प्रति-उपकार। इस प्रकार 'प्रति-भावित' शब्दके प्रति अंशकी ध्वनि इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण पहले गोपीगण द्वारा भावित (या उपासित) हुए थे, पीछे उन्होंने उन्हें प्रति-भावित किया, ह्लादिनी शक्तिके वृत्तिरूप परम-प्रेममय उज्ज्वल रसके द्वारा प्रतिक्षण उनके देह-इन्द्रिय-आदिको पुष्टि साधन करके उनकी प्रत्युपासना की ; अथवा स्वकान्ता रूपसे उनको अङ्गीकार कर और सर्वदा उनके सहित गोलोकमें वास कर उनकी प्रत्युपासना की। **निजरूपतया**—स्व-रूपता-हेतु। निज-रूपता शब्दका तात्पर्य यह है कि गोपीगण गोलोकमें श्रीकृष्णकी स्वकान्ता हैं ; प्रकट-लीलाकी तरह गोलोकमें वे श्रीकृष्णके लिए परकीया कान्ता नहीं हैं। वास्तवमें गोपीगण परम लक्ष्मी हैं ; श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उनका परदारत्व सम्भव नहीं है। कान्ता-रसकी अपूर्व वैचित्री आस्वादनके निमित्त समुत्कण्ठा वर्द्धनके लिए योगमायाकी सहायतासे स्वदारत्वको ही परदारत्वके आवरणसे आच्छादित करके रसिक-शेखर श्रीकृष्णने प्रकट लीला की है। व्रजसुन्दरियोंका परकीयात्व केवल प्रकट लीलामें ही है, अप्रकट गोलोक लीलामें वे श्रीकृष्णकी स्वकीया कान्ता हैं। **कलाभिः**—**ह्लादिनी - शक्तिवृत्तिरूपाभिः** (श्रीजीव गोस्वामी)। **शक्तिभिः** (चक्रवर्ती)। गोपीगणको श्रीकृष्णकी 'कला' बताया गया है ; कला शब्दका अर्थ है अंश या शक्ति या विभूति। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—गोपीगण श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति ह्लादिनीकी वृत्तिरूपा होनेके कारण ही उनको कला कहा गया है। यहाँपर महाभावरूपा ह्लादिनी-वृत्तिको ही लक्ष्य किया गया है ; अतएव '**कलाभिः**' शब्दसे समझा जाता है कि श्रीराधा आदि गोपीगण ह्लादिनी-वृत्तिरूपा हैं ; श्रीराधा उन सबमें सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण वे ह्लादिनी-वृत्तिकी चरम-परिणति-महाभाव-स्वरूपा हैं।

अखिलात्मभूतः—सबके (सब गोलोकवासियोंके एवं अन्यान्य प्रिय-वर्गके) परम प्रेष्ठ होनेके कारण आत्माकी तरह अव्यभिचारी। श्रीकृष्ण सब गोलोक-वासियोंके एवं अन्यान्य प्रियवर्गके परम प्रियत्तम हैं ; अतएव आत्मा जैसे कभी भी जीवका त्याग नहीं करती, वे भी उसी प्रकार उनका संग त्याग नहीं कर सकते—ऐसा गाढ़ है उनका प्रीतिका बन्धन। किन्तु ऐसी अवस्थामें भी गोलोकमें श्रीकृष्ण गोपीगणके साथ ही वास करते रहते हैं। इससे गोपीगणके प्रेमका परम-उत्कर्ष सूचित होता है।

सेइ महाभाव हय चिन्तामणि सार।
कृष्णवाञ्छा पूर्ण करे—एइ कार्य्य तार ॥१२५॥

सेइ महाभाव हय इत्यादि—वे महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा क्या करती हैं? यह बताते हैं। जिस प्रकार चिन्तामणि सब वाञ्छा पूर्ण करती है, महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा भी उसी प्रकार श्रीकृष्णकी वाञ्छा पूर्ण करती हैं। अथवा महाभाव ही श्रीकृष्णकी सब वाञ्छा-पूर्तिका हेतु है।

महाभाव चिन्तामणि—राधार स्वरूप।
ललितादि सखी ताँर कायव्यूहरूप ॥१२६॥

महाभाव चिन्तामणि इत्यादि—अकेली श्रीराधा ही यदि श्रीकृष्ण-की सब वाञ्छा पूर्ण करती रहती हैं, तो अन्यान्य शतकोटि गोपियोंकी क्या आवश्यकता है? श्रीमद्भागवतमें देखनेमें आता है कि शतकोटि गोपियोंके संग श्रीकृष्णने रास-विलास किया था। रूप-गुण-आकार-स्वभावमें विभिन्नता-विशिष्ठ अनेक कान्ताओंके साथ रास-विलास जनित रस आस्वादन करनेके निमित्त ही श्रीकृष्णकी इच्छा है ; अकेली श्रीराधाके द्वारा ही श्रीकृष्णकी यह वाञ्छा किस प्रकार पूर्ण हो सकती है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'**ललितादि सखी ताँर कायव्यूहरूप।**'

ललितादि सखी जिन शतकोटि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णने रास-विलासादि किया था, वे श्रीराधासे स्वतन्त्र—अलग नही हैं ; वे श्रीराधाकी ही कायव्यूह हैं, अर्थात् श्रीराधाने स्वयं ही शतकोटि गोपियोंका रूप धारण कर श्रीकृष्णकी अनेक कान्ताओंके साथ रसास्वादनकी वासना पूर्ण की ; अतएव अकेली श्रीराधा ही स्वयंरूपसे एवं ललिता सखीरूपसे श्रीकृष्णकी सब वाञ्छा पूर्ण करती हैं। श्रीकृष्णकी अनेक कान्ताओंके साथ रास-विलास-जनित रसास्वादनकी वासना पूर्ण करनेके लिए ही श्रीराधाको ललितादि अनेक कान्ताओंका रूप धारण करना पड़ा है।

एक चिन्तामणि जिस प्रकार अनेक प्रकारसे याचककी अभिमत बहुत-सी वाञ्छा पूर्ण करती है, उसी प्रकार अकेली श्रीराधिका कायव्यूह-रूप ललितादि-रूपोंसे श्रीकृष्णकी बहु-विध वाञ्छा पूर्ण करती हैं ; अतएव अकेली श्रीराधा ही वास्तवमें श्रीकृष्णकी सकल वाञ्छा पूर्ण करती हैं— यह कहना असंगत नहीं है।

इस प्रसंगमें ललितादिका भी यह तत्त्व बताया गया कि श्रीराधाकी कायव्यूह होनेके कारण वे भी महाभाव-स्वरूपा-रूपा हैं।

कायव्यूहरूप—एक ही समयमें बहुत-से कार्य सम्पादन करनेके उद्देश्यसे अपनी एक देहको अनेक देह-रूपमें प्रकट करनेपर, प्रकटित सब देहोंको कायव्यूह कहा जाता है ; कायव्यूहके आकार आदि मूल देहके समान रहते हैं। व्रजमें ललितादि सखियोंके आकारादि श्रीराधिकासे भिन्न थे ; इसलिए उनको कायव्यूह न कहकर 'कायव्यूहरूप' कहा गया है ; अर्थात् आकारादिमें वे श्रीराधाका द्वितीय रूप हैं।

सखी—**प्रेमलीलाविहाराणां सम्यग् विस्तारिका सखी। विश्रम्भरत्नपेटीव।** उ. नी. सखी. १। अर्थात् प्रेमलीला-विहार आदिकी सम्यक् विस्तारकारिणीको 'सखी' कहा जाता है ; ये सखी विश्वास-रूप-रत्नोंकी पिटारी सदृशा होती हैं।

श्रीराधाकी देहका शृङ्गार

राधाप्रति कृष्णस्नेह सुगन्धि उद्वर्तन।

ताते अति सुगन्धि देह उज्ज्वलवरण ॥१२७॥

श्रीराधा महाभावमूर्ति, प्रेमका स्वरूप एवं प्रेम द्वारा विभावित हैं, इसकी उपयुक्त सामग्रीसे उनका वर्णन किया जा रहा है। पूर्ववर्ती १२४ संख्यक पयारमें कहा गया है कि श्रीराधाकी देह प्रेम द्वारा ही गठित है, वे प्रेमकी ही मूर्त-विग्रह हैं। उनके व्यवहारकी सभी वस्तुएँ प्रेमकी ही विलास या वैचित्री विशेष हैं, इसका वर्णन यहाँसे आरम्भ हो रहा है। वास्तवमें भगवत्-परिकरगणकी व्यवहृत सब वस्तुएँ चिन्मय, चिच्छक्ति-विलास होती हैं; श्रीराधाके व्यवहृत द्रव्यादि चिच्छक्तिकी चरमतम परिणति प्रेमकी ही विविध वैचित्री हैं।

राधाप्रति इत्यादि—राधाके प्रति श्रीकृष्णका स्नेह ही श्रीराधाके लिए उद्वर्तन-स्वरूप है। **उद्वर्तन**—शरीरका मलनाशक विलेपन-द्रव्य-विशेष; उबटन; इससे शरीर कोमल, उज्ज्वल और स्निग्ध होता है। उद्वर्तनके साथ कुंकुम आदि सुगन्धित द्रव्य मिलानेसे उसके द्वारा देह सुगन्धित भी होती है। श्रीकृष्णके स्नेह-रूप उद्वर्तनके साथ सखीगणकी प्रणयरूप सुगन्धि कुंकुम आदि मिलकर श्रीराधाके लिए अति सुगन्धित-उद्वर्तन प्रस्तुत हुआ है; इस उद्वर्तनके व्यवहारसे उनकी देह सुगन्धित एवं उज्ज्वल हुई है। चित्तको द्रव करनेवाले गाढ़ प्रेमको स्नेह कहा जाता है।

> **आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः।**
> **हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ॥**
>
> उ.नी.स्था.५१ (१४.७९)

अर्थात् जो प्रेम परम उत्कर्षपर आरोहण करके चिद्दीपदीपन अर्थात् प्रेम-विषय-उपलब्धिका प्रकाशक होता है एवं चित्तको द्रवीभूत करता है,

उसका नाम प्रेम है। स्नेह उदय होनेपर कदाचित् दर्शन आदि द्वारा तृप्ति नहीं होती। सुगन्धित उद्वर्तनके व्यवहारसे शरीर जिस प्रकार कोमल, स्निग्ध और उज्ज्वल होता है, श्रीकृष्णका स्नेह एवं सखियोंका प्रणय प्राप्त करके मानो श्रीराधाकी देह उसी प्रकारसे स्निग्ध, कोमल, सुगन्धित और उज्ज्वल हुई है।

'राधाप्रति कृष्णस्नेह' इत्यादि कई पयारोंमें वर्णित विषय श्रीमद्दासगोस्वामीके 'प्रेमाम्भोजमकरन्दाख्यस्तवराज' में अति सुन्दर रूपमें वर्णित हुआ है, यहाँपर उस स्तवराजको उद्धृत किया जाता है—

महाभावोज्ज्वलच्चिन्ता-रत्नोद्भावित-विग्रहाम्।
सखीप्रणय - सद्गन्धवरोद्वर्तन - सुप्रभाम् ॥ १ ॥
कारुण्यामृतवीचीभिस्तारुण्यामृतधारया ।
लावण्यामृतवन्याभिः स्नपितां ग्लपितेन्द्रियाम् ॥ २ ॥
ह्रीपट्टवस्त्रगुप्ताङ्गीं सौन्दर्यघुसृणाञ्चिताम् ।
श्यामलोज्ज्वल-कस्तूरी-विचित्रित-कलेवराम् ॥ ३ ॥
कम्पाश्रु - पुलक - स्तम्भ-स्वेद - गद्गद रक्तता ।
उन्मादोजाड्यमित्येतै रत्नैर्नवभिरुत्तमैः ॥ ४ ॥
क्लृप्तालङ्कृतिसंश्लिष्टां गुणालीपुष्पमालिनीम् ।
धीराधीरात्वसद्वासपटवासैः परिष्कृताम् ॥ ५ ॥
प्रच्छन्नमानधम्मिल्लां सौभाग्यतिलकोज्ज्वलाम् ।
कृष्णनाम-यशः-श्रावावतं सोल्लासि कर्णिकाम् ॥ ६ ॥
रागताम्बूलरक्तोष्ठीं प्रेमकौटिल्यकज्ज्वलाम् ।
नर्मभासित - निःस्पन्द - स्मितकर्पूरवासिताम् ॥ ७ ॥
सौरभान्तःपूरे गर्वपर्यङ्कोपरि लीलया ।
निविष्टां प्रेमवैचित्य - विचलत्तरलाञ्चिताम् ॥ ८ ॥
प्रणय - क्रोध - सञ्चाली बन्धगुप्ती कृतस्तनाम् ।
सपत्नीवक्तृहृच्छोषि यशः श्रीकच्छपीरवाम् ॥ ९ ॥

मध्यताप्तसखीस्कन्ध - लीलान्यस्त - कराम्बुजाम् ।
श्यामां श्यामस्मरामोद - मधुली - परिवेशिकाम् ॥ १० ॥
त्वां नत्वा याचते धृत्वा तृणं दन्तैरयं जनः ।
स्वादस्यामृतसेकेन जीवयामुं सुदुःखितम् ॥ ११ ॥
नमुञ्चेच्छरणायातमपि दुष्टं दयामयः ।
अतोगान्धर्विके ! हाहा मुञ्चैनं नैघ तादृशम् ॥ १२ ॥

कारुण्यामृत - धाराय स्नान प्रथम ।
तारुण्यामृत - धाराय स्नान मध्यम ॥१२८॥

कारुण्य—'करुणा ; परदुःखासहो यस्तु करुणः स निगद्यते ।' भ.र.सि. २.१.६४ (२.१.१३२) जो दूसरेका दुःख सहन न कर सके, उसको करुण कहते हैं ; करुणके भावको करुणा कहते हैं। **कारुण्यामृत-धाराय**—करुणतारूप अमृतके स्रोतमें । **स्नान प्रथम**—प्रथम स्नान या प्रातःस्नान । नदीके स्रोतमें प्रातःस्नान करना उचित है । श्रीमती राधिका करुणारूप अमृतके स्रोतमें ही मानो प्रातःस्नान करती हैं। श्रीराधाके इस प्रातःस्नानमें उनके वयस—आयुके प्रातःकाल अर्थात् वयःसन्धि-अवस्थाको ही लक्ष्य किया गया है। प्रातःकालमें नदीके प्रवाहमें स्नान करनेसे शरीर जिस प्रकार स्निग्ध होता है, वयःसन्धि-अवस्थामें बाल्य-चापल्य आदिकी निवृत्ति होनेसे एवं उसके साथ-साथ करुणाका आविर्भाव होनेसे श्रीराधाकी देहकी स्निग्धता भी उसी प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुई थी ।

तारुण्य—यौवन। **तारुण्यामृत धाराय**—नव-यौवनरूप अमृतकी धारामें। **स्नान मध्यम** । मध्याह्न स्नान ।

सुकुमारीगण गृह-कर्म आदिके कारण मध्याह्न समयमें नदीपर जाकर स्नान नहीं कर सकती, इसलिए दासीगण द्वारा लाये हुए जलके द्वारा ही साधारणतया घरमें ही मध्याह्न स्नान कर लेती हैं। श्रीमती राधिका

भी अपनी सखियों द्वारा आनीत या उन्मेषित नवयौवनके भावरूप अमृत-धारामें मध्याह्न स्नान करती हैं। सखियोंने कृष्ण-दर्शन आदि कराके या श्रीकृष्णके गुण आदि वर्णन करके श्रीमती राधिकाके मनमें नवयुवतीके स्वाभाविक भावोंको प्रस्फुटित कराया था ; इन भावोंके उद्गमसे उनकी देहमें जो कमनीयता उत्पन्न हुई थी, उसीकी मध्याह्न-स्नान जनित स्निग्धताके साथ तुलना की गयी है।

लावण्यामृत - धाराय तदुपरि स्नान।
निजलज्जा - श्याम - पटशाटी परिधान ॥१२६॥

लावण्य—कान्ति ; चाक्चिक्य ; चमक।

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते ॥
उ.नी.उद्दीपन. १७ (१०.२८)

अर्थात् उत्तम मोतीके बीच जिस प्रकार कान्तिकी तरङ्ग प्रतीयमान होती है, उसी प्रकार अङ्गमें जो कान्तिकी तरङ्ग प्रतीयमान होती है, उसको लावण्य कहते हैं।

लावण्यामृत-धारा—लावण्यरूप अमृत-धारा। **तदुपरि स्नान**—मध्याह्न स्नानके पीछेका स्नान अर्थात् सायं स्नान। सायंकालमें ग्रीष्म-ताप निवारणके लिए जलमें अवगाहन करके स्नान करना चाहिये। श्रीराधाका सायंकालीन स्नान मानो लावण्यरूप अमृत-धारामें ही होता है। अर्थात् सायंकालके अवगाहन-स्नानमें सम्पूर्ण शरीर जिस प्रकार जल-निमग्न होता है, यौवनोद्गममें श्रीराधाकी सम्पूर्ण देह उसी प्रकार लावण्णके प्रवाहमें मानो निमज्जित हो गयी अर्थात् उनके सर्वाङ्गमें लावण्यकी तरङ्ग प्रवाहित हुई।

इस त्रिकालीन स्नान द्वारा समझा जाता है कि श्रीराधाकी देह करुणा, नवयौवन और लावण्यका मूल आश्रय है।

निजलज्जा-श्याम-पटशाटी परिधान—अपनी लज्जारूप श्यामवर्ण (अर्थात् शृङ्गार-रसरूप) पट-निर्मित साड़ी ही श्रीमती राधाका परिधेय वस्त्र है। श्रीराधा परम लज्जावती हैं, यही इससे समझा जाता है। परिधेय वस्त्रकी तरह लज्जाने मानो उनके समस्त अङ्गको आच्छादित कर रक्खा है।

लज्जा—व्रीड़ा। **नवीन-सङ्गमाकार्यस्तवावज्ञादिना कृता। अधृष्टता भवेद्व्रीड़ा॥** भ.र.सि. २.४.५६ (२.४.११३)। नवसङ्गम, अकार्य स्तव और अवज्ञा आदिके कारण जो धृष्टता-विरोधी भाव उत्पन्न होता है उसको व्रीड़ा या लज्जा कहते हैं।

श्याम—नील वर्ण; शृङ्गार रसको भी श्याम रस कहते हैं।

कृष्णे अनुराग द्वितीय अरुण वसन।

प्रणय-मान-कञ्चुलिकाय वक्ष आच्छादन ॥१३०॥

कृष्णे—कृष्णके प्रति; कृष्णके विषयमें। **अनुराग**—जो राग नया-नया होकर सर्वदा-अनुभूत प्रिय व्यक्तिके रूपादिको सर्वदा नये-नये रूपसे प्रतीयमान करावे उस रागको अनुराग कहते हैं—

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागोभवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

उ.नी. स्थायी १०२ (१४.१४६)

द्वितीय अरुण वसन—रक्तवर्ण उत्तरीय वस्त्र। एक वस्त्र नील साड़ी, दूसरा है रक्त ओढ़ना। जिस अनुरागके वश सर्वदा-अनुभूत श्रीकृष्णके रूप-गुण-आदि भी प्रति क्षण श्रीराधाको नये-नये-से अनुभव होते हैं, वह अनुराग ही मानो उनका रक्तवर्ण उत्तरीय वस्त्र स्वरूप है।

मान—जो स्नेह उत्कृष्टता-प्राप्ति-हेतु पूर्वानुभूत माधुर्यको नये रूपसे अनुभव कराके बाहर कुटिलता धारण करावे उसको मान कहते हैं—

स्नेहस्तूत्कृष्टता व्याप्ता माधुर्यं मानयन्नवम् ।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥

उ.नी.स्था. ७१ (१४.९६)

उदाहरण—श्रीराधा श्रीकृष्णके साथ वनमें विहार कर रही थीं; प्रेमभरा श्रीराधाका चित्त द्रवीभूत हुआ और उनके नयनोंमें अश्रु प्रकट हुए। कुछ दूर गायें विचरण कर रही थीं, जिससे धूलि उठ रही थी। तब, जिस कारणसे वास्तवमें अश्रुओंका उद्गम हुआ था, वह छिपानेके लिए इस धूलिका बहाना कर श्रीराधाने श्रीकृष्णका तिरस्कार करके कहा—"धूलि मेरी आँखोंमें पड़नेसे आँखोंमें जल आ रहा है।" तब श्रीकृष्णने कहा—"अच्छा, मैं फूँक मारकर धूलि उड़ाये देता हूँ।" यह कहकर फूँक मारनेको उद्यत श्रीकृष्णको श्रीराधाने कहा—"चुप रहो, तुम्हारा यह कपट प्रेम मुझे अच्छा नहीं लगता।" यह कहकर श्रीराधा मानवती हो गयीं। यहाँ श्रीकृष्ण-माधुर्यके नये अनुभवसे अश्रुओंका उद्गम हुआ, लेकिन वाह्य रूपमें कुटिलता दिखाकर श्रीकृष्णको फूँक मारनेसे रोककर श्रीराधाने मान प्रकाश किया।

प्रणय—मान यदि विश्रम्भ धारण करे, तब उसको प्रणय कहते हैं—

मानो दधानो विश्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः ।

उ.नी. स्था. ७८ (१४.१०८)

विश्रम्भ—विश्वास या सम्भ्रम-शून्यता। यह विश्वास अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह और **परिच्छद** आदिके सहित कान्तके प्राण, मन, बुद्धि, देह और परिच्छद आदिकी अभिन्नताका ज्ञान उत्पन्न करता है। **उदाहरण**—श्रीकृष्ण द्वारा सम्भुक्त और प्रसाधित होकर उनके साथ कुञ्ज-आङ्गनमें सुखसे बैठी श्रीराधाकी लीला दूरसे अवलोकन करके रूपमञ्जरीने कहा—"सखि ! श्रीकृष्णने श्रीराधाके कुचोपान्तका स्पर्श किया ; श्रीराधाने उनके स्कन्धपर अपनी ग्रीवा रक्खी एवं कुटिल दृष्टिसे भृकुटी तानी ; और पुलकित होकर उनके पीत-वसनसे अपना मुख—जो प्रमोदाश्रु द्वारा धोया

जा रहा था—उस मुखका मार्जन किया।'' यहाँ भृकुटीकरणका हेतु है असहिष्णुता-निबन्धन मान, चित्त द्रवीभूत होनेका हेतु है प्रमोदाश्रु एवं श्रीकृष्णके पीत वसनसे निज-मुख-मार्जनका हेतु है निःसम्भ्रमसे एक्यता-निबन्धन प्रणय।

प्रणय - मान - कञ्चुलिकाय—प्रणय और मानरूप कञ्चुकी द्वारा श्रीराधाका वक्ष आच्छादित हैं। कञ्चुकी जिस प्रकार वक्ष स्थित स्तनद्वयको आच्छादित मात्र करके रखती है, लेकिन उनका अस्तित्व छिपा नहीं सकती, उसी प्रकार मानके कारण ऊपरी कौटिल्य द्वारा श्रीराधाने भी अपने हृदयके भावको छिपानेकी चेष्टा की सही, किन्तु प्रणयके कारण उसके अस्तित्वको छिपा न सकीं; बल्कि यह भाव मानके आवरणसे आवृत होकर और भी मधुरतर रूपसे शोभा पाने लगा।

कञ्चुलिका—वक्षका आच्छादन वस्त्र; कञ्चुकी।

सौन्दर्य्य - कुङ्कुम, सखी - प्रणय चन्दन।
स्मित - कान्तिकर्पूर—तिने अङ्ग विलेपन ॥१२१॥

सौन्दर्य्य - कुङ्कुम—सौन्दर्यरूप कुङ्कुम (केसर)। **सखी - प्रणय चन्दन**—सखियोंका प्रणयरूप चन्दन। **स्मितकान्ति कर्पूर**--मन्द हँसीकी कान्तिरूपी कर्पूर। कुङ्कुम, चन्दन और कर्पूर—इन तीन द्रव्योंके मिश्रणसे अङ्गका विलेपन प्रस्तुत होता है। श्रीराधाका अपना सौन्दर्य, सखियोंके प्रति उनका प्रणय या उनके प्रति सखियोंका प्रणय एवं उनकी मृदु हँसी—ये तीनों मिलकर अङ्ग-विलेपनकी तरह उनकी देहको स्निग्ध, उज्ज्वल और कमनीय बना कर रखते हैं।

सौन्दर्य—अङ्ग-प्रत्यङ्ग आदिका जो यथोचित सन्निवेश है एवं सब सन्धियोंका जो यथायथ मांसलत्व है उसको सौन्दर्य कहते हैं—

ताम्बूल—पान। **राग**—प्रणयके उत्कर्षके लिए जिसके द्वारा अधिक दुःख भी चित्तमें सुखरूपसे व्यक्त होता है उसको राग कहते हैं—

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

उ.नी.स्थायी.८४ (१४.१२६)

उदाहरण—पत्थरोंसे युक्त गिरितट; खड्गके समान तीक्ष्ण धारवाले छोटे-छोटे पत्थरोंके टुकड़े, कोई ऊपर कोई नीचे निकले हुए, जिनके कारण गिरितट अति दुर्गम हो रहा है। ज्येष्ठ मासके मध्याह्न सूर्यके तापसे ये पत्थरोंके टुकड़े मानो अग्निके समान उत्तप्त हो रहे हैं; उनपर पाद-विक्षेप पूर्णरूपसे असम्भव है। किन्तु श्रीराधा इस गिरितटपर सहजरूपसे खड़ी होकर तृषित नयनोंसे श्रीकृष्णकी वदन-सुधा पान कर रही हैं। पदतल-के नीचे पत्थरोंकी असह्य उत्तप्तता एवं खड्गाग्र-भाग-तुल्य तीक्ष्णताका कुछ भी अनुभव वे नहीं कर पा रही हैं; बल्कि वे ऐसा अनुभव कर रही हैं मानो चन्दन-कर्पूर चर्चित सुशीतल-कुसुम-शैयाके ऊपर अपने सुकोमल चरण-द्वय रखकर खड़ी हैं। यहाँ अति उष्ण तीक्ष्ण कठोर पत्थरोंका स्पर्शजन्य दुःख भी सुख रूपसे अनुभव हो रहा है, यही रागका लक्षण है।

प्रेमकौटिल्य इत्यादि—प्रेमकी कुटिलता। श्रीराधाके प्रेमकी कुटिलता ही उनके दोनों नेत्रोंका कज्जल सदृश है। साधारणतया चक्षु द्वारा कुटिलता प्रकट होनेके कारण कुटिलताको चक्षुका कज्जल बताया गया है।

प्रेम—ध्वंसका कारण रहनेपर भी युवक-युवतीका सब प्रकारसे ध्वंस-रहित जो भाव-बन्धन है, उसका नाम प्रेम है—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

उ.नी.स्थायी.४६ (१४.६३)

आठ सात्त्विक और तैंतीस सञ्चारी भाव

सूदीप्त सात्त्विकभाव हर्षादि सञ्चारी।

एइ सब भाव-भूषण सब अङ्गे भरि ॥१३५॥

सात्त्विकभाव—श्रीकृष्णसम्बन्धी भावोंके द्वारा चित्तके आक्रान्त होनेपर उसको सत्त्व कहा जाता है। इस सत्त्वसे स्वतः ही उत्पन्न भावका नाम 'सात्त्विक भाव' है। चित्त भगवद्भावसे आक्रान्त होनेपर जब अधीर होकर प्राणवायुमें आत्म-समर्पण करे, तब अवस्थान्तर प्राप्त होकर देहको अतिशय क्षोभित करता है; तभी सात्त्विकभाव देखनेमें आते हैं। सात्त्विक भाव आठ प्रकारके होते हैं—

१. **स्तम्भ**—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद और अमर्षसे स्तम्भ उत्पन्न होता है। इससे वाक्य आदिकी शून्यता, निश्चलता, शून्यता आदि उत्पन्न होते हैं; कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियकी क्रिया लोप हो जाती है।

२. **स्वेद**—हर्ष, भय और क्रोध आदिके कारण शरीरके क्लेद और आर्द्रता (पसीने) को स्वेद कहते हैं।

३. **रोमाञ्च**—आश्चर्य-वस्तुके दर्शन, हर्ष, उत्साह और भय आदिके कारण रोमाञ्च होता है; इसमें सब रोमोंका उद्गम (खड़े होना) और गात्र-समूहकी परस्पर संलग्नता आदि होता है।

४. **स्वरभेद**—विवाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द और भय आदिसे स्वरभेद होता है। इससे स्वरमें विकृति उत्पन्न होती है, वाक्य गद्गद हो जाता है।

५. **कम्प**—क्रोध, वित्रास और हर्ष आदिके द्वारा गात्रका जो चाञ्चल्य होता है, उसको कम्प कहते हैं।

६. **वैवर्ण्य**—विषाद, क्रोध और भय आदिके कारण होनेवाले वर्ण-विकारका नाम वैवर्ण्य है। इससे मलिनता और कृशता होती है।

अङ्ग प्रत्यङ्गकानां यः सन्निवेशो यथोचितम् ।
सुश्लिष्ट - सन्धिबन्धः स्यात्तत् सौन्दर्यमितीर्यते ॥

उ.नी. उद्दीपन. १९ (१०.३१)

उदाहरण—श्रीकृष्णने कहा—"हे राधे ! तुम्हारे सौन्दर्यकी बात अधिक और क्या कहूँ ; तुम्हारा मुखमण्डल साक्षात् चन्द्रमण्डलके तुल्य है, ऊँचे कुचयुगसे वक्षःस्थल अति सुदृश्य है, दोनों भुजाएँ स्कन्धदेशसे नत हैं, मध्य-भाग मुट्ठीभर है, नितम्ब अतिशय विशाल हैं और उरु युगल क्रमशः लघु होकर अद्भुत शोभा विस्तार कर रहे हैं। हे प्रियत्तमे ! तुम्हारी यह देह अति कमनीय रूपसे सुशोभित हो रही है।

कृष्णेर उज्ज्वल रस मृगमदभर ।
सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर ॥१३२॥

उज्ज्वल रस—मधुर रस ; शृङ्गार-रस । **मृगमद**—मृगनाभि, कस्तूरी।

श्रीकृष्णके मधुर रस रूपी कस्तूरी द्वारा श्रीराधाका कलेवर (देह) विचित्रित हुआ है।

प्रच्छन्न-मान-वाम्य धम्मिल्ल-विन्यास ।
धीराधीरात्मक गुण अङ्गे पटवास ॥१३३॥

प्रच्छन्न—गुप्त। **मान-वाम्य**—मानकी वक्रता।

प्रच्छन्न-मान-वाम्य—वाम्य गन्धोदात्त मान। उदाहरण—रासमें अन्तर्धान होनेके पश्चात् श्रीकृष्ण जब फिरसे प्रकट हुए, तब कोई गोपी श्रीकृष्णको अवलोकन करके अपने ललाट-फलकको भ्रू द्वारा भङ्ग करके नेत्ररूपी भृङ्ग द्वारा उनके मुख-पङ्कजका मधु पान करने लगी। यहाँपर ललाटको भ्रू द्वारा भङ्ग करना कुछ वाम-गन्धयुक्त-सा है, और नेत्र-भृङ्ग द्वारा मुख-पङ्कज-मधु-पान बाहरसे (प्रकटमें) दाक्षिण्य दिखाता है। यही दाक्षिण्य द्वारा वाम्य भावको प्रच्छन्न या गोपन करनेकी चेष्टा है।

धम्मिल्ल—सुन्दररूपसे बद्ध और पुष्प-मुक्ता आदिसे अलङ्कृत केशपाश; प्रच्छन्न मान ही श्रीराधाका केश-विन्यास है। वक्र-केशके देखनेमें अति सुन्दर होनेके कारण मान-वाम्यको धम्मिल्ल कहा गया है। भीतरसे वाम्य और बाहरसे दाक्षिण्य भाव अति सुन्दर लगता है।

धीराधीरा—खण्डिता जो नायिका अश्रुविमोचन पूर्वक प्रियतमके प्रति वक्रोक्ति प्रयोग करे उसको धीराधीरा कहते हैं—

धीराधीरातु वक्रोक्त्या सबाष्पं वदति प्रियम् ॥

उ.नी.नायिका. २२. (५.३९)

उदाहरण—श्रीराधाने कहा—"अहो गोपेन्द्र-नन्दन ! जाओ, जाओ, मेरे जैसीको और मत रुलाओ, तुम यदि यहाँ अधिक ठहरोगे तो तुम्हारी हृदयाधिष्ठात्री देवी रुष्ट हो जायँगी ; तुम्हारी शिरोभूषणकी जो माला है उसके द्वारा तुम्हारी हृदयाधिष्ठात्री देवीके चरण-पङ्कजका अलक्तक राग अपहृत हुआ है, उस माला द्वारा अब फिर उसके पदद्वय विभूषित करो ; अर्थात् मेरे चरणोंमें पड़नेसे क्या होगा, उन्हींके पदोमें गिरकर पुनः पुनः प्रणाम करो।"—यह धीराधीरा नायिकाकी उक्ति है।

पटवास—गन्धचूर्ण।

धीराधीरा नायिकाका जो गुण है, वही श्रीराधाके अङ्गव्यवहारके सुगन्धि-चूर्णके समान है। गन्धचूर्ण जिस प्रकार चित्ताकर्षक होता है, उसी प्रकार धीराधीरा नायिकाका भाव भी श्रीकृष्णका चित्ताकर्षक है ; इसीसे इस भावकी गन्धचूर्णके साथ तुलना की गयी है।

राग - ताम्बूल रागे अधर उज्ज्वल।

प्रेमकौटिल्य नेत्र युगले कज्जल ॥१३४॥

रागरूप ताम्बूलके रक्तवर्णसे उनके अधरोंने उज्ज्वल रक्तवर्ण धारण किया है। साधारणतया मुखके द्वारा ही राग या अनुराग प्रकाशित होनेके कारण रागकी मुख-स्थित ताम्बूलके वर्णके साथ तुलना की गयी है।

७. अश्रु—हर्ष, क्रोध और विषाद आदिके द्वारा बिना यत्नके चक्षुसे जो जल निकलता है, उसका नाम अश्रु है। हर्षजनित अश्रु शीतल और क्रोधादि जनित अश्रु गर्म होते हैं। किन्तु सभी अवस्थामें चक्षुका क्षोभ, रक्तिमा और सम्मार्जन आदि होते रहते हैं। नासिका-स्राव इसका अङ्गविशेष है।

८. प्रलय—सुख और दुःखके कारण चेष्टाशून्यता और ज्ञानशून्यताका नाम प्रलय या मूर्च्छा है। इससे भूमिपर पतन आदि होता है।

तीन, चार या पाँच सात्विक भाव यदि एक साथ अधिक रूपसे व्यक्त हों, एवं उनका सम्वरण न किया जा सके, तब उसको दीप्त सात्विक भाव कहते हैं।

सम्मुखस्थ श्रीकृष्णके दर्शन करके नारद प्रेमसे इस प्रकार विवशाङ्ग हो गये कि कम्पवश वीणा-वादनमें असक्त हो गये, वाक्य गद्गद होनेसे स्तुतिपाठ न कर सके, चक्षु अश्रुपूर्ण होनेसे दर्शनमें अक्षम हो गये। यह नारदका दीप्त-सात्विक भाव था।

पाँच या अधिक सात्विक भाव एक साथ व्यक्त होकर परमोत्कर्ष प्राप्त होनेपर, उसको उद्दीप्त सात्विक भाव कहते हैं।

श्रीकृष्ण-विरहमें गोकुलवासी सब लोग स्वेदयुक्त, कम्पित और पुलकित अङ्गोंके कारण स्तम्भ युक्त हुए थे, आकुल होकर चाटुवाक्योंके साथ विलाप करने लगे थे, अतिशय उन्मत्तताके कारण म्लान, एवं नेत्राश्रुओंके कारण आर्द्रीभूत और अतिशय मोहग्रस्त हुए थे—यह गोकुलवासियोंका उद्दीप्त सात्विक भाव था।

उद्दीप्त सात्विक भाव ही महाभावमें सूद्दीप्त होता है; महाभावमें सब सात्विक भाव चरम सीमाको प्राप्त होते हैं। सूद्दीप्त भाव केवल श्रीराधामें ही प्रकट होता है।

सञ्चारी—सञ्चारी भाव। वाक्य, भ्रू-नेत्रादि-अङ्ग एवं सत्त्वोत्पन्न भाव द्वारा जो भाव प्रकाशित होते हैं, उनको व्यभिचारी भाव कहते हैं।

ये भावकी गतिको सञ्चारण कराते हैं, इसलिए इनको सञ्चारी भाव भी कहते हैं। हर्षादि सञ्चारी—हर्ष आदि तैंतीस सञ्चारी भाव होते हैं, जिनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१. **निर्वेद**—महादुःख, विरह, ईर्ष्या और सद्विवेक आदिके द्वारा जनित अपने अवमानना-ज्ञान अर्थात् अपने प्रति तुच्छता-बुद्धिको निर्वेद कहते हैं।

२. **विषाद**—इष्ट वस्तुकी अप्राप्ति, प्रारम्भित कार्यकी असिद्धि, विपत्ति और अपराध आदिसे जो अनुताप होता है, उसका नाम विषाद है।

३. **दैन्य**—दुःख, त्रास एवं अपराधादिके कारण अपनेको निकृष्ट माननेका नाम दैन्य है।

४. **ग्लानि**—श्रम, मनकी पीड़ा और रति आदि द्वारा शरीरके ओजका क्षय होनेपर जो दुर्बलता उत्पन्न होती है, उसको ग्लानि कहते हैं। ओज शुक्रसे भी उत्कृष्ट धातु-विशेष है। यह देहको बलिष्ठ और पुष्ट करता है, चन्द्र इसका अधिष्ठातृ देवता है। ग्लानिसे कम्प, अङ्गोंकी जडता, वैवर्ण्य, कृशता और नयनोंकी चपलता आदि होते हैं।

५. **श्रम**—पथ-भ्रमण, नृत्य और रमणादि द्वारा जनित खेदको श्रम कहते हैं। निद्रा, घर्म (पसीना), अङ्ग-ग्रह, जृम्भा (जम्हाई) दीर्घश्वास आदि इसके लक्षण हैं।

६. **मद**—ज्ञाननाशक आह्लादको मद कहते हैं। यह दो प्रकारका है—मधुपानजनित और कंदर्प-विकारातिशय-जनित। गति, अङ्ग और वाक्यका स्खलन, आँखोंका घूमना और लाल होना आदि इसके लक्षण हैं।

७. **गर्व**—सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण, सर्वोत्तम आश्रयकी प्राप्ति और इष्टवस्तु लाभादिके कारण दूसरोंकी अवज्ञाको गर्व कहते हैं। सौल्लुण्ठ वचन (कटु व्यङ्ग), लीलावश उत्तर न देना, निजाङ्ग-दर्शन,

अपना अभिप्राय छिपाना, दूसरोंकी बात अनसुनी करना इत्यादि इसके लक्षण हैं।

८. **शङ्का**—अपनी चोरीका अपवाद, अपराध एवं दूसरेकी क्रूरता आदिसे जो अपना अनिष्ट दर्शन है, उसको शङ्का कहते हैं। मुखशोष (मुँहका सूखना), विवर्णता, दिशाओंकी ओर देखना, छिपना आदि इसके लक्षण हैं।

९. **त्रास**—विद्युत्, भयानक प्राणी एवं प्रखर (भयानक) शब्दसे जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसका नाम है त्रास। पार्श्वस्थ वस्तुका आलम्बन, रोमाञ्च, कम्प, स्तम्भ, भ्रम आदि इसके लक्षण हैं।

१०. **आवेग**—जो चित्तमें सम्भ्रम अर्थात् भय आदि जनित त्वरा उत्पन्न करे, उसे आवेग कहते हैं। यह आवेग प्रिय, अप्रिय, अग्नि, वायु, उत्पात, गज, वर्षा और शत्रुसे उत्पन्न होकर आठ प्रकारका होता है। प्रियसे उत्थित आवेगके कारण पुलक, प्रियभाषण, चपलता और अभ्युत्थान आदि होते हैं। (२) अप्रियोत्थ आवेगसे भूमि-पतन, चीत्कार-शब्द और भ्रमणादि होता है। (३) अग्नि-जनित आवेगसे अत्यन्त व्यस्त गति, कम्प, आँख मीचना और अश्रु आदि होते हैं। (४) वायु-जनित आवेगसे अंगोंका ढकना, द्रुतगमन, चक्षुमार्जन आदि होते हैं। (५) उत्पात-जनित आवेगसे मुखकी विवर्णता, विस्मय एवं उत्कम्पन आदि होते हैं। (६) गज-जनित आवेगसे भागना, उत्कम्प, त्रास, और पीछेकी ओर देखना आदि होते हैं। वर्षा-जनित आवेगसे कम्प, शीतार्त्ति (ठण्डसे आर्त्त होना) आदि होते हैं। और (८) शत्रु-जनित आवेगसे कवच, शस्त्रादिका ग्रहण, गृहसे हटना आदि लक्षण होते हैं।

११. **उन्माद**—अतिशय आनन्द, आपत्ति और विरह आदिसे होनेवाले चित्तभ्रमको उन्माद करते हैं। अट्टहास, नृत्य, संगीत, व्यर्थचेष्टा, प्रलाप, दौड़ना, चीत्कार, और विपरीत क्रिया आदि इसके कार्य हैं।

उन्मादो हृद्भ्रमः प्रौढ़ानन्दापद्विरहादिजः ।
अत्राट्टहासो नटनं संगीतं व्यर्थचेष्टितम् ।
प्रलाप - धावन - क्रोश - विपरीतक्रियादयः ॥

भ. र. सि. २४. ३६ (२.४.७६.८०)

१२. **अपस्मृति**—दुःखसे उत्पन्न धातु-वैषम्यादिके कारण होनेवाले चित्तके विप्लवको अपस्मृति कहते हैं। भूमिपर गिरना, दौड़ना, अंगव्यथा, भ्रम, कम्प, मुँहसे झाग निकलना, हाथ इधर-उधर चलाना, एवं उच्च शब्द करना आदि इसके लक्षण हैं।

१३. **व्याधि**—अतिशय दोष एवं विच्छेद आदि द्वारा जो ज्वरादि उत्पन्न होते हैं, उनका नाम है व्याधि। किंतु यहाँपर तदुत्पन्न भावको ही व्याधि कहते हैं। स्तम्भ, अंगशिथिलता, श्वास, उत्ताप, ग्लानि आदि इसके लक्षण हैं।

१४. **मोह**—हर्ष, विच्छेद, भय और विषाद आदिसे होनेवाली मनकी जो बोधशून्यता है, उसीका नाम मोह है। भूमि-पतन, इन्द्रियोंका अवश होना, भ्रमण, निश्चेष्टता आदि इसके लक्षण हैं।

१५. **मृति**—विषाद, व्याधि, त्रास, प्रहार एवं ग्लानि आदिके कारण जो प्राणत्याग है, उसीका नाम है मृति। अस्पष्ट वाक्य, देहकी विवर्णता, अल्पश्वास एवं हिचकी आदि इसके लक्षण हैं। नित्य-परिकरोंकी मृतिमें मरणवत् अवस्था दीखती है।

१६. **आलस्य**—तृप्ति और श्रम आदि करनेकी सामर्थ्य रहते हुए भी कार्य न करनेका नाम है आलस्य। अङ्ग-मोटन (अंगड़ाई), जम्हाई, कार्यके प्रति द्वेष, आँख मलना, सोना, बैठना, तन्द्रा और निद्रा आदि इसके लक्षण हैं।

१७. **जाड्य**—इष्ट और अनिष्टका श्रवण, दर्शन एवं विरह आदिसे उत्पन्न विचार-शून्यताको जाड्य (जडता) कहते हैं। यह मोहके पूर्वकी

और पीछेकी अवस्था है। अनिमिष नयन (अपलक दृष्टि), तूष्णीम्भाव (चुपचाप रहना) और विस्मरणादि इसके लक्षण हैं।

१८. व्रीड़ा—नवसङ्गम, स्तुति और अवज्ञा आदिके कारण जो अधृष्टता (लज्जा) उत्पन्न हो, उसका नाम व्रीड़ा है। मौन, चिंता, मुखाच्छादन, भूमि-लिखन, अधोमुखता आदि इसके लक्षण हैं।

१९. अवहित्था—किसी कृत्रिम भावद्वारा गोपनीय भावके अनुभावका संवरण करना—इसको अवहित्था कहते हैं। भावप्रकाशक अङ्ग आदिका गोपन, दूसरी ओर दृष्टिपात, वृथाचेष्टा, वाग्भङ्गी आदि इसके लक्षण हैं।

२०. स्मृति—सदृश-वस्तु-दर्शन, अथवा दृढ़ अभ्यासजनित पूर्वानुभूत अर्थकी जो प्रतीति है, उसका नाम स्मृति है। शिरःकम्पन और भ्रू-विक्षेप आदि इसके लक्षण हैं।

२१. वितर्क—परामर्श और संशय आदिके निमित्तसे जो तर्क उपस्थित हो, उसको वितर्क कहते हैं। भ्रूक्षेप, सिर और अंगुली चालनादि इसके लक्षण हैं।

२२. चिन्ता—अभिलषित विषयकी अप्राप्ति एवं अनभिलषित विषयको प्राप्तिके निरोधकी जो भावना है, उसका नाम है चिन्ता। निःश्वास, अधोवदन, भूमिविदारण, निद्राशून्यता, विलाप, उत्ताप, कृशता, वाष्प (नेत्रोंका गीलापन), दैन्य आदि इसके लक्षण हैं।

२३. मति—शास्त्रादिके विचारसे उत्पन्न अर्थ-निर्द्धारणको मति कहते हैं। कर्तव्य करनेका निश्चय, संशय और भ्रमका उच्छेद, शिष्य आदिको उपदेश देना, तर्क-वितर्क करना आदि इसके लक्षण हैं।

२४. धृति—ज्ञान, दुःखके अभाव, उत्तम वस्तुकी प्राप्ति अर्थात् भगवत्-प्रेम-प्राप्तिसे होनेवाली जो मनकी पूर्णता (चञ्चलताका अभाव) है, उसका नाम धृति है। इसमें अप्राप्त वस्तु या विनष्ट वस्तुके लिए दुःख नहीं होता।

धृतिः स्यात् पूर्णता ज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः ।
अप्राप्तातीत - नष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ॥

भ.र.सि. २.४.५६ (२.४.१४४)

२५. हर्ष—अभीष्ट वस्तुके दर्शन और लाभादिसे होनेवाली चित्तकी प्रफुल्लताको हर्ष कहते हैं। रोमाञ्च, पसीना, अश्रु, मुखकी प्रफुल्लता, आवेग, उन्माद, जडता, मोह आदि इसकी चेष्टाएँ हैं।

२६. औत्सुक्य—अभीष्ट वस्तुके दर्शन और प्राप्तिके लिए उत्कण्ठाके कारण विलम्ब जब असह्य हो उठे, तभी उसको औत्सुक्य (उत्सुकता) कहते हैं।

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षाप्तिस्पृहादिभिः ।

भ.र.सि. २.४.७६ (२.४.१५१)

२७. औग्र्य—अपराध और दुर्वचन आदिसे उत्पन्न क्रोधको औग्र्य (उग्रता) कहते हैं। वध, बन्ध, सिरका कम्पन, भर्त्सन, ताड़न आदि इसके लक्षण हैं।

२८. अमर्ष—तिरस्कार और अपमानादिसे उत्पन्न असहिष्णुताका नाम अमर्ष है। पसीना, सिरका कम्पन, विवर्णता, चिन्ता, उपायका अन्वेषण, आक्रोश, विमुखता और ताड़ना आदि इसके कार्य हैं।

अधिक्षेपापमानाद्यैः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता ।
तत्र स्वेदः शिरःकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम् ॥
उपायान्वेषणाक्रोश - वैमुख्योत्ताड़नादयः ।

भ.र.सि. २.४.८० (२.४.१५९.१६०)

२९. असूया—दूसरेके सौभाग्य और गुणादिके कारण उसके प्रति द्वेषको असूया कहते हैं। ईर्ष्या, अनादर, आक्षेप, सब गुणोंमें दोषारोपण, अपवाद (निन्दा) वक्र-दृष्टि, भृकुटि आदि इसके लक्षण हैं।

३०. चापल्य—राग एवं द्वेषादिसे होनेवाली चित्तकी लघुता या गाम्भीर्यहीनताको चापल्य (चपलता) कहते हैं। बिचारहीनता, पारुष्य

(कठोरता) एवं स्वच्छन्द आचरणादि इसके लक्षण हैं।

रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत्।
तत्राविचारपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥

भ.र.सि. २.४.८१ (२.४.१६८)।

३१. निद्रा—चिन्ता, आलस्य, स्वभाव और श्रमादि द्वारा चित्तकी बाह्यवृत्तिके अभावका नाम निद्रा है। अङ्ग-भङ्ग (अंगड़ाई), जृम्भा, जडता, निश्वास, नेत्र-निमीलन (आँखोंका बंद होना) आदि इसके लक्षण हैं।

३२. सुप्ति –नाना प्रकारकी चिन्ता और नाना-विषयकी अनुभूतिके साथ निद्राका नाम सुप्ति (स्वप्न) है। इन्द्रियोंकी अवसन्नता, निश्वास और चक्षु-निमीलनादि इसके लक्षण हैं।

३३. बोध—अविद्या (अज्ञान), मोह और निद्रा आदिके विनाशसे जिस प्रबुद्धता अर्थात् ज्ञानका आविर्भाव होता है, उसको बोध कहते हैं।

सूद्दीप्त सात्त्विक—भरि—सूद्दीप्त सात्विक भाव और हर्षादि सञ्चारी-भाव-रूप भूषण (अलङ्कार) ही श्रीराधाने प्रति अङ्गमें धारण किया है। ये सब भाव ही अलङ्कारकी तरह उनके देहकी शोभा वृद्धि करते हैं।

किलकिञ्चितादि बीस भाव

किलकिञ्चितादि - भाव - विंशति - भूषित।
गुणश्रेणी - पुष्पमाला - सर्व्वाङ्गे - पूरित ।।१३६।।

किलकिञ्चितादि बीस भाव श्रीराधाके अङ्गोंके अलङ्कार स्वरूप हैं एवं माधुर्य आदि गुण उनके गलेकी पुष्पमाला सदृश है।

यौवने सत्त्वजास्तासामलङ्कारास्तुविंशतिः।
उदयन्त्यद्भुताः कान्ते सर्वथाभिनिवेशतः ॥

उ.नी. अनु. ५७ (११.२)

अर्थात् नायिकाओंमें यौवन अवस्थामें कान्तके प्रति सब प्रकारके अभिनिवेशके कारण सत्त्व-जनित बीस प्रकारके भावोंका उदय होता है, वे ही उनके अद्‍भुत अलङ्कार स्वरूप होते हैं, अर्थात् अलङ्कारोंकी तरह देहकी शोभा बढ़ाते हैं।

ये बीस भावरूप अलङ्कार इस प्रकार हैं—हाव, भाव और हेला, ये तीन अङ्गज हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य, ये सात अयत्नसिद्ध अर्थात् वेशादि, यत्नके अभावमें भी स्वतः प्रकाश पाते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोटायित, कुटमित, विव्वोक, ललित और विकृत, ये दस स्वभावजात हैं।

१. भाव—शृङ्गार-रसमें निर्विकार चित्तमें रति-नामक स्थायीभावके प्रादुर्भाव होनेपर, चित्तका जो प्रथम विकार होता है, उसको भाव कहते हैं।

जैसे—कोई सखी अपनी यूथेश्वरीके मनका भाव निश्चित रूपसे समझ-कर चतुराईसे उसको व्यक्त करानेके लिए मानो सम्पूर्णरूपसे अजानकारकी तरह कहती है—"सखि! खाण्डव-वनमें तुम्हारे पिताके गोष्ठमें अनेक प्रकारके पुष्प प्रस्फुटित होकर जब अपूर्व शोभा विस्तार कर रहे थे, तब वहाँ देवराज इन्द्रके दर्शन करके भी तुम्हारा मन विचलित नहीं हुआ था, यह मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे देखा था। किन्तु श्वसुरालयमें आकर सम्मुखस्थ वृन्दावनमें विहारशील मुकुन्दके प्रति तुम अपने चक्षुओंको क्यों आन्दोलित कर रही हो? तुम्हारे कर्णोंके कुमुद इन्दीवरके समान क्यों हो गये।" मुकुन्दके प्रति यूथेश्वरीका नयन-आन्दोलनरूप जो प्रथम चित्त-विकार है, वही उनका भाव है।

२. हाव—जो ग्रीवा-वक्रकारी, भ्रू-नेत्र आदिका विकाशकारी है एवं जो भावसे कुछ अधिक प्रकाशक है, उसको हाव कहते हैं। जैसे—श्यामा श्रीराधाको कहती है—"हे गौराङ्गि! अपाङ्ग दृष्टिसे तृप्ति प्राप्त न कर सकनेके कारण तुमने बाँयी ओर कण्ठको स्तम्भित किया है, उससे तुम्हारे

नयन-भ्रमर घूमते-घूमते कर्ण-लताकी ओर जा रहे हैं, भ्रू-वल्ली कुछ विकसित होकर नृत्य कर रही है ; अतएव हे सखि ! ऐसा लगता है कि यमुना-तटपर सुमनस (पुष्प, पक्षसे सुन्दरी)—सबके उल्लासकारी वनप्रिय-बधु-बन्धु (कोकिल, पक्षसे रमणीबन्धु) माधव (वसन्त, पक्षसे कृष्ण) स्पष्ट ही तुम्हारे समक्ष आविर्भूत हुए हैं।" यहाँ श्रीराधा जो सब लक्षण प्रकाश करती हैं, वे ही हाव हैं।

३. हेला – हाव ही यदि स्पष्ट रूपसे शृङ्गार सूचक हो, तब उसको हेला कहते हैं। जैसे विशाखाने श्रीराधासे कहा—"प्रिय सखि ! वेणुरव सुनकर तुम्हारे समुन्नत कुचशाली वक्ष एक बार नत एक बार उन्नत होते हैं, वक्र-दृष्टि और पुलकित गण्ड तुम्हारे वदनकी शोभा विस्तार कर रहे हैं, तुम्हारे जघन-देशमें निवि स्खलित होनेपर भी स्वेद-जलसे वस्त्र आर्द्र होकर चिपके हुए हैं। अतएव हे राधे ! और प्रमाद मत करना, इधर देखो, बायीं ओर गुरुजन अवस्थित हैं।" यहाँ श्रीराधाके हेलाके लक्षण व्यक्त करते हैं।

४ शोभा—रूप और भोगादि द्वारा अङ्गोंके जो विभूषण हैं, उसको शोभा कहते हैं। जैसे—श्रीकृष्णने सुबलसे कहा—"सखे ! प्रातःकाल घूर्णित-नेत्रा होकर अरुण-अङ्गुलि-पल्लवसे नीपशाखा धारण करके लता-मण्डपसे विशाखा निकल रही हैं ; उसके स्कन्धपर विलुण्ठित अर्द्धमुक्त वेणी डोल रही है। हे बन्धो ! इस प्रकार विशाखा मेरे हृदयमें बसी हुई है, अभी भी निकल नहीं रही है।" यह विशाखाकी शोभाके लक्षण हैं।

५. कान्ति—कन्दर्पकी तृप्तिजनित उज्ज्वल शोभाको कान्ति कहते हैं। जैसे—श्रीकृष्णने सुबलसे कहा—"सखे ! ये राधा स्वभावसे ही मधुर मूर्ति हैं, प्रति अङ्गमें ईषत् उदित् तारुण्य-लक्ष्मी द्वारा आलिङ्गित हुआ है ; और गुरुतर मदनविहारसे उदारा दीख रही हैं ; अतएव इसने मेरा चित्त अवरोध कर रक्खा है।" यह श्रीराधाकी कान्तिके लक्षण हैं।

६. **दीप्ति**—वयस, भोग, देश, काल और गुणादि द्वारा कान्ति अतिशयरूपसे प्रकाश पानेपर उसको दीप्ति कहते हैं। जैसे - रूपमञ्जरीने अपनी सखीके प्रति कहा —"सुन्दरि ! गत रात्रि निद्रा न होनेके कारण, देखो श्रीराधाके नेत्रद्वय निमीलित हो रहे हैं ; मलयपवनने इनके गात्रके स्वेदबिन्दुओंको पूर्णरूपसे पान कर डाला है ; त्रुटित अमल-हारसे कुचयुग उज्ज्वल हो रहे हैं ; चन्द्रकिरणसे चित्रित तट-कुञ्जगृहमें अङ्ग-निक्षेपपूर्वक यह किशोरी हरिके मनमें मनसिज (कन्दर्प) का विस्तार कर रही हैं।" यह श्रीराधाके दीप्तिके लक्षण हैं।

७. **माधुर्य**—सर्वावस्थामें चेष्टाके मनोहारित्वको माधुर्य कहते हैं। जैसे—रतिमञ्जरीने दूरसे ही अपनी सखीको दिखाकर कहा—"सखि ! देखो, शशिमुखी-श्रीराधाने कंसारिके स्कन्धपर अपना पुलकित दक्षिण कर समर्पण कर रक्खा है ; अपने श्रोणीदेशमें वामहस्त प्रदानपूर्वक वक्र पदसे अवस्थान कर अपना शिरोदेश किञ्चित् वक्र करके धारण कर रखा है ; अतएव बोध होता है कि रासक्रीड़ा-हेतु यह शशिमुखी अलसाङ्गी हो रही है।" यहाँपर श्रीराधाका माधुर्य व्यक्त हुआ है।

८. **प्रगल्भता**—सम्भोग-विषयमें जो निःशङ्कत्व है, उसको प्रगल्भता कहते हैं। जैसे—वृन्दाने कहा—"सखि ! श्रीराधाने केलि-कर्ममें प्रवीणता प्राप्त करके उद्धत स्वभावसे कृष्णाङ्गमें दशन और नखाघात द्वारा जो प्रातिकुल्य विस्तार किया है, उससे हरिको अतुल्य तुष्टिलाभ हुआ है।" यहाँ श्रीराधाकी प्रगल्भता व्यक्त हुई है।

९. **औदार्य**—सभी अवस्थामें जो विनय-प्रदर्शन है, उसको औदार्य कहते हैं। जैसे—प्रोषितभर्तृका श्रीराधाने कहा—"सखि ! श्रीकृष्ण कृतज्ञ भी हैं, उनकी बुद्धि भी प्रेमके कारण उज्ज्वला है ; वे स्वयं विनयी एवं अभिज्ञ जनोंके (ज्ञानियोंके) शिरोमणि, कृपा-समुद्र और निर्मल हृदय होकर भी जब इस गोकुल-भूमिका स्मरण नहीं करते, तब यह हमारे ही जन्म-जन्मान्तरके पाप-वृक्षके फलके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

यह श्रीराधाका औदार्य है।

१०. धैर्य—उन्नत अवस्थामें चित्तकी स्थिरताको धर्य कहते हैं। जैसे—श्रीराधाने नववृन्दासे कहा—"सखि! श्यामसुन्दर उदासीनता भरे परिप्लुत-हृदय होकर स्वच्छन्द रूपसे मेरे लिए सहस्र वर्षों पर्यन्त कठोरताका अवलम्बन करें, तो भी वे मेरे सब प्रिय जनोंकी अपेक्षा भी प्रिय हैं, मेरा प्रेमसे आबद्ध यह चित्त उनमें क्षण भरके लिए भी दास्यका त्याग नहीं करता।" यह श्रीराधाका धैर्य है।

११. लीला—रमणीय वेश और क्रिया द्वारा प्रियके अनुकरणको लीला कहते हैं। जैसे—रूपमञ्जरीने कहा—"सखि! यह देखो श्रीकृष्ण-विरहमें उन्मत्ता होकर श्रीराधा शरीरमें मृगमद-लेपन करके पीत-पट धारण करके, केशपाशमें रुचिकर मयूर-पुच्छ बान्धकर, गलेमें वनमाल धारण कर, कुटिल-स्कन्धमें वंशी अर्पण कर मधुर-मधुर वाद्य कर रही हैं।" यहाँ श्रीराधाकी लीला व्यक्त हुई है।

१२. विलास—गति, स्थान, आसन, मुख और नेत्रादिकी सब क्रियाओंकी प्रिय-सङ्गम-जन्य तत्कालीन जो विशिष्ठता है, उसको विलास कहते हैं। जैसे—अभिसार कराकर श्रीकृष्णके सम्मुख श्रीराधाको लाने पर श्रीराधा श्रीकृष्णका मुख अवलोकन कर वाम्य प्रकाश कर रही थीं; ऐसे समय धीराने कहा—"हे मधुरदन्ति! सामने स्फूर्तिशील श्रीकृष्णको देख तुम्हारा जो हास्य प्रकट हो रहा है, उसको तुम नासाग्र-ग्रथित मोक्तिके उन्नमन-छलसे क्यों अवरोध कर रही हो? और क्यों तुम अपनी कुछ उद्गत दन्त-द्युति द्वारा चन्द्रकी कौमुदी-माधुरीको विनाश कर रही हो?" यहाँ श्रीराधाका विलास प्रकाशित हुआ है।

१३. विच्छित्ति—जो वेश-रचना अल्प होनेपर भी देह-कान्तिका पुष्टि-साधन करती रहे, उसको विच्छित्ति कहते हैं। जैसे—वृन्दाने नान्दीमुखीसे कहा—"श्रीराधाने मुकुन्दका चित्त-प्रमोदकारी एक सुन्दर लाल आम्र-पल्लवसे कर्ण-भूषण बनाया है; किन्तु आश्चर्यकी बात यह है

कि वह वायु द्वारा कुछ कम्पित-सा होकर उनके मुखकी मनोहरताका विस्तार कर रहा है।"

१४. **विभ्रम**—प्राणवल्लभके समीप अभिसारकालमें प्रबल मदन-आवेगवश हार-माला-आदिका जहाँ-तहाँ धारण करनेका नाम विभ्रम है। जैसे—ललिताने श्रीराधासे कहा—"सखि ! आज तुमने जूड़ेमें नीलरत्न रचित हार, कुचकलस-युगलमें कुवलय-श्रेणी-निर्मित गर्भक (वेणीमें लगाने-की माला) धारण कर रक्खा है, अङ्गपर अञ्जनकी चर्चा है, तथा नेत्रोंमें कस्तुरिका है, इसका कारण क्या है ? प्रतीत होता है कि कंसारिके अभिसार सम्भ्रमसे ही जगत विस्मृत हो गया है।" यहाँ श्रीराधाके वेशविपर्ययसे विभ्रमके लक्षण हैं।

१५. **किलकिञ्चित**—हर्ष-हेतुक गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असूया, भय और क्रोध—इन सातोंके एक साथ उदय होनेको किलकिञ्चित कहते हैं। जैसे—श्रीकृष्णने सुबलसे कहा—"बन्धो ! मैने उल्लासवश प्रिय सहचरीगणके समक्ष श्रीराधाके कलिका सदृश कुचयुगलोंपर बलपूर्वक कर-कमल विन्यस्त किया था। तब उन्होंने अपनी सपुलक भ्रूभङ्गी, प्रकट की थी और तिर्यक्भावसे स्तब्ध और किञ्चित् परावृत्त होकर हास्य और रोदन किया था, उससे उनके मुखपद्मकी अतिशय शोभा हुई थी ; अतएव हे सखे ! श्रीराधाका वह वदन ही मेरे स्मृतिपथमें उदय हो रहा है।" यहाँ भ्रू-भङ्गीके रूपमें असूया व क्रोध, पुलकके रूपमें अभिलाष, तिर्यक् भावसे स्तब्धताके रूपमें गर्व, किञ्चित् परावृतके रूपमें भय, हास्य और रोदन—ये सात एक साथ प्रकट हुए हैं। यही किलकिञ्चित है।

१६. **मोहायित**—कान्तके स्मरण या वार्तादि श्रवण करनेसे कान्त-विषयक स्थायीभावकी भावना द्वारा हृदयमें जो अभिलाषका प्राकट्य होता है, उसको मोहायित कहते हैं। जैसे—वृन्दाने कहा—"हे पीताम्बर ! सखियों द्वारा बारम्बार दुःखका कारण पूछे जानेपर भी पालीने जब कुछ भी नहीं कहा, तब उन सखियोंने चतुरतापूर्वक उनके

सामने तुम्हारी कथा आरम्भ की। वह कथा सुनते ही विम्बोष्ठी पालीने प्रफुल्ल-वदनसे इस प्रकारका पुलक विस्तार किया कि उसके द्वारा फुल्ल-कदम्ब भी लज्जित होता है।" यहाँ पालीका मोहायित भाव है।

१७. कुट्टमित—स्तन अथवा अधर आदिके ग्रहण करनेपर हृदयमें आनन्द होनेपर भी सम्भ्रमवश व्यथितकी तरह बाहरसे जो क्रोधका प्रकाश होता है, उसको कुट्टमित कहते हैं। जैसे—एक दिन एकान्तमें आयी हुई श्रीराधाका कण्ठ ग्रहणकर श्रीकृष्णने कहा—प्रिये! भौंहें क्यों तानती हो? और मेरा हाथ क्यों हटाती हो? हे सुन्दरि! पुलकित कपोलयुक्त-वदन रोध न करो, बान्धुली फलकी तरह लाल तुम्हारे मधुर अधरोंका यह मधुसूदन मधुपान करके प्रसन्न हो।" यहाँ पुलकित कपोलों द्वारा आन्तरिक प्रीति, किन्तु कुटिल भ्रू-लता और श्रीकृष्णका हाथ हटाने आदिके द्वारा व्यथितकी तरह बाहरी लक्षण प्रकाश किये गये हैं। यह कुट्टमित भाव है।

१८. विव्वोक—गर्व या मानके कारण कान्तके प्रति या कान्तदत्त वस्तुके प्रति जो अनादरका भाव प्रकट होता है उसे विव्वोक कहते हैं। जैसे—पुष्प-चयन करते-करते रूपमञ्जरीने वकुल-पुष्प-माला दिखाकर कहा—"सखि! देखो, विपक्ष रमणियोंके निकट सन्ध्यादेवीकी पूजाके पर्व-दिन राधा और चन्द्रावलीको छोड़ अन्य व्रजसुन्दरियोंकी सभामें शिखण्ड-चूड़ श्रीकृष्णने लाखों चाटु-वाक्योंका प्रयोग कर श्यामाको अपने हाथसे बनायी एक पुष्पमाला स्वीकार करायी; किन्तु यह माला बहुत अच्छी लगनेपर भी श्यामाने उसे जरा-सा सूंघकर दूर फेंक दिया।" यहाँपर श्यामाका गर्वके कारण विव्वोक प्रकट हो रहा है।

१९. ललित—जिससे सब अङ्गोंकी विन्यासभङ्गी, सुकुमारता और भ्रू-विक्षेपकी मनोहरता प्रकट हो उसको ललित कहते हैं। श्रीराधाको प्रसन्न करनेके लिए उन्हें पुष्प-चयन करते-करते दूरसे देखकर श्रीकृष्णने कहा—"अहा! श्रीराधा लताओंको कन्दर्पकी जननी जानकर—अर्थात्

कन्दर्प इन लताओंके पुष्पोंसे शर निर्माण कर मुझ (राधा) पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है, अतएव ये ही मेरी वैरिणी हैं ; ऐसा मानकर—उनपर दृष्टिपात कर रही हैं ; उल्लासके कारण चरण-पङ्कजको इधर उधर रखती हुई गन्धसे आकृष्ट भ्रमरवृन्दको कोमल कर-कमल द्वारा निराश कर रही हैं। कैसा चमत्कार ! कैसा आश्चर्य !! ये मानो वृन्दावनकी लक्ष्मीकी तरह निकुञ्ज-कन्दर तटपर विराज रही हैं।" यहाँ श्रीराधाका लालित्य प्रकट हो रहा है।

२०. **विकृत**—लज्जा, मान, ईर्ष्या इत्यादिके कारण जब विवक्षित विषय प्रकाशित न होकर चेष्टा द्वारा प्रकाशित हो तो उसे विकृत कहते हैं। जैसे—सुबलने श्रीकृष्णसे कहा—"मुकुन्द ! श्रीराधाने मेरे द्वारा तुम्हारी प्रार्थना (अर्थात् हे प्रियतमे ! आज अनुग्रह करके गोवर्द्धन कन्दरामें मेरे द्वारा निर्मित आश्चर्य-चित्रका दर्शन करने आना—यह प्रार्थना) सुनकर वाक्य द्वारा किञ्चित् मात्र भी अभिनन्दन नहीं किया ; किन्तु उनके पुलकायमान कपोल आनन्द प्रकट करने लगे।"

किलकिञ्चितादि—किलकिञ्चित भावमें सात भावोंके सम्मिश्रणसे चमत्कारिता रहनेके कारण, उसको ही यहाँपर 'आदि' कहा गया है।

गुणश्रेणी इत्यादि—पुष्पमाला जिस प्रकार देहकी शोभा बढ़ाती हैं, श्रीराधिकाकी गुणश्रेणी भी उसी प्रकार शोभा वृद्धि करती रहती है ; इसीलिए पुष्पमालाके साथ गुणश्रेणीकी तुलनाकी गयी है।

श्रीराधाके गुण

श्रीराधाके अनन्त गुण हैं ; उनमें मुख्य पच्चीस हैं, जिनका वर्णन उज्ज्वल नीलमणि श्रीराधा प्रकरण ६ (११-१५) में इस प्रकार है—

१. मधुरा—सब अवस्थाओंमें चेष्टाओं एवं अङ्गसौष्ठव आदिकी चारुतासे युक्त ;

२. नववयाः—नित्य-किशोर-वयसान्विता ;

३. चलापाङ्गा—जिनकी अपाङ्ग-दृष्टि (तिरछी चितवन) अत्यन्त चञ्चल है ;

४. उज्ज्वलस्मिता—समुज्ज्वल मन्द-हास्य-युक्त ;

५. चारुसौभाग्यरेखाढ्या—जिनके पदतलमें और करतलमें सौभाग्य-सूचक अति मनोहर रेखाएँ हैं ; श्रीराधाके बायें चरणमें अङ्गुष्ठ मूलमें यव (जौ), उसके नीचे चक्र, चक्रके नीचे चन्द्ररेखायुक्त कुसुम-मल्लिका ; मध्यमा-तलमें कमल, कमलके नीचे पताका-युक्त ध्वजा ; मध्यमाके दक्षिण भागसे आरम्भ करके मध्य चरण पर्यन्त उर्ध्वरेखा ; एवं कनिष्ठातलमें अंकुश—ये सात चिन्ह* वाम पदतलमें हैं। और दक्षिण चरणमें—अङ्गुष्ठ मूलमें शंख ; कनिष्ठातलमें वेदी, वेदीके नीचे कुण्डल ; तर्जनी और मध्यमाके तलमें पर्वत ; पार्ष्णि (एड़ी) के तलमें मत्स्य, मत्स्यके ऊपर रथ, रथके दोनों ओर शक्ति और गदा—ये आठ चिन्ह दक्षिण पदतलमें हैं। दोनों चरणोंमें सब मिलाकर १५ चिन्ह हैं। श्रीराधाके वाम हस्तमें तर्जनी और मध्यमाकी सन्धिसे आरम्भ करके कनिष्ठिकाके अधोभाग तक परमायु-रेखा ; उसके

---

*श्रीराधाजीके पदतल और करतलकी सौभाग्य-सूचक रेखाओंका यह वर्णन श्रीउज्जवल नीलमणि ग्रन्थके श्रीराधा प्रकरणमें 'चारुसौभाग्यरेखाढ्या' शीर्षक श्लोक (४.२४) की टीकामें श्रीजीव गोस्वामीपादने बताया है जिनका आधार वराहसंहिता-ज्योतिः शास्त्रानान्तर काशी खण्ड-मात्स्य-गारुड़ आदि हैं। उसी श्लोककी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादके मतानुसार श्रीराधाजीके बाम चरणमें—अंगुष्ठ मूलमें यव, यवके नीचे चक्र, चक्रके नीचे छत्र, छत्रके नीचे कङ्कण, तर्जनी और अंगुष्ठके सन्धि-स्थलसे आरम्भ होकर टेढ़ी गतिसे चरणके मध्यतक रेखा, मध्यमाके नीचे कमल, कमलके नीचे पताका सहित ध्वजा, कनिष्ठाके नीचे अंकुश, एड़ीमें अर्द्धचन्द्र, अर्द्धचन्द्रके ऊपर वल्ली, वल्लीके ऊपर पुष्प—इस प्रकार ११ चिन्ह हैं। दक्षिण चरण और दोनों करोंके चिन्होंमें कोई मतभेद नहीं है।

नीचे करभ (मणिबन्ध—कलाईसे लेकर कनिष्ठाके मूल भागतक हाथका बाहरका भाग) से आरम्भ करके तर्जनी और अङ्गुष्ठके मध्य पर्यन्त और एक रेखा (मध्य रेखा) ; अङ्गुष्ठके अधोभागमें मणिबन्धसे उठकर वक्रगति द्वारा तर्जनी और अङ्गुष्ठके मध्यभाग पर्यन्त और एक रेखा—यह पूर्वोल्लिखित रेखाके साथ तर्जनी और अङ्गुष्ठके मध्य-भागमें मिली हुई है ; पाँचों अंगुलियोंके अग्रभागमें पाँच चक्राकार चिन्ह ; अनामिका तलमें हस्ती ; परमायु-रेखा तलमें अश्व ; मध्यरेखा तलमें वृष ; कनिष्ठातलमें अंकुश, व्यजन, विल्ववृक्ष, यूप (कीर्ति स्तम्भ), बाण, तोमर, (भालेकी तरहका एक नोकदार प्रसिद्ध अस्त्र) एवं माला—ये १८ चिन्ह वाम करतलमें हैं। और दक्षिण करतलमें—वाम करतलकी तरह परमायु रेखा आदि तीन रेखाएँ ; पाँच अंगुलियोंके अग्रभागमें पाँच शंख ; तर्जनी-मूलमें चंवर ; कनिष्ठा-तलमें अंकुश, प्रासाद, दुन्दुभि, वज्र शकटद्वय, धनुः, खड्ग—ये १७ चिन्ह दक्षिण करतलमें हैं। दोनों करोंमें एवं दोनों चरणोंमें सब मिलाकर ५० चिन्ह हैं। इन सबको चारु सौभाग्य रेखा कहते हैं।

६. गन्धोन्मादित-माधवा—जिनके गात्रकी गन्धसे माधव उन्मत्त हो उठते हैं ;

७. सङ्गीत-प्रसाराभिज्ञा—कोकिलके सदृश जिनका पञ्चम स्वर है एवं जो सङ्गीत-विद्यामें अत्यन्त निपुणा हैं ;

८. रम्यवाक्—जिनके वाक्य अत्यन्त रमणीय हैं ;

९. नर्मपण्डिता—परिहासमें मधुर नर्मवाक्य प्रयोगमें निपुणा ;

१०. विनीता—सर्वदा विनयसे युक्त ;

११. करुणापूर्णा—सर्वदा करुणासे पूर्ण ;

१२. विदग्धा—सब विषयोंमें चतुर ;

१३. पाटवान्विता—चातुर्यशालिनी ;

१४. लज्जाशीला ;

१५. सुमर्यादा—यह तीन प्रकारकी होती है—स्वाभाविकी, शिष्टाचार-परम्परा एवं स्वकल्पिता ;

१६. धैर्यशालिनो ;

१७. गाम्भीर्यशालिनी ;

१८. सुविलासा—हर्षादि-व्यञ्जक मन्दहासपुलक-विकृत-स्वरतादिमय हाव-भावादि युक्त ;

१६. महाभाव परमोत्कर्ष-तर्षिणी—महाभावके चरम विकाश वश श्रीकृष्ण विषयमें अतिशय तृष्णावती ;

२०. गोकुल-प्रेमवसति—गोकुलवासी सभी जिनसे प्रीति करते हैं ;

२१. जगच्छ्रेणीलसद्यशा—जिनके यशसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है ;

२२. गुर्वर्पित-गुरु-स्नेहा—गुरुजनोंकी अतिशय स्नेहपात्री ;

२३. सखीप्रणयाधीना—सब सखियोंके प्रणयके अधीन ;

२४. कृष्णप्रियावलीमुख्या—कृष्ण-प्रेयसियोंमें सर्वप्रधान ; एवं

२५. सन्तताश्रव-केशवा—केशव श्रीकृष्ण सर्वदा ही जिनके वाक्यके अधीन हों ।

सौभाग्य-तिलक चारु-ललाटे उज्ज्वल ।
प्रेमवैचित्र्य रत्न हृदये तरल ॥१३७॥

सौभाग्य—पतिसे अत्यधिक आदर प्राप्त करना ही सुन्दरी स्त्रियोंके लिए सौभाग्य कहा जाता है । **चारु**—मनोहर । **ललाटे**—कपालपर ; मस्तकपर ।

श्रीराधिकाके मस्तकपर सौभाग्य रूप मनोहर उज्ज्वल तिलक शोभा पाता है ; अर्थात् श्रीराधा श्रीकृष्णसे अत्यधिक आदर पाती हैं ।

प्रेमवैचित्र्य—प्रेमजनित विचित्रता—यथास्थानमें चित्तकी अनवस्थिति । प्रियजनके निकट रहनेपर भी प्रेमके उत्कर्ष स्वभावके कारण विच्छेद-बुद्धिसे जो पीड़ा होती है, उसको प्रेमवैचित्र्य कहते हैं ।

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्ष स्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्र्यमुच्यते॥
उ.नी. प्रेमवैचित्र्य. ५७ (१५.१४७)

रत्न—हीरक आदि। **तरल**—हार। तरल पदार्थकी तरह सामान्य हलचलसे चञ्चल होनेके कारण हारको तरल कहते हैं। हारके मध्य-स्थित मणिको भी तरल कहा जाता है; हारके बीचकी मणि (आजकल जिसको लॉकेट कहते है) वह भी तरल है; यहाँपर हारके मध्य मणिके अर्थमें ही तरल शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रेमवैचित्र्य ही हारके मध्य मणिकी तरह श्रीराधाकी शोभा-वर्द्धनकारी है।

मध्य-वयस-स्थिति-सखी स्कन्धे कर न्यास।
कृष्णलीला-मनोवृत्ति सखी आश-पाश॥१३८॥

मध्य-वयस—किशोर-वयस। **मध्य-वयस-स्थिति**—स्थितिशील मध्यवयस अर्थात् नित्य किशोरावस्था। **मध्य-वयस-स्थिति-सखी**—नित्य किशोरावस्था-रूप सखी। नित्य किशोरावस्था रूप सखीके कन्धे पर श्रीराधाने अपना हाथ अर्पण कर रखा है। अर्थात् श्रीराधा नित्य-किशोरी नित्य-नवयौवना हैं। **कृष्णलीला - मनोवृत्ति**—कृष्णलीला विषयक जो सब मनोवृत्तियाँ हैं, वे ही सखी रूपसे श्रीराधाके चारों ओर अवस्थित हैं। **आश-पाश**—चारों ओर। श्रीकृष्णलीला विषयक मनोवृत्तिके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारकी मनोवृत्ति उनके चित्तमें स्थान नहीं पाती।

निजाङ्ग - सौरभालये गर्व्व - पर्यङ्क।
ताते बसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसङ्ग॥१३९॥

निजाङ्ग-सौरभालये—अपने अङ्ग-सौरभरूप आलयमें (गृहमें)। **गर्व्व पर्यङ्क**—गर्व-रूप पलंग; **ताते**—गर्व रूप पलंगपर, **बसि आछे**—बैठी, **सदा चिन्ते कृष्णसङ्ग**—सदा कृष्ण-संगका चिन्तन करती हैं।

गर्व्व—सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण, सर्वोत्तम आश्रय एवं इष्टलाभ इत्यादिके कारण अन्यकी अवज्ञाको गर्व कहते हैं।

सौभाग्य-रूप-तारुण्य-गुण-सर्वोत्तमआश्रयैः।
इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्ष्यते॥

भ.र.सि. २.४.२० (२.४.४१)

कृष्ण - नाम - गुण - यश - अवतंस काणे।
कृष्ण - नाम - गुण - यश प्रवाह वचने॥१४०॥

अवतंस—कर्ण-भूषण। श्रीकृष्णके नाम, गुण और यशका श्रवण ही उनका सुन्दर कर्ण-भूषण है। सुन्दरी स्त्रियाँ कर्ण-भूषण पहिननेके लिए जिस प्रकार लालायित रहती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके नाम, यश और गुण सुननेके लिए श्रीराधा लालायित रहती हैं।

प्रवाह वचने—श्रीकृष्णके नाम, गुण और यशका प्रवाह ही श्रीराधाके वचनसे प्रवाहित होता रहता है। श्रीकृष्णके नाम, गुण और यशकी कथा प्रवाहकी तरह अविच्छिन्न भावसे श्रीराधाके मुखसे निकलती रहती है, अर्थात् वे सर्वदा ही श्रीकृष्णके नाम, गुण और यशका कीर्त्तन करती हैं।

कृष्णके कराय श्यामरस - मधुपान।
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णोर सर्व्वकाम॥१४१॥

श्यामरस—शृङ्गार-रसका वर्ण श्याम है एवं यह विष्णु-दैवत है; इसलिए शृङ्गार-रसको श्यामरस कहा गया है। '**श्यामवर्णोऽयं विष्णु-दैवतः**—साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, २१० कारिका।'

श्यामरस-मधुपान इत्यादि—श्यामरसके द्वारा कन्दर्प-मत्तता रूप मधु; विशेष गुणवती श्रीराधा श्रीकृष्णको शृङ्गार-रसके द्वारा कन्दर्प-मत्तता रूप मधु परिवेशन करके निरन्तर पान कराती हैं और श्रीकृष्णकी सब कामना पूर्ण करती हैं।

कृष्णेर विशुद्ध - प्रेम रत्नेर आकर।

अनुपम - गुणगण - पूर्ण - कलेवर ॥१४२॥

आकर—खान। रत्नेर आकर—जहाँ रत्न आदि स्वाभाविक उपायसे प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न हों, उसको रत्नोंकी खान कहते हैं। कलेवर—देह।

श्रीराधा ही श्रीकृष्ण विषयक विशुद्ध प्रेमरूप रत्नोंकी खान सदृश हैं। अनुपम गुणावलीसे श्रीराधाकी देह पूर्ण है।

इसके प्रमाणमें एक श्लोक उद्धृत हो रहा है—

तथाहि श्रीगोविन्दलीलामृते ११.१२२

का कृष्णस्य प्रणयजनिभूः श्रीमती राधिकैका

कास्य प्रेयस्यनुपमगुणा राधिकैका न चान्या।

जैह्म्यं केशे दृशि तरलता निष्ठुरत्वं कुचेऽस्याः

वाञ्छापूर्त्यै प्रभवति हरे राधिकैका न चान्या ॥४०॥

अन्वय—**कृष्णस्य** (श्रीकृष्णकी) **प्रणयजनिभूः** (प्रणयकी उत्पत्ति-भूमि) **का** (कौन है)? **एका** (एकमात्र) **श्रीमती राधिका** (श्रीमती राधिका)। **अस्य** (इन श्रीकृष्णकी) **प्रेयसी** (प्रेयसी) **का** (कौन है)? **अनुपमगुणा** (अनुपम गुणवाली) **एका** (एकमात्र) **राधिका** (श्रीराधिका), **न च अन्या** (अन्य कोई नहीं। **अस्याः** (इन श्रीराधाके) **केशे** (केशमें) **जैह्म्यं** (कुटिलता), **दृशि** (दृष्टिमें) **तरलता** (तरलता या चञ्चलता), **कुचे** (स्तनोंमें) **निष्ठुरत्वं** (कठोरता है); **एका** (एकमात्र) **राधिका** (श्रीराधा ही) **हरेः** (श्रीकृष्णकी) **वाञ्छापूर्त्यै** (सब वासना पूर्ण करनेमें) **प्रभवति** (समर्था हैं), **न च अन्या** (और कोई नहीं है)।

अनुवाद—श्रीकृष्णका प्रणय-उत्पत्ति-स्थान कौन-सा है? एकमात्र श्रीमती राधिका। श्रीकृष्णकी प्रेयसी कौन है? अनुपम गुणवाली

एकमात्र श्रीराधिका, अन्य कोई नहीं। श्रीराधाके केशमें कुटिलता, चक्षुमें तरलता, स्तनोंमें कठोरता है ; एकमात्र श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी सब वासना पूर्ण करनेमें समर्था हैं, और कोई नहीं।

श्रीराधा अनुपम गुणवाली होनेके कारण, उनके केशोंमें कुटिलता चक्षुओंमें तरलता एवं कुचोंमें कठोरता होनेके कारण अर्थात् श्रीराधा परमा-सुन्दरी एवं नवयुवती होनेके कारण एवं श्रीकृष्णकी सब वासना पूर्ण करनेमें समर्था होनेके कारण, वे ही श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं।

श्रीराधाके गुण अनुपम (अतुलनीय) हैं, १४२वें पयारकी इस उक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

जाँहार सौभाग्यगुण वाञ्छे सत्यभामा।
जाँर ठाञि कला-विलास शिखे व्रजरामा ॥१४३॥

श्रेष्ठ व्यक्तिगण भी श्रीराधिकाकी अनुपम गुणावली प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना करते हैं, यह बताया जा रहा है।

जाँहार—जिन श्रीराधाका। **व्रजरामा**—व्रजाङ्गनाएँ। **कला**—नृत्य-गीत आदि चौसठ कलाएँ*

---

*श्रीमद्भागवतके १०.४५.३६ श्लोककी श्रीधरस्वामीकृत टीकामें उद्धृत शिवतन्त्रोक्त ६४ कलाओंका वर्णन इस प्रकार है—१ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ अलेख्य, ६ विशेषकच्छेद्य, ७ तण्डुल-कुसुम-वालि-विकार, ८ पुष्पास्तरण, ९ दशन-वसनाङ्गराग, १० मणिभूमिका-कर्म, ११ शयन-रचन, १२ उदकवाद्य, उदकघात, १३ चित्रयोग, १४ माल्य-ग्रथन-विकल्प, १५ शेखरापीड़ योजन, १६ नेपथ्ययोग, १७ कर्णपत्रभङ्ग, १८ सुगन्धयुक्ति, १९ भूषणयोजन, २० ऐन्द्रजाल, २१ कौचुमारयोग, २२ हस्त-लाघव, २३ चित्रशाकापूपभक्ष्य विकार क्रिया, २४ पानक-रस-रागासव-योजन, २५ सूचवायकर्म, २६ सूत्रक्रीड़ा, २७ वीणा-डमरुक वाद्यादि,

जिन श्रीराधाका सौभाग्य पानेकी सत्यभामा भी वाञ्छा करती हैं। रमणीकुलसे सत्यभामा ही सबसे अधिक सौभाग्यशालिनी मानी जाती हैं।

सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिका भवेत्।

श्रीकृष्ण-सन्दर्भधृत हरिवंशवचन

श्रीकृष्णप्रेयसी सत्यभामा सर्वापेक्षा सौभाग्यवती होनेपर भी श्रीराधाके सौभाग्य-गुण पानेके लिए वाञ्छा करती हैं और व्रजाङ्गनाएँ कला-विलासमें सुपण्डिता होनेपर भी श्रीराधासे कला-विकासकी शिक्षा लेती हैं।

जाँर सौन्दर्य्यादि गुण वाञ्छे लक्ष्मी-पार्व्वती।
जाँर पतिव्रता-धर्म वाञ्छे अरुन्धती॥१४४॥

पतिव्रता—पति-परायणा ; पतिव्रताके लक्षण इस प्रकार हैं—

आर्त्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियते या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥

---

२८ प्रहेलिका, २९ प्रतिमाला, ३० दूर्वचक योग, ३१ पुस्तक वाचन, ३२ नाटक-ख्यायिका दर्शन, ३३ काव्य समस्या पूरण, ३४ पट्टिका-वेत्र-वाण-विकल्प, ३५ त्तर्ककर्म समूह, ३६ तक्षण, ३७ वास्तुविद्या, ३८ रूप्यरत्न परीक्षा ३९ धातुवाद, ४० मणिराग ज्ञान, ४१ आकार ज्ञान, ४२ वृक्षायुर्वेदयोग, ४३ मेघ-कक्कुट-लावक-युद्धविधि, ४४ शुक सारिका-प्रलापन, ४५ उत्सादन, ४६ केशमार्जन-कौशल, ४७ अक्षर-मुष्टिका-कथन, ४८ म्लेच्छितकुतर्क-विकल्प, ४९ देशभाषा ज्ञान, ५० पुण्यशकटिका-निर्मित ज्ञान, ५१ यन्त्रमातृका-धारणमातृका, ५२ सम्पाट्य, ५३ मानसीकाव्य क्रिया, ५४ अभिधान कोश, ५५ छन्दोज्ञान, ५६ क्रियाविकल्प, ५७ छलितक योग, ५८ वस्त्रगोपन, ५९ द्यूतविशेष, ६० आकर्ष क्रीड़ा, ६१ बाल क्रीड़नक, ६२ वैनायिकी विद्याका ज्ञान, ६३ वैजयिकी विद्याका ज्ञान एवं ६४ वैतालिकी विद्याका ज्ञान।

अर्थात् पतिके दुखी होनेपर जो दुखी हों, पतिके सुखी होनेपर जो सुखी हों, पतिके विदेश-गमनपर जो मलिना और कृशा हों, पतिकी मृत्यु होनेपर जो सहमृता हों, वे ही पतिव्रता हैं। अरुन्धती—महामुनि वशिष्ठकी पत्नी ; ये पतिव्रताओंमें आदर्श-स्थानीया हैं।

लक्ष्मी और पार्वती सुन्दरियोंमें श्रेष्ठा होनेपर भी श्रीराधाके सौन्दर्य-की तुलनामें उनका सौन्दर्य नगण्य है ; इसलिए वे भी श्रीराधाके जैसा सौन्दर्य प्राप्त करनेकी इच्छा करती हैं। और वशिष्ठ-पत्नी अरुन्धती पतिव्रताओंमें शिरोमणि हैं ; किन्तु वे भी श्रीराधाके जैसा पातिव्रत्यधर्म प्राप्त करनेकी इच्छा करती हैं।

जाँर सद्गुणगणेर कृष्ण ना पान पार।
ताँर गुण गणिबे केमने जीव छार ॥१४५॥

श्रीराधाके गुण अनन्त हैं ; श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होकर भी श्रीराधाके गुणोंकी सीमा नहीं पाते। तब क्षुद्र जीव किस प्रकार श्रीराधाके गुणोंकी गणना करे ?

श्रीकृष्ण श्रीराधाके गुणोंका अन्त नहीं पाते, इससे उनकी सर्वज्ञतामें बाधा नहीं पड़ती ; कारण श्रीराधाके गुणोंका अन्त है ही नही। जो है ही नहीं, उसको कैसे पाया जा सकता है ?

श्रीराधाकृष्णाके विलास-महत्वके सम्बन्धमें जिज्ञासा

प्रभु कहे—जानिल कृष्ण-राधा-प्रेमतत्त्व।
शुनिते चाहिये दोंहार विलास-महत्व ॥१४६॥

कृष्ण-राधा प्रेमतत्त्व—कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व एवं प्रेमतत्त्व। १०६ से ११४ तकके पयारोंमें कृष्णतत्त्व, ११६ से १४२ तकके पयारोंमें राधातत्त्व एवं ११६ से १२२ तकके पयारोंमें प्रेमतत्त्व वर्णित हुआ है।

राधातत्त्व और प्रेमतत्त्वके वर्णन-प्रसंगमें कहा गया है कि श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें चिच्छक्ति, मायाशक्ति एवं जीवशक्ति—ये तीन प्रधान हैं (पयार संख्या ११६)। इन तीनोंमें चिच्छक्ति या अन्तरङ्गा-स्वरूप शक्ति प्रधान है (पयार संख्या ११७); इस प्रकार स्वरूप शक्ति ही सर्व-शक्ति-गरीयसी है। इस स्वरूप शक्तिकी तीन वृत्तियाँ हैं—ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्वित् (पयार संख्या ११८-११९)। इन तीन वृत्तियोंमें ह्लादिनीका या ह्लादिनी-अंश-प्रधान स्वरूप-शक्तिका उत्कर्ष ही सर्वातिशायी है। इस प्रकार देखा जाता है कि श्रीकृष्णके निखिल शक्तिवर्गमें ह्लादिनी ही सर्वापेक्षा गरीयसी है। शक्तिमान्‌को महीयान् कर सकती है केवल मात्र उनकी शक्ति; वह शक्ति जितनी महीयसी होती है उसके प्रभावसे शक्तिमान् भी उतने ही अधिक महीयान् हो सकते हैं। ह्लादिनी ही जब श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें सर्वापेक्षा गरीयसी है, तब ह्लादिनी ही श्रीकृष्णको सर्वापेक्षा अधिक महीयान् करनेमें समर्था है। कोई भी वस्तु महीयान् होती है अपने स्वरूपके प्रकाशसे। श्रीकृष्ण स्वरूपसे आनन्द एवं रस हैं; उनकी आनन्द-स्वरूपता और रस-स्वरूपताकी सार्थकता केवल मात्र ह्लादिनी द्वारा ही सम्भव है (पयार संख्या १२०-१२१)। ह्लादिनीके प्रभावसे ही उनका (भक्तगण द्वारा परम आस्वाद्य) सुखरूपत्व एवं (स्वरूपानन्द और भक्तोंके प्रेमरस-निर्यास आस्वादनका आनन्दलाभ सम्भव होनेके कारण) रसिक-स्वरूपत्व है। ऐसी जो ह्लादिनी है, उसका सार अंश या घनीभूत अवस्थाका जो विलास है, वही है प्रेमका स्वरूप (पयार संख्या १२२)। जो वस्तु परब्रह्म-वस्तु-श्रीकृष्णको उनके स्वरूपकी सार्थकताका दान करके उनको महीयान् कर सके, उसका गाढतम वैचित्र्य ही है प्रेम। इसके द्वारा प्रेमका तत्त्व एवं प्रेमका स्वरूपगत वैशिष्ट्य दिखाया गया। प्रेमका इस प्रकारका अपूर्व स्वरूपगत वैशिष्ट्य होनेके कारण असमोर्द्ध ऐश्वर्य-माधुर्यके अधिकारी—अतएव सर्वचित्ताकर्षक एवं सर्ववशीकारी—होकर भी श्रीकृष्ण प्रेमके

वशीभूत हुए रहते हैं। (ह्लादिनी उन्हींकी शक्ति है, इसलिए प्रेमवश्यता द्वारा श्रीकृष्णके स्वातन्त्र्यकी हानि नहीं होती ; स्वतन्त्रका अर्थ है—स्वशक्त्येक-सहाय ; स्वशक्तिके अतिरिक्त और किसीकी अपेक्षा जो नहीं रखते)। प्रेम स्वरूपमें एवं प्रभावमें परम महीयान् है, यही दिखाया गया।

ऐसे परम महीयान् प्रेमका ही चरमतम विकाश जो महाभाव (मादनाख्य महाभाव) है। उसकी मूर्त्तविग्रह हैं श्रीराधा ; वे सर्वशक्तिकी एवं प्रेमकी भी अधिष्ठात्री देवी हैं। वे प्रेमघन विग्रह हैं ; उनकी देह, चित्त, इन्द्रियादि, उनके व्यवहारकी समस्त वस्तुएँ प्रेम-विभावित, प्रेम द्वारा गठित एवं प्रेमरससे सम्यक् प्रकारसे परिसिञ्चित हैं। उनके चित्तमें भी चरमतम विकाशमय प्रेम पूर्णतम रूपसे अवस्थित है। इस प्रेमके द्वारा वे श्रीकृष्णकी सेवा करके उनका प्रीति-विधान करती हैं—

कृष्णवाञ्छा पूर्तिरूप करे आराधने ॥ चै.च.आ. ४.७५

कृष्णवाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य तार ॥ चै.च.म. ८.१०५

यही श्रीराधाका तत्त्व है। इस प्रकारकी श्रीराधा एवं उनका प्रेम ही श्रीकृष्णकी आनन्द-स्वरूपता एवं रस-स्वरूपताका पूर्णतम विकाश साधन करके उनका मदनमोहनत्व प्रकट करनेमें समर्थ है। परब्रह्म—स्वरूपसे ब्रह्म (वृहत्तम) ; किन्तु उनको प्रभावमें भी ब्रह्म (वृहत्तम) कर सकती है एकमात्र उनकी स्वरूप-शक्ति (निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपसे ब्रह्म वृहत्तम होकर भी उनमें शक्तिका विकाश नहीं होनेके कारण प्रभावमें ब्रह्म—वृहत्तम नहीं है)। इस प्रकारकी स्वरूपशक्तिकी महिमा भी पूर्णतम रूपसे विकसित श्रीराधामें ही है ; अतएव श्रीराधासे ही श्रीकृष्णके स्वरूपका, ऐश्वर्यका, माधुर्यका, रसत्वका—एक शब्दमें कहा जाय तो उनकी महिमाका सर्वतोभावसे सर्वातिशायी विकाश है। इसीलिए स्वरूपमें एवं प्रभावमें श्रीराधा हुईं एक अपूर्व विराट तत्त्व। इस प्रकारका तत्त्व जिस प्रेमका आधार है, उस प्रेमकी महिमा सर्वातिशायी हो, इसमें और सन्देह ही क्या रह सकता है ?

इस प्रकार देखा जाता है कि राधातत्त्व एवं प्रेमतत्त्वकी विवृति द्वारा भी श्रीराधाप्रेमकी महिमा ही अभिव्यक्त की गयी है।

किसी-किसी ग्रन्थमें **'कृष्णराधातत्त्व'** एवं किसी-किसी ग्रन्थमें **'राधाकृष्णतत्त्व'** पाठान्तर भी देखनेमें आता है।

चाहिये--चाहता हूँ, इच्छा करता हूँ। दोंहार—श्रीश्रीराधा-कृष्णका। **विलास**—केलि, कीड़ा, लीला। **विलास-महत्त्व**—केलि माहात्म्य। १४७ से १५६ तकके पयारोंमें विलास-माहात्म्य वर्णित हुआ है।

पहले कहा जा चुका है कि श्रीराधा-प्रेमकी महिमा-ख्यापनार्थ ही श्रीमन् महाप्रभुने राय रामानन्दके मुखसे कृष्णतत्त्व, रसतत्त्व, प्रेमतत्त्व और राधातत्त्वकी कथाको प्रकाश कराना चाहा। कृष्णतत्त्व और रसतत्त्व ख्यापनमें प्रेम-महिमा किस प्रकार ख्यापित हुई है, इसका पूर्ववर्ती ११५वें पयारकी टीकामें दिग्दर्शन कराया गया है। प्रेमतत्त्व और राधातत्त्वके ख्यापनमें किस प्रकार राधाप्रेमकी महिमा ख्यापित हुई है, इसका दिग्दर्शन भी आलोच्य पयारकी टीकामें इसके पूर्व कराया गया है। उसमें कहा गया है कि प्रेम स्वरूपतः श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा स्वरूप-शक्ति, सर्वशक्ति-गरीयसी है; अतएव जाति-अंशसे ही परम गरीयान् है। इस प्रेमका आधार या वासस्थान भी प्रेमघनविग्रहा स्वयंप्रेम-स्वरूपा श्रीराधा हैं, जो स्वयंरूपसे एवं ललितादि अपने कायव्यूह रूपसे अशेष-विशेष रस आस्वादन कराकर श्रीकृष्णका प्रीतिविधान कराती रहती हैं। इस प्रकार प्रेम हुआ मानो निखिल अभिजात-कुल-शिरोमणि; और उसका वास-स्थान हुआ आभिजातिके अनुरूप—प्रेमगठित एवं प्रेमकी विविध वैचित्री रूप मणि-रत्न-खचित महाराजाधिराजोचित परम रमणीय प्रासादोपम श्रीराधाका लावण्य-ललामभूत विग्रह। ऐसे प्रेमकी क्रियादि भी होती हैं उसके स्वरूपके, वासस्थानके, उसके आभिजातके अनुरूप—सर्वकारण-कारण, सर्वैश्वर्य-सर्वमाधुर्य-पूर्ण, सर्वाधार, सर्वनियन्ता, रसस्वरूप परब्रह्म

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका प्रीतिविधान। इसके द्वारा राधाप्रेमकी महिमा परम उज्ज्वल भावसे ही अभिव्यक्त हुई है। किन्तु प्रभु इससे भी परितृप्ति प्राप्त कर नहीं सके ; उन्होंने सोचा कि राधाप्रेमकी अपूर्व महिमा विकसित तो हुई, किन्तु अभी भी सम्यक् रूपसे प्रकाशित नहीं हुई, और भी मानो कुछ बाकी रह गया। उन्होंने मानो विचारा कि अखण्ड-रसवल्लभा महाभावविग्रहा स्वयं-कान्तप्रेमरूपा श्रीराधाके सहित अखिल-रसामृत-सिन्धु-श्रृङ्गार-रसराज-विग्रह साक्षात्-मन्मथ-मदन श्रीकृष्णके केलिविलास-में राधाप्रेम महिमाका जो अपूर्व वैशिष्ठ्य अभिव्यक्त हुआ रहता है, उसके सम्बन्धमें अभी तक कुछ नहीं कहा गया। उसको प्रकट करनेके उद्देश्यसे ही मानो प्रभुने कहा—'**शुनिते चाहिये दोंहार विलास महत्व।**' प्रभुकी बात सुनकर राय रामानन्द भी परवर्ती पयारोंमें विलास महत्त्व वर्णन करने लगे।

श्रीकृष्णाका धीरललित्व

राय कहे—कृष्ण हये धीरललित।
निरन्तर कामक्रीड़ा जाँहार चरित ॥१४७॥

धीरललित—परवर्ती श्लोकमें धीरललित नायकके लक्षण दिये गये हैं।

निरन्तर—सर्वदा। **कामक्रीड़ा**—प्रेमके खेल। यहाँ 'काम' शब्दका अर्थ प्रेम है। श्रीकृष्ण सर्वदा कोई न कोई प्रेमका खेल लिये रहते हैं ; नन्दालयमें रक्तक-पत्रक आदि नन्ददासोंके साथ दास्यप्रेमका खेल, नन्द-यशोदाके साथ वात्सल्य प्रेमका खेल, गोप-बालकोंके साथ सख्य प्रेमका खेल, गोपियोंके संग मधुर प्रेमका खेल—सर्वदा ही इस प्रकार कोई न कोई प्रेमका खेल खेलते रहते हैं।

अथवा यदि '**कामक्रीड़ा**' शब्द यहाँपर साधारण भावसे 'प्रेमके खेल' अर्थमें व्यवहृत न होकर 'व्रजगोपियोंके संग विहार आदि' अर्थमें लिया

जाय तब पूर्ववर्ती **'निरन्तर'** शब्दका अर्थ करना होगा 'यथायोग्य-समयके सब समयमें' अर्थात् जिस समय गोपियोंके साथ विहार आदि होना सम्भव एवं सङ्गत हो, उस समय श्रीकृष्ण सर्वदा उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। 'निरन्तर' शब्दका अर्थ यहाँ पहलेकी तरह 'सर्वदा'—दिन-रात्रिमें सब समय ही'—इस प्रकार करनेमें एक आपत्ति उठ सकती है। श्रीकृष्ण दिन-रात्रिमें सर्वदा ही यदि गोपियोंके साथ क्रीड़ा करें, तो उनकी गोचारण आदि अन्यान्य लीलाएँ किस प्रकार निर्वाह हो सकती हैं ? इस आपत्तिके खंडनार्थ 'निरन्तर' शब्दका अर्थ 'यथायोग्य समयमें सब समय' किया गया।

अथवा इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है—

निरन्तर-सर्वदा, दिन-रात्रिमें सब समय ही। **कामक्रीड़ा**—गोपियोंके साथ विहारादि। श्रीकृष्ण दिन-रात्रिके सब समयमें ही प्रेयसियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि दिन-रात्रिके सब समयमें यदि वे प्रेयसीगणके साथ क्रीड़ा करते रहते, तब गोचारणादि कब किया करते ? उत्तर—गोचारणादि भी प्रेयसियोंके साथ क्रीड़ाका अङ्ग-विशेष है। श्रीकृष्ण जितने समय नन्द-यशोदाके पास रहते हैं, या सखाओंके साथ गोचारणादि-में लिप्त रहते हैं, उतने समय प्रेयसीगणसे दूर रहकर परस्पर मिलनके लिए उनकी एवं अपनी उत्कण्ठा बढ़ाकर मिलनकी मधुरताकी ही वृद्धि करते हैं ; अतएव गोचारणादि अन्य लीलाएँ उत्कण्ठा बढ़ाकर मिलनकी मधुरता-का पुष्टि साधन करनेके कारण उन सब लीलाओंको भी प्रेयसीगणके साथ 'कामक्रीड़ाका' अङ्ग-विशेष कहा जा सकता है। और गोचारण तो प्रत्यक्ष भावसे ही प्रेयसीगणके साथ मिलनके अनुकूल है ; कारण गोचारणके छलसे ही श्रीकृष्ण दिनमें वनमें जाकर प्रेयसीगणके साथ मिल सकते हैं।

इस प्रकार, श्रीकृष्ण सब समय ही प्रेयसीगणके साथ कामक्रीड़ा करते

हैं—यह कहा जा सकता है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण धीरललित नायक होनेसे प्रेयसियोंके वशीभूत हैं, यह भी सूचित होता है।

अथवा, परिहास-पटु श्रीकृष्ण प्रेयसीगणके साथ परिहास-रङ्ग करनेके उद्देश्यसे गोचारणादिके छलसे मानो अन्यत्र अन्तर्हित होते हैं, यह भी कहा जाता है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ, दक्षिणविभागे
विभावलहर्याम् १.१२३ (२.१.२३०)

विदग्धो नवतारुण्यः परिहास - विशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः ॥४१॥

अन्वय—विदग्धः (विदग्ध), **नवतारुण्यः** (नवयुवा), **परिहास-विशारदः** (परिहास-पटु), **निश्चिन्तः** (निश्चिन्त), **प्रायः प्रेयसीवशः** (प्रायशः प्रेयसीगणके वशीभूत—जिस प्रेयसीका जिस प्रकारका प्रेम हो, उस प्रेयसीके प्रेमसे उसी प्रकार वशीभूत) **धीरललितः** (धीरललित), **स्यात्** (होते हैं)।

अनुवाद—जो विदग्ध हों, जो नवयुवा हों, जो परिहास-पटु हों, जो निश्चिन्त हों और जो जिस प्रेयसीका जिस प्रकारका प्रेम हो उस प्रेयसीके साथ उसी प्रकार वशीभूत हों, उसको धीरललित नायक कहते हैं।

विदग्ध—कला-विलासादिमें निपुण। **निश्चिन्त**—जिसको किसी भी प्रकारकी चिन्ता-भावना या उद्वेगादि न हो। **प्रायः प्रेयसीवशः**—(प्रेयसीगणके प्रेमानुरूप भावसे उनके वशीभूत ; सबके निकट समान भावसे वशीभूत नहीं।

इस श्लोकमें १४७ पयारोक्त धीरललित नायकके लक्षण कहे गये हैं।

रात्रिदिन कुञ्जक्रीड़ा करे राधासङ्गे।
कैशोर - वयस सफल कैल क्रीड़ारङ्गे ॥१४८॥

रात्रिदिन—रात्रिके और दिनके यथायोग्य समयमें। अथवा, मन्त्रोपासनामयी लीलाके एक प्रकाशमें रात्रिदिन निरवच्छिन्न भावसे। **कुञ्जक्रीड़ा**—निभृत-निकुञ्जमें विहार। श्रीराधाके संग निभृत-निकुञ्जमें विहार करते हैं।

कैशोर वयस सफल कैल क्रीड़ारङ्गे—कैशोर-वयस जब किसी रमणीको आश्रय करे, तब अपने प्रति अनुरागवान् रूपगुण सम्पन्न किसी विदग्ध युवकके संग-प्राप्तिके लिए उस रमणीकी इच्छा होती है। और जब कैशोर-वयस किसी पुरुषको आश्रय करे, तब अपने प्रति अनुरागवती रूपगुण-सम्पन्ना किसी विदग्धा रमणीका संग प्राप्त करनेके लिए उसकी लालसा होती है। इस प्रकार परस्परके प्रति अनुरागयुक्त रूपगुण-सम्पन्न विदग्ध युवक-युवतीके मिलनकी स्पृहा हुई कैशोर-वयसका कार्य। परस्परका संगसुख-लाभ ही इस मिलन-स्पृहाका उद्देश्य है। अतएव इस प्रकारके युवक-युवतीके मिलनकी जितनी प्रकारकी वैचित्री रहना सम्भव है, उनमें श्रेष्ठ वैचित्रीकी अभिव्यक्ति जहाँपर हो, एवं उसके पूर्णतम आस्वादनकी सम्भावना सुयोग जहाँपर हो, वहींपर कैशोर-वयसकी सफलता है। मिलन-सुखकी असमोर्द्ध वैचित्री एवं उसके पूर्णतम आस्वादनके निमित्त नायक और नायिकामें नायकोचित रूप गुणादिकी भी पूर्णतम अभिव्यक्ति अपरिहार्य है। किन्तु प्राकृत जगतमें प्राकृत नायक-नायिकामें यह असम्भव है; कारण प्राकृत नायक-नायिकाके रूप-गुणादि क्षुद्र, असम्पूर्ण एवं अचिरस्थायी हैं; इसीलिए उनकी देहमें कैशोरकी अवस्थिति भी अचिरस्थायी है; उनका परस्परके प्रति जो अनुराग है, वह भी स्वसुख-वासना मूलक एवं मोहज है, स्वाभाविक नहीं। उनके मिलनमें कैशोर सफलता प्राप्त नहीं कर सकता; कारण, उसमें निरवच्छिन्न सुख नहीं है—**नाल्पे सुखमस्ति**। अतएव प्राकृत नायक-नायिका मिलनमें कैशोर-वयसकी सफलता असम्भव है।

अप्राकृत भगवद्धामोंमें भगवत्स्वरूपोंके एवं उनकी प्रेयसीगणके

रूप-गुणादि नित्य हैं, उनके विग्रहोंमें कैशोर भी नित्य अवस्थान कर सकता है; उनके रूप-गुणादि भी दूसरोंके रूपगुणादिकी अपेक्षा सब विषयमें श्रेष्ठ हैं; भगवत् प्रेयसीगण श्रीभगवान्‌की स्वरूप-शक्ति ह्लादिनीकी अभिव्यक्ति होनेके कारण उनका परस्परके प्रति अनुराग भी स्वाभाविक है। अतएव अप्राकृत भगवद्धामोंमें भगवत्स्वरूपोंके एवं भगवत्प्रेयसीगणके आश्रयमें ही कैशोर-वयसकी सफलता सम्भव है। भगवत्स्वरूपोंमें आश्रयमें सर्वत्र किञ्चित् सफलता सम्भव होनेपर भी सफलताकी पराकाष्ठा सर्वत्र सम्भव नहीं है; जिस स्वरूपमें रूप-गुणादिकी असमोर्द्ध अभिव्यक्ति है, उस स्वरूपके आश्रयमें कैशोरका पूर्णतम साफल्य है। अनन्त भगवत्स्वरूपोंमें-से स्वयंरूप श्रीकृष्णमें ही रूप-गुणादिकी असमोर्द्ध अभिव्यक्ति है; उनके रूपगुणसे नारायणादि अन्यान्य भगवत्स्वरूप तो आकृष्ट होते ही रहते हैं, स्वयं श्रीकृष्ण भी अपने रूपसे आकृष्ट हुए रहते हैं।

रूप देखि आपनार, कृष्णे हय चमत्कार,
आस्वादिते मने उठे काम। चै.च.म. २१.८६
कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम, ताहे जे स्वरूपगण,
ता सभार बले हरे मन। चै.च.म. २१.८८

श्रीकृष्णके रूपकी बात सुनकर नारायणकी वक्षोविलासिनी लक्ष्मीके भी चित्तमें चाञ्चल्यका उदय होता है।

पतिव्रता शिरोमणि जारे कहे वेदवाणी,
आकर्षये सेइ लक्ष्मीगण। चै.च.म. २१.८८

वैदग्धी-नवतारुण्यादि समस्त नायकोचित गुणोंकी पूर्णतम अभिव्यक्ति व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णमें ही है; इसीलिए

व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण—नायक शिरोमणि। चै.च.म. २३.४५

सब भगवद्धामोंमें भगवत्स्वरूपोंकी जो सब प्रेयसीगण हैं उनमें-से रूपगुण वैदग्ध्य आदि सब विषयोंमें व्रजगोपीगण श्रेष्ठ हैं; कारण, निखिल

भगवत्-कान्तागणमें एकमात्र व्रजगोपीगण ही

लोकधर्म्म वेदधर्म्म देहधर्म्म कर्म्म।
लज्जा धैर्य्य देहसुख आत्मसुखमर्म्म॥
दुस्त्यज - आर्य्यपथ निज परिजन।
स्वजने करये जत ताड़न भर्त्सन॥
सर्वत्याग करि करेन कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेम - सेवन॥
चै.च.आ. ४.१४३-१४५

श्रीकृष्णमें उनका अनुराग इतना अधिक है कि—

आत्मसुखदुःख गोपीर नाहिक विचार।
कृष्णसुख हेतु चेष्टा मनोव्यवहार॥
कृष्णलागि आर सब करि परित्याग।
कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥
चै.च.आ.४.१४९-१५०

उनका श्रीकृष्णप्रेम इतना उत्कर्ष प्राप्त किये है कि वैकुण्ठकी लक्ष्मीगणका, यहाँतक कि द्वारका-महिषिगणका प्रेम भी उतना उत्कर्ष प्राप्त नहीं कर सका; इसीलिए श्रीकृष्ण-माधुर्यका व्रजगोपीगणने जिस प्रकार आस्वादन किया है, मथुरा-नागरीगण भी उस प्रकार नहीं कर सकी; इसीसे **'गोप्यस्तपः किमचरन्'** इत्यादि (श्रीम. भा. १०.४४.१४) श्लोकमें द्वारका-महिषीगणने भी व्रजगोपीगणके सौभाग्यकी प्रशंसा की है। समस्त भगवत्प्रेयसीगणमें से एकमात्र गोपीगणके सम्बन्धमें ही श्रीकृष्णने कहा है—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं न भवन्ति मे॥
गोपीप्रेमामृत

जिस नायिकाके गुणसे नायक जितना अधिक मुग्ध हो, उस नायिकामें ही नायिकोचित गुणोंकी उतनी अधिक अभिव्यक्ति है। व्रजगोपीगणके गुणोंसे

श्रीकृष्ण इतने मुग्ध हैं कि उनकी अपनी प्रतिज्ञा **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** (गीता ४.११)' का गोपियोंके भजनमें भंग हुआ है। **'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां** इत्यादि (श्रीम. भा. १०.३२.२२)' श्लोकमें सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णने निज मुखसे गोपीगणकी सेवाके अनुरूप सेवामें अपनी असमर्थता ख्यापन करके सर्वतोभावेन उनके प्रेमकी वश्यता स्वीकार की है। इन सब कारणोंसे कहा गया है कि कान्तागणमें व्रजाङ्गनागण श्रेष्ठ हैं। इन व्रजाङ्गनाओंमें उत्तमा हैं श्रीराधिका।

सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा।

ल.भा.ऊ.४०

सौन्दर्य, माधुर्य, वैदग्धीमें श्रीराधिका समस्त कृष्णकान्तागणकी शिरोमणि हैं।

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

वृहद्गौतमीय तन्त्र

श्रीराधाका प्रेम इतना उत्कर्ष प्राप्त हुआ है कि उस प्रेमने पूर्णानन्दमय पूर्णतत्त्व स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको भी उन्मत्त कर डाला ; स्वयं श्रीकृष्णने कहा है—

...........आमि हइ रसेर निधान॥
पूर्णानन्द आमि चिन्मय पूर्णतत्त्व।
राधिकार प्रेमे आमा कराय उनमत्त॥
ना जानि राधार प्रेमे कत आछे बल।
से बले आमारे करे सर्व्वदा विह्वल॥
राधिकार प्रेम—गुरु, आमि—शिष्य नट।
सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट॥

चै.च.आ. ४.१०५.१०८

श्रीराधिकामें नायिकोचित गुणसमूहका पूर्णतम विकाश है ; इसीलिए 'नायिकार शिरोमणि राधा ठाकुराणी ॥ चै.च.म.२३.४५ ॥'

श्रीकृष्णमें नायकोचित गुणोंका और श्रीराधामें नायिकोचित गुणोंका पूर्णतम विकाश है ।

नायक नायिका दुइ रसेर आलम्बन ।
सेइ - दुइ - श्रेष्ठ — राधा, व्रजेन्द्र - नन्दन ॥

चै.च.म. २३.४८

नायक-नायिकाको अवलम्बन करके ही कैशोर-वयसोचित रसका स्फुरण होता है ; अतएव नायक-श्रेष्ठ व्रजेन्द्र-नन्दनके साथ नायिका-श्रेष्ठा श्रीराधाके मिलनमें कैशोर-वयसोचित रसका जो पूर्णतम विकाश सम्भव होगा, अतएव उनको आश्रय करके कैशोर वयस भी जो पूर्णतम साफल्य प्राप्त करेगा, वह सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है ।

जो हो, उपरोक्त आलोचनासे समझा गया कि प्राकृत जगतकी बात तो दूर रही, अप्राकृत भगवद्धामोंमें भी निखिल रमणीगणके बीच व्रजदेवीगण श्रेष्ठ हैं, और व्रजदेवीगणमें श्रीराधिका श्रेष्ठ हैं ; एवं निखिल पुरुषगणमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं । अतएव सब भगवत्स्वरूपों और प्रेयसीगणकी लीलाओंमें गोपाङ्गनाओंके साथ ही श्रीकृष्णकी रास आदि लीलाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं—इस बातको स्वयं श्रीकृष्णने अपने मुखसे व्यक्त किया है ।

"सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्ताता मनोहराः ।
न हि जाने स्मृते रासो मनो मे कीदृशं भवेत् ॥

ल.भा.कृ. ५३१. धृत वृहद्वामन वचन

यद्यपि मेरी अनेक प्रकारकी मनोहारिणी बहुत-सी लीलाएँ हैं ; तथापि रासलीला स्मरण करनेपर मेरा मन किस प्रकार भावापन्न हो जाता है, वह कहा नहीं जा सकता ।" रसानां समूहो रासः—रासलीलामें सब रसोंका उत्स प्रसारित होता है, इसीलिए रासलीला सर्वश्रेष्ठ है । इस

रासलीलामें लक्ष्मीका अधिकार नहीं है (नायं श्रियोऽङ्ग इत्यादि श्रीम.भा. १०.४७.६०), द्वारका महिषीगणके अधिकारकी बात भी सुननेमें नहीं आती ; एकमात्र श्रीराधिका एवं उनकी कायव्यूहरूपा व्रजदेवीगणका ही इस रासलीलामें अधिकार है।

सम्यक् वासना कृष्णेर इच्छा रासलीला ।
रासलीला - वासनाते राधिका शृङ्खला ॥ चै.च.म. ८.८५

सौन्दर्य-माधुर्य-विलास-वैदग्ध्यादिमें निखिल रमणीकुलकी शिरोमणि नित्यकिशोरी व्रजाङ्गनागणके संगमें निखिल-पुरुषकुल-शिरोमणि नित्य किशोर व्रजेन्द्रनन्दनकी रासलीलामें ही निखिल-विलास-वैचित्रीकी एवं निखिल-रस-वैचित्रीकी निर्वाध पूर्णतम अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है ; अतएव कैशोर वयस श्रीकृष्णका आश्रय करके इस रासलीलामें ही सार्थकताकी पराकाष्ठा प्राप्त कर सकता है ; अन्य धामोंकी अन्य लीलाके (प्राकृत नायक-नायिकाके आश्रयकी बात तो दूर रही) आश्रयमें नायक-नायिकाके दोनोंके बीच रूप-गुण-वैदग्ध्यादिके पूर्णतम विकाशका अभाव है। और रासलीलाके अतिरिक्त अन्य लीलाओंमें व्रजाङ्गनाओं जैसी कोटि-कोटि रमणीरत्नके साथ युगपत् मिलनकी सम्भावना नहीं रहनेके कारण भी कैशोरकी अनुरागवती-प्रेयसी-सङ्ग-स्पृहा चरम-चरितार्थता प्राप्त नहीं कर सकती। अतएव रासलीलामें ही कैशोरकी सर्वविध सार्थकताकी पूर्णता है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे
प्रथम-विभावलहर्याम् १.१२४ (२.१.२३१)

वाचा सूचित - शर्वरी - रतिकला
प्रागल्भ्यया राधिकां
व्रीड़ा - कुञ्चित - लोचनां विरचय -
न्नग्रे सखीनामसौ ।

तद्वक्षोरुह - चित्रकेलिमकरी-
पाण्डित्यपारं गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन्
कुञ्जे विहारं हरिः ॥४२॥

अन्वय—सखीनां (सखीगणके) अग्रे (समक्षमें) सूचित-शर्वरी-रतिकला प्रागल्भ्यया (रात्रिकालीन रति-कौशलके औद्धत्य-प्रकाशक) वाचा (वाक्य द्वारा) राधिकां (श्रीराधिकाको) व्रीड़ा-कुञ्चित-लोचनां (लज्जावश संकुचित नयना) विरचयन् (बनाकर) तद्वक्षोरुह-चित्रकेलिमकरी - पाण्डित्य - पारं (श्रीराधाके स्तन-युगलपर चित्र-केलिमकरी-रचनासे पाण्डित्यकी परावधि) गतः (प्राप्त) असौ (ये) हरिः (श्रीकृष्ण) कुञ्जे (कुञ्जमें) विहार कलयन् (विहारपूर्वक) कैशोरं (कैशोर वयसको) सफली करोति (सफल कर रहे हैं)।

अनुवाद—रात्रिकालीन रतिकौशलके औद्धत्य प्रकाशक वाक्य द्वारा सखीगणके समक्ष श्रीराधाको लज्जावश संकुचित-नेत्रा बनाकर उनके स्तन-युगलपर विचित्र-केलिमकरी निर्माण कौशलकी पराकाष्ठा प्रदर्शन पूर्वक कुञ्जमें विहार करते हुए श्रीकृष्ण अपने कैशोर वयसको सफल कर रहे हैं।

रासलीलाकी और कुञ्ज-क्रीड़ा आदिकी कोई एक अन्तरंगा दूतिने यज्ञपत्नी सदृशीगणके निकट उक्त श्लोकानुरूप वाक्य कहा है। इस श्लोकका मर्म यह है। किसी समय श्रीराधा कुञ्जमें बैठी हैं, उनके चारों ओर उनकी अन्तरंगा सखीगण हैं। ऐसे समय श्रीकृष्ण आकर वहाँ उपस्थित हुए और उनके बीच बैठकर श्रीराधाके साथ अपना रजनी-विलास वृत्तान्त वर्णन करने लगे—रति-कौशल-विस्तारमें उन्होंने स्वयं किस प्रकारका औद्धत्य किया था एवं श्रीराधाने किस प्रकारका औद्धत्य किया था, यह सब सखीगणके सामने श्रीकृष्णने प्रगल्भ वाक्यों द्वारा

बताया। इससे लज्जावती श्रीराधा लज्जासे सिमट गयीं, संकोचसे उनके दोनों नेत्र निमीलित होने लगे। श्रीकृष्ण इतना करके ही शान्त नहीं हुए—श्रीराधा जब इस प्रकार लज्जित एवं संकुचित अवस्थामें रहीं, तभी श्रीकृष्ण श्रीराधाके युगल स्तनोंपर अपने हाथसे विचित्र-केलिमकरी (कस्तूरी-कुंकुमादि द्वारा मकरी आदिके मनोरम चित्र) अंकित करने लगे एवं इस प्रकारके चित्रांकनमें अपने पाण्डित्यकी पराकाष्ठाका भी प्रदर्शन करने लगे। इस प्रकार अनेक प्रकारकी रसमयी लीलाओं द्वारा श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्गके साथ कुञ्जमें विहार करने लगे एवं ये सब लीलारस आस्वादन करके ही उन्होंने अपना कैशोर-वयस सफल किया।

सूचित—प्रकाशित। **शर्वरी**—रात्रि। **रतिकला**—रतिक्रीड़ाका कौशल। **प्रागल्भ्य**—औद्धत्य ; लज्जा-संकोच शून्य प्रकाश। **सूचित-शर्वरी-रतिकला प्रागल्भ्य**—सूचित (प्रकाशित) होता है रात्रिकालीन रति-क्रीड़ा-कौशलका औद्धत्य जिसके द्वारा, वही हुआ सूचित-शर्वरी-रतिकला-प्रागल्भ्य (वाक्य)। **व्रीड़ाकुञ्चितलोचना**—व्रीड़ा (लज्जा) द्वारा कुञ्चित (संकुचित) हुए हैं लोचन (नयन) जिनके, वे—श्रीराधिका। **वक्षोरुह**—वक्षपर उत्पन्न हुए हैं जो, स्तनयुगल। **चित्रकेलिमकरी**—केलिके लिए (क्रीड़ार्थ) जो मकरी चिन्ह स्तन-युगलपर चित्रित होते हैं वही केलि-मकरी। विचित्र (अति सुन्दर) केलिमकरी—चित्र-केलिमकरी, उसके निर्माणमें **पाण्डित्य**—कौशलकी **पार**—पराकाष्ठा—चित्र-केलि-मकरी-पाण्डित्य-पार। **हरि**—हरण करते हैं जो, वे हरि। यहाँपर हरि शब्दकी सार्थकता यह है कि सखीगणके साक्षात्में रतिकला विषयक प्रगल्भ वाक्य द्वारा एवं श्रीराधाके स्तन-युगलपर विचित्र चित्रादि निर्माणके द्वारा श्रीकृष्णने एक तरफ जिस प्रकार श्रीराधाकी लज्जा हरण की, वैसे ही दूसरी ओर उनको कान्तजन-देय परम सुख दान करके उनके प्राण-मनका हरण किया। इस प्रकार उन्होंने अपने कैशोरके साथ-साथ अपने प्रेयसीवर्गके कैशोरको भी सफल किया। श्रीकृष्णका धीर-ललित्व

दिखानेके लिए भक्तिरसामृतसिन्धुका श्लोक उद्धृत हुआ है। जो रसिक, नव-तरुण, परिहास-विशारद, निश्चिन्त एवं प्रायशः प्रेयसीवश हैं, उन्हींको धीर-ललित कहा जाता है; जो सब (रसिकता, नव-तारुण्य आदि) गुण रहनेपर धीर-ललित हुआ जाता है, उन्हीं सब गुणोंके रहनेपर प्रेयसीगणके साथ लीला-वैदग्धी द्वारा कैशोर वयसको भी सफल किया जाता है। उक्त श्लोकमें दिखाया गया कि धीरललित श्रीकृष्णमें वे सब गुण हैं; अतएव प्रेयसीगणके साथ लीला - वैदग्धी द्वारा उन्होंने अपने एवं प्रेयसीवर्गके कैशोरको सफल किया है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह सकता।

प्रभु कहे—एइ हय, आगे कह आर।
राय कहे—इहा बइ बुद्धिगति नाहि आर ॥१४९॥

प्रभुने कहा—हाँ, श्रीराधाकृष्णके विलासके सम्बन्धमें जो बताया वह ठीक है; किन्तु इसके आगे भी और कुछ हो, वह बताओ। रायने उत्तर दिया—इसके आगे किसी विषयमें मेरी बुद्धिकी गति नहीं है।

प्रेम (श्रीकृष्णको सर्वभावसे सुखी करनेकी वासना) की गाढ़तावश ही विलासकी भावना उत्पन्न होती है एवं विलास-व्यपदेशसे ही प्रेमकी महिमा प्रकट होती है; इसीलिए प्रभुने श्रीश्रीराधाकृष्णका विलास-महत्व सुनना चाहा। विलासका महत्व वर्णन करनेमें रामानन्दने कृष्णके धीर-ललित्वकी बात कही। उन्होंने धीरललित्वके जो सब लक्षण बताये, वे सभी राधाप्रेम-जनित विलासका माहात्म्य सूचित करते हैं। जो सर्वग, अनन्त, विभु हैं; जो सर्वयोनि, सर्वाश्रय, सर्वशक्तिमान् हैं; जो समस्त वेदोंके प्रतिपाद्य हैं; युग-युगान्त तक अनुसन्धान करनेपर भी श्रुतिगण जिनकी महिमाका अन्त नहीं पातीं, उन परम-स्वतन्त्र, परम-ब्रह्म, स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें दुर्दमनीया रस-लोलुपता जगाकर जिस विलासने उनको प्रेयसीकी वश्यता स्वीकार करनेको बाध्य किया है एवं जिन

सर्वज्ञ-शिरोमणिको निविड़तम मुग्धत्व उत्पन्न करके— सर्वव्यापक तत्त्व होनेपर भी प्रेयसी-संग-लोभसे उनको निभृत-निकुञ्जमें रात्रि-दिन अवस्थान करनेको वाध्य किया है, वह विलास क्या महान् वस्तु है, उसकी शक्ति कितनी महीयसी है—उसको कौन बता सकता है? श्रीश्रीराधाकृष्णके विलासकी इतनी बड़ी महिमाकी बात राय रामानन्दने व्यक्त की ; किन्तु इसपर भी प्रभुकी तृप्ति नहीं हुई, उन्होंने और भी कुछ सुनना चाहा। उन्होंने कहा—"रामानन्द ! तुमने जो कुछ कहा है, उससे राधाकृष्णके विलासका जो आसाधारण महत्व प्रकट हुआ है, उसमें सन्देह नहीं ; किन्तु रामानन्द ! विलास महत्वकी सब बातें नहीं कही गयी ; और भी कोई गूढ़ रहस्य है ; वही जाननेकी इच्छा है। वह कहो रामानन्द।"

यह सुनकर रामानन्दने कहा—"प्रभु ! जो कुछ कहा है, उससे ऊपरके किसी भी विषयमें मेरी बुद्धिकी गति नहीं है।" वस्तुतः लीलारस-तत्त्वके सम्बन्धमें किसी भी विषयमें किसीकी भी बुद्धि गम्य नहीं है ; यह तो भगवत्कृपासे एकमात्र अनुभवगम्य है।

प्रेमविलास विवर्त्त

जेवा प्रेमविलास - विवर्त्त एक हय।
ताहा शुनि तोमार सुख हय कि ना हय ॥१५०॥

प्रभुकी बात सुनकर रामानन्दने कहा—"प्रभु ! विलास-महत्वका गूढतर रहस्य मेरी बुद्धिके अगम्य है, यह सत्य है ; आपकी ही कृपासे एक बार मैं एक अनुभव कर सका था—राधाकृष्णके विलास-महत्वका एक गूढतम रहस्य है। मेरे स्वरचित एक गीतमें मैने उसका संकेत करनेकी चेष्टा की है, वह गीत मैं स्वयं ही गाकर आपको सुनाता हूँ। इत गीतमें जिस रहस्यका संकेत किया गया है वह है 'प्रेमविलास-विवर्त्त'।

ताहा शुनि इत्यादि—किन्तु प्रभु, मेरे द्वारा रचित गीतमें उस संकेतको सार्थकता दे सका हूँ या नहीं, विलास-महत्वके गूढतम रहस्यको प्रस्फुटित कर सका हूँ या नहीं, पता नहीं। यदि नहीं कर सका हूँ तो गीत सुनकर आपको प्रसन्नता नहीं होगी ; अथवा, जिस रहस्यको आप प्रकट कराना चाहते हैं, मेरे रचित गीतमें यदि उसका संकेत न हो, तो भी आपको प्रसन्नता नहीं होगी, आपकी वासना तृप्त नहीं हो सकेगी। इसलिए प्रभु, मेरे मनमें एक सन्देह उत्पन्न हुआ है कि वह गीत सुनकर आपको सुख होगा या नहीं। तथापि, मेरा गीत मैं स्वयं ही गाकर आपको सुनाता हूँ, उसे आप सुनें और देखें कि उसमें आपकी अभिलषित वस्तु है या नहीं।

आगे वह गीत १५२-१५६ संख्यक पयारोंमें उद्धृत हुआ है। इस गीतके अन्तर्गत—"**ना सो रमण ना हाम रमणी। दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि॥**"—इस अंशमें ही विलास-महत्वका गूढतम रहस्य निहित है।

किन्तु यह रहस्य क्या है ? '**प्रेमविलास-विवर्त्त**' शब्दके अर्थकी आलोचना करनेसे रहस्यके उद्घाटनमें सरलता होगी।

प्रेमविलास—प्रेमजनित विलास या केलि ; स्वसुख - वासनाके गन्धलेशहीन, प्रेमके विषय जो केवल मात्र उनके सुख-विधानकी वासनासे उद्भूत एवं उसी वासनाकी प्रेरणासे संघटित विलास। यह स्वसुख-वासना द्वारा प्रणोदित विलास नहीं है ; उस प्रकारके विलासका नाम है कामविलास ; कामविलास होता है पशुवत विलास, इसका कोई भी महत्व नहीं, बल्कि यह जुगुप्सित—घृण्य है। प्रेमविलास शब्दके अन्तर्गत 'प्रेम' शब्दसे ही कामविलास निरसित होता है। **प्रेमविलास-विवर्त्त**—प्रेमजनित विलासका विवर्त्त। किन्तु 'विवर्त्त' शब्दका अर्थ क्या है ? विवर्त्त शब्द ही विशेष गुरुत्वपूर्ण एवं रहस्यमय है।

विवर्त्त—इस पयारकी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने विवर्त्त

शब्दका अर्थ लिखा है—'विपरीत'। उज्ज्वलनीलमणिके उद्दीपन-विभाव-प्रकरणमें २२वें (१०.३१) श्लोककी टीकामें जीव गोस्वामीने '**चकरे सुमुखि नवविवर्त्तः**'—में 'विवर्त्त' शब्दका अर्थ 'परिपाक' लिखा है। और विवर्त्तका एक साधारण एवं सर्वजन विदित अर्थ है 'भ्रम'। इस प्रकार विवर्त्त शब्दके तीन अर्थ मिले—विपरीत या वैपरीत्य, परिपाक या परिपक्कता एवं भ्रम या भ्रान्ति। 'प्रेमविलास-विवर्त्त' शब्दकी व्याख्या-प्रसंगमें इन तीनों अर्थोंकी उपयोगिता एवं सार्थकता है। अवश्य ही 'परिपाक' अर्थकी ही मुख्य उपयोगिता एवं सार्थकता है, 'विपरीत' एवं 'भ्रम' अर्थकी उपयोगिता एवं सार्थकता आनुषंगिक है। मुख्यार्थ 'परिपाक' का बहिर्लक्षण सूचक रूपसे 'परिपाक' अर्थ ही अङ्गी है, 'भ्रम' एवं 'विपरीत' होता है उसका अङ्ग।

विवर्त्त शब्दका उल्लिखित मुख्य अर्थ लेनेसे 'प्रेम-विलास-विवर्त्त' शब्द-का अर्थ होगा—प्रेमजनित-विलासकी परिपक्कता या चरमोत्कर्षावस्था। इस चरमोत्कर्षावस्थामें दो लक्षण प्रकट होते हैं—एक भ्रान्ति, दूसरी विपरीतता। जिस वस्तुको चक्षु-आदि इन्द्रिय द्वारा लक्ष्य न किया जा सके, बाहरी लक्षणसे ही उसे पहिचाना जाता है। प्रेमविलासकी चरमोत्कर्ष अवस्था भी चक्षु आदि इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है; जो सब लक्षण बाहरसे दीखते हैं, उनके द्वारा ही उसके अस्तित्वका अनुमान करना होता है। इसीसे चक्रवर्तीपादने एक लक्षणका उल्लेख किया है—विपरीतता। और एक लक्षण है भ्रान्ति; भ्रान्तिसे ही विपरीतताका जन्म होता है। किस प्रकार? यह बताया जा रहा है।

काव्यप्रकाशके चतुर्थ उल्लासमें '**धन्यासि या कथयसि**' श्लोककी टिप्पणीमें लिखा है—विलास-मात्रैक-तन्मयतासे ही काम क्रीड़ाकी चरमावस्था होती है। विलासकी चरमोत्कर्षावस्थामें विलास-मात्रैक-तन्मयता जब उत्पन्न होती है, तब एकमात्र विलासके अतिरिक्त और किसी भी काममें, यहाँतक कि अपने अस्तित्वके सम्बन्धमें भी नायक-

नायिकाको कोई अनुसन्धान नहीं रहता—उस समय उनके स्मृतिका एवं अनुसन्धानका विषय रहता है एकमात्र विलास। किस प्रकार विलास-का पारिपाट्य या वैचित्री साधित हो, किस प्रकार विलासका आनन्द वर्द्धित हो, यही उनके एकमात्र अनुसन्धानका विषय रहता है ; अतः यह अनुसन्धान कौन करता है, यह अनुभूति भी उस समय उनको नहीं रहती, तब ही क्रम-वर्द्धमान चरम-उत्कर्षतावश उनके मध्य वैपरीत्य— नायक-नायिकाकी चेष्टाका वैपरीत्य – सम्भव हो सकता है। परवर्ती गीतके **'ना सो रमण ना हाम रमणी'** वाक्यमें इस वैपरीत्यका संकेत मिलता है। चक्रवर्तीपादने विवर्त्त-शब्दके अर्थमें सम्भवतः इस वैपरीत्यकी बात ही कही है। इस वैपरीत्यका अव्यवहित हेतु हुआ भ्रान्ति—नायक-नायिकाकी आत्म-विस्मृति। यह भ्रान्ति हुई विलास-मात्रैक-तन्मयताका फल। विलास - मात्रैक - तन्मयता ही विलासकी चरमोत्कर्षावस्थाकी परिचायक है ; यह अवस्था इन्द्रिय-ग्राह्य न होनेके कारण, उससे उत्पन्न भ्रान्ति द्वारा एवं भ्रान्तिसे उत्पन्न चेष्टाके वैपरीत्य द्वारा वह समझी जाती है। यहाँपर विवर्त्त-शब्दके पूर्वोल्लिखित तीनों अर्थ ही गृहीत हुए हैं। प्रधान अर्थ है परिपक्वता या चरमोत्कर्षावस्था ; उसका फल भ्रान्ति एवं भ्रान्तिका फल वैपरीत्य—विपरीतता।

किन्तु यह वैपरीत्य—चेष्टाका वैपरीत्य या विपरीत विहार—प्रेमविलासकी चरमोत्कर्षावस्थाका एक बाहरी लक्षण मात्र है, यह चरमोत्कर्षावस्था नहीं है। और इस प्रकारका वैपरीत्य प्रेमविलास-विवर्त्त-का विशेष लक्षण भी नहीं है ; सब अवस्थामें यह वैपरीत्य प्रेमविलासकी चरमोत्कर्षावस्थाको सूचित नहीं करता। यह यदि नायक-नायिकाका इच्छाकृत हो, तो यह वैपरीत्य, विलासकी चरमोत्कर्षावस्थाका परिचायक नहीं होगा। यदि यह विलास-मात्रैक-तन्मयताके फलसे उत्पन्न भ्रम या नायक-नायिकाके सम्पूर्ण आत्मविस्मृतिवश ही हो, उनके अज्ञातमें स्वतः स्फूर्त्त हो, तभी इस प्रकारका वैपरीत्य प्रेमविलास-विवर्त्तका परिचायक

होगा, अन्यथा नहीं। विस्तृत आलोचना 'भूमिका' में 'प्रेमविलास-विवर्त्त' प्रबन्धमें देखिये। यह वैपरीत्य किस प्रकारका है, यह गोपाल-चम्पुकी उक्ति द्वारा आगे बताया जायगा।

प्रेमजनित विलासकी चरमोत्कर्षतामें विलास-मात्रैक तन्मयतावश नायक-नायिकाके—नायक शिरोमणि श्रीकृष्णके एवं नायिका शिरोमणि श्रीराधाके—दोनोंके मनकी वासना रहती है केवल एक ही—विलास-सुखकी वर्द्धन-वासना; तब उन दोनोंका ही मन मानो एक बन जाता है; यही बात परवर्ती गीतके **'दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि'** वाक्यका तात्पर्य है। दोनों ही एक-मना हो जानेके कारण, उनको भेदज्ञान नहीं रहता। विलास-मात्रैक-तन्मयता-जनित—यह भेदज्ञान-राहित्य ही इस प्रेमविलासकी चरम-पराकाष्ठा है। श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृत महाकाव्यमें श्रीपाद कवि कर्णपूरने यही बतलाया है। उन्होंने लिखा है—

"तत्तः स गीतं सरसालिपीतं
विदग्धयोर्नागरयोः परस्य।
प्रेम्णोऽतिकाष्ठाप्रतिपादनेन
द्वयोः परैक्यं प्रतिपाद्यव्यातीत् ॥१३.४५॥

श्रीरामानन्दरायने विदग्ध-नागर-नागरीके (श्रीश्रीराधाकृष्णके) प्रेमकी अति-पराकाष्ठा प्रतिपादनपूर्वक उन दोनोंके परम-एकत्व-सूचक एक गीत गाया था।"

विलास-मात्रैक-तन्मयता-जनित आत्मविस्मृति या भेदज्ञान-राहित्यके द्वारा जो विपरीत विहार उद्भूत होता है वह ही विलास-महत्वकी चरम-पराकाष्ठाका परिचायक है—यही श्रीजीवगोस्वामीके गोपालचम्पु ग्रन्थके पूर्वचम्पुके 'सर्वमनोरथपूरण' नामक ३३वें पूरणसे समझा जाता है। श्रीकृष्णके सुखविधानके लिए परम-उत्कण्ठावश व्रज-तरुणीगण दिन-प्रतिदिन अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके साथ विलासमें निरत हैं, इससे विरति नहीं होती, विलास-वासना मानो किसी भी प्रकारसे उपशान्त नहीं

होती ; बल्कि दिन-प्रतिदिन वह मानो उत्तरोत्तर वर्द्धित ही होती है। तृष्णा-शान्तिहीन कृष्णसुखैक-तात्पर्यमय विलास ही मानो उनके जीवनका व्रत बन गया है। यह सेवा-वासनाकी उद्दामता एवं क्रमवर्द्धनशील उत्कण्ठा श्रीराधामें ही सर्वापेक्षा अधिक है, इसलिए उन्हींमें प्रेमका सर्वातिशायी विकाश है। उनकी यह सेवा-वासनाजनित परमोत्कण्ठा श्रीकृष्णके चित्तमें भी सेवाग्रहण-वासनाकी परमोत्कण्ठा जागृत कर देती है। श्रीकृष्णकी यह सेवाग्रहण-वासना भी वस्तुतः श्रीराधिकादि व्रजसुन्दरीगणके प्रीतिविधानके निमित्त उनकी उत्कण्ठा है; क्योंकि उनकी जितनी भी लीलाएँ हैं, उन सबका उद्देश्य ही होता है केवल मात्र अपने भक्तोंका चित्त-विनोदन, यह बात उनके स्वयंके मुखसे प्रकट हुई है—

मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः। पद्मपुराण।

भक्तके द्वारा की गयी सेवा-ग्रहणकी वासनाके मूलमें यदि श्रीकृष्णकी स्वसुख-वासना छिपी रहे, तो सेवा ग्रहणका कोई भी माहात्म्य नहीं रह जाता, भक्तकी सेवा-ग्रहण श्रीकृष्णके लिए पूर्ण उज्ज्वलतामें महीयान् नहीं हो सकती। जो हो, श्रीराधाके लिए श्रीकृष्णकी सेवावासना एवं श्रीकृष्णके लिए श्रीराधाकी प्रीति-विधानार्थ उनके द्वारा की गयी सेवाके ग्रहणकी वासना—ये दोनों ही जब पूर्ण उद्दामताको प्राप्त कर चरम उत्कण्ठामें परिणत होती है, तभी उनका प्रेमविलास पूर्णतम रूपसे महीयान् हो सकता है। इस प्रकार चरमतम उत्कण्ठाकी प्रेरणासे नायक-नायिका जब लीला-प्रवाहमें प्रवाहित हो जाते हैं, तब—

अन्योऽन्यं रहसि प्रयाति मिलति श्लिष्यत्यलं चुम्बति
क्रीड़त्युल्लसति ब्रवीति निदिशत्युद्भूषयत्यन्वहम्।
गोपीकृष्णयुगं मुहुर्बहुविधं किन्तु स्वयं नोहते
शश्वत् किं नु करोमि किं न्वकरवं कुर्वीय किं वेत्यपि॥

वे परस्पर एक-दूसरेको लेकर गुप्त स्थानमें जाते हैं, मिलते हैं, परस्परमें

एक-दूसरेको आलिंगन करते हैं, चुम्बन करते हैं, उल्लसित करते हैं, रति-कथा कहते हैं, 'मेरा शृङ्गार करो'—इस प्रकार एक दूसरेको आदेश देते हैं, आपसमें एक दूसरेकी वेश-रचना भी करते हैं। इस प्रकार वे पुनः पुनः अनेक प्रकारके केलि-विलासमें निरत रहते हैं ; किन्तु विलासकी ऐकान्तिकी तन्मयतावश—क्या कर रहे हैं, क्या किया है, अथवा क्या कर सकते हैं—इत्यादि कोई भी अनुसन्धान उस समय उनको नहीं रहता।" गोपालचम्पु पूर्व. ३३.५ (३३.२)

यहाँ उनकी आत्मविस्मृति या भेदज्ञानराहित्य सूचित होता है। **'अन्योऽन्यम्'** शब्दसे यही जाना जाता है कि आलिंगन-चुम्बनादि कार्यमें या वेशरचनार्थ आदेशादि कार्यमें कभी श्रीकृष्ण अग्रणी होते हैं, कभी श्रीराधा ; इसीमें उनके विलासका वैपरीत्य या विलास-विवर्त्त सूचित होता है। कौन रमण है, कौन रमणी अथवा कौन कान्त है, कौन कान्ता—विलासमात्रैक-तन्मयतावश इस प्रकारका भेदज्ञान उनका लोप हो जाता है। यही परवर्ती गीत **'ना सो रमण, ना हाम रमणी'** वाक्यका मर्म है।

प्रेमवृद्धिकी चरम पराकाष्ठावश परस्पर एक दूसरेको सुखी करनेकी वासनाकी उद्दाम प्रेरणासे नायक-नायिका जब केलि-विलासमें प्रमत्तताको प्राप्त होते हैं, तब उनका चित्त उपरतिहीन केलि-विलास वासनाके साथ तादात्म्य प्राप्त कर मानो अभिन्नता प्राप्त कर लेता है। यही परवर्ती गीत **'दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि'** वाक्यका तात्पर्य है।

उल्लिखित रूप विलासादि साक्षात् भावसे अनुष्ठित होनेपर भी परम उत्कण्ठावश उन्हें स्वाप्निक-सा प्रतीत होता है। सर्वातिशायिनी प्रेमोत्कण्ठाके फलस्वरूप श्रीराधा श्रीकृष्णके साथ संयोगको असंयोग, असंयोगको संयोग, गृहको वन, वनको गृह, निद्राको जागरण, जागरणको निद्रा, शीतको उष्ण, उष्णको शीत—इत्यादि मानती हैं। इस प्रकारकी जब अवस्था होती है, तब श्रीराधा एवं श्रीकृष्णके

कान्ता-कान्त-स्वभावका भी वैपरीत्य हो जाता है। **कान्तस्याचरणं कान्तायां कान्तायाः कान्ते एतद्वैपरीत्यं जज्ञे जातम्।** रमणका रमणत्व रमणीमें एवं रमणीका रमणीत्व रमणमें दोनोंके अनजानेमें सञ्चारित हो जाता है। यही विलासका वैपरीत्य है। यह वैपरीत्य होता है चरमोत्कर्षता प्राप्त प्रेमके स्वाभाविक धर्मसे उत्पन्न—परस्परके प्रीतिविधानार्थ जो एक अनिर्वचनीय एवं दुर्दमनीय उत्कण्ठा होती है उससे उद्भूत—विलास-सुखैक-तन्मयताका बहिर्विकाश मात्र। संयोगमें असंयोग, असंयोगमें संयोग जिस प्रकार परमोत्कण्ठाका बाहरी लक्षण है, उसी प्रकार यह विलास वैपरीत्य भी परम-प्रेमोन्मत्ततावश विलास-सुखैक-तन्मयताका ही एक बाहरी लक्षण है। रामानन्द रायने इन लक्षणोंके द्वारा ही वस्तुका परिचय देना चाहा है। उनकी उद्दीष्ट वस्तु विलास-वैपरीत्य मात्र ही नहीं है—विलास वैपरीत्यका हेतु जो है वह है। प्रेम-विलास-सुखैक-तन्मयता ही उनकी उद्दीष्ट वस्तु है।

श्रीराधाके प्रेमका यह अपूर्व वैशिष्ठ्य प्रकट करानेके उद्देश्यसे ही महाप्रभुने रामानन्द रायके मुखसे इस प्रेमके विषय-स्वरूप श्रीकृष्णका वैशिष्ठ्य—उनकी अखिल-रसामृतमूर्तिका श्रृङ्गार-रसराज-मूर्तिधरत्व, साक्षान्मन्मथमन्मथत्व, अप्राकृत-नवीन-मदनत्व, आत्मपर्यन्त-सर्वचित्त-हरत्वादि प्रकटित कराया है। इसके बाद उस प्रेमकी आश्रय श्रीराधाका वैशिष्ठ्य भी—उनका महाभावरूपत्व, आनन्द चिन्मयरसत्व, देहेन्द्रियादि-का प्रेम विभावित्व, विशुद्ध-कृष्णप्रेम-रत्नाकरत्व, सौन्दर्य-माधुर्य-सौभाग्यादि—रामानन्द रायके मुखसे प्रकट कराया है। इस प्रकार प्रेमके विषय और आश्रयका सर्वश्रेष्ठत्व प्रकाश कराके—अखण्ड-रसवल्लभ, श्रीनन्द-नन्दनका एवं अखण्ड रसवल्लभा श्रीभानुनन्दिनीका विलास-महत्व प्रकट करानेके उद्देश्यसे प्रभुका अभिप्राय उत्पन्न हुआ। उन्हींके संकेत और प्रेरणासे भाग्यवान राय-रामानन्दने श्रीश्रीराधाकृष्णके विलास-महत्वका वर्णन करते हुए श्रीकृष्णका धीरललित्व वर्णन करके संकेतमें

बताया कि श्रीकृष्णके पूर्वोल्लिखित वैशिष्ट्यका पर्यवसान उनके धीरललित्वमें है और यह भी बताया कि श्रीकृष्णके धीरललित होनेके कारण विलास-वैचित्रीकी चरमोत्कर्षताकी उपयोगी गुणावली उनमें विराजित है। इसके पश्चात् वे नीरव हो गये। नायक और नायिका—दोनोंको लेकर ही विलास होता है। अतः केवल नायकमें परमोत्कर्षता-प्राप्त विलासकी उपयोगी गुणावली रहनेपर भी विलास महत्व पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। नायिकामें भी उस प्रकारकी गुणावली रहना आवश्यक है। किन्तु नायिका श्रीराधिकामें वे सब गुण हैं या नहीं एवं पूर्वोल्लिखित श्रीराधाके वैशिष्ट्य-समूहका पर्यवसान कहाँ है, उसका प्रकाश किये बिना ही रामानन्द रायने मानो अपना वक्तव्य शेष कर दिया—इस प्रकारका भाव प्रकट किया। अवश्य ही श्रीराधाके गुण-वैशिष्ट्यकी एक बात—

शतकोटि गोपीते नहे कामनिर्व्वापन।
ताहाते अनुमानि श्रीराधिकार गुण॥

इत्यादि वाक्यमें वे पहले कह चुके हैं। यह भी प्रभुने सुना, सुनकर

प्रभु कहे जे लागि आइलाम तोमा स्थाने।
सेइ सब रसवस्तु-तत्त्व हैल ज्ञाने॥

किन्तु इतनेपर भी प्रभुकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, इसलिए उन्होंने फिर कहा—

आगे आर किछु शुनिबार मन हय।

इसके पश्चात् ही श्रीकृष्णके वैशिष्ट्यके साथ श्रीराधाके वैशिष्ट्यकी बात भी रायने व्यक्त की एवं श्रीकृष्णके वैशिष्ट्यका पर्यवसान कहाँ है, यह भी बताया; किन्तु श्रीराधाके वैशिष्ठ्यका पर्यवसान कहाँ है, इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहकर उन्होंने मानो नीरवताका आश्रय ले लिया। यदि कोई कहे कि 'शतकोटि गोपीते नहे कामनिर्व्वापन' इत्यादि वाक्यों द्वारा पहले ही श्रीराधाके अपूर्व वैशिष्ठ्यकी बात बता दी गयी, इससे

अधिक और क्या होगा ? उत्तरमें कहा जाता है कि और भी वक्तव्य बाकी रहा है। 'शत कोटि गोपियोंमें जो नहीं है वह श्रीराधामें है'— इस उक्ति द्वारा श्रीराधाके सर्वातिशायी प्रेमको ही संकेत किया गया है; किन्तु यह सर्वातिशायी प्रेम प्रेमवतीको किस अवस्थामें ले जा सकता है, क्या परमोत्कर्ष प्रदान कर सकता है, यह सम्यक् रूपसे व्यक्त नहीं किया गया है। विलासमहत्वकी पराकाष्ठा प्राप्तिके लिए नायकके लिए जिस प्रकार धीरललित्व आवश्यक है, वैसे ही नायिकाके लिए भी स्वाधीन-भर्तृकात्व आवश्यक है।

स्वायत्तासन्नदयिता भवेत् स्वाधीनभर्तृका।

स्वाधीनभर्तृका नायिका ही निःसंकोचपूर्वक नायकसे कह सकती है—

'रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो-
र्घटय जघने काञ्चीं मञ्जुस्रजा कबरीभरम्
कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुराविति।'

प्रेमपरिपाकमें यह स्वाधीनभर्तृकात्व जब चरमतम गाढता प्राप्त करे, तब कैसी अवस्था होती है, श्रीगोपालचम्पुकी उक्तिसे यह दिखाया गया है। किन्तु यहाँतक श्रीराधाके स्वाधीनभर्तृकात्वके सम्बन्धमें—मादनाख्य-महाभावके अद्भुत प्रभावसे यह स्वाधीनभर्तृकात्व कहाँ जाकर पर्यवसित हो सकता है, इस सम्बन्धमें राय रामानन्दने विशेष कुछ नहीं कहा। इस अनिर्वचनीय वैशिष्ठ्य-सूचनाके उपक्रमसे, एक अपूर्व रहस्य-भण्डारके द्वारपर आकर राय मानो रुककर खड़े हो गये। इसके आगे और भी अग्रसर होना प्रभुको अभिप्रेत है या नहीं, यह जाननेके उद्देश्यसे राय रामानन्दका यह ढंग प्रतीत होता है। कारण, बात बहुत रहस्यमय है। गीतामें अर्जुनसे अन्तिम बात जो श्रीकृष्णने कही, उसीको उन्होंने **'सर्व गुह्यतमं वचः'** (गी. १८.६४) बताया है; किन्तु प्रेमविलास-विवर्त्तमें उसकी अपेक्षा भी अनेक गुणा गुह्यतम है; इसीलिए उसको प्रकट करनेमें रामानन्द रायका संकोच है। उनके संकोचको समझकर

प्रभुने जब कहा—'एइ हय—आगे कह आर' तभी रायने उसको प्रकट किया।

जो हो, प्रेमविलास-विवर्त्तमें श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णके विलासकी कथा व्यक्त हुई है। श्रीराधा हैं महाभाव-स्वरूपा ; महाभावका चरमतम विकाश ही हुआ मादनाख्य महाभाव—जो एकमात्र श्रीराधामें ही विराजित है ; महाभावका जो वैशिष्ठ्य है उसका चरमतम विकाश भी इस मादनमें ही है। प्रेमका चरमतम विकाश जहाँ होता है, वहीं प्रेम विलासकी भी चरमतम वैचित्रीकी अभिव्यक्ति होती है, वहीं विलास-महत्वका भी चरमतम विकाश होता है। रामानन्द रायके निकट प्रभुका शेष प्रश्न था विलास-महत्वके सम्बन्धमें। रामानन्द रायका उत्तर पूर्णताको प्राप्त हुआ है प्रेम-विलास-विवर्त्त सूचक 'पहिलहि राग…… …' इत्यादि गीतमें। यह गीत सुननेके बाद विलास-महत्वके सम्बन्धमें प्रभुने और कोई भी प्रश्न नहीं किया ; बल्कि प्रभुने कहा—

'साध्यवस्तु अवधि एइ हय।
तोमार प्रसादे इहा जानिल निश्चय॥ चै.च.म. ८.१५७

यहाँ साध्यवस्तु-तत्त्व जाननेके लिए प्रभुकी आकांक्षा चरम तृप्त हुई है, श्रीराधाकृष्णका विलास-महत्व जाननेकी वासना भी सम्यक् रूपसे परितृप्त हुई है। इसीसे समझा जाता है कि प्रेमविलास-विवर्त्तमें ही विलास-महत्वका चरमतम विकाश है, अतएव प्रेमका भी चरमतम विकाश है एवं महाभावके वैशिष्ठ्यका भी चरमतम विकाश है, अर्थात् मादनाख्य महाभावका भी चरमतम विकाश है, राधाप्रेम-महिमाका भी चरमतम विकाश है।

मादनाख्य-महाभावके चरमतम विकाशमें ही विलास-महत्वका चरमोत्कर्ष है, इस सम्बन्धकी आलोचना एवं प्रेमविलास सम्बन्धी विस्तृत आलोचना भूमिका ग्रन्थमें 'प्रेमविलास-विवर्त्त' प्रबन्धमें द्रष्टव्य है। यहाँपर तो भेदराहित्यकी बात कही गयी है, वह निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धित्सु

ज्ञानमार्गके साधकका भेदराहित्य नहीं है—यह भी उक्त प्रबन्धमें द्रष्टव्य है।

पहले कहा जा चुका है कि प्रेमविलासकी परिपक्वावस्थामें विलास-मात्रैक-तन्मयतावश भ्रम (आत्मविस्मृति या भेदज्ञान-राहित्य) एवं वैपरीत्य उत्पन्न होता है एवं यह भी कहा जा चुका है कि भेदज्ञान-राहित्य (या भ्रम) एवं वैपरीत्य होते हैं प्रेमविलास-परिपक्वताके दो बाहरी लक्षण। इनमें वैपरीत्य विशेष लक्षण नहीं है, यह भी कहा गया है। किन्तु भेदज्ञान-राहित्य प्रेमविलास-परिपक्वताका विशेष लक्षण है। इस भेदज्ञान-राहित्यको ही कवि कर्णपूरने 'परैक्य' कहा है—परैक्य शब्दसे श्रीराधा और श्रीकृष्णके मनकी सर्वतोभावेन एकता या एकरूपता समझी जाती है। प्रेमके प्रभावसे दोनोंके मन विगलित होकर मिलकर एक हो गये हैं, परवर्ती **'राधाया भवतश्च'**—इत्यादि श्लोकस्थ **'निर्धूतभेद-भ्रमम्'**—अवस्थाको प्राप्त हुए हैं—दो टुकड़े लाक्षाके तीव्र तापसे गलकर जिस प्रकार जुड़कर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार। यही श्रीश्रीराधा-कृष्णकी 'परैक्य' अवस्था है, यही भेदज्ञान-राहित्य है ; मनका भेद न होनेके कारण ; ज्ञानका भेद भी नहीं है ; दोनोंके पृथक् अस्तित्व सम्बन्ध-का ज्ञान भी नहीं है ; पृथक् अस्तित्व है ; क्योंकि यह नित्य है ; केवल पृथक् अस्तित्वका ही नहीं, अपने निजके अस्तित्वका ज्ञान या अनुभूति भी नहीं है।

प्रश्न उठ सकता है कि उक्त रूप 'परैक्य' अवस्था ही यदि प्रेमविलास-विवर्त्तका विशेष लक्षण हो, तब राय रामानन्द कृत गीतके शेष भागमें **'अब सोइ विराग'** इत्यादि वाक्यमें विराग या विरहकी बात क्यों कही गयी ? 'परैक्य' अवस्थामें विरहका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इसके दो उत्तर हो सकते हैं। एक उत्तर यह हो सकता है कि गीतके प्रथमार्द्धके अन्तर्भुक्त **'ना सो रमण'** इत्यादि पद ही परैक्य सूचक या प्रेमविलास - विवर्त्त ज्ञापक है। विरह - अवस्थामें खेदके सहित पहलेकी

विलास-मात्रैक-तन्मयता-जनित परैक्यकी बातसे उस अवस्थामें असमोर्द्ध सुखकी बातका उल्लेख करके विरह-यन्त्रणाकी तीव्रतम असहनीयताको ख्यापित किया गया है। कवि कर्णपूरकी नाटकोक्तिसे उक्तरूप तात्पर्यका ही अनुमान होता है। मथुराके राजसिंहासनपर समासीन श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाकी दूतिके मुखसे व्यक्त श्रीराधाकी उक्तिके सम्बन्धमें कर्णपूरने कहा है—

"अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति न तदानीं मतिरभूत्
मनोवृत्तिर्लुप्ता त्वमहमिति नौ धीरपि हता।
भवान् भर्त्ता भार्याहमिति यदिदानीं व्यवसिति-
स्तथापि प्राणानां स्थितिरिति विचित्रं किमपरम्॥

श्रीराधा श्रीकृष्णसे कहती हैं—'तुम जब व्रजमें थे, तब मिलन-समयमें, मैं तुम्हारी कान्ता हूँ और तुम मेरे कान्त हो– इस प्रकारका ज्ञान तब नहीं था ; उस समय (भेदज्ञानमूला) मनोवृत्ति विलुप्त हो गयी थी ; 'तुम और मैं' इस प्रकारकी बुद्धि भी तब हमलोगोंको (तुमको और मुझको) नहीं थी (यहाँ पर्यन्त परैक्यकी बात, गीतस्थ **'ना सो रमण'** इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य ही प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् तत्कालीन विरहकी बात कहते हैं)। तुम भर्त्ता और मैं तुम्हारी भार्या– इस प्रकारकी बुद्धि अब उदित हुई है ; तथापि मेरी देहमें जो प्राण स्पन्दित हो रहे हैं, इसकी अपेक्षा आश्चर्यका विषय और क्या हो सकता है ?"

चैतन्यचन्द्रोदय नाटक ७.१५

नाटककी इस उक्तिको रामानन्द रायके गीतका संस्कृत अनुवाद कहा जा सकता है।

दूसरा उत्तर – सम्पूर्ण गीतको यदि प्रेमविलास-विवर्त्त-द्योतक माना जाय, तो मानना होगा कि पहले गोपालचम्पुकी उक्तिसे वैपरीत्यका एक लक्षण दिखाया गया है – संयोगमें असंयोगका भाव, गीतके शेष अंशमें उसीका दृष्टान्त दिया गया है। यह वास्तव असंयोग या विरह नहीं है,

विरहकी भ्रान्ति मात्र है। मादनाख्य-महाभावके मिलनमें भी विरहका भाव विद्यमान रहता है।

किन्तु प्रथमोक्त समाधान ही कवि कर्णपूरको भी अभिप्रेत है ऐसा प्रतीत होता है। उनके नाटकमें उल्लिखित 'अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति'—इत्यादि काव्यके पश्चात् प्रभुके द्वारा रामानन्द रायके मुखाच्छादन-प्रसंगमें, कवि कर्णपूरने लिखा है—"**निरुपाधि हि प्रेम कथञ्चिदपि उपाधिं न सहते इति पूर्वार्द्धे भगवतोः कृष्णराधयोरनुपाधिप्रेम श्रुत्वा तदैव पुरुषार्थीकृतं भगवता मुखपिधानञ्चास्य तद्रहस्यत्व-प्रकाशकम्** ॥ १.१७ ॥ (परवर्त्ती १५१ पयारकी टीकामें इसकी आलोचना देखिये।" इस नाटकोक्तिसे समझा जाता है—गीतका प्रथमार्द्ध ही निरुपाधिक–परम-पुरुषार्थ-सूचक परैक्यज्ञापक एवं द्वितीयार्द्ध सोपाधिक—भेदज्ञान-ज्ञापक होनेके कारण परैक्य ज्ञान-हीन। परवर्त्ती पयारकी टीका देखिये।

एत कहि आपनकृत गीत एक गाइल।

प्रेमे प्रभु स्वहस्ते तार मुख आच्छादिल ॥१५१॥

आपनकृत—रामानन्द राय स्वयंके द्वारा रचित। **गीत एक**—परवर्त्ती 'पहिलहि राग' इत्यादि गीत। यह रामानन्द रायका स्वरचित है। **प्रेमे प्रभु** इत्यादि—यह गीत सुनकर प्रभुने अपने हाथसे रामानन्द रायका मुख आच्छादित कर दिया कि जिससे और न बोल सके। प्रभुने रायका मुख बन्द इसलिए नहीं किया कि रायने जो कुछ कहा वह प्रभुको अनभिप्रेत होनेके कारण विरक्ति हुई हो, परन्तु प्रेमावेशके वश किया। रामानन्दने जिस रहस्यका संकेत किया, प्रभुको वह ही अभिप्रेत था। यह रहस्य जाननेके लिए ही प्रभुने रायसे कहा था '**आगे कह आर**'। रामानन्दके गीतमें उस रहस्यका संकेत पाकर प्रभुको अत्यन्त आनन्द हुआ, अत्यन्त प्रेमावेश हुआ। इस प्रेमावेशके वश होकर प्रभुने

रायका मुख शिघ्रातिशीघ्र आच्छादन किया, जिससे राय और कुछ प्रकाशमें न ला सकें। किन्तु ऐसा क्यों किया ?

इस सम्बन्धमें कवि कर्णपूरने अपने चैतन्यचन्द्रोदय नाटकमें लिखा है,—"सर्प अपना फन उठाकर जिस प्रकार सपेरेका वाद्य सुनता है, उसी प्रकार प्रभु सावधान होकर अत्यन्त तृप्ति सहित रामानन्द रायकी उक्ति सुनने लगे। उसके पश्चात् उस प्रकारकी उक्तिके अन्तर्निहित भावके प्रकाशका उपयुक्त अवसर उस समय नहीं हुआ था, ऐसा समझ कर अथवा हो सकता है प्रेमविवशताके वश अपने कर-कमल द्वारा प्रभुने रामानन्दका मुख आच्छादित किया—

व्यधिकरणतया आनन्दवैवश्यतो वा,
प्रभुरथ करपद्मेनास्यमस्याप्यधत्त।"

चैतन्यचन्द्रोदय नाटक ७.१६

कवि कर्णपूरने अपने नाटकमें इस सम्बन्धमें और भी लिखा है—"**निरुपाधि हि प्रेम कथंचिदपि उपाधिं न सहते इति पूर्वार्द्धे भगवतोः कृष्णराधयोरनुपाधिप्रेम श्रुत्वा तदेव पुरुषार्थीकृतं भगवता मुखपिधानं चास्य तद्रहस्यत्वप्रकाशकम्।**" निरुपाधि (कपटहीन) सुनिर्मल प्रेम कभी भी उपाधि (या कपटता) सहन नहीं कर सकता। इसलिए (**नाहं कान्ता कान्तस्त्वमिति - ना सो रमण ना हाम रमणी** इत्यादि वाक्यमें) प्रथमार्द्धमें श्रीश्रीराधामाधवके सुविशुद्ध प्रेमकी बात सुनकर प्रभुने उसको ही परम-पुरुषार्थ रूप निश्चय करके रामानन्द रायका मुख आच्छादन किया। परम-पुरुषार्थ सूचक प्रथमार्द्धके ये वाक्य परम रहस्यमय हैं, अतः प्रभुकृत रामानन्द रायके मुख आच्छादन द्वारा यही सूचित होता है।

प्रभुकृत रामानन्द रायका मुखाच्छादनके सम्बन्धमें कवि कर्णपूरने दो हेतु उल्लेख किये हैं। एक हेतु हुआ—प्रभुका आनन्दवैवश्य। रामानन्दके गीतमें जिस परम रहस्यका संकेत दिया गया है, उसका अनुभव करके

राधाभावाविष्ट प्रभुकी आनन्द - विवशता अस्वाभाविक नहीं है। इस विवशताके भावको सर्वदा आत्मगोपनमें तत्पर प्रभु हो सकता है कि चेष्टा करके गोपन कर सकते। उस समय भी विवशता पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई ऐसा प्रतीत होता है - अन्ततः पूर्णताका वहिर्विकाश नहीं हुआ; इसीलिए वे अपना हाथ उठा सके, हाथ उठाकर रामानन्दका मुख आच्छादित कर सके। किन्तु रामानन्द राय और भी कुछ कहकर प्रेमविलास-विवर्त्तको यदि और भी स्पष्ट करनेकी चेष्टा करते तो हो सकता है कि प्रभुके चित्तकी भावतरंग इस प्रकार उच्छ्वसित हो उठती कि उसका संवरण करना उनके लिए असम्भव हो जाता। इसीलिए उन्होंने रायका मुख आच्छादन किया।

कविकर्णपूर द्वारा कथित द्वितीय हेतु यह है। रामानन्दके गीतमें जिस तत्त्वका संकेत किया गया है, वह अत्यन्त रहस्यमय है; उस तत्त्वको और अधिक परिस्फुट करनेका समय तब भी नहीं हुआ था। राय जिससे और कुछ न कह सकें, इसी उद्देश्यसे उनका मुखाच्छादन किया।

'तब भी समय नहीं हुआ था'—इस बातका क्या अर्थ है? कब समय होगा? ऐसा लगता है कि रामानन्दने जिस तत्त्वका संकेत किया है, यदि वह उद्घाटित हो जाय, तो प्रभुका स्वरूपतत्त्व ही उद्घाटित हो पड़ेगा। वस्तुतः प्रेमविलास-विवर्त्तके मूर्त्त विग्रह हैं श्रीमन् महाप्रभु (इस उक्तिके हेतु-सम्बन्धी आलोचना भूमिकाके प्रेमविलास-विवर्त्त सम्बन्धके शेषांशमें द्रष्टव्य है)। रामानन्दके निकट यह तत्त्व उद्घाटित हो जाय, तब वे उसी समय प्रभुके स्वरूपकी उपलब्धि प्राप्त कर लें; तब आलोचना ही बन्द हो जायगी (इसी परिच्छेदका परवर्ती २३४ पयार देखिये)। किन्तु तब भी आलोचना शेष नहीं हुई—विशेषतः जीवके लिए जो नितान्त आवश्यक है, उस साधन-तत्त्वकी आलोचना तो आरम्भ ही नहीं हुई। इसलिए प्रभु नहीं चाहते कि उसी समय रामानन्द उनको पहचान लें—किन्तु प्रेमविलास-विवर्त्तकी आलोचना जिस स्तरपर पहुँच चुकी,

उस स्तरसे कुछ भी अग्रसर होते ही रामानन्द अपने गाढ़ प्रेमवश समझ जाते कि वे किनके साथ बातचीत कर रहे हैं। इसीसे प्रभुने उनका मुखाच्छादन कर दिया। विस्तृत विचार 'प्रेमविलास-विवर्त्त' प्रबन्धमें द्रष्टव्य है।

'निरुपाधि हि प्रेम कथं चिदपि उपाधिं न सहते'—इत्यादि वाक्यमें कवि कर्णपूरने मुखाच्छादनके और भी एक हेतुका संकेत किया है। निरुपाधि प्रेम किसी भी प्रकारसे उपाधि सहन नहीं कर सकता। जो उपाधिहीन है, वही निरुपाधि है ; किन्तु उपाधि किसको कहते हैं ?

लकड़ी यदि गीली हो, तभी उससे उत्पन्न अग्निमें धुआँ रहता है, अतः अग्निमें धुआँ रहनेका हेतु हुआ लकड़ीका गीलापन। यहाँ लकड़ीका गीलापन हुआ अग्निकी उपाधि एवं धूमवान अग्नि हुई सोपाधिक अग्नि और धूमहीन अग्नि हुई निरुपाधिक अग्नि। यहाँ अग्निके दो भेद हैं—सधूम एवं धूमहीन। इस भेदका हेतु हुआ उपाधिरूप आर्द्रत्व (गीलापन)। इसीसे न्याय-मुक्तावलीका कहना है कि—'पदार्थ-विभाजकोपाधित्वम्'। जो हो विरह भी प्रेमकी एक वैचित्री है ; सम्भोगात्मक मिलन भी प्रेमकी एक वैचित्री है। काष्टमें स्वभावसे ही प्रच्छन्न भावसे अग्नि विद्यमान है ; किसी उपलक्ष्यसे वह विकसित होकर निर्धूम अग्नि रूपसे आत्मप्रकाश करता है। मञ्जिष्ठा-रागवती श्रीराधामें भी स्वभावसिद्ध या नित्यसिद्ध ललनानिष्ठ प्रेम विद्यमान है ; किसी भी एक सामान्य उपलक्ष्यसे वह स्वतः उद्बुद्ध होता है (परवर्ती १५२ पयारकी टीका देखिये), तृतीय व्यक्तिके मध्यवर्तिताकी आवश्यकता नहीं होती। जिस तरह निर्धूम अग्निके प्रकाशके लिए आग या काष्ठके अतिरिक्त तृतीय किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। इसीसे जिस प्रकार निर्धूम अग्नि निरुपाधि है, उसी प्रकार श्रीराधाका स्वतः स्फूर्त्त प्रेम भी निरुपाधि है एवं वह प्रेमविलास-विवर्त्तसे, तज्जनित परैक्यसे सम्यक्‌रूपसे प्रकाशमान

होता है, जिस प्रकार निर्धूम अग्नि प्रज्ज्वलित शिखारूपसे प्रकाशमान होती है।

किन्तु आर्द्रताकी मध्यवर्तितासे अग्नि जिस प्रकार धूमके सहयोगसे सोपाधिकरूपसे—सधूम अग्निरूपसे प्रकाश पाती है, उसी प्रकार नायक और नायिकाके मध्य एककी कपटताके या कपटताभासके या कपटताके अनुमानकी मध्यवर्तितासे विरहका आविर्भाव होता है ; अतः विरह हुआ सोपाधिक प्रेम।

इस गीतके प्रथमार्द्धमें निरुपाधिक प्रमकी बात एवं शेषार्द्ध 'अब सोइ विराग' इत्यादि पदमें सोपाधिक प्रेमकी बात है। निरुपाधिक प्रेमकी बात सुनकर प्रभुके चित्तमें जिस अपूर्व आनन्दका सञ्चार हुआ था, परवर्ती पदके सोपाधिक प्रेमरूप विरहकी बात विस्तृत भावसे सुननेपर वह तिरोहित तो होगा ही, प्रभुके चित्तमें अपरिसीम दुःख भी होगा। इसीसे प्रभुने रामानन्दका मुख आच्छादन किया, जिससे विरहकी बात न कह सके। अथवा इस मुखाच्छादनके द्वारा मानो यह बताया कि यह विरह व्यापक पद न कहना ही अच्छा होता। निरुपाधि प्रेमका चरमतम पर्यवसान श्रीराधाकृष्णके परैक्यकी बात सुनकर प्रभुको प्रेमावेश उत्पन्न हुआ था, उस प्रेमावेशमें ही प्रभुने रायका मुखाच्छादन किया—वह आवेशजनित आनन्द मानो रामानन्द क्षुन्न न करे। मुखाच्छादनका यह भी एक हेतु हो सकता है, किन्तु यह मुख्य हेतु प्रतीत नहीं होता। रासस्थलीसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान प्रसंगमें सामयिक विरहकी बातका पहले भी उल्लेख हुआ है, तब प्रभुने रामानन्दका मुखाच्छादन नहीं किया।

रामानन्दका गीत

पहिलहि राग नयन भङ्ग भेल।
अनुदिन बाढ़ल—अवधि ना गेल ॥१५२॥

१५२ से १५६ पयार तक रामानन्दका गीत है।

पहिलहि—प्रथम। **राग**—अनुरक्ति, आसक्ति। राग शब्दका एक पारिभाषिक अर्थ भी है। प्रेम क्रमशः वृद्धिप्राप्त होकर स्नेह, मान और प्रणयमें परिणत होता है; प्रणयमें अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह और परिच्छद आदि सहित प्रीतिके विषयके प्राण, मन, बुद्धि, देह और परिच्छद आदिके साथ अभिन्नताका ज्ञान उत्पन्न होता है। यह प्रणय ही और भी ऐसी एक उत्कर्ष अवस्थामें जब पहुँचता है जिससे श्रीकृष्ण दर्शन आदिकी सम्भावना रहनेसे अत्यधिक दुःख भी सुख-सा लगता है, तब उसको राग कहते हैं।

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वनैव व्यजते ।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥

उ.नी.स्था. ८४ (१४.१२६)

पूर्ववर्ती १३४व पयारकी टीका पृष्ठ २५९-२६० पर देखिये। किन्तु कृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावना न रहनेपर परम-सुखमय वस्तु भी रागमें परम-दुखमय-सी प्रतीत होती है। जो हो, इस प्रेमोत्कर्षजनित रागकी अनेक वैचित्री है। राग शब्दका एक साधारण अर्थ है, रंग या वर्ण। वर्णकी भी अनेक वैचित्री है; उनमें स्थायित्व आदि विषयमें नील वर्ण एवं लाल या रक्त वर्णका वैशिष्ठ्य है; नील एवं लाल रंग—इनकी भी अनेक वैचित्री है। स्थायित्व और औज्ज्वल्य विषयमें प्रेमोत्कर्षजनित रागके सहित नील और रक्त वर्णका कुछ सादृश्य होनेके कारण इन दो वर्णोंकी सहायतासे रस-शास्त्रके निर्मातागण प्रेमोत्कर्षजनित रागकी विविध वैचित्रीके धर्म प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि प्रेमजात राग प्रधानतः दो प्रकारका है—नीलिमा और रक्तिमा—उ.नी.स्था. ८६ (१४.१२९)। नील रंग जैसे स्थायी है, तथापि विशेष उज्ज्वल नहीं है, उसी प्रकार जो राग स्थायी अर्थात् ध्वंसका कारण वर्त्तमान रहनेपर भी ध्वंश नहीं होता, तथा विशेष प्रकाशमान भी नहीं होता, उसको नीली राग कहते हैं; यह

स्वलग्न भावको (मनके निजस्व भावको) मानादि द्वारा आवृत करके रखता है। चन्द्रावली आदिमें नीली राग विद्यमान है। रक्तिमा राग भी दो प्रकारका होता है - लाल रंगके समान—कुसुम्भ-रक्तिमा एवं मञ्जिष्ठा रक्तिमा; कुसुम्भ फूलका वर्ण भी लाल होता है और मञ्जिष्ठा भी लाल होता है—उ.नी.स्था. ९३ (१४.१३५)। कुसुम्भ फूलका रंग स्वभावसे पक्का नहीं होता; किन्तु अन्य किसी कषाय द्रव्यके योगसे वह पक्का हो सकता है; श्यामलादि सखीगणका राग है कुसुम्भ राग, श्रीराधाकी संगिनीगणके संगवश (उनके संगरूप कषाय द्रव्यके योगवश) श्यामलादिका कुसुम्भ राग भी स्थायित्व प्राप्त कर लेता है।

सदाधारविशेषेषु कौस्तुम्भोऽपि स्थिरोभवेत्।
इति कृष्णप्रणयिषु म्लानिरस्य न युज्यते॥

उ.नी.स्था. ९६ (१४.१३८)

कुसुम्भ रंग जिस प्रकार शीघ्र ही वस्त्रादिमें लग जाता है, उसी प्रकार कुसुम्भ राग भी साधनसिद्ध गोपीदेह-प्राप्त प्रेमिक भक्तोंके चित्तमें शीघ्र ही संलग्न हो जाता है। कुसुम्भ रागकी अपेक्षा मञ्जिष्ठा रागका परमोत्कर्ष है। मञ्जिष्ठाका लाल रंग नील रंगकी तरह ही स्थायी होता है, किन्तु नील रंग अधिक प्रकाशवान या उज्ज्वल नहीं होता, उसकी शोभा भी अधिक चित्ताकर्षक नहीं होती; किन्तु मञ्जिष्ठाका लाल रंग जैसा पक्का होता है, वैसा ही उज्ज्वल और शोभा-सम्पन्न भी होता है; अतएव नील रंगकी अपेक्षा मञ्जिष्ठाके लाल रंगका उत्कर्ष होता है। कुसुम्भ रंग कुछ उज्ज्वल होता है, किन्तु स्थायी नहीं होता, मञ्जिष्ठाका लाल रंग स्थायी होता है। इस प्रकार देखा गया कि स्थायित्व एवं उज्ज्वलतामें मञ्जिष्ठाका लाल रंग ही सर्वश्रेष्ठ है। उसी प्रकार प्रेमोत्कर्षजनित मञ्जिष्ठा राग ही नीली राग एवं कुसुम्भ रागकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। मञ्जिष्ठा रागके सम्बन्धमें उज्ज्वलनीलमणिका कहना है—

"अहार्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्द्धते सदा ।
भवेन्मञ्जिष्ठरागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा ॥

उ.नी.स्था. ९७ (१४.१३९)

जो राग किसी भी प्रकारसे नष्ट नहीं होता, जो अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता, जो अपनी कान्ति द्वारा सतत-वर्द्धनशील है, उसको मञ्जिष्ठा राग कहते हैं—जैसे श्रीश्रीराधामाधवका परस्परके प्रति राग।" मञ्जिष्ठाका लाल रंग जिस प्रकार जलसे नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार प्रेमोत्कर्षजनित मञ्जिष्ठा राग भी सञ्चारी भावादि द्वारा नष्ट नहीं होता। यही श्लोकस्थ 'अहार्य' शब्दकी व्यञ्जना है। मञ्जिष्ठाका लाल रंग जिस प्रकार स्वतः ही उज्ज्वल होता है, इसकी उज्ज्वलता सम्पादनके लिए अन्य किसी भी रंगकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार प्रेमोत्कर्ष-जनित मञ्जिष्ठा राग भी स्वतःसिद्ध है, इस रागकी उत्पत्तिके लिए अन्य किसीकी भी सहायता ग्रहण करनी नहीं पड़ती। यही श्लोकस्थ 'अन्य-सापेक्ष' शब्दका तात्पर्य है। मञ्जिष्ठाके लाल रंगकी कान्ति जिस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, उसी प्रकार प्रेमोत्कर्षजनित मञ्जिष्ठा राग भी दिन-प्रतिदिन वर्द्धित होता रहता है। इस वृद्धिका कोई अन्त नहीं है। यही श्लोकस्थ 'कान्त्या वर्द्धते सदा' वाक्यका तात्पर्य है। श्रीश्रीराधामाधवमें ही यह परमोत्कर्षमय मञ्जिष्ठा राग विद्यमान है। उज्ज्वलनीलमणिमें जो मञ्जिष्ठा रागका दृष्टान्त दिया गया है, उसका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

"धत्ते द्रागनुपाधि जन्म विधिना केनापि न कम्पते ।
सूतेऽत्याहितसञ्चयैरपि रसं ते चेन्मिथो वर्त्मने ॥
ऋद्धिं सञ्चिनुते चमत्कृतिकरोद्दाम प्रमोदोत्तराम् ।
राधामाधवयोरयं निरुपमः प्रेमानुबन्धोत्सवः ॥

उ.नी. स्था. ९८ (१४.१४०)

देवी पौर्णमासीसे नान्दीमुखीने जब रागके लक्षणकी बात पूछी तब

पौर्णमासीने उनसे कहा—राधामाधवका यह निरुपम प्रेमबन्धोत्सव उपाधि-के बिना भी अति शीघ्र उत्पन्न होता है ; किसी भी विधि द्वारा यह विचलित नहीं होता ; गुरुजन जनित भय अथवा क्लेश-परम्परा उपस्थित होनेपर भी वह यदि परस्परके वर्त्मलाभका (परस्परके सहित मिलनका) निमित्त होता है, तो उसके द्वारा भी रसकी उत्पत्ति होती है एवं वह इस प्रकारसे समृद्धि सञ्चय करता है कि उसके द्वारा चमत्कृतिजनक उद्दाम आनन्दका उदय होता है।'' इस दृष्टान्तसे जाना गया—(१) मञ्जिष्ठा राग अति शीघ्र सञ्जात होता है। कुसुम्भ रागके लक्षण **'यश्चित्ते सज्जति द्रुतम्'** वाक्यसे प्रतीत हो सकता है कि कुसुम्भ रागमें भी मञ्जिष्ठा रागकी तरह द्रुतसञ्जात्व गुण है किन्तु टीकामें श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—**"तादृशमपि जन्म द्रागेव धत्ते न तु कौस्तुम्भ-वत्तदंशक्रमेण इत्यर्थः। यश्चित्ते सज्जति द्रुतमित्यत्र तु चित्त-व्यञ्जनाया एव द्रुतत्वमुक्तं न तु रागोत्पत्तेरिति भेदः**—मञ्जिष्ठा रागका जन्म द्रुत ही होता है, कौसुम्भ रागकी तरह अंशक्रमसे नहीं। कौसुम्भ रागके लक्षणमें जो 'चित्तमें शीघ्र संलग्न होता' कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कौसुम्भ रागकी उत्पत्ति द्रुत नहीं, चित्तमें उसकी व्यञ्जना ही द्रुत है ; किन्तु मञ्जिष्ठा रागकी उत्पत्ति द्रुत है—यही पार्थक्य है।" (२) इसका जन्म निरुपाधि है, गुण-श्रवण आदि या दूती आदि अन्य कोई भी वस्तुकी सहायताके बिना इसका जन्म है ; यह स्वतः सिद्ध, अनन्यसापेक्ष है। (३) **'ऋद्धिं सञ्चिनुते'** वाक्यमें समृद्धि-सञ्चयकी बात कही गयी है ; क्रमशः दिन-प्रतिदिन जमा करते-करते ही सञ्चय होता है ; अतएव इसके द्वारा मञ्जिष्ठा रागके लक्षणमें उक्त **'यः कान्त्या वर्द्धते सदा'** वाक्यकी बात या अनुदिन-वर्द्धनकी बात कही गयी है। (४) 'किसी भी विधि द्वारा विचलित नहीं होता—**विधिना केनापि न कम्पते**' एवं 'गुरुजन द्वारा भय या कष्ट-परम्परा द्वारा भी इसकी उत्पत्ति होती है' इत्यादि वाक्यमें मञ्जिष्ठा - राग - लक्षणोक्त

'अहार्यत्व' की बात कही गयी है। इस प्रकार मञ्जिष्ठा-रागके कुछ प्रधान लक्षणोंकी बात जानी गयी—द्रुतसञ्जात्व, निरुपाधित्व या अनन्य-सापेक्षत्व, अनुदिनवर्द्धनत्व एवं अहार्यत्व या नित्यत्व।

इस पयारमें जो 'राग' की बात कही गयी है, वह प्रेमोत्कर्षजनित मञ्जिष्ठा राग है, परवर्ती वर्णनसे यह समझमें आ जायगा।

नयन भङ्ग भेल—नयनके भंगमें या आँखकी पलक पड़नेमें जो समय लगता है, उतने अल्प समयके भीतर ही यह राग जन्मा। इसके द्वारा मञ्जिष्ठा रागका द्रुतसञ्जात्व सूचित होता है। यह कुसुम्भ रागकी तरह अंशक्रमसे—क्रमशः उत्पन्न नहीं होता, अतएव इसके उद्भवमें अधिक समय नहीं लगता, बल्कि अति अल्प समयमें—मानो अचानक ही—यह उत्पन्न होता है, यह मञ्जिष्ठा रागका लक्षण है। यही ललनानिष्ठ प्रेमका स्वभाव है। ललनानिष्ठ प्रेम आरम्भसे श्रीकृष्णके रूपदर्शन या गुणश्रवण आदिके बिना ही उद्बुद्ध होता है एवं उद्बुद्ध होकर द्रुतगतिसे श्रीकृष्णमें गाढ़ रति उत्पादन करता है।

"स्वरूपं ललनानिष्ठं स्वयमुद्बुद्धतां व्रजेत्।
अदृष्टेऽप्यश्रुतेऽप्युच्चैः कृष्णे कुर्याद् द्रुतं रतिम्॥

उ.नी.स्था. २६ (१४.३८)

व्रजसुन्दरियोंके चित्तमें यह प्रेम स्वयंसिद्ध है—अनादिकालसे ही विद्यमान है (निष्ठ—नित्य स्थितिशील)। प्रकटलीलामें उनके स्वरूपादिके सम्बन्धमें उनका ज्ञान प्रच्छन्न रहनेपर भी यह प्रेम प्रच्छन्न नहीं रहता; यह उनके चित्तमें मानो धक्-धक् जलता रहता है, किसीको पानेके लिए जैसे सर्वदा ही आकुल-व्याकुल हुआ रहता है; इस प्रेमके प्रभावसे श्रीकृष्ण बीच बीचमें मानो उनके साक्षात्में स्फूर्तिप्राप्त होते हैं; स्फूर्तिप्राप्त होते ही प्रेम स्वयं उद्बुद्ध—प्रज्ज्वलित हो उठता है; तथापि श्रीकृष्ण कौन हैं, उनके क्या गुणादि हैं, तबतक वे कुछ नहीं जानतीं। इस ललनानिष्ठ प्रेमकी चरम-निधान हैं श्रीश्रीराधारानी। श्रीराधा एवं उनके यूथकी गोप-

सुन्दरियोंकी श्रीकृष्णप्रीति इतनी गाढ है कि सेवा द्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेकी बलवती वासनासे उनका वेदधर्म-कुलधर्म लोकलज्जा-धैर्य आदि तकका अनायास त्याग करानेमें समर्था है ; इसीसे इसको समर्था रति भी कहते हैं। इन समर्था रतिमती श्रीराधा-प्रमुखा गोपीगणका ललनानिष्ठ प्रेम जन्मसे ही श्रीकृष्णके दर्शनके बिना ही उनसे सम्बन्धित कोई भी वस्तुके (उनका नाम, उनका कण्ठस्वर, उनकी वंशीध्वनि, उनके स्फूर्तिप्राप्त रूपका या उन सम्बन्धी अन्य किसी भी वस्तुके) सहित सामान्यमात्र सम्बन्ध होते ही उनके निजसम्बन्धी वेदधम-कुलधर्मादिको सम्पूर्णरूपसे भुला देता है, वही प्रेम सान्द्रतम—नीरन्ध्र हो उठता है ; तब उनकी श्रीकृष्ण-प्रीति-वासनाके (जिनके शब्दादिके साथ सामान्यमात्र सम्बन्ध हुआ है. उनके सुखोत्पादनकी वासनाके) बीच अन्य कोई भी वासना प्रवेश नहीं पा सकती।

"स्व-स्वरूपात्तरीयाद्वा जातो यत्किञ्चिदन्वयात् ।
समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता ॥

उ.नी.स्था. ३८ (१४.५३)

गीतके 'नयन-भङ्ग भेल' वाक्यमें इसी जातीय प्रेमकी बात कही गयी है—श्रीकृष्णके साथ साक्षात् आदि होनेके पूर्व ही उनके सामान्य शब्द श्रवणादि मात्रसे ही, तत्क्षण, निमेषमात्रमे चित्तस्थित अनादिसिद्ध प्रेम उद्‌बुद्ध हो उठता है। उद्‌बुद्ध होकर निरवच्छिन्न भावसे वृद्धिप्राप्त होता रहता है। 'नयन भङ्ग भेल' वाक्यमें मञ्जिष्ठा रागका द्रुतसञ्जातत्व सूचित होता है।

अनुदिन—दिन-प्रतिदिन ; निरवच्छिन्नभावसे। **बाढ़ल**—वृद्धिको प्राप्त हुआ। 'अनुदिन बाढ़ल' वाक्यसे मञ्जिष्ठा रागकी दिन-प्रतिदिन वर्द्धमानशीलता सूचित होता है। **अवधि**—सीमा। **ना गेल**—नहीं पायी। श्रीराधाने कहा—अति अल्प समयमे—मानो अचानक ही—श्रीकृष्णके प्रति मेरा ज़ो राग (अनुरक्ति) उत्पन्न हुआ है, वह दिन-प्रतिदिन

निरवच्छिन्न भावसे बढ़ता रहता है ; इस प्रकार बढ़नेपर भी यह किसी सीमाको नहीं पहुँच पाता, इसकी निरवच्छिन्न वृद्धि कभी स्थगित नहीं होती। यह विभु वस्तुका लक्षण है।

राधाप्रेम विभु तार बाड़िते नाहि ठाञि।
तथापि से क्षणे क्षणे बाड़ये सदाइ॥
चै.च.आ.४.१११

अनुराग चरम परिणतिको प्राप्त होनेपर भी, इसके स्वाभाविक धर्मके अनुसार यह क्रमशः बढ़ता ही रहता है, अतएव यह कभी भी शेष सीमा तक नहीं पहुँचता, इसकी शेष सीमा कोई है ही नहीं। श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे कहा है—

मम् माधुर्य्य राधाप्रेम दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाड़े दोंहे केहो नाहि हारि॥
चै.च.आ.४.१२४

ना सो रमण ना हाम रमणी।
दुहूँ मन मनोभव पेषल जानि॥१५३॥

ना—नहीं हैं। **सो**—वे अर्थात् श्रीकृष्ण। **रमण**—रतिकर्त्ता नायक। **हाम**—मैं अर्थात् श्रीराधा। **रमणी**—रति सम्पादिनी नायिका। **दुहूँ मन**—दोनोंके चित्तको ; श्रीराधा और श्रीकृष्ण, इन दोनोंके चित्तको। **मनोभव**—मनमें जिसका उद्भव या उत्पत्ति हो ; वासना ; परस्परको सुखी करनेकी वासना। श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिए श्रीराधाकी वासना एवं श्रीराधाको सुखी करनेके लिए श्रीकृष्णकी वासना। परस्परके प्रति दोनोंकी प्रीति या प्रेम। श्रीराधाके मनमें भी स्वसुख वासना नहीं है, श्रीकृष्णके मनमें भी स्वसुख वासना नहीं है। उनकी प्रीति पारस्परिकी है। **पेषल**—पीसकर एक कर दिया। **जानि**—मानो। परस्परकी सुखवासना दोनोंके मनको गलाकर या पीसकर मानो एक कर

दिया है, अभिन्न बना दिया है, दोनोंके मनकी वासनाका पार्थक्य मानो पूर्ण रूपसे विलुप्त कर दिया है। अथवा जानि—जानता हूँ, समझमें आता है। मालुम होता है—परस्परकी सुखवासनाने दोनोंके मनको गलाकर या पीसकर एक कर दिया है।

पूर्व पयारमें कहा गया है—प्रेम निरवच्छिन्न भावसे क्षण-प्रतिक्षण, दिन-प्रतिदिन, क्रमशः वर्द्धित होता रहता है। अर्थात् विलास आदि द्वारा कृष्णके प्रीति-विधानकी वासना एवं तज्जनित उत्कण्ठा भी केवल वर्द्धित होती है; मिलन हो जानेपर भी एवं मिलनसे सम्भोगादि हो जानेपर भी वह श्रीकृष्ण-प्रीति-वासना एवं श्रीकृष्ण-प्रीतिके निमित्त उत्कण्ठा विन्दु मात्र भी प्रशमित नहीं होती, बल्कि उत्तरोत्तर वर्द्धित होती रहती है; विशुद्ध निर्मल प्रेमका धर्म इसी प्रकारका होता है। 'तृष्णा शान्ति नहे, तृष्णा बाड़े निरन्तर।' श्रीकृष्णको सुखी करनेके निमित्त श्रीराधाकी निरवच्छिन्न भावसे वर्द्धनशीला एवं बलवती उत्कण्ठा अपने स्वरूपगत धर्मके प्रभावसे ही श्रीकृष्णके मनमें श्रीराधाके प्रीति-विधानके निमित्त उसी प्रकारकी उत्कण्ठा जगा देती है। निरवच्छिन्न भावसे वर्द्धनशीला दोनोंकी इस प्रकारकी उत्कण्ठा जब सर्वातिशायी रूपसे वर्द्धित होती है, तब विलास आदि द्वारा परस्परको सुखी करनेकी वासना द्वारा प्रेरित होकर वे जब परस्पर मिलते हैं एवं विलास-सुखमें निमग्न होते हैं, तब भी उपशान्तिहीन उत्कण्ठावश मिलन-सुखको भी वे स्वाप्निक मानते हैं, मिलनमें भी विच्छेदका भ्रम उत्पन्न होता है। तब परस्परके सुख सम्पादनके लिए परम-उत्कण्ठावश एकमात्र विलास-व्यापारमें उनको निविड़-तन्मयता उत्पन्न होती है। इस विलासमात्रक तन्मयतावश विलासके अतिरिक्त अन्य सब विषयोंमें उनकी चित्तवृत्तिकी क्रिया विलुप्त हो जाती है; समस्त चित्तवृत्ति उस समय केन्द्रीभूत होती है एकमात्र विलास व्यापारमें। उस समय उनको अपने अस्तित्वका ज्ञान तक भी विलुप्त हो जाता है; अतएव श्रीकृष्ण रमण या कान्त हैं—इस

प्रकारका ज्ञान श्रीकृष्णके मनमें भी नहीं रहता और श्रीराधाके मनमें भी नहीं रहता एवं श्रीराधा रमणी या कान्ता हैं—इस प्रकारका ज्ञान भी श्रीराधाके मनमें भी नहीं रहता, श्रीकृष्णके मनमें भी नहीं रहता। इस प्रकारकी अवस्थाकी बात ही परवर्ती कालमें श्रीराधाने कही है—

"सखि न स रमणो नाहं रमणीति भिदावयोरास्ते।
प्रेम रसेनोभयमन इव मदनो निष्पिपेष बलात्॥

अथवा

अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति न तदानीं मतिरभूत।
मनोवृत्तिर्लुप्ता त्वमहमिति नो धीरपि हता॥

चै.च.ना. ७. १६, १७ (७.१४,१५)

हे सखि! वे (श्रीकृष्ण) रमण और मैं रमणी—ऐसी भेद बुद्धि उस समय हमलोगोंकी नही थी; कारण, दुरन्त मदनने बलपूर्वक प्रेमरसमे दोनोंके चित्तको निष्पेषित कर दिया था। अथवा, उस समय 'मैं कान्ता एवं तुम कान्त' इस प्रकारकी बुद्धि नहीं थी; कारण, उस समय चित्तवृत्ति विलुप्त होनेसे 'तुम और मैं'—यह भेद बुद्धि भी हम दोनोंकी विनष्ट हो गयी थी।" गीतके '**ना सो रमण**' इत्यादि आलोच्य पयारमें भी इसी बातको प्रकट किया गया है। इसके द्वारा परवर्ती '**राधाया भवतश्च**' इत्यादि श्लोकस्थ '**निर्धूतभेदभ्रमम्**' अवस्थाकी बात विलास-मात्रेक-तन्मयतावश श्रीराधामाधवके चित्तकी 'परैक्य' की बात कही गयी है। जिस विलासमें इस प्रकारकी अवस्था उत्पन्न हो, उसीमें विलास-महत्वकी चरम पराकाष्ठा है, उसमें प्रेमजनित विलासकी चरम परिपक्वता-प्रेम-विलास विवर्त्त है। राय रामानन्दके गीतमें यह पयार ही प्रेम-विलास विवर्त्तका परिचायक है।

ए सखि! से-सब प्रेमकाहिनी।
कानुठामे कहबि, बिछुरह जानि ॥१५४॥

ए सखि—हे सखि! **से सब प्रेमकाहिनी**—'पहिलहि राग' से लेकर 'पेषल जानि' तक दो पयारोंमें कही गयी प्रेम-कथा। **कानुठामे**—श्रीकृष्णके निकट। **कानु**—कन्हैया, कृष्ण। **कहबि**—कहना। **बिछुरह जानि**—विस्मृत मत हो जाना ; भूल नहीं जाना। श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटकके पूर्वोद्धृत **'अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति'** उक्तिके द्वारा जाना जाता है कि श्रीकृष्ण जब मथुरामें थे, इस गीतमें वर्णित बात उनसे कहनेके लिए श्रीराधाने अपनी एक दूतीको मथुरा भेजा था। इस दूतीको लक्ष्य करके मथुरा जानेके ठीक पूर्व—श्रीकृष्णसे क्या-क्या कहना होगा, श्रीराधा उसे सिखा दे रही थी, उस समय श्रीराधाने इस पयारमें वर्णित बात ही कही थी। उन्होंने कहा था –"सखि, स्वतः उद्‌बुद्ध जो प्रेम दिन-प्रतिदिन निरवच्छिन्न भावसे बढ़ते बढ़ते ऐसे एक स्तरतक पहुँच चुका था, जिस स्तरमें इस व्रजमें हमलोगोंके मिलनमें परम उत्कण्ठावश हमलोगोंको परैक्य हो जानेके कारण, हम दोनोंके बीच—कौन रमण है कौन रमणी—यह ज्ञान भी विलुप्त हो जाता था, उस प्रेमकी बात तुम श्रीकृष्णके निकट कहना, देखना भूल नहीं जाना।" 'भूल नहीं जाना' कहनेकी व्यञ्जना यह है—"ऐसे क्रम वर्द्धमान प्रेमकी बात, ऐसे भेदज्ञान-राहित्य-जनित विलासमात्रेक-तन्मयताकी बात भी भूलकर जो मेरा त्याग कर मथुरामें रह सके, उस विस्मरणशील नागरके पास ही तो तुम जा रही हो; देखना, उनके संगके प्रभावसे मेरी ये बातें तुम भी भूल मत जाना। अथवा मथुराका ही कोई एक ऐसा प्रभाव लगता है कि जो वहाँ जाता है, वही पहलेकी बात भूल जाता है ; नहीं तो मेरा ऐसा नागर, वहाँ जाकर पहलेकी मिलन-कथा सब इस प्रकार क्यों भूल जाता ? तुम भी उसी मथुरामें जा रही हो, देखना, स्थानके प्रभावसे मेरी ये बातें भूल मत जाना।" यह 'विछुरह जानि' बात श्रीराधाकी वक्रोक्ति है।

ना खोजलुँ दूती, ना खोजलु आन।

दुहूँकेरि मिलने मध्यत पाँचवाण ॥१५५॥

ना खोजलुँ दूती—किसी दूतीकी खोज नहीं की। सखि, जिस प्रेमकी बात पहले कही गयी है, उस प्रेमको प्रबुद्ध करानेके लिए या श्रीकृष्णके साथ मिलन घटानेके लिए किसी दूतीका अनुसन्धान नहीं किया, उसके लिए किसी भी दूतीके मध्यस्थताकी आवश्यकता नहीं हुई। **ना खोजलुँ आन** – दूतीका अनुसन्धान तो किया ही नहीं, मिलन घटानेके लिए और किसीका भी अनुसन्धान नहीं किया। हमलोगोंका मिलन संयोग बैठानेके लिए अन्य किसी भी तृतीय व्यक्तिकी आवश्यकता नहीं हुई। तब मिलन किस प्रकार हुआ ? इसको बताया जा रहा है—**दुहुँकेरि मिलने**—हम दोनोंके मिलनमें, **मध्यत**—मध्यस्थ थे; **पाँचबाण**—पञ्चशर, या कन्दर्प, या काम; परस्परको सुखी करनेके लिए हमलोगोंकी तीव्र वासना। (इसी परिच्छेदके ८७वें पयारकी टीका पृष्ठ १७४ पर देखिये)। इस पयारकी ध्वनि यह है कि श्रीकृष्णके साथ मिलनके लिए श्रीराधाकी जैसी बलवती उत्कण्ठा है, श्रीराधाके साथ मिलनके लिए श्रीकृष्णकी भी वैसी ही उत्कण्ठा है। यह भी मञ्जिष्ठा रागके लक्षण हैं (पृष्ठ ३२० पर उद्धृत 'अहार्योऽनन्य सापेक्षो' आदि श्लोक देखिये)। यह मञ्जिष्ठा राग श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण दोनोंमे ही विराजित है। अवश्य श्रीराधाका मञ्जिष्ठा राग वर्द्धित होकर मादनाख्य महाभावमें पर्यवसित होता है; श्रीकृष्णका मञ्जिष्ठा राग वहाँतक वर्द्धित नहीं होता; कारण, आश्रयसे प्रेमका जैसा विकाश होता है, विषयसे उस प्रकार नहीं होता। श्रीराधा महाभाव-स्वरूपिणी होनेके कारण प्रेमके चरमतम विकाशका भी आश्रय है और श्रीकृष्ण हैं उस प्रेमके विषय मात्र। मादनाख्य महाभावके सम्बन्धमें श्रीकृष्णकी अपनी उक्ति ही उसका प्रमाण है—

सेइ प्रेमार श्रीराधिका परम आश्रय।
सेइ प्रेमार आमि हइ केवल विषय॥

चै.च.आ.४.११४

श्रीराधाने दूतीसे यह भी कहा—"सुनो सखि, श्रीकृष्णके और मेरे प्रथम

मिलनके लिए हमलोगोंको दूती या अन्य किसीकी सहायताका अन्वेषण करना नहीं पड़ा। एक व्यक्तिमें यदि मिलनके लिए बलवती आकांक्षा रहे और दूसरेमें न रहे, तभी मिलनके लिए तृतीय व्यक्तिकी सहायताकी आवश्यकता होती है। किन्तु परस्परके साथ मिलनके लिए दोनोंमें ही यदि वासना बलवती हो उठे, तब तृतीय व्यक्तिकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती; दोनोंका आकर्षण ही उनको मिला देता है। हमलोगोंका मिलन भी धटाया था, परस्परके प्रति परस्परके-आकर्षणने, परस्परको सुखी करनेके लिए परस्परकी बलवती उत्कण्ठाने।"

प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसी ही बात हो तो दूतीकी कथा ग्रन्थादिमें क्यों देखनेमें आती है? सखियोंके एवं बंशीध्वनिके दौत्यकी बात सुननेमें क्यों आती है? उत्तर यह लगता है। मिलन वासना ही मिलनका मुख्य हेतु है। यदि एक व्यक्तिमें मिलन वासना हो दूसरेमें न हो, तब कोई तृतीय व्यक्ति मिलन-वासनाहीन व्यक्तिके निकट जाकर दूसरेके रूप-गुण आदिकी बात, मिलनके लिए दूसरेकी उत्कण्ठाकी बात बताकर मिलन-वासनाहीन व्यक्तिको मिलनके लिए प्ररोचित करके उसके चित्तमें मिलन-वासना जगाकर मिलन संघटित करता है; तभी कहा जाता है कि यह तृतीय व्यक्ति ही मिलन-संघटनका मुख्य हेतु है। और दोनोंमें यदि परस्परके साथ मिलनके लिए बलवती उत्कण्ठा रहे, तब यह उत्कण्ठा ही मिलनका मुख्य हेतु होगी। इस प्रकार यहाँपर तृतीय व्यक्तिकी मध्यस्थता होगी उपलक्ष्य मात्र—मुख्य हेतु नहीं। परस्परके साथ मिलनके लिए जब दोनोंमें बलवती लालसा जागती है, तब दोनोंका आन्तरिक मिलन संघटित होता है एवं यह आन्तरिक मिलन ही वास्तव-मिलन है। इसके लिए कोई भी मध्यस्थताकी आवश्यकता नहीं होती। बाहरी मिलनके लिए समय-समयपर तृतीय व्यक्तिकी आवश्यकता होती है मिलनके स्थान और समय आदि जतानेके लिए; अथवा प्रेमके स्वभाववश परस्परकी उत्कण्ठा वृद्धिके लिए, यदि प्रेमकी ही वैचित्री-विशेष वाम्य

वक्रतादि भाव आकर उपस्थित हो, तो उसको दूर करनेके लिए। ये सब काम होते हैं मिलनके आनुषंगिक व्यापार मात्र, वास्तविक आन्तरिक मिलनको बाहर रूपायित करनेका उपलक्ष्य मात्र। अतः जो दूती आदि-की बातें सुननेमें आती हैं, वे होती हैं मिलनके उपलक्ष्य या गौण कारण मात्र, मुख्य कारण होता है परस्परके साथ मिलनके निमित्त परस्परके हृदयमें स्वतः उद्‌बुद्ध बलवती वासना। इसीसे श्रीराधाने कहा—ना खोंजलु दूती' इत्यादि।

इस पयारमें ललनानिष्ठ मञ्जिष्ठा रागका निरुपाधित्व, या अनन्य-सापेक्षत्व, या स्वतः उद्‌बुद्धत्व सूचित हुआ।

गीतके प्रकरण सम्बन्धी आलोचना

अब सोइ विराग, तुँहु भेलि दूती।
सुपुरुख - प्रेम कि ऐछन रीति ॥१५६॥

अब—आजकल। **सोइ**—वे श्रीकृष्ण; दूती या अन्य किसीकी भी सहायताके बिना ही केवल-मात्र अनुरागके प्रभावसे ही, जो मुझसे मिले थे, वे ही श्रीकृष्ण। **विराग**—विगत हुआ है राग जिनमें-वे, अनुरागशून्य। जिस राग (अनुराग) के प्रभावसे दूसरे किसीकी सहायताके बिना ही जो मेरे साथ मिले थे, अब उन्होंने वह अनुराग खो दिया है। इससे हे सखि ! **तुँहु भेलि दूती**—तुमको दूती बनना पड़ा; दूतीरूपमें उनके पास तुझे भेजना पड़ रहा है, उनमें वह पूर्ववाला अनुराग अब भी यदि रहता, तो तुमको दूतीका कार्य नहीं करना पड़ता; कारण, पूर्वमें जब अनुराग था, दूतीके बिना ही दोनोंका मिलन हुआ था। यहाँपर श्रीराधा विचार कर रहीं हैं - श्रीकृष्णके मनमें अब उनके प्रति पहलेवाला अनुराग नहीं है; इसीसे श्रीकृष्ण उनका त्याग करके मथुरा जा सके एवं मथुरा जाकर भी अब लौटकर नहीं आ रहे हैं; इसीसे समझा जाता है

कि श्रीराधाके साथ मिलनके लिए श्रीकृष्णके चित्तमें अब बलवती वासना नहीं रही ; रहती तो वे मथुरा टिक नहीं सकते थे। इसीसे, पूर्वकथाका स्मरण कराके श्रीकृष्णके चित्तमें श्रीराधाके साथ मिलनकी वासना जाग्रत करानेके लिए श्रीराधा इस दूतीको यथोचित शिक्षा देकर मथुरा भेज रही हैं।

किन्तु श्रीराधा श्रीकृष्णके पास दूतीको भेज रही हैं, इसीसे समझा जाता है कि श्रीकृष्णके साथ मिलनेके लिए श्रीराधाके चित्तमें अब भी पहलेकी तरह ही बलवती वासना है ; अर्थात् श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाका प्रेम अब भी अन्तर्हित नहीं हुआ। इसके द्वारा मञ्जिष्ठा रागका अहार्यत्व या नित्यत्व सूचित होता है।

सुपुरुख प्रम कि—सुपुरुषके प्रेमकी। **ऐछन रीति**—इस प्रकारकी रीति। सुपुरुष (उत्तम विदग्ध नागर) के प्रेमका ऐसा ही नियम है। यह परिहासोक्ति है। व्यञ्जना यह है कि अनुरागकी प्रेरणासे पहले मिलकर पीछे अनुरागको खो देना विदग्ध-नागरके प्रेमकी रीति नहीं है।

राय रामानन्दकृत इस गीतके प्रकरणके सम्बन्धमें—यह किस विषयका गीत है, इस सम्बन्धमें—मतभेद देखनेमें आता है। नीचे विभिन्न मतोंका उल्लेख किया जा रहा है।

(क) श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीके मतसे यह माथुर-विरहका गीत है। **'पहिलहि राग'** इत्यादि गीतकी टीकाके उपक्रममें चक्रवर्तीपादने लिखा है—**'पहिलहि' इति। मथुराविरहवत्याः श्रीराधाया उक्तिरियम्,** यह माथुर-विरहवती श्रीराधाकी उक्ति है। श्रीकृष्णके मथुरामें रहनेके कालमें श्रीराधाका जो श्रीकृष्ण-विरह है, वही माथुर-विरह है।

(ख) कवि कर्णपूरके श्रीश्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटककी (७.१६,१७) उक्तिका उल्लेख पहले पृष्ठ ३२६ पर हो चुका है, उसमें भी यही कहा गया है कि यह माथुर-विरहका गीत है। कवि कर्णपूर कहते हैं कि इस गीतको बात मथुराके राजसिंहासनपर आसीन श्रीकृष्णको कहनेके उद्देश्यसे

श्रीराधाने एक दूतीको मथुरा भेजा था। (कवि कर्णपूरने अपने ग्रंथमें इस गीतका मर्म ही संस्कृतमें अनुवाद करके दिया है)।

प्रश्न उठ सकता है कि यह यदि माथुर-विरहका गीत हो तो गीतके रचयिता स्वयं रामानन्द रायने प्रेमविलास-विवर्त्तके उदाहरण रूपमें इस गीतका महाप्रभुके सामने उल्लेख क्यों किया? उत्तर यह हो सकता है—"इस गीतके अन्तर्गत '**ना सो रमण ना हाम रमणी। दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि॥**' इत्यादि वाक्यमें प्रेमविलास-विवर्त्तके विशेष लक्षण श्रीराधाकृष्णका भेदज्ञान-राहित्य या परैक्यका संकेत होनेके कारण ही प्रेमविलास-विवर्त्तके उदाहरणमें इस गीतका उल्लेख हुआ है। 'अब सोइ बिराग' इत्यादि वाक्य भेद-ज्ञान राहित्य सूचक या परैक्य सूचक नहीं होनेके कारण प्रेमविलास-विवर्त्त ज्ञापक भी नहीं है; अतएव गीतका सम्पूर्ण भाव प्रेमविलास-विवर्त्त सूचक न होनेपर भी '**ना सो रमण**' इत्यादि वाक्य प्रेमविलास विवर्त्त सूचक है।"

(ग) श्रीराधामोहन ठक्कुर महाशयने अपने 'पदामृत समुद्र' नामक संग्रह ग्रन्थमें 'कलहान्तारिता' प्रकरणमें ही इस गीतको समाविष्ट किया है। पदामृत-समुद्रमें इसके ठीक पूर्व जो गीत है, उसके साथ इसका एक सम्बन्ध है; इसलिए उस गीतको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। श्रीकृष्णके पाससे एक दूतीने आकर श्रीराधासे कहा—

"शुनह रायानन्दि। लोके ना बलिबे कि?
मिछाइ करलि मान। तो बिने जागल कान॥
आनत सङ्केत करि। ताँहा जागाइले हरि॥
उलटि करसि मान। बड़ु चण्डीदास गान॥

राधे! लोग सुनकर क्या कहेंगे बताओ तो? व्यर्थमें बिना कारण तुमने मान किया है। तुम्हारे विरहमें कृष्णने सम्पूर्ण रात्रि जागकर बितायी है। तुमने ही संकेत करके उनको बुलाया, बुलाकर तुमने उनको सारी रात-भर जगाया, अब उल्टा तुम्हीं मान करती हो।" दूतीकी यह बात सुन

श्रीराधाने कहा — 'पहिलहि राग' इत्यादि ; बहुत दिनों तक एक साथ मिलने-जुलनेके बाद किञ्चित् कालका विच्छेद होते ही कृष्णने हमलोगोंका मिलन करानेके लिए अब तुमको दूती बनाकर मेरे पास भेजा है। किन्तु दूती ! सुनो, मैं जो कहती हूँ। जब हमलोगोंकी परस्पर कोई जान-पहचान नहीं थी, तब भी हमलोगोंको मिलानेके लिए किसी भी दूतीकी आवश्यकता नहीं हुई ! केवल आँखोंके देखने मात्रसे चार आँखें होते ही हमलोगोंका पूर्वानुराग, परस्परके प्रति आसक्तिमें परिणत हो गया ; वह अनुराग अपने आप ही क्रमशः बढ़ता रहा, कभी भी शेष सीमातक नहीं पहुँचा। वह बढ़ते-बढ़ते इस अवस्थामें आ पहुँचा, जिससे हमलोगों-का परस्परका भेदज्ञान तक लोप हो गया था— दोनोंके मिलनसे विलासैक तन्मयतावश हम दोनोंके बीच कौन रमण है और कौन रमणी, इसका पता नहीं रहता था ; यह अवस्था देखकर कन्दर्पने दोनोंके मनको पीसकर एक बना दिया था। सखि ! ये सब बातें कन्हैयासे कहना, देखो, भूल नहीं जाना। हमलोगोंकी जो ऐसी अवस्था हो गयी थी, उसके लिए किसी भी दूती या अन्य किसीकी भी सहायता या मध्यवर्तिताकी आवश्यकता नहीं हुई—पञ्चबाणकी मध्यस्थतासे ही हम दोनोंका मिलन हो गया था। अब उनका वह अनुराग नहीं रहा— इसीसे तुमको दूती बनाकर भेजा है। हाँ, मालुम होता है कि भले आदमियोंके प्रेमकी रीति ऐसी ही होती है।''

उज्ज्वलनीलमणिमें कलहान्तरिता नायिकाके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

> ''या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं रुषा।
> निरस्य पश्चात्तपति कलहान्तरिता हि सा।
> अस्याः प्रलाप-सन्ताप-ग्लानि-निःश्वसितादयः॥

नायिकाभेद ४८ (५.८७)

जो नायिका सखियोंके समक्ष पाद-पतित वल्लभको रोषके सहित अलग

करके पश्चात्ताप अनुभव करे, उसको कलहान्तरिता कहते हैं (कलहवश जिसको अन्तर या भेद—विच्छेद—उत्पन्न हुआ है, वह कलहान्तरिता)। प्रलाप, सन्ताप, ग्लानि, दीर्घश्वास आदि कलहान्तरिताके लक्षण हैं।" उज्ज्वल-नीलमणिमें कलहान्तरिताका जो उदाहरण दिया गया है, उसका भाव यह है—श्रीराधाने कहा "हे सखिगण ! मेरा कैसा दुर्दैव है देखो (ग्लानि और सन्ताप), श्रीकृष्णने स्वयं माला लाकर मुझे उपहार दिया, किन्तु मैंने अवज्ञापूर्वक उसे दूर फेंक दिया ; उन्होंने मेरी कितनी खुशामद की फिर भी मन ध्यान नही दिया। वे मेरे चरणोंमें गिर पड़े, तब भी मैंने उनकी तरफ एक बार भी दृष्टिपात नही किया। इन अपराधोंके कारण मेरा मन पाकार्थ मिट्टीके पात्रमे स्थित स्वर्ण-रजत-आदिकी तरह मानो जलकर राख हो रहा है।"

राय रामानन्दके गीतमें कलहान्तरिताके उल्लिखित लक्षण स्पष्ट रूपसे न दीखनेपर भी पदामृत समुद्रमे उद्धृत इस गीतके पूर्ववर्ती पूर्वोद्धृत 'शुनह रायान भि' इत्यादि गीतके साथ संगति बैठाकर विवेचना करने से, रामानन्दके गीतको कलहान्तरिता-प्रकरणमे सन्निविष्ट करनेके लिए श्रीपाद राधामोहन ठक्कुरके मनोभाव निम्नलिखित रूपसे लगते हैं—श्रीराधाके द्वारा उपेक्षित व अपमानित होकर श्रीराधासे मिलनेके लिए श्रीकृष्णने बलवती उत्कण्ठाके फलस्वरूप एक दूतीको श्रीराधाके पास भेजा था (गीतोक्त दूती श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित दूती है ठक्कुर महाशयने गीतकी टीकामें यही लिखा है)। किन्तु तब भी श्रीराधाका मान सम्यक् रूपसे तिरोहित नहीं हुआ था। इसीसे उन्होंने दूतीके सम्मुख-वक्रोक्ति जैसे वाक्य कहे। इस प्रकारकी वक्रोक्ति मानवती धीराधीरा नायिकाके लक्षण हैं।

धीराधीरातु वक्रोक्त्या सवाष्पं वदति प्रियम् ॥

उ.नी.नायिका २२ (५.३५)

उल्लिखित धीराधीरा नायिकाके लक्षणमें वक्रोक्ति प्रयोगके समयमें अश्रुकी

बात भी मिलती है (सचाष्पं); किन्तु रामानन्दके गीतमें श्रीराधाके अश्रुका उल्लेख नहीं है। इसका भी समाधान है। उज्ज्वलनीलमणिमें धीराधीरा नायिकाके उदाहरणके स्थानपर 'तामेव प्रतिपद्यकामवरदां' २३ (४१) इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—धीराधीरा नायिका दो प्रकारकी होती हैं; एकमें धीरताके अंशका आधिक्य होता है और एकमें अधीरताके अंशका आधिक्य; जब अधीरता-अंशका आधिक्य होता है, तब अश्रुका अभाव हो सकता है। रामानन्दके गीतमें मानवती श्रीराधामें अधीरतांशका आधिक्य होनेके कारण नयन-वाष्पका अभाव है। इस गीतकी टीकामें श्रीपाद ठक्कुर महाशयने जो लिखा है, उसमें उनका भी इसी प्रकारका अभिप्राय लगता है। **'अब सोइ विराग'** इत्यादि ही श्रीराधाकी वक्रोक्ति है। श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित दूती प्रकरणसे समझा जाता है कि उनके चित्तमें मिलन आकांक्षा है. अतएव श्रीराधाके प्रति वे विराग—अनुराग शून्य- नहीं हैं; तथापि मनके स्वाभाविक कौटिल्यादिवश श्रीराधाने उनको विराग कहा है।

श्रीराधामोहन ठक्कुरने गीतके पहिलहि राग पदका अर्थ किया है पूर्वराग। पूर्वरागका पारिभाषिक अर्थ लेनेपर इस गीतके साथ सगति नहीं बैठती। पारिभाषिक पूर्वरागके लक्षण इस प्रकार हैं—

> **रतिर्या सङ्गमात् पूर्वं दर्शन-श्रवणादिजा ।**
> **तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वराग स उच्यते ॥**

उ.नी. शृङ्गार ५. (१५.५)

संगमके पूर्व दर्शन-श्रवण आदिसे जो रति उत्पन्न हो, वह यदि विभाव आदिके साथ मिलकर आस्वादमयी हो, तब उसको पूर्वराग कहते हैं। यह विप्रलम्भकी एक वैचित्री है। रामानन्दके गीतका **'पहिलहि राग'** दर्शन-श्रवणादि जात नहीं है, यह स्वतः स्फूर्त है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अतएव इसको पारिभाषिक पूर्वराग नहीं कहा जा

सकता। मालुम होता है श्रीठक्कुर महाशयने 'पूर्वराग' शब्दसे पूर्वमें (सर्वप्रथम) जात या स्वतः-स्फूर्त रागकी बात ही कही है।

जो भी हो, यह गीत कलहान्तरिताका गीत होनेपर भी **'ना सो रमण'** इत्यादि वाक्यसे प्रेमविलास-विवर्त्त ही सूचित होता है।

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतमें जिस प्रसंगमें यह गीत उद्धृत हुआ है, उस प्रसंगसे अलग करके स्वतन्त्र भावसे गीतके भावका विवेचन हो तो इसको माथुर-विरहका या कलहान्तरिताका गीत भी कहा जा सकता है; तथापि **'ना सो रमण'** इत्यादि वाक्यसे प्रेमविलास-विवर्त्त सूचित होता है, इसमें सन्देह नहीं।

(घ) किसी-किसीका कहना है कि राय रामानन्दने जब प्रेमविलास-विवर्त्तके उदाहरण रूपमें ही इस गीतका उल्लेख किया है, तब सम्पूर्ण गीत ही उसका केवल अंश मात्र नहीं—प्रेमविलास-विवर्त्त द्योतक है। इसमें यह आपत्ति हो सकती है कि प्रेमविलास-विवर्त्तका एक विशेष लक्षण होता है परैक्य या भदज्ञान-राहित्य; किन्तु गीतके अन्तमें **'ए सखि से सब प्रेमकाहिनी'** एवं **'अब सोइ विराग'** इत्यादि पदोंमें परैक्य या भेदज्ञान-राहित्यकी बात नहीं है; बल्कि भेदज्ञानकी बात है। यह भेदज्ञान-सूचक बातें प्रेमविलास-विवर्त्त द्योतक न होनेके कारण सम्पूर्ण गीत प्रेमविलास-विवर्त्त द्योतक कैसे होगा? इस गीतमे **'ना सो रमण'** इत्यादि परैक्य-वाचक—अतएव प्रेमविलास-विवर्त्त वाचक— होनेके कारण रामानन्दने अपने पूर्वरचित इस गीतका प्रभुके सामने उल्लेख किया है।

यदि कहा जाय कि गीत सम्पूर्णभावसे मञ्जिष्ठारागका परिचायक है; मञ्जिष्ठारागके चरमतम परिणाममें ही जब प्रेमविलास-विवर्त्त सम्भव है, तब गीत सम्पूर्ण भावसे ही प्रेमविलास-विवर्त्त वाचक हो सकता है। उत्तरमें कहा जाता है—श्रीराधा यदि मञ्जिष्ठा रागवती है, तो विरहमें या मिलनमें, सब अवस्थामें ही उनमें मञ्जिष्ठाराग रहेगा एवं उनसे सम्बन्धी सभी भावोंके पदोंमें मञ्जिष्ठारागका परिचय मिल सकता है।

मादनमें मञ्जिष्ठा-रागके चरमतम विकाशमें प्रेमविलास-विवर्त्त सम्भव होनेपर भी मञ्जिष्ठा-राग ही प्रेमविलास-विवर्त्तका विशेष लक्षण नहीं है; अतएव गीतके सभी पदोंमें मञ्जिष्ठा-रागका परिचय मिल जानेपर भी यह सम्पूर्ण भावसे प्रेमविलास-विवर्त्त वाचक है, यह बात नहीं कही जा सकती, ऐसा प्रतीत होता है।

(ङ) किसी-किसीका कहना है कि यह गीत मादनाख्य महाभावका द्योतक है; मादनके चरमतम विकाशमें ही जब प्रेमविलास-विवर्त्त सम्भव है, तब सम्पूर्ण गीतको प्रेमविलास-विवर्त्त द्योतक भी कहा जा सकता है। किन्तु इसमें भी पूर्वोक्त (घ) अनुच्छेदमें उल्लिखित आपत्तियोंका अवकाश रह जाता है।

जो हो, जिस प्रकार पहले मञ्जिष्ठा-राग सूचक अर्थकी बात कही गयी है, उसी प्रकार इस गीतका मादनाख्य महाभाव सूचक अर्थ भी हो सकता है। किन्तु सम्पूर्ण गीत मादनाख्य-महाभाव सूचक होनेपर भी मादनकी चरमतम परिणतिमें प्रेमविलास-विवर्त्त सूचित हुआ है **'ना सो रमण'** इत्यादि वाक्योंमें। अब मादनाख्य महाभाव द्योतक अर्थका विवरण दिया जा रहा है।

पहिलहि, राग और नयनभङ्ग आदि शब्दोंके अर्थ पूर्ववत हैं। कटाक्ष-परिमित अति अल्प समयमें श्रीश्रीराधाकृष्णके परस्परके प्रति आकर्षणकी जो अभिव्यक्ति है, उसका तात्पर्य समझनेके लिए श्रीराधिका आदिके प्रेम सम्बन्धकी एक बात जाननी आवश्यक है। श्रीकृष्णके प्रति कृष्णकान्तागणका—महिषीगणका, व्रजसुन्दरीगणका—प्रेम नित्यसिद्ध, अनादिकालसे वर्त्तमान है; अप्रकट लीलामें यह प्रेम नित्य ही अभिव्यक्ति-मय है; किन्तु प्रकटलीलामें नरलीला सिद्धिके लिए योगमायाके प्रभावसे यह प्रेम पहले प्रच्छन्न रहता है; कान्ताके स्वरूपभेदसे इस प्रच्छन्नताको परिमाणका भी पार्थक्य है। रुक्मिणी आदि महिषीगण प्रकट लीलामें जब कुमारी थीं, तब श्रीकृष्णके रूप-गुण आदिकी बात सुनकर श्रीकृष्णके

प्रति उनका प्रेम उद्‌बुद्ध हुआ था, इसके पहले श्रीकृष्णके प्रति—अथवा कोई अज्ञात प्रियतमके प्रति—उनके प्राणोंके कोई भी आकर्षणकी अनुभूति उनको नहीं थी ; श्रीकृष्णके रूप-गुणादि-श्रवणको हेतु बनाकर श्रीकृष्णको प्रियतम मानकर उनको अनुभूति उत्पन्न हुई एवं उनके चित्तमें उसीके अनुरूप प्रेम भी उद्‌भूत हुआ ; इसके पहले उनके चित्तमें प्रेमका किसी भी प्रकारका अस्तित्व नहीं था, अतएव प्रेमके कारण चित्तमें किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता उनको न थी—इतनी अधिक थी उनके नित्यसिद्ध प्रेमकी प्रच्छन्नता। वस्तुतः समञ्जसा-रतिके धर्मवश इस प्रकार प्रच्छन्नता सम्भव हुई। किन्तु श्रीराधिका आदि व्रजसुन्दरियोंकी कृष्णरतिकी प्रच्छन्नता अन्य प्रकारकी थी। योगमायाके प्रभावसे अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धकी बात व्रजसुन्दरियाँ भूल तो गयी थी ; किन्तु श्रीकृष्णके प्रति उनका जो प्रेम था, वह उनके हृदयमें जाग्रत् था—निर्वात (वायुहीन) स्थानमें निस्तरङ्ग नदीकी तरह उच्छ्‌वासहीन अवस्थामें ; उनके चित्तमें सदा जाग्रत् इस प्रेमका विषय क्या है, यह व्रजसुन्दरियाँ नहीं जानती थीं ; किन्तु प्रेमजनित प्राणोंकी आकुलता-व्याकुलता वे अनुभव किया करती थीं ; किसके लिए यह आकुलता-व्याकुलता है, किसके लिए यह प्राणोंका आकर्षण है, कौन उनका वह प्रियतम है, इसको वे नहीं जानती थीं। इस प्रकारका आकर्षण चुम्बकके प्रति चुम्बकके आकर्षणकी तरह स्वाभाविक होता है। दो चुम्बक यदि एक ही स्थानपर हों, दोनों प्रच्छन्न रहनेपर भी एक दूसरेका आकर्षण करेंगे ही। एक स्थानपर यदि वस्त्रसे आच्छादित एक बड़ा चुम्बक रहे और उसके पास एक छोटा चुम्बक लाया जाय और एक काँटेके ऊपर अवस्थित रहकर वह छोटा चुम्बक चारों तरफ घूम सके, तब देखा जायगा कि वह छोटा चुम्बक किसी भी अवस्थामें क्यों न रक्खा जाय, घूम-फिरकर वह प्रच्छन्न बड़े चुम्बक-की ओर ही मुख करके टिकेगा। छोटे चुम्बकको यदि ज्ञान होता, उसमें इन्द्रियाँ होतीं, तो प्रच्छन्नतावश बड़े चुम्बकको देख न पानेपर भी एवं

किसी एक बड़े चुम्बक द्वारा वह आकृष्ट हो रहा है, यह न जाननेपर भी, छोटा चुम्बक समझ सकता कि वह उस ओर आकृष्ट हो रहा है, क्यों हो रहा है, इस बातको अवश्य नहीं जान सकता। व्रजसुन्दरियोंका प्रेम भी इसी प्रकारका है; श्रीकृष्णके साथ मिलनके पूर्व—यहाँतक कि उनके दर्शन करनेके पूर्व उनके सम्बन्धमें कुछ भी श्रवण करनेके पूर्व भी किसी एक अज्ञात अश्रुत प्रियतमके लिए उनके चित्तमें एक आकर्षण-स्रोत बह रहा था; निस्तरङ्ग नदीमें तरङ्ग नहीं रहती; किन्तु समुद्राभिमुख उसके स्रोतकी जैसे एक गति रहती है, उसी प्रकार व्रजसुन्दरियोंके स्वभावसिद्ध प्रेममें भी उस समय उच्छ्वास नहीं था; किन्तु कोई एक अज्ञात-अश्रुत प्रियतमके प्रति उनकी गति थी। व्रज-ललनाओंमें यह प्रेम नित्य-विराजित है; इसीसे उनके प्रेमको ललनानिष्ठ प्रेम कहते हैं।

स्वरूपं ललनानिष्ठं स्वयमुद्बुद्धतां व्रजेत्।
अदृष्टेऽप्यश्रुतेऽप्युच्चैः कृष्णे कुर्याद्द्रुतं रतिम्॥

उ.नी.स्था. २९ (३८)

पुरुषके विषयमें स्त्रियोंका साधारणतया जो आकर्षण होता है, यह वह आकर्षण नहीं है, कारण दृष्ट-श्रुत अन्य किसी भी पुरुष-प्रवरके रूप-गुणादिमें भी व्रजसुन्दरियोंका चित्त आकर्षित नहीं हुआ करता एवं उनके सदृश किसी भी पुरुषके दर्शनसे या उसके रूप-गुणादिकी बातके श्रवणसे उनके चित्तमें प्रेमजनित आकुलता-व्याकुलता भी प्रशमित नहीं होती; उनका यह प्रेम इतना शक्तिमान् है कि यह उनके अज्ञात-अश्रुत-अदृष्ट श्रीकृष्णको भी मानो उनके चित्तमें साक्षात् स्फूर्ति प्राप्त कराता है एवं इस प्रकार स्फूर्तिप्राप्त कृष्णकी तरफ उनके प्रेमका श्रोत प्रवाहित होता रहता है।

इस ललनानिष्ठ प्रेमका और एक वैशिष्ठ्य यह है कि किसके लिए प्रेमवतीके चित्तकी यह प्रेमजनित आकुलता-व्याकुलता है, यह जाना न रहनेपर भी श्रीकृष्ण-सम्बन्धी किसी भी वस्तुके साथ सामान्यमात्र

सम्बन्ध होते ही—श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिका श्रवण, या उनका नाम श्रवण या उनका चित्रपट-दर्शन आदि मात्रसे—यह प्रेम अपने आप ही हृदयमें तरङ्गायित हो उठता है। इसीसे श्रीराधाने आक्षेप करके अपनी अन्तरङ्गा सखीसे कहा था—"किसी एक पुरुषका 'कृष्ण' नामाक्षर श्रवण-मात्रसे मेरी बुद्धि लोप हो गयी। और किसी दूसरेकी वंशीध्वनिने मेरी प्रगाढ़ उन्मत्तता-परम्परा उत्पन्न कर दी, और चित्रपटके दर्शनमात्रसे अन्य एक जनकी स्निग्ध-मेघ-कान्ति मेरे मनमें संलग्न हो गयी। मुझे धिक्कार है, एक तो पर-पुरुषमें रति, और अब एक साथ तीन पुरुषोंके प्रति चित्त आकृष्ट हुआ है ; अतएव मेरा मरण ही श्रेयष्कर है।

> एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरम्
> सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
> एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
> कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिर्भून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥
>
> विदग्धमाधव २.१९

'कृष्ण' यह नाम, वंशीध्वनि एवं चित्रपट—ये तीनों वस्तु एक ही जनकी हैं, श्रीराधा इसे नहीं जानती थीं ; क्योंकि तबतक उस व्यक्तिके साक्षात् दर्शन उनको नहीं हुए थे, अथवा उनके सम्बन्धमें कुछ भी तबतक उन्होंने नहीं सुना था, तो भी इन तीन वस्तुओंमें-से किसी एकके श्रीराधाके इन्द्रिय-पथवर्ती होने मात्रसे तत्क्षण उनका ललनानिष्ठ प्रेम अपने-आप ही उच्छ्वसित हो उठा। उनका ललनानिष्ठ प्रेम स्वयं ही उद्‌बुद्ध होने लगा **'पहिलहि राग नयनभङ्ग भेल'** पदमें यही व्यक्त हुआ है। **'ना खोजलूँ दूती ना खोजलूँ आन। दुँहुकेरि मिलने मध्यत पाँचवाण॥'** इस पयारमें उल्लिखित तथ्य और भी परिस्फुट हुआ है। श्रीराधाका प्रेम ललनानिष्ठ होनेके कारण श्रीराधाकृष्णके मिलनके लिए, उनका परस्परके प्रति परस्परका अनुराग उद्‌बुद्ध करानेके लिए किसी भी दूतीकी आवश्यकता न हुई, कुब्जाकी तरह रूपदर्शन, अथवा रुक्मिणी

आदिकी तरह गुणादि श्रवणकी भी आवश्यकता न हुई। यह स्वयं ही उद्बुद्ध है। **मध्यत पाँच वाण**—पञ्चवाण ही दोनोंके मिलनमें मध्यस्थ स्वरूप हैं। **पञ्चवाण**—काम ; व्रजसुन्दरियोंका प्रेम ही काम-नामसे अभिहित होता है ; अतएव यहाँ पाँचवाणसे प्रेम ही सूचित होता है। श्रीराधाके हृदयमें जो ललनानिष्ठ प्रेम नित्य विराजित है, श्रीकृष्णके साथ उनका मिलन घटानेके लिए वह प्रेम ही यथेष्ट शक्ति-सम्पन्न है ; इस प्रेमने ही अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे जन्मावधि श्रीकृष्णके दर्शन करनेके अथवा जन्मावधि श्रीकृष्णके रूप-गुणादिकी कथा श्रवण करनेके पूर्व ही श्रीराधाके चित्तपटपर श्रीकृष्णको स्फूर्त्तिप्राप्त करा दिया था। अन्योंके प्रेमकी अपेक्षा श्रीराधाप्रमुख व्रजसुन्दरियोंके प्रेमकी यह एक अपूर्व विशिष्टता है, यह उनके प्रेमका स्वरूपगत या जातिगत वैशिष्ट्य है ; समर्था-रतिका स्वरूपगत धर्म ही इस प्रकारका होता है। (पूर्ववर्ती १५२ और १५३ पयारमें श्रीराधाके प्रेमका यह ललनानिष्ठ-स्वरूपत्व प्रदर्शित हुआ है)।

इस ललनानिष्ठ प्रेमकी और एक विशेषता यह है कि श्रीकृष्ण-सेवाके निमित्त यह प्रेम सम्बन्ध आदि या और किसी चीजकी अपेक्षा नहीं रखता। श्रीकृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छाका—सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेकी इच्छाका—नाम ही प्रेम है। श्रीराधिका आदिमें यह प्रेम ललनानिष्ठ होनेके कारण इसके उन्मेषके लिए जिस प्रकार रूपदर्शन या गुणश्रवण आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-सेवा निमित्त भी अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रहती—दास-सखा-पितामातादि-की तरह सम्बन्धकी अपेक्षा या महिषी आदिकी तरह स्वजन-आर्यपथादि-की अपेक्षा ललनानिष्ठ प्रेमवती श्रीराधिकादिमें नहीं है। वेगवती स्रोतस्वती जिस प्रकार सब वाधाविघ्नोंका अतिक्रमणकर समुद्रकी ओर धावित होती है, अप्रतिहत-शक्तिसम्पन्न ललनानिष्ठ प्रेम भी स्वजन-आर्यपथादि वाधाविघ्नका अतिक्रमण कर—उन सबकी तृणवत् उपेक्षा

कर—प्रेम-समुद्र श्रीकृष्णकी ओर धावित होता है, सब प्रकारसे उनके प्रीति-सम्पादनमें तत्पर होता है। सम्बन्धानुरूप सेवामें सम्बन्धकी मर्यादाका अतिक्रमण करना चलता नहीं, इसीसे वह निर्बाध नहीं होता ; किन्तु ललनानिष्ठ प्रेमकी सेवा सम्यक्रूपसे वाधाशून्य है— श्रीकृष्णकी सेवाके लिए जो कुछ आवश्यक हो, वही यह प्रेम कर सकता है और करता रहता है। पितामाता-दास-सखा-महिषी आदिके समय पहले सम्बन्ध, इसके बाद सम्बन्धानुरूप सेवा, इसीसे उनकी श्रीकृष्णरतिको सम्बन्धानुगा कहते है ; किन्तु ललनानिष्ठ-प्रेमवती व्रजसुन्दरियोंके लिए पहले प्रेम, उसके बाद सेवा। इसीसे उनकी रतिको कहते हैं कामानुगा या प्रेमानुगा। सम्बन्धानुगामें सम्बन्ध ही सेवा-वासनाका प्रवर्त्तक है और कामानुगामें प्रेम ही सेवा-वासनाका प्रवर्त्तक है ; कृष्णकान्ता होनेके कारण ही व्रजसुन्दरियोंने कृष्णसेवा अंगीकार नहीं की ; कृष्णसेवाके लिए ही उन लोगोंने कृष्णकान्तात्व अंगीकार किया ; अन्य सम्बन्ध अंगीकार न करके कान्तत्व अंगीकार करनेमें हेतु यह है कि इस भावमें वे लोग कृष्ण-सेवाका निर्बाध—सीमाहीन—सुयोग पाती रहती हैं (सनातन शिक्षाके अन्तर्गत चै.च.म.२२.८६-८७ की टीका देखिये)। जो हो, '**पहिलहि राग नयनभङ्ग भेल**' एवं '**ना खोजलूँ दूती ना खोजलूँ आन। दुँहुकेर मिलने मध्यत पाँचवाण।**'—इन वाक्योंमें जो विशेषता सूचित हुई है, वह पूर्ववर्ती आलोचनामें प्रदर्शित हो चुकी है। उक्त आलोचनामें प्रेमके जातिगत वैशिष्ट्यकी बात ही कही गयी है ; अब उसका परिमाणगत वैशिष्ट्य दिखाया जाता है।

जो चीज अल्प है—ससीम है, उसका ह्रास होता है, वृद्धि होती है ; किन्तु वृद्धि होनेपर भी यथेच्छ वृद्धि नहीं हो सकती, सीमातक ही हो सकती है, सीमाका अतिक्रमण नहीं हो सकता।

भूमा वस्तु या विभु वस्तुकी बात अलग है ; विभु वस्तु पूर्ण है ; पूर्ण वस्तुका धर्म ही यह है कि उसमें-से जो कुछ भी लिया जाय, वह भी पूर्ण

होगा और लिये जानेके बाद जो अवशिष्ठ रहेगा, वह भी पूर्ण होगा। **'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'**—श्रुति।' हमको पहेली-सी लग सकती है, विश्वासके अयोग्य-सी लग सकती है। इसका कारण यह है कि पूर्णवस्तुके सम्बन्धमें हमको कोई ज्ञान नहीं है। जिस वस्तुके सम्बन्धमें हमको ज्ञान न हो, अथवा अपनी ज्ञानमूलक युक्ति द्वारा भी जिस वस्तुके सम्बन्धमें हम किसी भी प्रकारकी धारणा न कर सकें, उसमें विश्वास करनेकी हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु जो सत्य है, वह सर्वदा सत्य है।

विभु वस्तुका और भी एक अद्भुत धर्म है। हमारी धारणा बुद्धिमें यही लगता है कि जो विभु—पूर्ण है, उसकी और वृद्धिके लिए अवकाश नहीं है; अतएव वह वर्द्धित नहीं हो सकती; किन्तु विभु वस्तुका यही अद्भुत धर्म है कि स्वरूपसे पूर्ण होनेपर भी—अतएव वर्द्धित होनेका अवकाश न रहनेपर भी—यह प्रतिक्षण वर्द्धित होती रहती है। यह परस्पर विरुद्ध धर्मका परिचायक है; केवल मात्र विभु-वस्तु ही इस प्रकार विरुद्ध धर्मका आश्रय हो सकती है—अन्य कोई भी वस्तु विरुद्ध धर्मका आश्रय नहीं हो सकती।

अतएव जहाँ विरुद्ध-धर्माश्रयत्वका परिचय मिलेगा, विभुवस्तुका अस्तित्व समझना होगा।

'पहिलहि राग' गीतमें जिस प्रेमका उल्लेख किया गया है, उसमें विरुद्ध-धर्माश्रयत्वका परिचय मिलता है—अतएव वह विभु है। गीतके किस पदमें विरुद्ध-धर्माश्रयका परिचय मिलता है? **'अनुदिन बाड़ल—अवधि ना गेल'** पदमें। **अनुदिन**—दिन-प्रतिदिन; क्षण-क्षणमें; सर्वदा। **बाड़ल**—वर्द्धित होता रहा। **अवधि**—सीमा; वृद्धिकी शेष सीमा। श्रीराधाका जो ललना-निष्ठ प्रेम श्रीकृष्णकी प्रथम स्फूर्तिमें ही अपने विषयको ज्ञात हुआ था, वह क्षण-क्षणमें सर्वदा परिवर्द्धित होते रहनेपर भी कभी भी वृद्धिकी शेष सीमातक पहुँच नहीं सका, प्रतिक्षण केवल बढ़ता

ही रहा। इसके द्वारा श्रीराधा-प्रेमका विभुत्व सूचित होता है।

'राधाप्रेम विभु, जार बाड़िते नाहि ठाञि।
तथापि से क्षणे क्षणे बाड़ये सदाइ॥'

चै. च. आ. ४.१११

इसका कारण—विभुवस्तु स्वयं श्रीकृष्णने ही बतायी है।

आमि जैछे परस्पर विरुद्ध-धर्माश्रय।
राधाप्रेम तैछे सदा विरुद्ध धर्ममय॥

चै. च. आ. ४.११०

राधाप्रेम विभु है—अतएव परिमाणमें सर्वातिशायी है—'अनुदिन बाड़ल' इत्यादि वाक्यमें यही सूचित हुआ है। यही इस प्रेमका परिमाणगत वैशिष्ठ्य है।

अब **'ना सो रमण'** इत्यादि पदमें उक्त प्रेमके परिपाकगत वैशिष्ठ्यकी बात बतायी जा रही है। **दुहुँमन**—दोनोंके मनको। **मनोभव**—काम। **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'**—इस प्रमाणके अनुसार व्रजगोपियोंका प्रेम ही काम शब्दसे अभिहित होनेके कारण यहाँ मनोभव शब्द भी व्रजगोपीगणके प्रेमको ही बताता है। अथवा मनोभव—मनमें जो उत्पन्न हो; वासना; कृष्णसुखैक तात्पर्यमयी सेवाद्वारा श्रीकृष्णके प्रीति-विधानके निमित्त ही व्रजगोपीगणकी एकमात्र वासना है। उनके मनमें आधे क्षणके लिए भी अन्य वासना स्थान नहीं पा सकती; अतएव व्रजसुन्दरियोंके मनोभव कहनेसे उनकी वैसी वासनाको ही बताया गया है; किन्तु कृष्णसुखैक तात्पर्यमयी सेवाद्वारा श्रीकृष्णके प्रीतिविधान-की इच्छाका नाम ही प्रेम है; अतएव मनोभव शब्दसे यहाँपर प्रेम ही सूचित होता है। **पेषल**—पीस डाला; चन्दन और कर्पूरको एक साथ घिसकर पीस डालनेपर दोनोंका स्वतन्त्र अस्तित्व जिस प्रकार लोप हो जाता है, दोनों मिलकर जिस प्रकार शीतल, स्निग्ध एवं सुगन्धित वस्तु बन जाते हैं, उसी प्रकार श्रीराधा और श्रीकृष्णका मन भी प्रेमके प्रभावसे

मिलकर एक हो गये हैं। श्रीराधा हैं श्रीकृष्णकी रमणी—उनके चित्तमें रमणीजनोचित भाव रहना ही स्वाभाविक है। श्रीकृष्ण हैं श्रीराधाके रमण—उनके चित्तमें रमणजनोचित भाव रहना स्वाभाविक है। किन्तु प्रेम-प्रकर्षके प्रभावसे उनका इस प्रकारका विभिन्न भाव मिलकर एक हो गया है। यह प्रणयका ही परिणाम है। प्रणयमें अपने प्राण, मन, बुद्धि, देह और परिच्छदादिके साथ कान्तके प्राण, मन, बुद्धि, देह परिच्छदादि-की ऐक्य भावना करनी होती है। प्रणय जितना गाढ़ होता है, यह ऐक्यभाव भी उतनी ही गाढ़ता प्राप्त करता है; प्रेम परिपाककी गाढ़ता-वृद्धिके साथ-साथ ऐक्य भावकी गाढ़ता बढ़ते-बढ़ते अन्तमें एक ऐसी अवस्थामें पहुँचती है, जब कान्ता-कान्तके चित्तका किसी भी प्रकारका भेद लक्षित नहीं होता—जब उनके चित्तादिका भेदज्ञान सम्यक् रूपसे दूर हो जाता है। अतएव उस अवस्थामें कान्ताके चित्तका रमणीजनोचित भाव और कान्तके चित्तका रमणजनोचित भाव मिलकर एकीभूत हो जाते हैं—दोनोंके चित्तका किसी भी प्रकारका पार्थक्य तब लक्षित नहीं होता। इस अवस्थाको ही निर्धूत-भेदभ्रमकी अवस्था कहते हैं, जिस अवस्थामें भेदका ज्ञान तो दूर रहा, भेदका भ्रम तक भी नहीं रह सकता, भ्रमसे भी भेदकी बात मनमें नहीं उठ सकती। प्रेमका चरम परिणाम जो महाभाव है उस महाभावमें ही इस प्रकारकी अवस्था होती है। **'ना सो रमण'** इत्यादि पदमें इस प्रकारके लक्षण ही सूचित हुए हैं। इस पदके प्रमाणरूपमें पीछे **'श्रीराधाया भवतश्च चित्तजतुनी'** इत्यादि जो श्लोक उद्धृत हुआ है, उससे भी यही प्रमाणित होता है। श्रीउज्ज्वलनीलमणिमें महाभावके लक्षण प्रकाशमें यही श्लोक उद्धृत हुआ है। इस श्लोकमें बताया गया है—अग्निके उत्तापसे गलकर दो खण्ड लाक्षा जिस प्रकार मिलकर एक हो जाते है, उसी प्रकार प्रेम-परिपाक-के प्रभावसे श्रीराधा एवं श्रीकृष्णके चित्त भी गलकर मिलकर एक हो गये हैं; उत्तापसे लाक्षा गल जाता है; कम उत्तापसे कम गलता है।

कम गलनेपर भी दोनों लाक्षाके टुकड़ोंको मिलाकर कुछ दबाकर पकड़नेसे परस्परके साथ आबद्ध होकर वे एक खण्डमें परिणत हो जाते हैं; किन्तु इस प्रकारसे एक खण्ड हो जानेपर भी वे दो पृथक्-पृथक् खण्ड थे, यह समझा जा सकता है। किन्तु लाक्षाके दोनों खण्डोंको (अथवा मिले हुए दोनों लाक्षा खण्डोंको) किसी पात्रमें रखकर यदि उत्तप्त किया जाय, तब उत्ताप देते-देते वे गलकर तरल होकर इस प्रकार मिल जायँगे जिस प्रकार दो लुटिया जल एक पात्रमें डालकर मिला देने पर उनकी पूर्ववर्ती पृथकताका सामान्य चिह्न मात्र भी नहीं रहता, उत्ताप वृद्धिके साथ-साथ उनकी तरलता भी बढती जाती है एवं अन्तमें एकके अणु परमाणुके साथ दूसरेके अणु-परमाणु घुलमिलकर एक हो जाते हैं, तब उनकी पृथकताकी बात भ्रमसे भी मनमें उदित नहीं हो सकती। उत्ताप जिस प्रकार लाक्षाको द्रवीभूत करता है, उसी प्रकार प्रेम भी चित्तको द्रवीभूत करता है। प्रेम जितना गाढ होता जायगा चित्तको द्रवता भी उतनी ही बढ़ती जायगी; अन्तमें प्रेमकी गाढ़ता जब चरमताको प्राप्त होती है—प्रेम जब महाभावताको प्राप्त होता है तब इस प्रेमके प्रभावसे श्रीराधाकृष्णका चित्त भी मानो गलकर, घुलमिलकर इस प्रकारसे एक हो जाता है कि उनकी पृथकताकी बात भ्रमसे भी मनमें उदित नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थामें कौन रमण एवं कौन रमणी—इस प्रकारका कोई भी भाव श्रीराधाकृष्णके मनमें उदित नहीं हो सकता, उस समय उनके चित्तकी निर्धूतभेद-भ्रमकी अवस्था होती है। **'ना सो रमण'** इत्यादि पदमें श्रीराधाप्रेमकी इस अवस्थाकी बात—इस प्रेमके महाभावकी बात ही सूचित होती है।

महाभावके विभिन्न स्तर हैं। मादनाख्य महाभाव ही उच्चतम स्तर है, प्रेमकी गाढ़तम-अवस्था-मादनमें ही प्रणयकी चरमतम परिणति है—अतएव निर्धूत-भेद-भ्रमत्वकी भी चरमतम परिणति है; **'दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि'** इस पदके पेषल शब्दके तात्पर्यसे निर्धत-भेद-भ्रमत्व चरमतम

परिणति—अतएव श्रीराधाप्रेमकी चरमतम परिणति मादनाख्य महाभाव ही सूचित होता है।

किन्तु प्रश्न हो सकता है कि आलोच्य गीतमें यदि मादनाख्य-महाभाव ही सूचित होता है, तब **'अब सोइ विराग'** इत्यादि पदमें विरहका परिचय क्यों मिलता है? मादनमें तो विरह रह नहीं सकता। **'मादने विरहाभावात्**। उ.नी.स्था. १५५ (१४.२१९) की आनन्दचन्द्रिका टीका।'

इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि **'अब सोइ विराग'** इत्यादि पदमें विरह सूचित होता है, यह सत्य है; किन्तु यह विरह साधारण विरह नहीं है; यह मादनकी एक वैचित्री विशेष है।

मादन **'सर्वभावोद्गमोल्लासी'**—इसमें युगपत् सब भाव ही उल्लास प्राप्त होते हैं। मादन सम्भोगमय है; सम्भोगानन्द मत्तता उत्पन्न करने वाला होनेके कारण इसका नाम मादन है। इसमें आलिंगन-चुम्बन आदि असंख्य लीलाओंकी युगपत् साक्षात् अनुभूति उत्पन्न होती रहती है—स्फूर्ति द्वारा भी नहीं, कायव्यूह द्वारा भी नहीं—स्वयं श्रीकृष्ण साक्षात्में उपस्थित रहकर चुम्बनालिंगनादि प्रयोग करनेपर श्रीराधा जो आनन्द अनुभव करती हैं, मादनके उल्लासमें वे सर्वदा वही आनन्द अनुभव करती हैं। तथापि मादनका एक अद्भुत धर्म यह है कि जब मादनका अभ्युदय होता है, तब चुम्बन-आलिंगन आदि सम्भोग सुखके अनुभवके मध्य भी—उस प्रकारके अनुभवके समकालमें—एक ही प्रकाशमें विरहका अनुभव उत्पन्न होता रहता है। **"यदातु मादनाख्यः स्थायी स्वयमुदयते, तत्क्षण एव चुम्बनालिंगनादि-सम्भोगानुभवमध्य एव विविध-वियोगानुभव इत्येकस्मिन्नेव प्रकाशे प्रकाशद्वयधर्मानुभवः, स च विलक्षणरूप एवेति**। उ. नी. स्था. १६० (१४.२२५) श्लोककी आनन्दचन्द्रिका टीका।' मधुर अम्लके आस्वादनमें अम्ल और मधुरका एक साथ आस्वादन अनुभव होता है, अम्ल उसमें मधुरताकी वैचित्री-

विधान ही करता रहता है। मादनमें सम्भोगानन्दके अनुभवके साथ-साथ विरहका अनुभव भी लगता है, उस प्रकारके सम्भोगानन्दकी एक अनिर्वचनीय वैचित्री सम्पादन करता है। जो हो, मादनके स्वरूपगत धर्मवश असंख्य-सम्भोगानन्दके अनुभवके साथ-साथ जिस विरहका अनुभव अपने आप ही आकर उपस्थित होता है, उसी विरहके अनुभवमें श्रीराधाने कहा है—**'अब सोइ विराग'** इत्यादि। अतएव 'अब सोइ' पदमें जो विरह सूचित होता है, वह मादनका ही वैचित्रीविशेष है। एक ही गीत **'ना सो रमण ना हाम रमणी'** इत्यादि पदके साथ **'अब सोइ विराग'** इत्यादि पद संयोजित होनेसे मिलन और सम्भोगकी चरमतम पराकाष्ठा-के साथ विरह भावका ही यौगपत्य सूचित होता है एवं यह गीत मादनाख्य महाभावका ही द्योतक है, यह भी सूचित होता है; कारण मादनके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावमें एक ही प्रकाशमें सम्भोग और विरह यौगपत्य देखनेमें नहीं आता। यह मादनाख्य महाभाव एक मात्र श्रीराधाके अतिरिक्त अन्य किसीमें नहीं होता। इस गीतमें श्रीराधाके प्रेमके जातिगत, प्रकृतिगत, परिमाणगत एवं परिपक्कतागत अपूर्व वैशिष्ठ्यकी बात ही व्यक्त हुई है।

इस गीतमें प्रेमकी जो चरमतम परिपक्कताकी बात एवं राधाप्रेमके अपूर्व, अद्भुत एव अनिर्वचनीय विशेषत्वकी बात—एक ही प्रकाशमें असंख्यविध सम्भोगानन्दकी एवं विरहकी युगपत् साक्षात् अनुभूतिकी बात —कही गयी है, उसे सुनकर **'प्रेमे प्रभु स्वहस्ते तार मुख आच्छादिल'** एवं प्रेमका आवेग शान्त होनेपर प्रभुने कहा—**'साध्यवस्तु अवधि एइ हय। तोमार प्रसादे इहा जानिल निश्चय॥'** अब प्रभुने परितृप्ति प्राप्त की; साध्य विषयमें और कोई भी प्रश्न नहीं किया।

पूर्ववर्ती ६३-७२ पयारोंमें साधारण भावसे कान्ता प्रेमकी श्रेष्ठता दिखाकर ७५-८८ पयारोंमें अन्यान्य कृष्णकान्ताओंकी अपेक्षा श्रीराधाके प्रेमकी श्रेष्ठता एवं उसके पश्चात् **'पहिलहि राग'** इत्यादि गीतमें उस

श्रेष्ठताका स्वरूप—राधाप्रेमकी अद्भुतता और अनिर्वचनीयता, उसमें सम्पूर्ण सम्भोगलीलाका एवं विरहका अनुभव-यौगपत्य दिखाकर—राधा-प्रेमका सर्वातिशायित्व एवं साध्य-शिरोमणित्व सप्रमाण किया गया है। 'पहिलहि राग' इत्यादि गीतमें प्रेमके जिस विलास या वैचित्रीका उल्लेख किया गया है, वही प्रेमकी परिपक्वतम या परिपूर्णतम वैचित्री (या विलास) होनेके कारण उक्त 'प्रेमविलास-विवर्त्त' द्योतक हुआ (विवर्त्त-परिपक्व अवस्था)।

कोई प्रश्न कर सकता है—यह गीत सुनकर प्रभुने रामानन्दके मुखपर हाथ क्यों रक्खा ?

इसका कारण लगता है इस प्रकार है। मादनमें नित्य मिलन—नित्य निरवच्छिन्न भावसे सम्भोग रहता है। रसराज श्रीकृष्ण और महाभावस्वरूपिणी श्रीराधा—इन दोनोंका सम्मिलित स्वरूप हैं श्रीश्रीगौरसुन्दर। रसराज श्रीकृष्णने हृदयमें श्रीराधाका मादनाख्य महाभाव एवं बाहर श्रीराधाकी अङ्गकान्ति धारण करके भीतर-बाहर दोनोंके घनिष्ठतम मिलनकी प्रतिमूर्ति होकर—**तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तम्** होकर—गौररूपसे आत्मप्रकाश किया है। श्रीराधाके मादनाख्य महाभावने श्रीकृष्णके अन्तःकरणको अपने साथ तादात्म्य प्राप्त कराया है एवं बाहर भी श्रीराधाने स्वयं अपने प्रति अङ्ग द्वारा श्रीकृष्णके प्रति अङ्गको आलिङ्गन कर मानो श्रीश्रीश्यामसुन्दरको गौरत्व प्रदान किया है। इसीसे श्रीश्रीगौरसुन्दर भीतर और बाहर सर्वतोभावसे श्रीराधाकृष्णके नित्य-मिलनके नित्य सम्भोगके—प्रकट विग्रह हैं; इसीसे श्रीश्रीगौरसुन्दर भी मादनाख्य महाभावके प्रकट विग्रह हैं; गम्भीरालीलामें प्रभुमें जो श्रीकृष्ण-विरहका वेगवान उच्छ्वास देखनेमें आया था, वह विरह भी मादनकी वैचित्रीविशेष है।

प्रभु सदा ही आत्मगोपन करनेमें उत्कण्ठित रहते हैं; कोई किसी भी प्रकारसे उनके स्वरूपको जानकर उसका प्रकाश करनेकी चेष्टा भी करता

है तो प्रभु उसको अनेक प्रकारसे भुलानेकी चेष्टा करते हैं। जो व्यक्ति सर्वदा आत्मगोपन करनेमें व्यस्त रहे, उसके समक्ष दूसरा कोई उसके स्वरूपके विषयमें कुछ न जानकर भी स्वरूपके अनुरूप बात प्रकट करना चाहे तो आत्मप्रकाशकी आशंकासे वह व्यक्ति कुछ विचलित हो जाता है; यह स्वाभाविक है। प्रभुकी भी वैसी ही अवस्था है; मादनाख्य महाभावके प्रकट विग्रह होकर भी आत्मगोपनमें व्यस्त रहनेके कारण रामानन्द रायके मुखसे मादनाख्य महाभावका स्वरूप द्योतक गीत सुनकर अपने गूढ़ रहस्यके उद्घाटनकी—आत्मपरिचय प्रकाशकी—आशंकासे शायद उन्होंने रामानन्द रायका मुख अपने हाथसे आच्छादित किया था; आच्छादनका तात्पर्य यही है कि जिससे रामानन्द राय और कुछ न कहे; और भी कुछ कहनेपर सम्भव है कि प्रभुके स्वरूपकी बात प्रकाशित हो जाय। रामानन्दका मुख आच्छादित करके प्रभुने वह सम्भावना बन्द कर दी।

तथाहि उज्ज्वलनीलमणौ, स्थायीभाव कथने ११० (१४.१५५)—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्यक्रमाद्
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती ॥४३॥

अन्वय—**अद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते** (हे गोवर्द्धन-निकुञ्जके स्वच्छन्द विहारी)! **कृती** (कृती) **शृङ्गारकारुः** (शृङ्गार शिल्पी) **स्वेदैः** (स्वेदद्वारा—स्वेद नामक सात्विक भावरूप तापद्वारा) **राधायाः** (श्रीराधाके) **भवतश्च** (एवं तुम्हारे—श्रीकृष्णके) **चित्तजतुनी** (चित्तरूप लाक्षाको) **क्रमात्** (क्रम-क्रमसे) **विलाप्य** (गलाकर) **निर्धूतभेदभ्रमं युञ्जन्** (भेदभ्रमको मिटाते हुए एकीभूत भावमें मिलाकर) **इह** (इस) **ब्रह्माण्डहर्म्योदरे** (ब्रह्माण्डरूप गृहमें) **चित्राय** (चित्रित

करनेके लिए) **भूयोभिः** (बहुत परिमाणमें) **नवरागहिङ्गुलभरैः** (नवरागरूप हिङ्गुल द्वारा) **स्वयं** (स्वयं) **अन्वरञ्जयत्** (अनुरञ्जित किया है)।

अनुवाद—हे गोवर्द्धन-गिरि-निकुञ्जविहारी-कुञ्जरपते ! श्रीराधिकाके और तुम्हारे चित्तरूप लाक्षाको स्वेद-(नामक सात्विकभावरूप ताप)-द्वारा क्रम-क्रमसे भेद-भ्रम मिटाकर अपसारणपूर्वक (दोनोंके चित्तको) एकीभूत करके सुनिपुण-शृङ्गारशिल्पीने इस ब्रह्माण्डरूप अट्टालिकाके भीतर चित्रित करनेके लिए बहुपरिमाणयुक्त नवानुरागरूप हिङ्गुलद्वारा स्वयं उसको अनुरञ्जित किया है।

गोवर्द्धन पर्वतके किसी एक कुञ्जमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण परस्परके माधुर्य आस्वादनमें निमग्न हैं, उद्दीप्त सात्विक भावने उन दोनोंके देहको अलङ्कृत कर रखा है ; उनकी इस महाभाव-माधुरीका अनुमोदन कर श्रीवृन्दादेवीने जो कहा था वही इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है।

अद्रिनिकुञ्ज-कुञ्जरपते—अद्रिका अर्थ पर्वत ; यहाँ गोवर्द्धन पर्वत ; उस गोवर्द्धन पर्वत स्थित जो निकुञ्ज है, उस निकुञ्जमें कुञ्जरपति (हस्ति श्रेष्ठ) तुल्य—अद्रिनिकुञ्ज-कुञ्जरपति, सम्बोधनमें कुञ्जरपते। मदमत्त-गजेन्द्र जिस प्रकार करिणि (हथिनी) को लेकर स्वच्छन्द विहार करता रहता है, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार प्रेमोन्मत्त होकर श्रीराधाको लेकर गोवर्द्धन - स्थित निकुञ्जमें स्वच्छन्द विहार करते हैं— यही अद्रिनिकुञ्ज-कुञ्जरपति शब्दका भाव है। वृन्दादेवीने श्रीकृष्णको सम्बोधन करके कहा—हे एतादृश मत्तगजेन्द्रलील श्रीकृष्ण ! श्रीराधाका एवं तुम्हारा **चित्तजतुनी**—चित्तरूप जनुको (लाक्षाको) ; [लाक्षाके भीतर और बाहर सर्वत्र हिङ्गुल आभा रहती है ; श्रीराधा और श्रीकृष्णके चित्तकी लाक्षाके साथ तुलना करनेसे यही सूचित होता है कि—दोनोंके चित्त—चित्तस्थित मञ्जिष्ठाराग—महाभाव आकारत्वको प्राप्त हुए हैं] **स्वेदैः** —**स्वेद** नामक सात्विकभावकी वृत्तिविशेष द्वारा, स्वेदरूप तापद्वारा,

क्रम-क्रमसे थोड़ा-थोड़ा **विलाप्य**—द्रवीभूत करके, गलाकर **निर्धूतभेदभ्रमं युञ्जन्**—दोनोंके भेदभ्रम सम्यक्‌रूपसे दूरीभूत करके, दोनोंके चित्तको सम्यक्‌रूपसे मिलाकर एकीभूत करके **भूयोभिः**—बहुत परिमाणमें **नवरागहिङ्गुलभरैः**—नवरागरूप हिङ्गुलद्वारा नित्य नये-नये रूपसे प्रतीयमान जो राग है, उसी रागरूप हिङ्गुलद्वारा उस चित्तरूप लाक्षाको **अम्बरञ्जयत्**—अनुरञ्जित किया है। चित्तरूप लाक्षाको गलाकर सम्यक्‌रूपसे मिलाकर नित्य नव-नवायमान रागरूप हिङ्गुलद्वारा रञ्जित किया है। किसने रञ्जित किया है? **कृती**—अपने कार्यमें निपुण **शृङ्गारकारुः**—शृङ्गार-रसरूप शिल्पी श्रीराधा और श्रीकृष्णके चित्तरूप लाक्षाको गलाकर मिलाकर सम्यक्‌रूपसे एकीभूत करके नवरागरूप हिङ्गुलद्वारा रञ्जित किया है। किसलिए ऐसा किया? **इह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे**—इस ब्रह्माण्डरूप अट्टालिकाके अभ्यन्तर भागमें **चित्राय**—चित्र बनानेके लिए; ब्रह्माण्डवासी भक्तगणके चित्तको आश्चर्यान्वित करनेके लिए शिल्पी जिस प्रकार धनी लोगोंकी अट्टालिका आदिको चित्रित करनेके लिए स्वभावतः हिङ्गुलाभ लाक्षाको आगके तापसे धीरे-धीरे गलाकर अच्छी प्रकार मिलाकर और प्रचुर मात्रामें हिङ्गुल मिलाकर उत्तम रंग प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार स्वयं शृङ्गार-रस श्रीराधा और श्रीकृष्णके महाभावस्वरूपताप्राप्त चित्तद्वयको प्रेमभावसे द्रवीभूत करके सम्यक्‌रूपसे मिलाकर इस प्रकारसे मिलित बना दिया है कि ये चित्तद्वय दो अलग-अलग वस्तु थे, यह और किसी प्रकार भी नहीं समझा जाता; इस प्रकार मिलाकर उसमें प्रचुर मात्रामें नित्य-नव-नवायमान रागका सञ्चार कर दिया है—मानो, श्रीश्रीराधाकृष्णके प्रकट-लीलाकालमें ब्रह्माण्डवासी भक्तगण श्रीश्रीराधाकृष्णके तादृश चित्तके महाभाव-क्रिया-क्षोभ अनुभव करके आश्चर्यचकित हो सकें, इस उद्देश्यसे।

प्रेम-परिपाकमें श्रीराधाका और श्रीकृष्णका परस्पर भेदज्ञान दूरीभूत हो जाता है, शृङ्गार रस उन दोनोंके चित्तको पीसकर एक कर देता है—

यही इस श्लोकमें दिखाया गया है। '**दुहुँ जन मनोभव पेषल जानि**' —इस १५३ पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है। यह महाभावका ही एक लक्षण है।

राधाप्रेम साध्यवस्तुकी अवधि

प्रभु कहे—साध्यवस्तु अवधि एइ हय।
तोमार प्रसादे इहा जानिल निश्चय ॥१५७॥

साध्य वस्तु अवधि—साध्यवस्तुकी शेष सीमा; परम साध्यवस्तु; साध्यवस्तुकी पूर्णतम अभिव्यक्ति। **एइ हय**—तुम्हारे द्वारा कथित प्रेमविलास-विवर्त्त ही साध्यवस्तुकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है; इसके ऊपर और कोई भी वस्तु नहीं हो सकती, जिसके लिए किसी व्यक्तिको लोभ उत्पन्न हो सके।

प्रेमविलास-विवर्त्तमें श्रीश्रीराधाकृष्णके प्रेमविलासकी चरमतम महत्वकी बात है एवं श्रीराधा-प्रेमकी चरमतम महिमाकी बात—जिस महिमाके प्रभावसे दोनोंका भेदज्ञान लुप्त हो जाता है—जो दोनोंका परैक्य सम्पादन कर देती है, ऐसी महिमाकी बात—अभिव्यक्त होनेसे राधा-प्रेमकी अनिर्वचनीय और अपूर्व महिमा अभिव्यक्त करानेके लिए प्रभुके कौतुहलने चरितार्थता प्राप्त की है; इसीसे इस सम्बन्धमें प्रभुके लिए और कुछ भी जिज्ञास्य नहीं रहा। प्रेमविलास-विवर्त्तमें ही सेवा-वासनाका भी चरमतम विकाश है; अतएव सेवा-वासनाके आधार-निरपेक्ष विचारसे प्रेमविलास-विवर्त्तमें ही साध्यवस्तुका भी चरमतम विकाश है। (पूर्ववर्ती ६३वें पयारकी टीका पृष्ठ १२२ पर देखिये)। इसीसे प्रभुने कहा—**'साध्यवस्तुर अवधि एइ हय।'**

तोमार प्रसादे—तुम्हारे (राम रायके) अनुग्रहसे। भक्तभावसे यह प्रभुकी दैन्योक्ति है।

साध्यप्राप्तिका साधन—गोपीभाव

साध्यवस्तु साधन-बिनु केहो नाहि पाय ।

कृपा करि कह इहा पाबार उपाय ॥१५८॥

प्रभुने रामानन्दसे कहा—"साधनके बिना कोई भी साध्यवस्तुको नहीं पा सकता। तुमने जो यह चरम-साध्यवस्तुकी बात कही, वह किस साधनसे प्राप्त हो सकती है, कृपा करके बताओ।"

यहाँपर एक बात विचारने योग्य है। **'ना सो रमण ना हम रमणी'** इत्यादि वाक्योंमें जो प्रेमविलास-विवर्त्तकी बात कही गयी है, वह साधन-लभ्य वस्तु नहीं है; श्रीकृष्णकी ह्लादिनी-शक्तिकी अधिष्ठात्री देवी महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधाकी ही यह अनादिसिद्ध निजस्व वस्तु है। श्रीराधाकी सेवा भी स्वातन्त्र्यमयी है; स्वातन्त्र्यमयी सेवामें नित्यदास-जीवका स्वरूपगत-अधिकार भी नहीं है; आनुगत्यमयी सेवामें ही जीवका अधिकार है। व्रजसुन्दरीगणके आनुगत्यसे उक्त प्रेमविलास-विवर्त्तरूप लीलामें श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवा ही जीवकी साध्यवस्तु हो सकती है एवं इस साध्यवस्तुकी प्राप्तिके अनुकूल जो साधन है, उसीकी बात महाप्रभुने इस पयारमें जिज्ञासा की है।

राय कहे—जे कहाओ सेइ कहि वाणी ।

कि कहिये—भाल-मन्द किछुइ ना जानि ॥१५९॥

त्रिभुवनमध्ये ऐछे आछे कौन धीर ।

जे तोमार मायानाटे हइवेक स्थिर ? ॥१६०॥

रामानन्द रायने उत्तर दिया—"तुम जो कहलाना चाहो वही बात वाणी कहती है; क्या कहना चाहिये, क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है—यह मैं कुछ नहीं जानता। त्रिभुवनमें ऐसा कौन धीर पुरुष है, जो तुम्हारी मायाके खेलमें स्थिर रह सके।"

मोर मुखे वक्ता तुमि, तुमि हओ श्रोता।
अत्यन्त रहस्य शुन साधनेर कथा ॥१६१॥

मेरे मुखसे तुम्हीं वक्ता हो और तुम्हीं श्रोता हो। यह साधनकी बात अत्यन्त रहस्यमयी—गोपनीय है।

राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर।
दास्य वात्सल्यादि-भावेर ना हय गोचर ॥१६२॥

अति गूढ़तर—अत्यन्त रहस्यमय, गूढ़तम। श्रुतिका कहना है कि प्रणवको जान लेनेपर जो इच्छा की जाय, वही प्राप्त किया जा सकता है। 'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ कठो. १.२.१६॥' लोक इहकालके या परकालके स्वार्गादि-सुखकी इच्छा कर सकते हैं, अथवा सायुज्य मुक्तिकी कामना कर सकते हैं, अथवा भगवान्के किसी भी धाममें उनकी सेवा-कामना कर सकते हैं—जिस वस्तुकी भी इच्छा की जाय, उसे प्राप्त किया जा सकता है; अतएव अभीष्ट-वस्तुकी प्राप्तिके सम्बन्धमें यह एक साधारण बात है। उक्त श्रुतिने ठीक इसके परवर्ती वाक्यमें एक विशेष अभीष्ट वस्तुकी बात कही है। 'एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। कठ. १.२.१७॥ इस परम-आलम्बनरूप ब्रह्मवाचक प्रणवको (नाम और नामीके अभेद होनेसे ब्रह्मको या कृष्णको) जानलेनेपर जीव ब्रह्मलोकमें महिमान्वित हो जाता है।' ब्रह्मलोक कहनेसे परब्रह्म श्रीकृष्णका लोक या धाम गोलोक-व्रजको ही समझा जाता है। व्रजमें श्रीकृष्णकी सेवा-प्राप्तिसे ही जीव महीयान् हो सकता है; क्योंकि स्वरूपगत धर्मके सम्यक् विकाशसे ही वस्तुकी महिमाका भी सम्यक् विकाश होता है। जीवका स्वरूपगत धर्म है श्रीकृष्णसेवा; ऐश्वर्यज्ञानहीन शुद्ध माधुर्यमय व्रजमें ही सेवावासना अप्रतिहत रूपसे, सम्यक् रूपसे विकशित हो सकती है। ऐश्वर्यप्रधान बैकुण्ठमें ऐश्वर्य ज्ञान सेवावासनाके विकाशमें विघ्न करता है। द्वारका-मथुरामें भी ऐश्वर्यज्ञान जब

प्रधान रहता है, तब सेवा-वासना संकुचित हो जाती है। ऐश्वर्यज्ञानहीन शुद्धमाधुर्यमय भावसे श्रीकृष्णको अपना करके पाया जाता है एकमात्र व्रजमें। गीतामें '**मन्मना भव मद्भक्तो**' इत्यादि वाक्योंमें व्रजमें श्रीकृष्ण प्राप्तिकी ही बात कही गयी है एवं श्रीकृष्णने एतादृशी प्राप्तिकी बातको ही '**सर्वगुह्यतम**' बताया है। व्रजमें श्रीकृष्णसेवा-प्राप्ति दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुर—इन चार भावोंमें ही सम्भव है। इन चार भावोंकी सेवाओंमें मधुरभावकी या कान्ताभावकी सेवा ही सर्वोत्कर्षमयी है, कान्ताभावकी सेवा प्रेमानुगा होनेके कारण इस भावकी सेवामें ही सेवा-वासनाका सर्वतोभावसे सम्यक् विकाश है। अतएव कान्ताभावकी सेवाकी बात अतिगूढ़तर—अत्यन्त रहस्यमय है, यह भी सहजमें समझा जा सकता है।

दास्य-वात्सल्यादि-भावेर ना हय गोचर—कान्ताभावात्मिका राधा-कृष्णलीला दास्य-वात्सल्यादिके लिए अनधिगम्य है। दास्य-वात्सल्यादि भावमें सेवा-वासनाका या प्रेमका जितने परिमाणमें विकाश है, उसके द्वारा कान्ताभावकी सेवा सम्भव नहीं है। कान्ताभावके परिकरगणका प्रेम (या सेवावासना) महाभाव पर्यन्त विकशित होता है; महाभावके बिना राधा-कृष्णकी लीलाका सेवा-लाभ सम्भव नहीं है। व्रजके दास्य-सख्य-वात्सल्य भावमें महाभावका विकाश नहीं है; अतएव इन भावोंमें राधा-कृष्णलीलाकी सेवा सम्भव नहीं है। व्रजके अतिरिक्त अन्य धामोंमें शुद्ध माधुर्यमय ऐश्वर्यज्ञानहीन भाव ही नहीं है; अतएव अन्य धामोंके परिकरगणके भावमें राधा-कृष्णलीलाकी सेवा नितान्त असम्भव है। वैकुण्ठके कान्ताभावमें भी यह प्राप्य नहीं है; यदि ऐसा होता, तो वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी व्रजमें श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्तिके लिए उत्कट तपस्या न करतीं। द्वारका-महिषीके लिए भी यह दुर्लभ है; क्योंकि, उनके लिए महाभाव अति दुर्लभ है। महाभावके सम्बन्धमें उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थका कहना है—

"मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यासावतिदुर्लभः ।" (१४.१५६)

श्रीराधारससुधानिधि ग्रन्थका कहना है—

"न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरिभक्तैर्न सुहृदा-
दिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्य सुविदितम् ।" (२.१४६)

श्रीराधामाधवका रहस्य देवगणको, (अम्बरीष—प्रह्लादादि) हरिभक्त-गणको, यहाँतक कि (नन्द-यशोदादि) सुहृदगणको भी सुविदित नहीं है।

दास्य-वात्सल्यादि शब्दके अन्तर्गत आदि शब्दसे यहाँपर अन्य धामोंके परिकरगणका भाव है, यहाँतक कि द्वारका-महिषीगणका कान्तभाव भी सूचित होता है।

सबे एक सखीगणेर इहा अधिकार।
सखी हइते हय एइ लीलार विस्तार ॥१६३॥

श्रीराधाकी सभी सखीगणमें महाभाव विराजित है, इसीलिए श्रीराधाकृष्णकी लीलामें केवल मात्र सखियोंको ही सेवाका अधिकार हो सकता है।

सखी-बिनु एइ लीला पुष्टि नाहि हय।
सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय ॥१६४॥

सखियाँ ही इस लीलाका विस्तार करती हैं, पुष्टि करती हैं एवं उसमें आनन्द अनुभव करती हैं।

सखी-बिनु एइ लीलाय नाहि अन्येर गति।
सखीभावे ताँरे जेइ करे अनुमति ॥१६५॥
राधाकृष्ण-कुञ्जसेवा साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ॥१६६॥

गति—प्रवेश। **जेइ**—जो जन। **ताँरे**—सखीका। **अनुगति**—सखीका आनुगत्य स्वीकार करके भजन करते हैं। सखियोंके अतिरिक्त अन्य किसीका भी श्रीराधाकृष्णकी इस निगूढ़लीलामें प्रवेशका अधिकार नहीं है। अतएव जो व्यक्ति सखियोंका आनुगत्य स्वीकार करके भजन करते हैं, वे ही श्रीराधाकृष्णकी कुञ्ज-सेवाका अधिकार पा सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है (चै.च.म. २२.९०,९१ की टीका सनातन शिक्षा पृष्ठ ४५७ से ४६९ तक देखिये)। (स्मरण रखना होगा कि यहाँपर जो सखियोंके आनुगत्यकी बात कही गयी है, वे सखियाँ ललिता-विशाखा आदि या श्रीरूपमञ्जरी आदि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके नित्य-परिकर-विशेष हैं; शुक्र-शोणित गठित कोई भी प्राकृत रमणी नहीं है। सेवा-शिक्षा करनेके लिए ही आनुगत्य-स्वीकार आवश्यक है; जो श्रीकृष्णके नित्य-परिकर हैं, वे ही श्रीकृष्ण-सेवा जानते हैं एवं शिक्षा दे सकते हैं। अनादि-बहिर्मुख प्राकृत जीव शिक्षा कैसे देगा? अन्तश्चिन्तित देहमें ही सखियोंका आनुगत्य करना होता है)। विशेषतः श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्तिका मूर्त्तविग्रह होनेके कारण कान्ताभावकी सेवाका एकमात्र ललितादि सखियोंका ही अधिकार है; उनकी कृपाके बिना कोई भी इस सेवाको प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए उनका आनुगत्य अनिवार्य है।

कुञ्जसेवा - साध्य—निभृत - निकुञ्जमें श्रीराधागोविन्दकी सेवारूप साध्यवस्तु।

तथाहि गोविन्दलीलामृते १०.१७—

विभुरति सुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः
क्षणमपि न हि राधाकृष्णयोर्या ऋते स्वाः।
प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः
श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः ॥४४॥

अन्वय—**ईशः** (विभु ; परमेश्वर) **चिद्विभूतीः इव** (चित् शक्तिके बिना जिस प्रकार पुष्टि-लाभ नहीं होता, उसी प्रकार) **राधाकृष्णयोः** (श्रीराधाकृष्णका) **भावः** (भाव) **विभुः** (महान्) **अतिसुखरूपः** (अतिसुखरूप) **स्वप्रकाशः** (एवं स्वप्रकाश) **अपि** (होनेपर भी) **स्वाः** (अपनी) **याः** (जो सखीगण हैं) **ऋते** (उनके बिना) **क्षणं** (क्षणकाल) **अपि** (भी) **रसपुष्टिं** (रसकी पुष्टि) **न प्रवहति** (धारण नहीं होती), **आसां** (ऐसी इन) **सखीनां** (सखियोंके) **पदं** (चरणोंका) **कः** (कौन) **रसज्ञः** (रसिक व्यक्ति) **न श्रयति** (आश्रय नहीं करेगा)?

अनुवाद—परमेश्वर विभुत्व आदि गुणविशिष्ट होनेपर भी जिस प्रकार चिच्छक्तिके बिना पुष्टिलाभ नहीं करते, उसी प्रकार श्रीराधा-कृष्णके भाव अति वृहत्, अति सुखरूप एवं स्वप्रकाश होनेपर भी निज-सखीगणके बिना क्षणकाल भी रसपुष्टिको धारण नहीं करते। अतएव, कौन रसज्ञ भक्त ऐसी सखीगणका चरणाश्रय नहीं करेगा ? अर्थात् रसिक भक्तमात्र ही सखीगणका चरणाश्रय करते हैं।

श्रीराधा-कृष्णका भाव या प्रेम अति सुखरूप—अत्यधिक सुखके स्वरूपतुल्य है, स्वरूपतः यह सुखकी पराकाष्ठा है। स्वरूपतः यह सुख-पराकाष्ठा होनेसे इसके आस्वादनके लिए अन्यकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती ; मिश्री मुखमें रहनेपर अपने आप ही जिस प्रकार इसके मीठेपन-का अनुभव होता है, उसी प्रकार इस प्रेमके अधिकारी जो हैं, अपने आप ही उनको (श्रीराधाकृष्णको) इस प्रेमके सुखरूपत्वका अनुभव हो सकता है ; तथापि सखियोंके आनुकूल्य बिना श्रीराधाकृष्णके इस प्रेमका सुख-रूपत्व रस पुष्टि धारण नहीं कर सकता। यह प्रेम **विभुः**—सर्वव्यापक एवं **स्वप्रकाशः**—स्वयंप्रकाश है। जो विभु, सर्वव्यापक है, उसको और पुष्टिकी आवश्यकता नहीं होती। एवं जो स्वप्रकाश है, वह अपने आप ही सबकी दृष्टिका विषयीभूत होता है—जैसे सूर्य—उसको किसीको भी दिखाना नहीं पड़ता। स्वरूपशक्तिका विलास-विशेष ही प्रेम है।

स्वरूपशक्ति स्वयं ही विभु – ब्रह्मवस्तु है, उसका विलासभूत भक्ति या प्रेम भी विभु है। इसीसे श्रुतिने कहा है—**भक्तिरेव गरीयसी**। वस्तुतः प्रेम या भक्ति विभु न हो तो किस प्रकारसे ब्रह्मवस्तु भगवान्‌को वशीभूत कर सकते हैं ? श्रुति कहती है—**भक्तिवशः पुरुषः**। महासमुद्र सर्वदा जलद्वारा परिपूर्ण रहनेपर भी वायुके प्रवाहसे ही तरङ्गायित होकर उच्छ्वसित हो उठता है, उसके बिना यह उच्छ्वसित नहीं होता, उसी प्रकार श्रीराधाकृष्णका प्रेम विभु एवं स्वप्रकाश होनेपर भी सखियोंके साहचर्य बिना पुष्टिलाभ नहीं करता एवं अभिव्यक्त भी नहीं होता। यह श्रीराधाकृष्णके प्रेमकी एव सखीभावकी एक अद्भुत महिमा है। एक दृष्टान्त द्वारा यह समझाया जा रहा है। **ईशः**—ईश्वर विभु एवं स्वप्रकाश होनेपर भी जैसे उनकी **चिद्विभूतीः**—चित् (चिन्मय) विभूतीः (शक्तिसमूह)—चिच्छक्तिके साहचर्य बिना वे पुष्टिलाभ नहीं कर सकते, अभिव्यक्त भी नहीं हो सकते, उसी प्रकार श्रीराधाकृष्णका प्रेम विभु एवं स्वप्रकाश होनेपर भी सखियोंके साहचर्य बिना पुष्टिलाभ नहीं कर सकता एवं अभिव्यक्त भी नहीं हो सकता। ईश्वरकी पुष्टिसे तात्पर्य है उनके गुणादिकी एवं रसत्वादिकी पुष्टि ; उनके प्रकाशसे तात्पर्य है उनकी महिमाका प्रकाश। शक्ति और शक्तिमान्‌के अभेदवश चिच्छक्ति द्वारा ईश्वरकी गुणपुष्टि एवं महिमाप्रकाश होनेसे उनके विभुत्व एवं स्वप्रकाशत्वकी स्वरूपतः हानि नहीं होती। श्रीराधाकृष्णके प्रेमसम्बन्धमें भी यही बात है। श्रीराधा एवं सखीगण प्रेमस्वरूपिणी हैं, वे प्रेमविग्रह हैं ; ह्लादिनीकी प्रतिमूर्ति ; प्रेमसे उनका स्वरूपतः कोई भी पार्थक्य नहीं है ; अतएव लीलामें उनके द्वारा प्रेमकी पुष्टि एवं प्रकाश साधित होनेपर भी उससे प्रेमके विभुत्व और स्वप्रकाशत्वकी स्वरूपतः कोई भी हानि नहीं होती।

'सखी-बिनु एइ लीला पुष्टि नाहि हय'— इस १६४वें पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन।
कृष्णसह निजलीलाय नाहि सखीर मन ॥१६७॥
कृष्णसह राधिकार लीला जे कराय।
निजकेलि हैते ताहे कोटि सुख पाय ॥१६८॥

सखीर स्वभाव एक इत्यादि—सखियोंका स्वभाव अपूर्व, अवर्णनीय है। कृष्णके साथ स्वयं क्रीड़ा करनेसे जो सुख प्राप्त होता है. कोई भी सखी उस सुखको पानेकी इच्छा नहीं करती; अतएव कोई भी सखी श्रीकृष्णके साथ स्वयं क्रीड़ा करनेकी इच्छा नहीं करती। परन्तु श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाकी क्रीड़ा करानेके लिए ही वे प्राणपनसे चेष्टा करती हैं; कारण, श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णकी क्रीड़ा करा सकने पर उनको जो आनन्द मिलता है, वह निज क्रीड़ासुखकी अपेक्षा कोटिगुण अधिक है (इसका हेतु परवर्ती दो पयारोंमें दिखाया गया है)। सखीगण स्वसुख-वासना गन्धलेश हीन हैं।

राधार स्वरूप—कृष्णप्रेम - कल्पलता।
सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता ॥१६९॥
कृष्णलीलामृते यदि लताके सिञ्चय।
निजसेक हैते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय ॥१७०॥

राधार स्वरूप·········**कोटि सुख हय।** श्रीराधाकृष्णके सङ्गमसे सखियोंको निज-कीड़ा-सुखकी अपेक्षा कोटिगुण सुख क्यों होता है, यह बता रहे हैं। श्रीराधा हैं श्रीकृष्णकी प्रेम-कल्पलता-स्वरूप। सखीगण इस लताके पत्र एवं पुष्पस्वरूप हैं। लताके मूलमें जल सिञ्चन न करके केवलमात्र पत्र और पुष्पमें जल सींचा जाय तो पत्र और पुष्प जितने प्रफुल्लित होते हैं, केवलमात्र लताके मूलमें जल सिञ्चन करनेसे पत्र और पुष्प उसकी उपेक्षा अनेक अधिक परिमाणमें प्रफुल्लित होते हैं। उसी

प्रकार सखियोंको श्रीकृष्णके साथ अपनी क्रीड़ासे जो सुख हो सकता है, श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाकी क्रीड़ासे उनको तदपेक्षा अनेक अधिक सुख होता है। कारण, पत्र और पुष्प जिस प्रकार लतासे स्वरूपतः अभिन्न हैं, उसी प्रकार सखीगण भी श्रीराधासे अभिन्न हैं ; इस अभिन्नतासे सखियोंको अधिक सुख होता है।

कृष्णप्रेम कल्पलता—कृष्णप्रेमरूप कल्पलता। कृष्णप्रेमकी चरम परिणति है महाभाव ; श्रीराधा हैं महाभावस्वरूपिणी ; अतएव कृष्णप्रेम ही हुआ श्रीराधाका स्वरूप, स्वरूपतः वे श्रीकृष्णप्रेम ही हैं– महाभाव हैं। इस कृष्णप्रेमकी ही कल्पलताके साथ तुलना की गयी है ; कल्पवृक्षके समान जिस लतासे जो चाहा जाय वही मिल जाय, उस लताको कहते हैं कल्पलता। कृष्णप्रेम कल्पलता सदृश है।

पल्लव—किशलय ; नये पत्ते।

कृष्णलीलामृते—श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाके क्रीड़ारूप अमृतसे यदि **लताके**—राधारूप कल्प-लताको **सिञ्चय**—सींचा जाय तो **निजसेक हैते**—(पत्र पुष्पको) अपने शरीरपर जल सिञ्चनकी अपेक्षा **पल्लवाद्येर**– पत्र-पुष्परूप सखियोंको **कोटि सुख हय**– कोटिगुण सुख होता है।

तथाहि गोविन्दलीलामृते १०.१६

सख्यः श्रीराधिकाया व्रजकुमुदविधोर्ह्लादिनीनामशक्तेः
सारांश-प्रेमवल्ल्याः किशलयदल-पुष्पादितुल्याः स्वतुल्याः।
सिक्तायां कृष्णलीलामृत - रसनिचयैरुल्लसन्त्याममुष्यां
जातोल्लासाः स्वसेकात् शतगुणमधिकं सन्ति यत्तन्न चित्रम्॥४५

अन्वय—**व्रजकुमुदविधोः** (व्रजमुकुदविधु श्रीकृष्णकी) **ह्लादिनी-नामशक्तेः** (ह्लादिनी नाम्नी शक्तिकी) **सारांशप्रेमवल्ल्याः** (सारांश-रूप प्रेमलता सदृशी) **श्रीराधिकायाः** (श्रीराधिकाकी) **सख्यः** (सखी-गण) **किशलयदल पुष्पादितुल्याः** (नवपल्लव, पत्र और पुष्पादिके तुल्य)

स्वतुल्याः (एवं श्रीराधाके स्वयंके तुल्य हैं)। [**अतः**] (अतएव) **कृष्णलीलामृत - रसनिचयैः** (श्रीकृष्णलीलामृतरूप जलसमूह द्वारा) **अमुष्यां** (इन श्रीराधाके) **सिक्तायां** (सिक्ता) **उल्लसन्त्यां** (एवं उल्लसित होनेपर) **स्वसेकात्** (सखीगण अपने सेकापक्षा) **शतगुणं** (शतगुण) **अधिकं** (अधिक) **जातोल्लासः** (उल्लासिता) **सन्ति** (होती हैं)– **यत्** (यह जो है) **तत्** (वह) **न चित्रं** (विचित्र नहीं है)।

अनुवाद—व्रजकुमुदगणके लिए चन्द्रस्वरूप श्रीकृष्णकी ह्लादिनी नाम्नीशक्तिका सारांश जो प्रेम है, उस प्रेमरूप लताके सदृश हैं श्रीराधिका। और उनकी सखीगण हैं उस लताके किशलय, पत्र और पुष्पादि तुल्य और वे श्रीराधाके स्वयंके तुल्य भी हैं। इसीलिए श्रीकृष्णलीलामृतरूप जलसिञ्चन द्वारा श्रीराधाके सिक्त एवं उल्लसित होनेपर उन सखियोंको स्वयं सिञ्चित होनेकी अपेक्षा शतगुण अधिक सुख होता है, इसमें विचित्रता ही क्या है ?

व्रजकुमुदविधोः– व्रज (व्रजवासी, विशेषतः व्रजसुन्दरीगण)-रूप कुमुदके लिए विधु (चन्द्र) तुल्य जो श्रीकृष्ण हैं, उनकी। चन्द्रमाके उदय होनेपर जिस प्रकार कुमुदिनीगण प्रफुल्लित होती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-के दर्शनसे व्रजवासियोंको विशेषकर व्रजसुन्दरियोंको अत्यन्त उल्लास होनेके कारण श्रीकृष्णको व्रजकुमुदविधु कहा गया है। ऐसे श्रीकृष्णकी ह्लादिनी नाम्नी जो शक्ति है उसका **सारांशप्रेमवल्ल्याः**—सारांशरूप जो प्रेम है, उस प्रेमरूप जो वल्लि (लता) है उसके। ह्लादिनीका सारांश है प्रेम ; ऐसी प्रेमरूप लता है जो, उन श्रीराधाकी सखीगण ही है उस लताके **किशलय-दल-पुष्पादितुल्याः**—किशलय (नवपल्लव), दल (पत्र) एवं पुष्पादिके तुल्य ; सखीगण श्रीराधाके **स्वतुल्याः**—स्वयंके तुल्य भी हैं। लताके पत्र-पुष्पादिके साथ मूललताका जिस प्रकार स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है, उसी प्रकार श्रीराधाके साथ उनकी

सखीगणका स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है ; इसीलिए श्रीराधाके सुखसे ही सखियोंको सुख होता है ; कृष्णलीलामृत रसका सिञ्चन पाकर राधा-रूप लताके सिक्त एवं उल्लसित होनेपर—पत्र-पल्लव-स्थानीया सखीगण अपने सिञ्चनकी अपेक्षा शतगुण अधिक सुखी होती हैं ; अर्थात् श्रीकृष्णका सङ्गम पाकर सखियोंको जिस परिमाणमें सुख प्राप्त होता, श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णका सङ्गम करा सकनेपर वे तदपेक्षा अनेक अधिक सुख प्राप्त करती हैं। कारण, यही उनकी एकमात्र काम्यवस्तु है।

१६९-१७० पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

यद्यपि सखीर कृष्णसङ्गमे नाहि मन।
तथापि राधिका यत्ने कराय सङ्गम ॥१७१॥
नाना-छले कृष्णे प्रेरि सङ्गम कराय।
आत्मकृष्णसङ्ग हैते कोटि सुख पाय ॥१७२॥

तब क्या श्रीकृष्णके साथ सखियोंका कोई भी सङ्गम नहीं होता ? इसके उत्तरमें कहते हैं 'यद्यपि' इत्यादि—श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करनेकी सखियोंकी अपनी कोई भी इच्छा न रहने पर भी श्रीराधा यत्नपूर्वक अनेक बहानोंसे श्रीकृष्णको सखियोंके पास भेजकर, उनके साथ सङ्गम कराकर श्रीकृष्णका सुख सम्पादन कराती हैं। श्रीराधा स्वयं श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करके श्रीकृष्णके सुख-सम्पादन पूर्वक जो आनन्द पाती हैं, सखियोंके साथ सङ्गम कराकर श्रीकृष्णका सुखोत्पादन करके तदपेक्षा कोटिगुण अधिक सुख अनुभव करती हैं।

कृष्णे प्रेरि—श्रीकृष्णको सखियोंके निकट प्रेरण करके।

अन्योन्ये विशुद्ध प्रेम करे रसपुष्ट।
ता-सभार प्रेम देखि कृष्ण हय तुष्ट ॥१७३॥

अन्योन्य—श्रीराधा और उनकी सखीगणका परस्परमें। **विशुद्ध प्रेम**—स्वसुखाभिलाषशून्य प्रेम। सखीगण जो श्रीराधाके साथ कृष्णका

सङ्गम कराती है, वह केवल श्रीकृष्णके सुखके लिए है एवं श्रीराधा भी जो अनेक बहानोंसे सखियोंके साथ श्रीकृष्णका सङ्गम कराती हैं, वह भी केवल श्रीकृष्णके सुखके लिए है। सखीगण समझती हैं कि श्रीराधाके साथ सङ्गमसे श्रीकृष्णको अधिक सुख होगा, इसीसे वे राधाके साथ सङ्गम कराती हैं। और श्रीराधा समझती हैं कि सखियोंके साथ सङ्गम करनेसे ही श्रीकृष्णको अधिक सुख होगा, इसीसे वे सखियोंके साथ सङ्गम कराती हैं। दोनोंका उद्देश्य एक है—श्रीकृष्णका सुख सम्पादन, स्वसुख-वासना किसीकी भी नहीं है; इसलिए उनके प्रेमको 'विशुद्ध' कहा गया है। उनके इस प्रकारके प्रेमसे श्रीकृष्णके सुखकी पुष्टि होती है एवं उनका परस्परका इस प्रकारका प्रेम देखकर श्रीकृष्ण तुष्ट होते हैं।

रस—श्रीकृष्णका सुख-रस।

सहजे गोपीर प्रेम—नहे प्राकृत-काम।

कामक्रीड़ा-साम्ये तार कहि काम-नाम ॥१७४॥

यदि कहा जाय कि गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ सङ्गमादि है, तब यह तो काम ही हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं **'सहजे गोपीर प्रेम'** इत्यादि—गोपीगण श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करती हैं, वह काम नहीं है; क्योंकि वह उनके अपने सुखके लिए नहीं है, परन्तु श्रीकृष्णके सुखके लिए है; इसलिए उनके प्रेममें कामकी गन्धमात्र भी नहीं है, यह प्रेम विशुद्ध है। और स्वभावतः यह प्रेम प्राकृत भी नहीं है। पूर्ववर्ती ८७ पयारकी टीका पृष्ठ १७४ पर देखिये।

इस उक्तिके प्रमाणमें नीचे एक श्लोक उद्धृत हो रहा है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे

साधनभक्तिलहर्याम् २.१४३ (२.२८५)

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ॥४६॥

अन्वय—गोपरामाणां (गोप-रमणियोंका) प्रेमा (प्रेम) एव (ही) कामः ('काम') इति (इस) प्रथाः (ख्यातिको) अगमत् (प्राप्त हुआ है)। इति (इस) [हेतोः] (लिए) उद्धवादयः (उद्धवादि) भगवत्प्रियाः (भगवद् भक्तगण) अपि (भी) एतः (इस प्रेमकी) वाञ्छन्ति (वाञ्छा करते हैं)।

अनुवाद—व्रजगोपरमणियोंका प्रेम ही 'काम' इस ख्यातिको प्राप्त हुआ है ; (किन्तु यह स्वरूपतः काम नहीं है) ; इसलिए उद्धवादि भगवद्-भक्तगण भी यह प्रेम चाहते हैं।

अपने समाचार बताकर व्रजवासियोंको सान्त्वना देनेके लिए यदुराज-मन्त्री एवं अपने प्रिय सखा उद्धवको श्रीकृष्णने मथुरासे व्रज भेजा था। उन्होंने नन्दव्रज पहुँचकर पहले नन्दमहाराज एवं यशोदामाताको सान्त्वना देकर कृष्ण-विरहजनित सन्ताप कम करनेकी चेष्टा की। पीछे व्रज-सुन्दरियोंके पास उपस्थित हुए। श्रीकृष्णके प्रति उनके प्रेमकी गाढता, असमोर्द्धता एवं अपूर्वता देखकर उद्धव विस्मित हो गये। उद्धव कई महिने व्रजमें रहकर गोपियोंकी अद्भुत प्रेमवैचित्री देखकर ऐसे मुग्ध हुए कि उस प्रकारके प्रेमप्राप्तिके लिए गोपियोंकी चरण-रेणु प्राप्त करनेकी आशासे वृन्दावनके किसी भी स्थानमें लता-गुल्मरूपसे जन्म-प्राप्तिकी उन्होंने इच्छा प्रकट की—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि लतागुल्मौषधीनाम्।
य दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

श्रीम. भा. १०.४७ ६१

जिन्होंने दुस्त्यज्य स्वजन-आर्यपथादि परित्यागपूर्वक श्रुतिगण द्वारा अन्वेषणीय मुकुन्द-पदवीका भजन किया है, उन परम भाग्यवती गोपीगणकी चरणरेणुसेवी वृन्दावनस्थ लता-गुल्मौषधियोंके मध्यमें भी कोई भी एक

वस्तु हो पाता। ऐसा होनेसे मेरे लिए गोपीगणकी चरणरेणु प्रचुर मात्रामें प्राप्त करनेका सौभाग्य हो सकता है; कारण, इनके चरणरेणुके स्पर्शसे ही इनके आनुगत्य प्राप्तिका सौभाग्य उत्पन्न हो सकता है एवं इनके आनुगत्यसे ही श्रीकृष्ण-चरणमें इनके जैसा प्रेम प्राप्त होना सम्भव हो सकता है।" उद्धवने और भी कहा था—

"वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

श्रीम.भा १०.४७ ६३

परम भागवत उद्धवने भी व्रजसुन्दरियोंके प्रेमकी प्रशंसा की है, उक्त श्लोकोंसे यही जाना जाता है।

निजेन्द्रिय - सुखहेतु कामेर तात्पर्य्य।
कृष्णसुखेर तात्पर्य्य गोपी - भाववर्य्य॥१७५॥
निजेन्द्रिय - सुखवाञ्छा नाहि गोपिकार।
कृष्णसुख दिते करे सङ्गम - विहार॥१७६॥

गोपी-प्रेम वस्तुतः काम नहीं है, इसको समझानेके लिए '**निजेन्द्रिय-सुख हेतु**......' इत्यादि द्वारा काम और प्रेमका पार्थक्य बता रहे हैं। कामका तात्पर्य है अपनी इन्द्रियोंका सुख विधान करना; और गोपी-प्रेमका तात्पर्य है श्रीकृष्णका सुख सम्पादन करना। गोपीगणको अपने इन्द्रिय-तृप्तिकी वासना गन्धमात्र भी नहीं है। वे श्रीकृष्णके साथ सङ्गम आदि करती हैं, वह केवल श्रीकृष्णके सुखके लिए है, अपने लिए नहीं। **गोपीभाव**—गोपी-प्रेम। **वर्य्य**—श्रेष्ठ। **गोपीभाववर्य्य**—सब भावोंमें श्रेष्ठ जो गोपीभाव है, वह कृष्णकान्ता व्रजसुन्दरियोंका प्रेम है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.३१.१९—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किं स्वित् ।
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥४७॥

अन्वय—प्रिय (हे प्रिय)! ते (तुम्हारे) यत् (जो) सुजात-चरणाम्बुरुहं (परम कोमल चरणकमल) कर्कशेषु (कठिन) स्तनेषु (स्तनोंपर) भीताः (भीत होकर) शनैः (धीरे-धीरे) [वयं] (हम लोग) दधीमहि (धारण करती है), तेन (उन चरणकमलों द्वारा) अटवीं (वनमें) अटसि (भ्रमण करते हो), तत् (इससे वे चरण) कूर्पादिभिः (तीक्ष्ण-सूक्ष्म शिलादि—कंकड़-पत्थरों द्वारा) किंस्वित् (क्या) न व्यथते (व्यथित नहीं होते)? भवदायुषां (त्वद्गतजीवना) नः (हमलोगोंकी) धीः (बुद्धि, चित्त) भ्रमति (भ्रमते हैं)।

अनुवाद—हे प्रिय! तुम्हारे जो परम कोमल चरणकमल हमारे कठोर स्तनमण्डलपर (हम लोग सम्मर्दन शंकासे) भीत होकर धीरे-धीरे धारण करती हैं, तुम उन्हीं चरणकमलों द्वारा (इस रात्रिमें) वन-वनमें भ्रमण कर रहे हो, अतएव वे चरणकमल तीक्ष्ण-सूक्ष्म कंकड़-पत्थरों द्वारा क्या व्यथित नहीं होते? (अवश्य ही व्यथित होते हैं, यह विचारकर हमारा चित्त निरतिशय व्याकुल हो रहा है; कारण, तुम्हीं हमारे जीवन हो; अतएव अब वन-भ्रमणसे विरत होकर हमारे निकट आविर्भूत हो।

शारदीय महारास-रजनीमें श्रीकृष्ण जब रासस्थलीसे अन्तर्हित हुए, उनके अन्वेषणार्थ व्रजसुन्दरीगणने वन-वन भ्रमण करते-करते जब देखा कि वनमें अति सूक्ष्म तीक्ष्ण शिलाकणादि सर्वत्र विस्तृत पड़े हैं, तब इस प्रकारके वनमें भ्रमण करनेके कारण श्रीकृष्णके सुकोमल चरणकमलोंमें अत्यन्त वेदनाकी आशंका करके प्रेमपूर्ण आर्त्ता होकर रोदन करते-करते उक्त श्लोकानुरूप बात कही थी।

सुजात चरणाम्बुरुहं—सुजातका अर्थ परम-कोमल। अम्बुरुहका अर्थ कमल। चरणाम्बुरुह—चरणरूप कमल। कमल स्वभावतः ही अत्यन्त कोमल है; कमलके साथ चरणकी उपमा देनेसे ही चरणोंकी

अतिकोमलता सूचित होती हैं ; सुजात शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके चरण कमलसे भी परम कोमल हैं। इसीसे व्रज-तरुणीगण श्रीकृष्णके चरण अपने स्तन-मण्डलपर धारण करनेमें भी भय खाती हैं; कारण, उनके स्तनमण्डल कर्कश—कठोर हैं; उनके साथ संयोगसे श्रीकृष्णके सुकोमल चरणोंमें आघात लग सकता है, इससे श्रीकृष्णको कष्ट हो सकता है—इसीसे उनको भय है। प्रश्न हो सकता है कि कठोर स्तनमण्डलके संघर्षसे श्रीकृष्णके सुकोमल चरणोंको व्यथा होनेकी आशंका यदि रहती है, तो व्रजसुन्दरियाँ इन चरणोंको वक्षपर धारण ही क्यों करती हैं ? श्लोकस्थ प्रिय शब्दमें उसका उत्तर है ; श्रीकृष्ण उनके अत्यन्त प्रिय हैं ; वे जिससे सुखी हों, वही उनका कर्त्तव्य है ; उनके कठोर स्तनोंपर चरण स्थापन करनेसे श्रीकृष्ण सुखी होते हैं ; इसलिए वे वैसा किये बिना नहीं रह सकतीं ; कारण, श्रीकृष्णका सुख ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। स्तनमण्डलपर चरणस्थापनसे श्रीकृष्णको सुख होता है—इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर तथा स्तनोंकी कठोरता और चरणोंकी कोमलता देखकर व्यथाकी आशंका कर वे व्याकुल होजाती हैं ; इसलिए शनैः—धीरे-धीरे वे स्तनमण्डलपर उनके चरण स्थापन करती हैं, मानो सुकोमल चरण-युगलको कठोर स्तनमण्डलके निकट लाकर चरणोंको व्यथा देनेका उनका मन नहीं करता। एक ओर श्रीकृष्णके सुखकी सम्भावनासे स्तनमण्डल-पर चरण-स्थापनके लिए बलवती इच्छा, दूसरी ओर चरण-पीड़ाकी आशंकासे चरण-स्थापनमें बलवती अनिच्छा ; बलवती इच्छा मानो चरण-को खींचकर स्तनकी ओर लाती है, और अनिच्छा मानो उनको दूर सरकाकर रखना चाहती है—इच्छा और अनिच्छाके इस द्वन्दवश मानो चरणकमलोंको वे धीरे-धीरे स्तनमण्डलपर स्थापन करती हैं।

इस प्रकारके सुकोमल चरणोंसे श्रीकृष्ण वनमें भ्रमण कर रहे हैं—जिस वनमें कण्टक, कण्टक तुल्य तीक्ष्ण सूक्ष्म पत्थरके कण आदि जहाँ तहाँ बिखरे पड़े हैं, जो सर्वदा वनभ्रमणमें अभ्यस्त लोगोंके चरणोंमें भी विद्ध

होकर असह्य यन्त्रणाका सञ्चार करते हैं। तरुणीगणके स्तनमण्डल कठिन होते हुए भी मसृण (स्निग्ध सुकुमार) हैं, उनपर कण्टक सरीखी तीक्ष्ण सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं हैं, जो चरणोंमें चुभ जाय ; तथापि कहीं कठोर स्तनके संघर्षसे कोमल चरणोंमें आघात न लग जाय इसलिए व्रजसुन्दरियाँ अपने स्तनमण्डलके ऊपर श्रीकृष्णके सुकोमल चरण धारण-करनेमें भीत होती हैं, उन व्रजसुन्दरियोंने जब सोचा कि ऐसे सुकोमल चरणोंसे श्रीकृष्ण कण्टक जैसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म प्रस्तरखण्डमय वन-प्रदेशमें रात्रिके समय भ्रमण कर रहे हैं, तब श्रीकृष्णके कष्टकी आशंकासे उनके मनकी क्या अवस्था हुई, इसको केवल वे ही जानती हैं ; तब उनके धीभ्रमति—चित्त अनवस्थित, निरतिशय व्याकुल हो गये, श्रीकृष्णके चरणोंमें कूर्पादिके आघातजनित तीव्र वेदना मानो वे अपने प्राणोंमें, अपने मर्मस्थलमें अनुभव करने लगी ; उस तीव्र वेदनासे वे मानो प्राणधारणमें असमर्थ हो गयीं, क्योंकि श्रीकृष्ण ही उनके जीवन-प्राण हैं (यही 'भवदा युषां नः' वाक्यका तात्पर्य है)।

उक्त श्लोकमें व्यक्त हुआ है कि श्रीकृष्णके सुकोमल चरणोंमें व्यथा लगेगी, इस विचारसे व्रजसुन्दरीगण अपने कठोर स्तनमण्डलपर उनके चरण धारण करते डरती हैं ; इसीसे उनकी श्रीकृष्ण-प्रीतिकी कामगन्धहीनता प्रतिपादित होती है। व्रजसुन्दरीगण तरुणी हैं, श्रीकृष्ण भी तरुण नागर हैं ; उनका परस्परके प्रति अनुराग भी अत्यधिक है ; इस प्रकारकी अवस्थामें यदि व्रजसुन्दरियोंके चित्तमें काम या स्वसुख-वासना रहती, तो उनके स्तनमण्डल कितने भी कठोर क्यों न हो, और श्रीकृष्णके चरण कितने भी कोमल क्यों न हो, स्तनमण्डलपर चरण धारण करनेमें वे कभी भी भीत न होतीं ; अपने स्तनमण्डलसे प्रेष्ठ-नागरके चरण-सम्मर्दन-जनित आनन्दके प्रबल लोभसे चरणोंकी व्यथाकी बात वे भूल जातीं ; कारण, कान्त द्वारा वक्षोरुह-सम्मर्दन कामुका तरुणीगणको एकान्त अभीप्सित होता है, कान्त - सङ्ग - भोगका यही एकतम प्रकृष्ठ उपाय है ; कोई भी

कामुका रमणी यह लोभ संवरण नहीं कर सकती और ऐसे कार्यसे कान्त-का दुःख अनुभव करके व्यथित नहीं होती । कठोर स्तनोंके स्पर्शसे श्रीकृष्णके कोमल चरणोंमें व्यथाकी आशंका रहनेपर भी व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्णके चरण धारण करती हैं, इसका हेतु उनकी स्वसुख-वासना नहीं है, परन्तु कृष्ण-सुख-वासना है ; कृष्ण यह चाहते हैं, कृष्ण इससे सुखी होते है, इतना ही । इसीलिए कहा गया है **'कृष्णसुख लागि मात्र कृष्णेर सम्बन्ध'** ।

१७५-१७६ पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है ।

सेइ गोपीभावामृते जार लोभ हय ।
वेदधर्म्म लोक त्यजि सेइ कृष्णे भजय ॥१७७॥

श्रीराधाकृष्णकी सेवा किस प्रकार मिल सकती है, यह **'सेइ गोपी-भावामृत'** आदि कुछ पयारोंमें बताया जा रहा है । **सेइ गोपी**—इसके पूर्व स्वसुख-वासनाहीन विशुद्ध-प्रेमवती जिन गोपियोंके गुणोंकी बात बतायी गयी है, वैसी गुणवती गोपी। **गोपीभावामृत**—गोपीप्रेमरूप अमृत । **वेदधर्म**—वेदोक्तवर्णाश्रम-धर्मादि । **लोक**—स्वर्गादि लोक ; अथवा लोकधर्म । व्रजगोपीगणकी विशुद्ध प्रेम-कथा सुनकर वैसा प्रेम प्राप्त करनेके लिए जिनको लोभ उत्पन्न हो, वे वेदधर्म, लोकधर्म, स्वर्गादि धामकी कामनादि सबका त्याग करके एकान्त भावसे श्रीकृष्णका भजन करते रहते हैं ।

रागानुगामार्गे तारे भजे जेइजन ।
सेइजन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ॥१७८॥

किस प्रकारके भजनसे कृष्ण मिलते हैं ? यह बतलाते हैं 'रागानुगा मार्ग' द्वारा ।

रागानुगा मार्ग—रागानुगा भक्ति । अभिलषित वस्तुमें स्वभाव-सिद्ध जो परम-आविष्टता है, उसको राग कहते हैं ; वैसी रागमयी जो

भक्ति है, उसको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह रागात्मिका या रागमयी भक्ति एकमात्र व्रजवासी जनोंमें ही विराजित है। इस रागात्मिका भक्तिकी अनुगता जो भक्ति है, उसका नाम है रागानुगाभक्ति।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥
विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥

भ.र.सि. १.२.१३१ (१.२.२७२, २७०)

रागानुगा भक्तिमें रागात्मक-भक्त व्रजवासीगणका आनुगत्य स्वीकार करना होता है; अर्थात् अन्तश्चिन्तित सिद्धदेहमें व्रजगोपियोंका (अथवा भावानुसार व्रजके दास, सखा या पित्रादिका) आनुगत्य स्वीकार करना होता है। विशेष विवरण चै.च.म. २२.८४-९७ पयारोंकी टीकामें देखिये—सनातन शिक्षा हिन्दी संस्करण पृष्ठ ४४०-४७४ देखिये।

व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन – व्रजधाममें ही व्रजेन्द्र-नन्दनकी सेवा प्राप्त होती है, अन्य धाममें नहीं। शुद्धमाधुर्यमय व्रजधाममें श्रीकृष्णकी सेवामें जो अपूर्व वैशिष्ठ्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

व्रजेन्द्र - नन्दन—नरलीलाकारी शुद्धमाधुर्यमय नन्दसुत - श्रीकृष्ण। ऐश्वर्यमार्गसे भजन करनेसे वैकुण्ठादिमें श्रीकृष्णके नारायण आदि रूपको पाया जाता है; और रागानुगा मार्गसे भजन करनेसे व्रजमें स्वयंरूप श्रीकृष्णको पाया जाता है।

व्रजलोकेर कोनभाव लञा जेइ भजे।
भावयोग्य देह पाञा कृष्णे पाय व्रजे ॥१७९॥

व्रजलोकेर—व्रजके दास, सखा, मातापिता और कान्ता—इन चतुर्विध भक्तोमें-से किसी भी प्रकारके भक्तका; दासका दास्यभाव, सखाका सख्यभाव, माता-पिताका वात्सल्य-भाव, अथवा गोपियोंका

मधुरभाव—इनमें-से कोई भी भाव लेकर रागानुमार्गसे जो भजन करते हैं, वे भावयोग्य देह पाकर शुद्धमाधुर्यपूर्ण व्रजधाममें शुद्धमाधुर्य-विग्रह स्वयंरूप श्रीकृष्णकी माधुर्यमयी सेवा प्राप्त कर सकते हैं।

भावयोग्य देह—अपने अभीष्टभावके अनुकूल देह। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन चार भावोंमें-से जिस किसी भी भावमें साधक-को लोभ उत्पन्न हो, उसी भावके अनुकूल भजन करते-करते भगवत्कृपासे प्रेमोदय होनेपर देह नष्ट होनेके बाद व्रजधाममें, वे उसी भावके अनुरूप सेवाके उपयोगी देह (दास्यभावके साधक दास-देह, सख्यभावके साधक सखाका देह, मधुर-भावके साधक गोपीदेह इत्यादि रूप सिद्धदेह) प्राप्त करते हैं।

श्रुतिगणको गोपीभाव प्राप्ति

ताहाते दृष्टान्त उपनिषद् श्रुतिगण।
रागमार्गे भजि पाइल व्रजेन्द्रनन्दन ॥१८०॥

ताहाते दृष्टान्त—रागानुगामार्गसे भजन करनेसे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त होती है उसका दृष्टान्त (उदाहरण)। **श्रुतिगण**—श्रुत्यभिमानिनी देवीगण। **रागमार्गे**—यहाँपर रागमार्गसे अभिप्राय रागानुगामार्गसे है; क्योंकि व्रजवासीके अतिरिक्त रागभक्ति (अर्थात् रागात्मिका भक्ति) सम्भव नहीं; विशेषकरके रागात्मिका भक्ति साधनद्वारा लभ्या भी नहीं है। यह नित्यसिद्ध परिकर-देहमें अनादि सिद्धरूपसे नित्य विराजित है।

रागानुगामार्गसे भजन करके श्रुत्यभिमानिनी देवीगणने जो व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा पायी, उसके प्रमाणरूप एक श्लोक उद्धृत हो रहा है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०-८७.२३

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि यन्-
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥

अन्वय—निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजः— (प्राण, मन और इन्द्रियादिके संयमनपूर्वक दृढ योगयुक्त) **मुनयः** (मुनिगण) **हृदि** (हृदयमें) **यत्** (जो—जिस निर्विशेष ब्रह्माख्यतत्त्वकी) **उपासते** (उपासना करते हैं), **अरयः** (शत्रुगण) **अपि** (भी) **ते** (तुम्हारा—तुम्हारे भगवदाकारका) **स्मरणात्** (भयवश सर्वदा स्मरण करनेके कारण) **तत्** (वह— उस निर्विशेष ब्रह्माख्यतत्त्वको) **ययुः** (प्राप्त हुए हैं)। **उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः** (नागराज-शरीर तुल्य भुजदण्डमें आसक्त बुद्धि) **स्त्रियः** (स्त्रीगण—तुम्हारी नित्यकान्ता श्रीराधिकादि रमणीगण) **[यत्—यः]** (जिन) **अङ्घ्रिसरोजसुधाः** (चरणपद्मोंकी सुधा) **[हृदि उपासते]** (साक्षात् वक्षःस्थलपर धारण करतीं हैं), **समदृशः** (तुल्य दृष्टि, तुम्हारी प्रेयसीगण-तुल्य दृष्टि—तद्भावानुगत-भावा) **वयं** (हमलोग— श्रुत्यभिमानिनी देवीगण) **अपि** (भी) **समाः** (तुल्या—गोपीदेहप्राप्तिवश उनके तुल्य **[सताः]** (होकर) **[तत्— ताः]** (उन्हीं) **अङ्घ्रिसरोजसुधाः** (चरण-पद्मोंकी सुधाको) **ययुः** (प्राप्त हुई हैं)।

अनुवाद—श्रुत्यभिमानिनी देवीगणने श्रीकृष्णसे कहा—"प्राण, मन और इन्द्रियगणके संयमनपूर्वक दृढ़ योगयुक्त मुनिगण हृदयके बीच जिस निर्विशेष ब्रह्माख्यतत्त्वकी उपासना करते हैं (उपासना करके प्राप्त होते हैं), तुम्हारे शत्रुगणने भी (सर्वदा तुम्हारी अनिष्ट-चिन्तामें या तुम्हारे प्रति भयवश सर्वदा) तुम्हारा स्मरण करके उसको (उस ब्रह्माख्यतत्त्वको)

पाया है। और सर्पराजके शरीर तुल्य तुम्हारे भुजदण्डमें आसक्त-बुद्धि श्रीराधाप्रभृति तुम्हारी नित्यकान्तागण तुम्हारी जिस चरण-सरोज-सुधाको साक्षात् वक्षपर धारण करती हैं, उनके आनुगत्यका अवलम्बन करके हम लोग भी उन्हींके समान उस चरणसरोज सुधाको प्राप्त हुईं हैं।

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजः—निभृत (संयमित) हुए हैं मरुत् (प्राणवायु), मन एवं अक्ष (इन्द्रिय) समूह जिनके द्वारा एवं दृढ़योगयुक्त हैं जो लोग - जो लोग प्राण, मन एवं इन्द्रियवर्गको संयमित करके कठोर व्रत पालनपूर्वक योगचर्यामें नियुक्त हैं, उनके जैसे **मुनयः**—ध्यानपरायण मुनिगण **हृदि**—हृदयमें, चित्तमें **यत्**—जिसकी, जिस निर्विशेष ब्रह्माख्य तत्त्वकी **उपासते**—उपासना करते हैं, एवं उपासना द्वारा जिस ब्रह्माख्य तत्त्वको प्राप्त होते हैं—जिस ब्रह्मतत्त्वके साथ मिल जाते हैं; आश्चर्यका विषय यह है कि तुम्हारे (भगवान्के) **अरयः**—कंसादि शत्रुगण भी सर्वदा तुम्हारे अनिष्ट चिन्तनसे या तुम्हारे भयसे सन्तप्त होकर जो तुम्हारा स्मरण करते है, **स्मरणात्**—उस स्मरणके प्रभावसे वे लोग **तत् ययुः**—उसी ब्रह्माख्यतत्त्वको प्राप्त होते हैं, ब्रह्मके साथ मिल जा सकते हैं। यहाँ पर आश्चर्यका विषय यह है कि प्रथमतः, बहुत कष्टसे मुनिगण जिस ब्रह्मालयको प्राप्त हुए हैं, भगवान्के शत्रुगण भी उसको प्राप्त हुए हैं केवल तुम्हारे स्मरणके प्रभावसे; द्वितीयतः, मुनिगण अपरिच्छिन्न रूपसे भगवान्का ध्यान करके जो पाते हैं, शत्रुगण परिच्छिन्न रूपसे भगवान्का स्मरण करके वही पाते हैं; तृतीयतः, मुनिगण श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवद्‌बुद्धिसे उपासना करके जो पाते हैं, अरिगण भगवान्की मनुष्य बुद्धिसे हिंसा करके भी वही पाते हैं। यह एक आश्चर्यकी बात कहकर श्रुतिगण एक और आश्चर्यकी बात श्लोकके द्वितीयार्द्धमें कह रही हैं, **उरुगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः**—उरगका अर्थ सर्प; सर्पोमें इन्द्र या श्रेष्ठ जो हैं, वे उरगेन्द्र—सर्पराज उनका भोग या देह उरगेन्द्रभोग; ऐसे भुजरूप दण्डमें विशेषरूपसे आसक्ता धी (या बुद्धि) जिन सब रमणियोंकी है, वे ही हुईं

उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः ; सर्पका शरीर जिस प्रकार क्रमशः पतला होता जाता है, श्रीकृष्णके बाहु भी उसी प्रकार क्रमशः पतले हैं, इसीसे श्रीकृष्णके बाहु अत्यन्त सुन्दर हैं ; श्रीकृष्णके ऐसे भुजयुगलमें व्रज-सुन्दरियोंका चित्त आसक्त हो गया है ; उन बाहुयुगल द्वारा आलिंगन होनेके लोभसे जो लुब्धचित्त हैं (इसके द्वारा यह भी सूचित होता है कि श्रीकृष्ण विभु—अपरिच्छिन्न—वस्तु होनेपर भी व्रजसुन्दरीगण उनको परिच्छिन्न मानती हैं ; जो हो) ऐसी **स्त्रियः**— श्रीकृष्णकी नित्यप्रेयसी श्रीराधिकादि रमणीगण श्रीकृष्णके जिन **अङ्घ्रिसरोजसुधाः**— अङ्घ्रि (चरण)-रूप सरोज (पद्म), उसकी सुधा (स्पर्शमाधुर्य), पद्मकी तरह सुदृश्य एवं सुकोमल चरणयुगलके स्पर्शजनित माधुर्यको हृदयमें धारण करके रखती हैं, उनके **समदृशः**— समान दृष्टि सम्पन्न होकर, उनके भावका आनुगत्य स्वीकार करके, उन्हींके पन्थके अनुसरणपूर्वक **वयमपि** —हमलोगोंने भी, जो स्वयंभगवान्‌को निरविच्छिन्न मानती हैं, उन श्रुत्यभिमानिनी देवीगणने भी **समाः**—कायव्यूहद्वारा व्रजसुन्दरीगणकी तरह ही गोपीदेह प्राप्तकर उन्हींके समान होकर वही— श्रीकृष्णकी वही अङ्घ्रि-सरोज-सुधा प्राप्त की है।

यहाँपर आश्चर्यका हेतु यह है कि— प्रथमतः, गोपीगण श्रीकृष्णकी नित्यप्रेयसी हैं, अतएव श्रीकृष्णके चरणकमल वक्षमें धारण करना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं है ; किन्तु श्रुतिगण नित्यप्रेयसी नहीं होनेके कारण उनके लिए श्रीकृष्ण-चरण सुदुर्लभ हैं ; द्वितीयतः, अपना नागर मानकर व्रजसुन्दरीगणने श्रीकृष्णको परिच्छिन्नरूपमें ही माना है, और श्रुतिगण भगवत्तत्वज्ञ होनेके कारण उनको अपरिच्छिन्नरूपमें ही माना है ; तथापि व्रजसुन्दरीगणकी तरह श्रुतिगणने भी व्रजगोपियोंके आनुगत्यके प्रभावसे व्रजमें गोपी-देह पायी और श्रीकृष्णकी चरण-सेवा भी पायी।

वृहद्वामन-पुराणसे जाना जाता है कि श्रुत्यभिमानिनी देवीगणने बहुत काल पर्यन्त भगवान्‌की स्तुति की थी। तब उन्होंने कहा था—

"व्रजमें गोपीगण जिस भावसे श्रीकृष्णका भजन करती हैं ; उसी भावसें भजन करनेकी उनको भी इच्छा उत्पन्न हुई है।" तब भगवान्‌ने कहा— श्रुतिगण ! तुमलोगोंकी यह अभिलाषा दुर्घट है ; जो हो, मैं उसका अनुमोदन करता हूँ, तुम्हारी वासना पूर्ण होगी। मैं जब भारत क्षेत्रमें मथुरा मण्डलमें अवतीर्ण होऊँ, तब तुम लोग भी मेरे प्रति उपपति भाव पोषण करके कृतकृत्य हो सकोगी।" इसके पश्चात् श्रुतिगणने दीर्घ काल तक भगवान्‌के रूपका चिन्तन किया था एवं गोपीदेह प्राप्त करके यथा समय श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त की थी। उन्होंने किस भावसे भजन किया था, श्रीमद्‌भागवतके उक्त श्लोकमें उनके द्वारा अपने मुखसे वह व्यक्त हुआ है।

१७९ पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है। व्रजगोपीगणका भाव ग्रहण करके उनके आनुगत्यमें भजन करनेके कारण ही श्रुत्यभिमानिनी देवीगणने भावयोग्य गोपीदेह प्राप्त करके व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त की थी।

'समदृश'-शब्दे कहे सेइ भावे अनुगति ।
'समा'-शब्द कहे श्रुतिर गोपीदेहप्राप्ति ॥१८१॥
'अङ्घ्रि पद्मसुधा' कहे कृष्ण-सङ्गानन्द ।
विधिमार्गे ना पाइये व्रजे कृष्णचन्द्र ॥१८२॥

१८१-१८२ पयारोंमें **'निभृतमरुत्'** इत्यादि श्लोकके प्रकरण-संगत तात्पर्य प्रकाश कर रहे हैं।

श्रुतिगणने गोपीगणका आनुगत्य स्वीकार कर रागानुगा-मार्गसे भजन करके जो व्रजमें भावयोग्य देह और श्रीराधाकृष्णकी सेवा प्राप्त की थी, उसके प्रमाण-स्वरूप **'निभृतमरुन्मनोऽक्ष'** इत्यादि श्लोक उद्धृत करके किस प्रकार उक्त विषय प्रतिपादित हुआ है, इसको दिखानेके लिए श्लोकोक्त **समदृशः, समाः** एवं **अङ्घ्रिपद्मसुधाः**—इन तीन शब्दोंकी व्याख्या कर रहे हैं।

समदृश—श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने श्रीमद्भागवतकी टीकामें 'समदृश'' शब्दका इस प्रकार अर्थ लिखा है—**समदृशः समदृष्टयः तासां यस्मिन् वर्त्मनि दृष्टिस्तस्मिन्नेव वर्त्मनितदनुगत्या दृष्टिं ददाना इत्यर्थः।** अर्थात् उनकी (गोपीगणकी) जिस पथमें दृष्टि है, उनका अनुगमन करके उसी पथमें ही दृष्टि दी है जिन्होंने, वे ही है **'समदृशः'** (तुल्य दृष्टि सम्पन्न)।

श्रीपाद जीव गोस्वामीने लिखा है— **'समदृशः तद्भावानुगतभावाः सत्य इत्यर्थः'**। अर्थात् गोपियोंके भावके अनुगत भावयुक्त—यही **'समदृशः'** शब्दका अर्थ है।

दोनों टीकाकारोंके मतसे समझा गया—''व्रजगोपियोंका आनुगत्य स्वीकार करके उन्हींका भाव लेकर जो लोग भजन करते हैं, वे ही उक्त श्लोकमें समदृशः-शब्दवाच्य हैं। इसीलिए कविराज गोस्वामीने लिखा है **'समदृश-शब्दे कहे सेइ भावे अनुगति'**। **सेइ भावे**—गोपीगणके भावसे। अर्थात् श्रुतिगणने गोपीगणका भाव लेकर उन्हींका आनुगत्य स्वीकार करके भजन किया था, **'समदृशः'** शब्दसे यही समझा जाता है।

समा—चक्रवर्तीपादने लिखा है—**'समाः तपसा गोपीत्वप्राप्ता तत्तुल्यरूपाः सताः'**। भजनके द्वारा गोपीत्व प्राप्त होकर व्रजगोपीगणके तुल्य रूप पाया है जिन्होंने, वे श्रुतिगण ही गोपियोंके **'समाः'**।

श्रीपाद जीव गोस्वामीने लिखा है – **'समाः श्रीमन्नन्दव्रजगोपीत्व-प्राप्त्या कायव्यूहेन तत्तुल्यरूपाः सत्यः'**—अर्थ पूर्ववत् ही है।

दोनों टीकाकारोंके मतसे समझा गया—गोपीगणके तुल्य देह और रूप प्राप्त होनेके कारण ही श्रुतिगणको गोपियोंके **'समाः'** (तुल्य) कहा गया है। इसीलिए कविराज गोस्वामीने लिखा है **'समा शब्दे कहे श्रुतिर गोपीदेह प्राप्ति।''** अर्थात् श्रुतिगणने जो गोपीदेह और गोपीरूप प्राप्त किया है, **'समाः'** शब्दके अर्थ द्वारा यही समझा जाता है।

अङ्घ्रिपद्मसुधा—अङ्घ्रि—चरण। **पद्म**—कमल। **अङ्घ्रिपद्मसुधा**—चरणकमलोंका मधु।

श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है—'**अङ्घ्रिपद्मसुधा—तदीयस्पर्श-माधुर्याणि**' अर्थात् श्रीकृष्णका स्पर्शजनित माधुर्य, अथवा श्रीकृष्णका संगजनित आनन्द। इसीलिए कविराज गोस्वामीने लिखा है—'**अङ्घ्रिपद्मसुधा कहे कृष्णसङ्गानन्द**'। अर्थात् श्रुतिगण श्रीकृष्णका संगजनित आनन्द प्राप्त कर सकीं थीं, श्लोकोक्त 'अङ्घ्रिपद्मसुधा' शब्दके अर्थसे यही समझा जाता है।

अब उक्त श्लोकके समदृश, समा, एवं 'अङ्घ्रिपद्मसुधा, इन तीन शब्दोंके अर्थसे समझा गया—(१) श्रुतिगणने गोपियोंके आनुगत्यमें उनका भाव लेकर भजन किया था; (२) इस प्रकारके भजनके फलसे उन्होंने श्रीमन्नन्दव्रजमें भावयोग्य गोपीदेह प्राप्त की थी एवं (३) गोपीदेह प्राप्त करके श्रीकृष्णसङ्ग और श्रीकृष्ण-सेवा जनित आनन्द प्राप्त किया था।

विधिमार्ग—वैधीभक्ति। अनुरागके अभावमें केवलमात्र शास्त्रके शासनके भयसे जिस भक्तिमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है, उसको वैधी-भक्ति कहते हैं। लोभवश प्राणोंके आकर्षणसे श्रीकृष्ण-भजनमें प्रवृत्ति हो तो उसे रागानुगामार्ग कहते हैं; यदि प्राणोंमें कुछ भी न रहे, परन्तु श्रीकृष्ण-भजन न करनेसे अन्तमें नरक-भोग करना होगा, इत्यादि भयसे भजनमें प्रवृत्ति हो जाय, तब उसको विधिमार्ग कहते हैं। चै.च म. २२.५९ पयारकी टीका देखिये—सनातन-शिक्षा हिन्दी संस्करण पृष्ठ ३८३ देखिये।

रागानुगामार्गसे भजन करके ही व्रजमें व्रजेन्द्र-नन्दन कृष्णको पाया जाता है—यह बताकर अब यह बता रहे हैं कि रागानुगामार्गसे न भज-कर यदि केवल विधि मार्गसे भजन किया जाय, तब व्रजेन्द्र-नन्दन कभी भी नहीं मिलते। विधिमार्गके भजनसे वैकुण्ठमें अन्य रूप श्रीनारायण

आदिको पाया जा सकता है ; किन्तु व्रजमें श्रीकृष्णचन्द्रको नहीं पाया जा सकता ।

"विधिभक्त्ये व्रजभाव पाइते नाहि शक्ति ॥
ऐश्वर्य्य ज्ञानेते विधिभजन करिया ।
वैकुण्ठेते जाय चतुर्व्विध मुक्ति पाय्या ॥"

चै.च.आ. ३.१३, १५

व्रजपरिकरके आनुगत्यसे व्रजभाव अंगीकार करनेके अतिरिक्त व्रजमें श्रीकृष्ण सेवा नहीं मिलती, इसके प्रमाणमें नीचे एक श्लोक उद्धृत हुआ है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.९.२१

**नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥४९॥**

अन्वय—**अयं** (ये) **भगवान्** (भगवान्) **गोपिकासुतः** (यशोदा-नन्दन—श्रीकृष्ण) **भक्तिमतां** (भक्तिमानोंके लिए) **यथा** (जिस प्रकार) **सुखापः** (सुखलभ्य – अनायास लभ्य हैं) **देहिनां** (देहाभिमानियोंके) **ज्ञानिनां** (देहाभिमानशून्य ज्ञानियोंके) **आत्मभूतानां च** (एवं ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मी-आदि भगवान्के आत्मभूत स्वरूपगणके लिए भी) **न [तथा सुखापः]** (उस प्रकार सुलभ नहीं हैं)।

अनुवाद—श्रीशुकदेवजीने परीक्षित महाराजसे कहा - "ये गोपिका-सुत भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिमान् व्यक्तियोंके लिए जिस प्रकार सुलभ हैं, देहाभिमानी व्यक्तियोंके लिए, देहाभिमानशून्य ज्ञानियोंके लिए, यहाँतक कि ब्रह्मा, शिव या लक्ष्मी आदि भगवान्के आत्मभूत स्वरूपगणके लिए भी वे उस प्रकार सुलभ नहीं हैं ।

देहिनां—देहादिमें अभिमान है जिनको, उन सबके लिए, अथवा **ज्ञानिनां**—देहादिमें अभिमानशून्य ज्ञानमार्गियोंके लिए, यहाँ तक कि **आत्मभूतानां**—भगवान्के स्वरूपभूतोंके लिए भी (ब्रह्मा और शिव अपने ही अवतार होनेके कारण भगवान्के आत्मभूत हैं, लक्ष्मी उनकी स्वरूप-

शक्ति होनेके कारण आत्मभूत हैं; किन्तु इन सब आत्मभूत व्यक्तिगणके लिए भी) भगवान् गोपिकासुत उस प्रकार सुलभ नहीं है, जिस प्रकार सुलभ वे भक्तिमानोंके लिए हैं। **गोपिकासुतः** - यशोदानन्दन ; परम-वात्सल्यमयी गोपिका-यशोदाके नामसे यहाँपर श्रीकृष्णका परिचय देनेका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण वात्सल्यमयी यशोदाके प्रेमके अधीन हैं। इसके उपलक्षणसे—वे दास्य, सख्य एवं मधुर भावके व्रजपरिकरगणके भी प्रेमके अधीन हैं, यही सूचित होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण व्रजपरिकरगणके प्रेमके वशीभूत होनेके कारण, व्रजपरिकरगण कृपा करके जिनको श्रीकृष्ण-सेवामें नियोजित कर दें, उनके प्रेमवश्यतावश श्रीकृष्ण उनको अंगीकार कर लेते हैं ; इसीसे व्रजमें कृष्णसेवा पानेके लिए व्रजपरिकरगणका आनुगत्य स्वीकार करके भजन करना होगा—जिससे व्रजपरिकरगण इस आनुगत्य-को अंगीकार करके श्रीकृष्णसेवा दान करनेके इच्छुक हों। इस भावसे जो भजन करते हैं, ऐसे **भक्तिमतां** - भक्तिमान व्यक्तियोंके लिए श्रीकृष्ण सुलभ हैं।

इस श्लोकसे जाना गया—व्रजपरिकरोंका आनुगत्य स्वीकार करके जो श्रीकृष्ण-भजन करते हैं उनके लिए ही कृष्णप्राप्ति सहज है ; और जो लोग आनुगत्य स्वीकार नहीं करते वे ब्रह्मा, शिव यहाँ तक कि स्वयं लक्ष्मीदेवी होनेपर भी—व्रजमें श्रीकृष्णसेवा नहीं पा सकते। इस प्रकार अन्वयमुखसे और व्यतिरेकमुखसे दिखाया गया कि—व्रजपरिकरगणके आनुगत्यसे रागानुगामार्गके भजनसे ही व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा पायी जा सकती है।

अतएव गोपीभाव करि अङ्गीकार।
रात्रि - दिने चिन्ते राधाकृष्णेर बिहार ॥१८३॥

१७७ पयारोक्त (**सेइ गोपीभावामृते** इत्यादि) वाक्योंका उपसंहार १८३-१८६ पयारोंमें किया जा रहा है।

अत्तएव –रागानुगामार्गसे ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दनको पाया जाता है एवं विधिमार्गसे पाया नहीं जाता इसलिए गोपीभाव अङ्गीकार करके रात्रि - दिने चिन्ते राधाकृष्णेर विहार—दिन-रात श्रीराधाकृष्णकी अष्टकालीनलीलाका चिन्तन करे। दिन और रात्रिके जिस समयमें श्रीराधाकृष्ण जो लीला करते हैं, उस समयमें साधक उसी लीलाकी भावना करे और अपने सिद्धदेहका चिन्तन करके उन-उन लीलास्थलोंमें श्रीराधाकृष्णकी सेवा करे। यही रागानुगामार्गके मानसिक भजनकी स्थूल विधि है।

सिद्धदेह चिन्ति करे ताहाँइ सेवन।
सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण ॥१८४॥

सिद्धदेह—अन्तश्चिन्तित भावयोग्य-देह। श्रीगुरुदेव इस देहको निर्दिष्ट कर देते हैं। ताहाँइ—श्रीवृन्दावनमें, श्रीराधाकृष्णके लीला-स्थलमें। सेवन - श्रीराधाकृष्णकी सेवा। सखीभावे—सेवापरायणा मञ्जरी (दासी) रूपसे।

श्रीगुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट अन्तश्चिन्तित भावयोग्यदेहसे श्रीवृन्दावनमें श्रीराधाकृष्णके लीला-स्थलमें सेवापरायण मञ्जरी रूपसे सेवाका चिन्तन करनेसे श्रीराधाकृष्णकी चरण-सेवा प्राप्त हो सकती है।

"एइ नव दासी बलि श्रीरूप चाहिबे।
सेइ शुभदिन मोर कत दिने हबे ॥
शीघ्र आज्ञा करिबेन दासी हेथा आय।
सेवार सुसज्जा कार्य्य करह त्वराय ॥"
"कोथाय पाइले रूप एइ नव दासी ॥
श्रीरूपमञ्जरी तबे दोंहा वाक्य शुनि।
मञ्जुलाली दिल मोरे एइ दासी आनि ॥
अति नम्रचित्ते आमि इहारे जानिल।
सेवाकार्य्य दिया दबे हेथाय राखिल ॥"

"सुगन्धि चन्दन, मणिमय आभरण
कौषिक - वसन - नानारङ्गे।
एइ सब सेवा जार, दासी जेन हङ तार,
अनुक्षण थाकि तार सङ्गे॥"

श्रीनरोत्तमदास ठाकुर महाशयकी उक्त रूप प्रार्थनादिसे स्पष्ट समझा जाता है कि श्रीयुगल-किशोरकी सेवापरायणा दासी (मञ्जरी)-देह ही रागानुगामार्गमें गोपीभावानुगत साधकके लिए प्रार्थनीय है। (श्रीचै. च. म २२.९०-९१ पयारकी टीका 'सनातन शिक्षा' हिन्दी संस्करणके पृष्ठ ४५७-४६८ पर देखिये)।

गोपी - अनुगति बिने ऐश्वर्य्य ज्ञाने।
भजिलेह नाहि पाय व्रजेन्द्र - नन्दने॥१८५॥

गोपी-अनुगति बिने—कान्ताभावकी सेवामें व्रजगोपीगणका आनुगत्य स्वीकार न करके ऐश्वर्य्य ज्ञाने इत्यादि— श्रीकृष्ण स्वयंभगवान्, अनन्त-कोटि विश्वब्रह्माण्डके एकमात्र अधीश्वर हैं, और मैं उनकी तुलनामें क्षुद्रतम बालुका-कणसे भी क्षुद्र हूँ—इत्यादि भाव हृदयमें सर्वदा जाग्रत रखकर भजन करनेपर भी व्रजेन्द्र-नन्दनको नहीं पाया जा सकता।

ताहाते दृष्टान्त—लक्ष्मी करिला भजन।
तथापि ना पाइल व्रजे व्रजेन्द्र - नन्दन॥१८६॥

इसमें लक्ष्मी दृष्टान्त है। लक्ष्मीदेवी वैकुण्ठकी अधीश्वरी हैं। ब्रह्मादि देवगण एवं दिक्पालगण उनकी चरणसेवा करते हैं। किसीके भी आनुगत्यकी वे अभ्यस्ता नहीं हैं; वे प्रभुत्वमें ही अभ्यस्ता हैं। जो लोग प्रभुत्वके अभ्यस्त होते हैं, अन्य किसीका आनुगत्य स्वीकार करनेकी हीनता वे सहन नहीं कर सकते। इसीसे प्रतीत होता है कि लक्ष्मीदेवीने व्रजसुन्दरियोंका आनुगत्य स्वीकार नहीं किया; उसका फल यही हुआ कि कठोर भजन करनेपर भी वे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा नहीं पा

सकीं। इसके प्रमाणमें नीचे एक श्लोक उद्धृत हो रहा है। लक्ष्मीदेवीने व्रजमें श्रीकृष्णसेवा पानेके लिए उत्कट तपस्या की थी, उसका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें मिलता है —

यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता।
श्रीम. भा. १०.१६-३६

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.४७.६०

नाहं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचाँ कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम् ॥५०॥

अन्वय आदि इसी परिच्छेदके श्लोक संख्या १७ पृष्ठ १२५ से १२७ पर देखिये।

दोनोंका भावावेश

एत शुनि प्रभु ताँरे कैला आलिङ्गन।
दुइ जने गलागलि करेन क्रन्दन ॥१८७॥

एत शुनि—पूर्वोक्त साध्य साधन-तत्त्व एवं रागानुगामार्गकी भजन-प्रणाली आदि सुनकर प्रभु—महाप्रभुने ताँरे—राय रामानन्दको कैला आलिङ्गन—आलिङ्गन किया और दुइ जने इत्यादि—दोनों परस्परमें गले लगकर प्रेमावेशमें क्रन्दन करने लगे।

एइ मत प्रेमावेशे रात्रि गोङाइला।
प्रातःकाले निज निज कार्यें दोंहे गेला ॥१८८॥

इस प्रकार प्रेमके आवेशमें रात्रि बीत गयी। प्रातःकाल दोनों अपने-अपने कार्यके लिए चले गये।

विदाय - समये प्रभुर चरण धरिया ।
रामानन्द राय कहे मिनति करिया ॥१८९॥

विदाके समय प्रभुके चरण पकड़कर रामानन्द रायने विनय और दैन्य पूर्वक कहा—

मोरे कृपा करिते प्रभुर इहाँ आगमन ।
दिन - दश रहि शोध मोर मन ॥१९०॥

"मुझपर कृपा करनेके लिए ही प्रभुका यहाँ आगमन हुआ है, दसेक दिन यहाँ ठहरकर मेरे मनका शोधन कर दें।"

तोमा बिना अन्य नाहि जीव उद्धारिते ।
तोमा बिना अन्य नाहि कृष्णप्रेम दिते ॥१९१॥

कृष्णप्रेम—किसी-किसी ग्रन्थमें 'व्रजप्रेम' पाठ भी है।

महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण हैं—रामानन्द रायने यह अनुभव किया; इसीसे उन्होंने कहा—"तुम्हारे बिना और कोई जीवोंका उद्धार नहीं कर सकता, तुम्हारे बिना कोई भी कृष्णप्रेम नहीं दे सकता; कारण, श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई भी भगवत् स्वरूप व्रजप्रेम नहीं दे सकता।

सन्त्ववतारा बहवः पङ्कजनाभस्य सर्वतोभद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥"

प्रभु कहे—आइलाङ् शुनि तोमार गुण ।
कृष्णकथा शुनि शुद्ध कराइते मन ॥१९२॥

प्रभुने कहा—"मैं तो तुम्हारे गुण सुनकर तुमसे श्रीकृष्णकथा सुनकर अपना मन शुद्ध करनेके लिए आया हूँ।"

जैछे शुनिल, तैछे देखिल तोमार महिमा ।
राधाकृष्ण - प्रेमरस - ज्ञानेर तुमि सीमा ॥१९३॥

जैछे शुनिल इत्यादि—"सार्वभौम भट्टाचार्यके मुखसे तुम्हारे सम्बन्धमें जैसा सुना था, वैसी ही तुम्हारी महिमा देखी। तुम राधाकृष्णके प्रेमके तत्त्व और उनके विलासादिके तत्त्वके सम्पूर्ण रूपसे जानकार हो।"

दश-दिनेर का कथा, यावत् आमि जीब।
तावत् तोमार सङ्ग छाडिते नारिब ॥१९४॥

"दस दिनकी तो बात ही क्या है—मैं जब तक जियूंगा तुम्हारा संग नहीं छोड़ सकता।"

नीलाचले तुमि-आमि रहिब एक सङ्गे।
सुखे गोङाइब काल कृष्णकथा-रङ्गे ॥१९५॥

"नीलाचलमें तुम और मैं एक साथ रहेंगे और कृष्णकथा-रंगमें सुखपूर्वक समय बितायेंगे।"

एत बलि दोंहे निज-निज कार्य्यें गेला।
सन्ध्याकाले राय पुन आसिया मिलिला ॥१९६॥

इतना कहकर दोनों जन अपने-अपने कार्यके लिए चले गये और सायं राय रामानन्द फिर आकर मिले।

अन्योन्ये मिलिया दोंहे निभृते बसिया।
प्रश्नोत्तरगोष्ठी करे आनन्दित हञा ॥१९७॥

परस्परमें मिलकर दोनों एकान्तमें बैठकर आनन्दपूर्वक प्रश्नोत्तर गोष्ठी करने लगे।

अन्यान्य प्रश्नोत्तर

प्रभु पूछे, रामानन्द करेन उत्तर।
एइमत सेइ रात्रि कथा परस्पर ॥१९८॥

प्रभु प्रश्न करने लगे और रामानन्द उत्तर देने लगे—इस प्रकार दोनोंमें सारी रात परस्पर बात होती रही।

प्रभु कहे—कौन विद्या विद्यामध्ये सार।

राय कहे—कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहि आर ॥१९९॥

जिसके द्वारा जाना जाय उसको विद्या कहते हैं। प्रभुने पूछा—"विद्याओंमें कौनसी विद्या श्रेष्ठ है।"

रामानन्दने उत्तर दिया—"श्रीकृष्ण आश्रय तत्त्व है; अतएव जो श्रीकृष्णको जान लेते हैं उनके लिए और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; किन्तु श्रीकृष्णको सम्यक् रूपसे जाननेका एकमात्र उपाय है 'कृष्णभक्ति'; अतएव श्रीकृष्णभक्ति ही हुई सर्वश्रेष्ठ विद्या।"

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ॥"

छान्दोग्य ६.१.३

कीर्त्तिगण मध्ये जीवेर कोन् बड़ कीर्त्ति?।

कृष्ण-प्रेमभक्त बलि जार हय ख्याति ॥२००॥

अनेक प्रकारकी कीर्त्तियोंमें जीवकी कौनसी कीर्त्ति बड़ी है?

जिसकी ख्याति कृष्णप्रेमभक्त बोलकर हो वही सर्वश्रेष्ठ कीर्त्ति है।

जो बहुत बड़ा काम करते हैं उनकी बहुत बड़ी कीर्त्ति होती है; श्रीकृष्णको वशीभूत करनेकी अपेक्षा और कोई दूसरा बड़ा काम कुछ भी नहीं हो सकता; श्रीकृष्णको वशीभूत करनेका एकमात्र उपाय है कृष्णप्रेम; अतएव कृष्णप्रेम जिनको है वे ही सबकी अपेक्षा बड़े कीर्त्तिशाली हैं। भक्तकी महिमा प्रकट करनेमें भगवान् भी अत्यन्त आनन्द पाते हैं। यही भक्तकीर्त्तिके सर्वश्रेष्ठत्वका प्रमाण है।

सम्पत्ति मध्ये जीवेर कोन् सम्पत्ति गणि?।

राधाकृष्णप्रेम जार से-इ बड़ धनी ॥२०१॥

सम्पत्तियोंमें जीवके लिए कौनसी सम्पत्ति मानी जाय?

जिसको राधाकृष्ण प्रेम हो वही बड़ा धनी है।

दुःख मध्ये कोन् दुःख गुरुतर ? ।

कृष्णभक्त - विरह - बिनु दुःख नाहि आर ॥२०२॥

दुःखोंमें कौनसा दुःख बड़ा है ?

कृष्णभक्तका विरह ही दुःख है और कोई दुःख दुःख नहीं है।

मुक्त मध्ये कोन् जीव मुक्त करि मानि ? ।

कृष्णप्रेम जार—से-इ मुक्त - शिरोमणि ॥२०३॥

मुक्तमें-से किस जीवको मुक्त माना जाय ?

जिसको कृष्णप्रेम है वही मुक्त-शिरोमणि है।

गान मध्ये कोन् गान जीवेर निज धर्म्म ? ।

राधाकृष्णेर प्रेमकेलि जे गीतेर मर्म्म ॥२०४॥

गायनमें कौनसा गायन जीवका अपना धर्म है ?

जीव नित्य-कृष्णदास है, इसलिये श्रीकृष्णका प्रीति विधान ही उसका निज-धर्म या स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है ; राधाकृष्णके लीला-कीर्त्तनसे श्रीकृष्ण सबकी अपेक्षा अधिक प्रसन्न होते हैं ; अतएव राधाकृष्णका लीला-गान ही जीवका निजधर्म या स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है।

श्रेयो मध्ये कोन् श्रेयः जीवेर हय सार ? ।

कृष्णभक्त - सङ्ग - बिना श्रेयः नाहि आर ॥२०५॥

श्रेयः—मङ्गल। श्रेयमें कौन श्रेय श्रेष्ठ है ?

कृष्णभक्तके संगके प्रभावसे कृष्ण प्राप्ति तक हो सकती है इसलिये कृष्णभक्तका संग ही जीवके लिए प्रधान श्रेय है—सर्वापेक्षा अधिक रूपसे मङ्गलजनक है।

काहार स्मरण जीव करे अनुक्षण ? ।

कृष्णनाम - गुण - लीला प्रधान स्मरण ॥२०६॥

करे अनुक्षण—सर्वदा करना उचित। जीवको सर्वदा किसका स्मरण करना उचित है ?

कृष्ण नाम इत्यादि—'**स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुः**'—इन (पाद्म ७२.१००) वचनानुसार श्रीकृष्ण-स्मरण ही जीवका प्रधान एवं एकमात्र कर्त्तव्य है। '**साधन स्मरणलीला, इहाते ना करे हेला।**' '**मनेर स्मरण प्राण**' इत्यादि स्मरणके सम्बन्धमें श्रीनरोत्तमदास ठाकुर महाशयकी उक्ति है।

ध्येय मध्ये जीवेर कर्त्तव्य कोन् ध्यान?।
राधाकृष्ण - पदाम्बुज ध्यान प्रधान ॥२०७॥

ध्येय—ध्यानकी वस्तु। ध्यानकी वस्तुओंमें जीवके लिए कौन-सा ध्यान कर्त्तव्य है ?

राधाकृष्ण-पदाम्बुज इत्यादि—श्रीराधाकृष्णके चरणकमलोंका ध्यान ही जीवके लिए प्रधान ध्यान है।

सर्व्व त्यजि जीवेर कर्त्तव्य काहाँ वास?।
व्रजभूमि वृन्दावन—जाहाँ लीला रास ॥२०८॥

सब कुछ छोड़कर जीवके लिए कहाँ वास करना कर्त्तव्य है ?

व्रजभूमि वृन्दावनमें—जहाँ रासलीला होती है—वास करना ही जीवका कर्त्तव्य है।

श्रवण मध्ये जीवेर कोन् श्रेष्ठ श्रवण?।
राधाकृष्ण प्रेमकेलि कर्ण - रसायन ॥२०९॥

श्रवणमें जीवके लिए कौनसा श्रवण श्रेष्ठ है ?

राधाकृष्णकी प्रेमलीला ही **कर्ण - रसायन**—कानोंके लिए तृप्तिदायक है।

उपास्येर मध्ये कोन् उपास्य प्रधान?।
श्रेष्ठ उपास्य—युगल राधाकृष्ण नाम ॥२१०॥

उपास्यमें कौन उपास्य प्रधान हैं ?

युगल राधाकृष्ण नाम—श्रीराधा-कृष्णका युगल नाम ही श्रेष्ठ उपास्य है। श्रीराधा-कृष्ण युगलित स्वरूप ही परम स्वरूप होनेके कारण श्रेष्ठ उपास्य या परम उपास्य है। अथवा नाम और नामीका अभेद होनेके कारण श्रीश्रीराधाकृष्णका नाम ही श्रेष्ठ उपास्य है।

"राधेति नाम नवसुन्दरशीतमुग्धं
कृष्णेति नाम मधुराद्भुत-गाढ़दुग्धम् ।
सर्वक्षणं सुरभिरागहिमेन रम्यं
कृत्वा तदेव पिब मे रसने क्षुधार्त्ते ॥

'राधा' यह नाम नये सुन्दर अमृतके समान मनोमुग्धकारी है ; और 'कृष्ण' यह नाम मधुर अद्भुत गाढे दुग्धके समान है ; हे क्षुधार्त्त-रसना ! सुरभि राग (अनुराग)-रूप हिमके द्वारा रमणीय बनाकर उसका सर्वक्षण पान करो। —दास गोस्वामीका अभीष्ठ सूचन १०."

श्रीनरोत्तमदास ठाकुर महाशयने कहा है —

युगले - चरणे प्रीति, परम आनन्द तथि,
रतिप्रेमा हउ परबन्धे ।
कृष्णनाम राधानाम, उपासना रसधाम,
चरणे पड़िया परमानन्दे ।

प्रेमभक्तिचन्द्रिका ५४.

राधाकृष्ण नाम गान, सेइ से परम ध्यान,
आर ना करिह परमाण ।

प्रे.भ.च. ६७

कृष्णनाम गाने भाइ राधिका चरण पाइ,
राधानामे पाइ कृष्णचन्द्र ॥

प्रे.भ.च १०४.

श्रीदास-गोस्वामीने और भी कहा है—

> अजाण्डे राधेति स्फुरदभिधयासिक्तजनया-
> ऽनया साकं कृष्णं भजति य इह प्रेमनमितः।
> परं प्रक्षाला प्रक्षाल्येतच्चरणकमले तज्जलमहो
> मुदा पीत्वा शश्वच्छिरसि च वहामि प्रतिदिनम् ॥
>
> —स्वनियमदशकम् ७.

मुक्ति-भक्ति-वाञ्छा जेइ काहाँ दोंहार गति ।
स्थावरदेहे देवदेहे जैछे अवस्थिति ॥२११॥

जो लोग मुक्तिकी वाञ्छा करते हैं, सिद्धावस्थामें उनकी गति होती है ब्रह्मसायुज्य ; इस ब्रह्मसायुज्यको वृक्षादि स्थावर-देहकी अवस्थितिके समान बताया गया है। इसका कारण यह है कि वृक्ष-पर्वतादि स्थावर-देहाविष्ट जीव प्राकृतिक नियमसे सामान्य कुछ आनन्द अनुभव कर सकने पर भी जिस प्रकार आनन्दकी वैचित्री अनुभव नहीं कर सकते, उसी प्रकार ब्रह्मसायुज्यप्राप्त जीव भी आनन्दमय ब्रह्मके साथ तादात्म्य प्राप्त होकर आनन्दसत्तामें लीन तो हो जाता है एवं अव्यक्तशक्तिक आनन्द-सत्ताके स्वरूपानुबन्धी धर्मवश सामान्य आनन्द मात्रका अनुभव तो कर सकता है ; किन्तु ब्रह्ममें आनन्दवैचित्रीके अभाववश किसी भी प्रकारकी आनन्द-वैचित्रीका अनुभव नहीं कर सकता।

और जो भक्तिकी वाञ्छा करते हैं, सिद्धावस्थामें अपने-अपने भावानुकूल पार्षद-देहमें श्रीकृष्णके समीप ही वे अवस्थान करके भावानुकूल लीलाके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा कर सकते हैं। उनकी इस सेवाप्राप्तिको देवदेहकी अवस्थितिके समान कहा गया है। इसका कारण यह है कि देवदेहाविष्ट जीव जिस प्रकार स्वच्छन्द भावसे नाना प्रकारके सुख उपभोग करता रहता है, श्रीकृष्णके पार्षद भक्त उसी प्रकार विविध वैचित्रीमय लीलारस आस्वादन करके आनन्द-वैचित्री अनुभव कर सकते है।

किसी-किसी ग्रन्थमें 'मुक्ति-भक्ति' की जगह 'मुक्ति-भुक्ति' पाठ

देखनेमें आता है। भुक्तिका अर्थ है—इह कालके सुखभोग या परकालके स्वर्गादि-सुखभोग। इस सुखकी जो इच्छा करते हैं, उनके प्रति भक्तिकी कृपा नहीं होती।

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखास्यात्र कथमभ्युदयोभवेत्॥

भ. र. सि. १.२.१५. (१.२.२२)

इस प्रकारकी भुक्तिवासना आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छामूलक कामके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ; अतएव भुक्तिवासना जिनको है, वे कृष्णप्रेम प्राप्त नहीं कर सकते। परवर्ती २१२ और २१३वें पयारोंके प्रथमार्द्धमें मुक्तिकामी ज्ञानीकी बात एवं द्वितीयार्द्धमें प्रेमिक भक्तकी बात कही गयी है ; ये दोनों पयार छन्द २११वें पयारके द्वितीयार्द्धकी ही विवृत्ति है। 'भुक्ति'के बदले 'भक्ति' पाठ होनेसे ही २१२ और २१३वें पयारोक्तिकी सार्थकता होती है ; 'भुक्ति' पाठके साथ इनकी कोई भी संगति नही है। इसलिए 'मुक्ति-भक्ति' पाठ ही उपयुक्त लगता है। 'भुक्ति' पाठ लिपिकका प्रमाद ही लगता है।

अरसज्ञ काक चुषे ज्ञान - निम्बफले।
रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाम्र - मुकुले ॥२१२॥

काक और कोकिलके दृष्टान्त द्वारा मुक्तजीव और भक्तजीवका पार्थक्य दिखा रहे हैं। अरसज्ञ काक—प्रेमरससे अनभिज्ञ ज्ञानमार्गके साधकरूप काक ; जो ज्ञानमार्गके साधक हैं ; सायुज्य-मुक्तिकामी हैं, वे प्रेमरसका मर्म नहीं समझते ; उनकी काकके साथ तुलना की गयी है ; कारण, काक जैसे सुस्वादु आमकी मञ्जरी नहीं खाता, स्वादहीन निम्ब-फल खाता है, उसी प्रकार जीव-ब्रह्मके अभेदवादी ज्ञानमार्गके साधककी भक्तिरसमें रुचि नहीं होती, रुचि होती है सायुज्य मुक्तिमें, जिसमें किसी प्रकारकी लीला नहीं रहती, आनन्द-वैचित्री भी नहीं होती।

रसज्ञ कोकिल—भक्तिरसके जानकार भक्तरूप कोकिल ; जो भक्ति-मार्गके साधक हैं, जिनकी श्रीकृष्णसेवा ही एकमात्र कामना है, उनकी कोकिलके साथ तुलना की गयी है ; क्योंकि कोकिल जिस प्रकार सुस्वादु आम्र-मञ्जरीको ही प्यार करती है, भक्त भी उसी प्रकार विविध-रस-वैचित्रीके उत्स श्रीकृष्णप्रेमको ही एकमात्र काम्य वस्तु मानते हैं। **ज्ञान निम्बफले**—जीव-ईश्वरके ऐक्य-ज्ञान रूप निम्बफल। **प्रेमाम्रमुकुल**—कृष्णप्रेम रूप आम्र-मुकुल।

अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्कज्ञान।
कृष्णप्रेमामृतपान करे भाग्यवान् ॥२१३॥

इस पयार छन्दमें पूर्व पयारका मर्म और भी स्पष्ट कर दिया गया।

अभागिया—अभागा। **ज्ञानी**—ज्ञानमार्गका साधक जो जीव और ईश्वरमें अभेद मानते हैं एवं निर्विशेष ब्रह्ममें सायुज्य प्राप्ति ही जिनकी एकमात्र कामना है। रस-वैचित्रीके आस्वादनसे वंचित होनेके कारण ज्ञानीको 'अभागिया' कहा गया है। **शुष्कज्ञान**—रसवैचित्रीहीन ज्ञान (जीव-ईश्वरका ऐक्यज्ञान या निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान) का अभागिया ज्ञानी आस्वादन करता है।

१९९ से २१३ तकके पयारोंमें जो बातें कही गयी हैं, वे सभी वस्तुतः साधनतत्त्वके अन्तर्भुक्त हैं। १६२ से १८६ तकके पयारोंमें जिस साधनकी बात कही गयी है, वह है अंगी साधन ; और १९९ से २१३ तक पयारोंमें साधनके कुछ अंगोंकी बात कही गयी है।

एइमत दुइ जन कृष्णकथारसे।
नृत्य-गीत रोदने हइल रात्रिशेषे ॥२१४॥

इस प्रकार कृष्ण-कथा रसमें नृत्य-गीत-रोदनमें दोनोंको सारी रात बीत गयी।

दोंहे निजनिज कार्य्यें चलिला विहाने।
सन्ध्याकाले राय आसि मिलिला आपने ॥२१५॥

बिहाने—प्रातःकाल। दोनों प्रातःकाल होनेपर अपने-अपने कार्यके लिए चले गये और सन्ध्या समय रामानन्द राय स्वयं आकर मिले।

रामानन्द रायका निवेदन

इष्टगोष्ठी कृष्णकथा कहि कथो क्षण।
प्रभुपदे धरि राय करे निवेदन ॥२१६॥

कुछ समय कृष्णकथा इष्ट गोष्ठीके उपरान्त प्रभुके चरण पकड़कर राय महाशयने निवेदन किया।

कृष्णतत्त्व राधातत्त्व प्रेमतत्त्व सार।
रसतत्त्व लीलातत्त्व विविध प्रकार ॥२१७॥
एत तत्त्व मोर चित्ते कैले प्रकाशन।
ब्रह्मारे वेद जेन पढाइल नारायण ॥२१८॥
अन्तर्य्यामी - इश्वरेर एइ रीति हये।
बाहिरे ना कहे वस्तु प्रकाशे हृदये ॥२१९॥

कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व, रसतत्त्व, लीलातत्त्व—विविध प्रकारके तत्त्वोंका मेरे चित्तमें प्रकाशन किया, जिस प्रकार नारायणने ब्रह्माको वेद पढ़ाया। अन्तर्यामी ईश्वर अन्तर्यामीरूपसे प्रत्येकमें विराजित हैं, प्रत्येकको उपदेश देते हैं—किन्तु प्रकाश्य भावसे नहीं, कथा-वार्ता कहकर नहीं—उपदेशका मर्म वे एकान्तमें जीवके चित्तमें स्फुरित करते हैं। इसी प्रकारसे उन्होंने ब्रह्माको वेद-उपदेश किया था, वेदका मर्म उनके चित्तमें स्फुरित करके। इस उक्तिके प्रमाणमें नीचे एक श्लोक उद्धृत हुआ है।

श्रीमद्भागवतका प्रथम श्लोक

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥५१॥

अन्वय—अर्थेषु (कार्यसमूहमें—वस्तुसमूहमें—सृष्टवस्तुमात्रमें ही) **अन्वयात्** (जिनके संश्रयवश—जिनके सत्-स्वरूपसे वर्तमान होनेके कारण इन सब वस्तुओंके अस्तित्वकी प्रतीति होती है) **इतरतः च** (एवं अन्य प्रकारसे भी अकार्य-समूहमें, अवस्तु अर्थात् आकाश-कुसुमादिवत् अलीक पदार्थमें जिनका कोई भी सम्बन्ध न होनेके कारण उन सबके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं होती है) (अतएव) (इस कारण—उनके सम्बन्धके कारण वस्तुके अस्तित्वमें प्रतीति होनेके कारण एवं उनके सम्बन्धके अभावके कारण अवस्तुके अस्तित्वमें प्रतीति नहीं होनेके कारण) **अस्य** (इस जगत्के) **जन्मादि** (सृष्टि-स्थिति-विनाश) **यतः** (जिसके द्वारा) **[भवति]** (होते हैं), **[यः]** (जो) **अभिज्ञः** (सर्वज्ञ) **स्वराट्** (एवं स्वतः-सिद्ध ज्ञानवान् है), **यत्** (जिसमें—जिस वेदमें) **सूरयः** (ज्ञानीगण भी) **मुह्यन्ति** (मुग्ध हो जाते हैं), **[तत्]** (वह) **ब्रह्म** (वेद) **आदिकवये** (ब्रह्मामें) **हृदा** (हृदय द्वारा) **[यः]** (जिन्होंने) **तेने** (प्रकाशित किया है—संकल्प मात्रसे ही प्रकाशित किया है), **यथा** (जिस प्रकार) **तेजोवारिमृदात् विनिमयः** (तेज, जल व मृत्तिका-विकार काँचके विनिमयसे—तेजमें जलमें व काँचमें इन सब वस्तुओंका—एक वस्तुमें अन्य वस्तुका भ्रम जिस प्रकार अधिष्ठानकी सत्यताके कारण सत्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार) **यत्र** (जिनमें—जिनकी सत्यतामें) **त्रिसर्गः** (सत्व, रज, और तम, इन तीन गुणोंकी सृष्टि—भूत, इन्द्रियाँ

और देवतादि) **अमृषा** (सत्य—वस्तुतः मिथ्या होकर भी सत्य-स्वरूपसे प्रतीत होते हैं) [**अथवा, मृषा** (मिथ्या)— तेजमें जल-भ्रमादि जिस प्रकार वस्तुतः असत्य हैं, उसी प्रकार जिनके व्यतिरेकसे गुणत्रयकी सृष्टि समस्त ही मिथ्या है—जिनकी परमार्थ-सत्यता प्रतिपादनके लिए आदि-अन्त युक्त असार विश्वका वस्तुतः मिथ्यात्व न होनेपर भी मिथ्यात्व उक्त हुआ है], **स्वेन** (स्वीय—अपने) **धाम्ना** (तेज प्रभावसे) **सदा-निरस्तकुहकं**) (जिनमें कुहक अर्थात् मायिक उपाधि-सम्बन्ध सर्वदा निरस्त हुआ है, उन) **सत्यं** (सत्यस्वरूप) **परं** (परमेश्वरका) **धीमहि** (ध्यान करते हैं)।

अनुवाद—जिनके सृष्ट-वस्तुमात्रमें सत्-स्वरूपसे वर्त्तमान होनेके कारण उन सब वस्तुओंके अस्तित्वकी प्रतीति होती है एवं अवस्तु आकाश-कुसुमादि अलीक पदार्थसे जिनका कोई भी सम्बन्ध न होनेके कारण उस समुदायकी सत्ताकी उपलब्धि नहीं होती; इस परिदृश्यमान जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयके जो कारण हैं; जो सर्वज्ञ और स्वतः-सिद्धज्ञान-स्वरूप हैं; एवं जिस वेदमें ज्ञानीगण भी मुग्ध होते हैं, उस वेदको जिन्होंने आदि कवि ब्रह्माके हृदयमें संकल्पमात्रसे प्रकाश किया है; एवं तेज, जल या मृत्तिकादिके विकार स्वरूप कांच आदिमें इन सब वस्तुओंका एक वस्तुमें अन्य वस्तुका भ्रम जिस प्रकार अधिष्ठानके सत्य होनेके कारण सत्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिनकी सत्यतासे सत्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी सृष्टि —भूत, इन्द्रिय और देवता—वस्तुतः मिथ्या होकर भी सत्य-स्वरूपमें प्रतीत होते हैं [अथवा, तेजमें जलभ्रमादि जिस प्रकार वस्तुतः अलीक है, उसी प्रकार जिनके व्यतिरेकसे गुणत्रयकी सृष्टि सब मिथ्या है, (जिनकी परमार्थ-सत्यत्व प्रतिपादनके निमित्त आदि-अन्त युक्त असार विश्व वस्तुतः मिथ्या न होनेपर भी मिथ्या बताया गया है)], एवं अपने तेजके प्रभावसे जिनमें कुहक अर्थात् मायिक उपाधि-सम्बन्ध

निरस्त हुआ है, उन सत्य-स्वरूप परमेश्वरका मैं ध्यान करता हूँ—श्रीपाद श्यामलाल गोस्वामी।

श्रीमद्भागवतके आरम्भमें व्यासदेवने इस श्लोक द्वारा मंगलाचरण किया है। उन्होंने कहा है—सत्यस्वरूप परमेश्वरका ध्यान करता हूँ। **सत्यं**—सत्यस्वरूप एवं **परं**—परमेश्वरका **धीमहि**— ध्यान करता हूँ।

सत्यंव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

श्रीम.भा. १०.२.२६

इत्यादि वाक्यों द्वारा देवगणने सत्यस्वरूप श्रीकृष्णकी स्तुति की है। '**सत्यं**' शब्दके उपलक्षणसे परमेश्वरका जो '**सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' है, वही सूचित होता है।

बृहत्त्वाद् बृंहण त्वाच्च यद्ब्रह्म परमं विदुः। वि.पु.१.१२.५७ वचनानुसार ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण ही ब्रह्म परमेश्वर हैं। '**परं**' शब्दसे यहाँपर पुराणोक्त '**नराकृति परं ब्रह्म**' श्रीकृष्णको ही बताया है। गोपालतापिनी श्रुतिने भी श्रीकृष्णके ध्यान करनेकी बात ही कही है—'**तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्। पु०.५०**' इस श्लोकमें ध्येय परमेश्वरके स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण दोनों ही कहे गये हैं। स्वरूपलक्षणसे वे सत्यं—सत्य स्वरूप हैं। उनके सत्यत्व विषयमें प्रमाण यही है कि—**यत्रत्रिसर्गोऽमृषा**—उनमें अधिष्ठित होनेके कारण, उनके ही आश्रयमें अवस्थित होनेके कारण, सत्व, रज, और तम इन गुणत्रयकी सृष्टि—भूत, इन्द्रिय और देवता—वस्तुतः मिथ्या होकर भी सत्यरूपसे प्रतीत होते हैं; इस प्रतीतिका कारण ही उनकी सत्यता है; अतएव वे सत्यस्वरूप हैं, नहीं तो मिथ्या गुणसृष्टि उनमें अधिष्ठित रहकर सत्य-सी प्रतीत नहीं होती। अधिष्ठानकी सत्यतासे मिथ्या वस्तु भी जो सत्य-सी

प्रतीत हो सकती है, यह एक दृष्टान्त द्वारा बतायी जा रही है—**यथा तेजोवारिमृदां विनिमयः**—अधिष्ठानकी सत्यताके कारण ही तेज, जल और काँच इन सब वस्तुओंका एक वस्तुमें अन्य वस्तुका भ्रम भी सत्य-सा प्रतीत होता है। काँचमें—दर्पणमें सूर्यका तेज पड़नेपर उसमें सूर्यका प्रतिविम्ब पड़ता है ; वह प्रतिविम्ब वास्तवमें मिथ्या है ; किंतु मिथ्या होनेपर भी वह सत्य-सा प्रतीत होता है ; कारण, तेजका अधिष्ठान सूर्य सत्यवस्तु है ; सूर्यकी सत्यतासे ही दर्पणमें सूर्यका मिथ्या प्रतिविम्ब भी सत्य-सा प्रतीत होता है। मरुभूमिमें तेजसे—मरीचिकासे—जलकी भ्रान्ति उत्पन्न होती है ; बहुत दूर किसी स्थानमें वास्तविक जल है, उसकी प्रतिच्छवि मरुभूमिकी बालुका राशिमें प्रतिफलित होकर सत्य जलकी भ्रान्ति उत्पन्न करती है ; जलकी सत्यतासे ही मरीचिकाका मिथ्या जल भी सत्य-सा लगता है। उसी प्रकार, ब्रह्मकी सत्यतासे ही मिथ्या मायासृष्टि सत्य-सी लगती है। **अथवा यत्र त्रिसर्गो मृषा यथा तेजोवारिमृदां विनिमयः**—तेजमें जलभ्रमादि जिस प्रकार वास्तविक अलीक है, उसी प्रकार जिनके व्यतिरेकसे यह गुणत्रयकी सृष्टि सभी मिथ्या है—वे निश्चय ही सत्य-स्वरूप हैं।

प्रश्न हो सकता है—'**यत्र त्रिसर्गो मृषा**' इत्यादि वाक्यमें बताया गया है, वही सत्यस्वरूप ही मायिक सृष्टिमें अवस्थित है ; उसमें मायिक उपाधिके संग उन सत्यस्वरूपका कोई भी सम्बन्ध बनता है कि नहीं ? उसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, मायिक सृष्टिके अधिष्ठान होनेके कारण सत्यस्वरूपके साथ किसी भी प्रकारका मायिक उपाधिका सम्बन्ध नहीं है ; कारण, वही सत्यस्वरूप **स्वेन धाम्ना**—जिनके तेजके प्रभावसे उनकी अचिन्त्य शक्तिसे **निरस्त कुहकं** निरस्त (दूरीभूत) हुआ है कुहक (कपट या माया) जिनसे माया उनसे बहुत दूर अपसारित हुई है, उनकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे। मायाके अधिष्ठान होनेपर भी वे मायातीत हैं। इस प्रकार स्वरूप लक्षण बताकर तटस्थ लक्षण बताते हैं

'जन्माद्यस्य यतः' वाक्य द्वारा। अस्य—इस परिदृष्यमान जगत्के जन्मादि—सृष्टि, स्थिति और प्रलय यतः—जिनसे होता है ; उन्हींसे इस परिदृश्यमान जगत्के सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—वे ही जगत्के मूल कारण हैं—यही उनके तटस्थ लक्षण (या कार्य) हैं ; उनका ध्यान करते हैं—तं धीमहि।

अच्छा, उनको ही जगत्के सृष्टि आदिका कारण कहनेका हेतु क्या है? उत्तर—अन्वयात् इतरत्तश्च अर्थेषु। अर्थेषु—कार्येषु, वस्तुसमूहमें सृष्टवस्तु समूहमें उनका अन्वयात्—अन्वय या संश्रववश, सत्-रूपमें उनके अवस्थानवश एवं इतरतश्च—अकार्येभ्यः ख-पुष्पादिभ्यस्तद्व्यतिरेकाच्च—अवस्तु अर्थात् आकाश-कुसुमादि अलीक पदार्थसे जिनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होनेके कारण ही उस समुदायकी सत्ताकी उपलब्धि नहीं होती। सत्-रूपसे सृष्टवस्तुमें उनके रहनेके कारण सृष्ट-वस्तुका अस्तित्व प्रतीत होता है ; और अवस्तुमें उनका सम्बन्ध न होनेके कारण अवस्तुकी सत्ताकी प्रतीति नहीं होती—जहाँ उनका सम्बन्ध है, वहाँ सत्ताकी प्रतीति है ; और जहाँ उनका सम्बन्ध नहीं है, वहाँ सत्ताकी प्रतीति भी नहीं है—इसीसे समझा गया है कि वे ही सृष्ट-वस्तुकी सत्ताके कारण हैं, वे ही जगत्के कारण हैं। अथवा 'अन्वय' शब्दसे अनुवृत्ति एवं 'इतर' शब्दसे व्यावृत्ति समझा जाता है ; सृष्ट-वस्तुमें सत्-रूपसे वे अणुवृत हैं इसलिए घट-कुण्डल आदिके सम्बन्धमें मृत्-सुवर्णकी तरह ब्रह्म ही जगत्के कारण हैं ; और व्यावृत्ति वशतः—मृत्-सुवर्ण आदिके सम्बन्धमें घट-कुण्डल आदिकी तरह—ब्रह्मके सम्बन्धसे विश्व ही कार्य है। इस अर्थमें भी ब्रह्म ही जगत्के कारण हुए। ब्रह्मसे ही जगत्की उत्पत्ति आदि होती है, इसमें श्रुति प्रमाण भी हैं—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसन्विशन्तीति—तैत्तिरीय ३.१'

प्रश्न हो सकता है कि सांख्य तो कहता है कि प्रधान ही जगत्का कारण है ; तब क्या व्यासदेव इस श्लोकमें प्रधान या प्रकृतिका ध्यान

करते हैं ? नहीं, प्रकृतिका ध्यान नहीं किया है ; प्रकृति जड़ अचेतन है ; व्यासदेवने जिनका ध्यान किया है, एवं जिनको जगत्का कारण बताया है, वे अभिज्ञः—सर्वज्ञ हैं ; चेतनवस्तुके अतिरिक्त कोई भी अचेतनवस्तु अभिज्ञ नहीं हो सकती ; अतएव जगत्के जो कारण हैं, वे चेतन हैं ; सृष्टिकर्त्ताके सम्बन्धमें **'स ऐक्ष्य लोकानुत्सृजाम'** इत्यादि श्रुतिवाक्य भी उनकी चेतनताका प्रमाण देते हैं ; अचेतन वस्तु दर्शन नहीं कर सकती।

और प्रश्न उठ सकता है कि अचेतन वस्तु अभिज्ञ या सृष्टिकर्ता न हो सकनेपर, चेतन जीव तो हो सकता है ? तब क्या जीवका ध्यान करनेकी बात इस श्लोकमें कही गयी है ? नहीं, ऐसा नहीं ; इस श्लोकमें जिनका ध्यान करनेकी बात कही गयी है एवं जिनको सृष्टिकर्त्ता भी बताया गया है, वे **स्वराट्** हैं—**स्वेनैव राजते यः**, अपने द्वारा ही जो विराजित हैं, जिनकी सत्तादि अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखती, जो स्वतन्त्र हैं, जो स्वतःसिद्ध-ज्ञान हैं। जीव इस प्रकार स्वराट् नहीं है।

तब क्या ब्रह्माकी बात कही गयी है ? **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** इत्यादि श्रुतिवाक्यसे यह भी तो हो सकता है ? नहीं, यह भी नहीं है ; ब्रह्मा इस श्लोकमें ध्यानके विषय नहीं हैं। जो ध्यानके विषय हैं, वे **आदिकवये ब्रह्म तेने**—आदिकवये—ब्रह्मासे, ब्रह्म—वेद, तेने—प्रकाशित किया था—उन्होंने ही ब्रह्माको वेदकी शिक्षा दी थी ; **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च-प्रहिणोति तस्मै'** इत्यादि श्रुतिवाक्य इसके प्रमाण हैं ; अतएव इस श्लोकमें ब्रह्मा ध्यानके विषय नहीं हैं। किन्तु ब्रह्माने अन्यसे वेद अध्ययन किया है, यह तो नहीं जाना जाता ? यह बात सत्य है ; ब्रह्माने वेद अध्ययन नहीं किया एवं परमेश्वरने भी ब्रह्माको वेद अध्ययन नहीं कराया ; परमेश्वरने उस वेदको **हृदा तेने**—संकल्प मात्रसे ब्रह्माके हृदयमें स्फुरित किया था, वेदविषयमें ब्रह्माकी बुद्धिवृत्तिको प्रवर्तित कराया था।

अच्छा, ब्रह्मा पहले भी तो वेद जानते थे ? महाप्रलयमें हो सकता है विस्मृत हो गया हो ; सोये हुए व्यक्तिको नींदसे जागनेपर जिस प्रकार पूर्व स्मृति भी जाग उठती है, उसी प्रकार सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माकी भी वेदस्मृति जाग उठ सकती है अतएव ब्रह्माके चित्तमें वेदार्थका प्रकाश परमेश्वरका ही कार्य है, इसका क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यही है कि वेदार्थके स्मरणमें ब्रह्माकी सामर्थ्य नहीं हैं ; कारण **यस्मिन सूरयः मुह्यन्ति**—इस वेदमें ज्ञानीगण भी मुग्ध हो जाते हैं ज्ञानीगण भी इस वेद-विषयमें कुछ निर्णय करनेमें समर्थ नहीं हैं। अतएव ब्रह्माका ज्ञान भी पराधीन होनेके कारण अन्य-निरपेक्ष न होनेके कारण स्वतःसिद्धज्ञान-परमेश्वर ही जगत्के कारण हैं एवं परमेश्वर ही ध्यानके विषय हैं। इन सब कारणोंसे—वे सत्य होनेके कारण सद्वस्तुको (अस्तित्व युक्त वस्तुको) सत्ता दान करनेके कारण एवं असद्वस्तुको सत्ता दान न करनेके कारण वे परमार्थ सत्य हैं ; सर्वज्ञ होनेके कारण वे निरस्तकुहक हैं ; वे ही ध्यानके विषय हैं। इस श्लोकमें **'सत्यं परं धीमहि'**—वाक्य रहनेसे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि गायत्री द्वारा ही इस श्लोकका एवं अन्य श्लोक-युक्त श्रीमद्भागवतका आरम्भ है। वस्तुतः इस श्लोकमें गायत्रीका अर्थ ही निहित है।

भगवान्ने ब्रह्माके हृदयमें वेदका प्रकाश किया था। यह २१८-२१९वें पयारोक्तिके प्रमाणमें इस श्लोकके **'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये'** वाक्य हैं।

ऊपर इस श्लोकका जो अन्वय, अनुवाद और अर्थ लिखा गया है, वह सब श्रीधरस्वामीके टीकानुयायी है। अब इस श्लोकका श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती टीकानुयायी अन्वय, अनुवाद और अर्थ नीचे दिया जा रहा है।

अन्वय—अन्वयात् (घटमें मृत्तिकाकी तरह, उपादान-कारणरूपसे इस विश्वमें जिनका अन्वय या अणुप्रवेश होनेके कारण) **इतरतः** (व्यतिरेक होनेके कारण भी, अर्थात् मृत्तिकामें जिस प्रकार घट नहीं है, उसी प्रकार

जिनमें यह विश्व नहीं होनेके कारण—अबतक जो विश्वके उपादान कारण होनेसे) **च** (एवं जो विश्वके निमित्त कारण होनेसे भी) **अस्य** (इस विश्वके—जगत् प्रपंचके) **जन्मादि** (सृष्टि - स्थिति - विनाश) **यतः** (जिनके द्वारा) [**भवति**] (होता है), [**यः**] (जो) **अर्थेषु** (सृज्या-सृज्यवस्तु-विषयमें) **अभिज्ञः** (सर्वज्ञ हैं), [**यः**] (जो) **स्वराट्** (अन्य-निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध हैं), **यत्** (जिनमें—जिन वेदोंमें) **सूरयः** (ज्ञानीगण भी) **मुह्यन्ति** (मोह-प्राप्त होते हैं) [**तत्**] (वही) **ब्रह्म** (वेद) **आदिकवये** (आदिकवि ब्रह्मासे) **हृदा** (हृदय द्वारा, अपने हृदयके संकल्प मात्रसे ब्रह्माके हृदयमें) [**यः**] (जिन्होंने) **तेने** (प्रकाशित किया है), **तेजोवारिमृदां** (तेज, जल एवं मृत्तिकाके) **विनिमयः** (विपर्यय—एक वस्तुको अन्य वस्तु मानना—तेजको जल या जलको तेज मानना, मृत्तिकाके विकार काँचको जल या जलको काँच मानना—इस प्रकारकी विपर्यय बुद्धि) **यथा** (जिस प्रकार) [**मृषा**] (मिथ्या है,) [**तथा**] (उसी प्रकार) **यत्र** (जिनमें—जो चिन्मयाकार परमेश्वरके, परमेश्वरके देह विषयमें) **त्रिसर्गः** (सत्व, रज, और तम,—इन तीन गुणोंकी या गुणत्रयकी सृष्टि—इस प्रकारकी बुद्धि भी) **मृषा** (मिथ्या),—अथवा, **तेजोवारिमृदां** (तेज, वारि और मृत्तिकाका) **यथा** (यथायथ) **विनिमयः** (सम्मिलन) **यत्र** (जिस स्थलमें है), [**तत्र**] (उसी स्थलमें, तथाभूत) **त्रिसर्गः** (त्रिगुण सृष्टि ही) **मृषा** (मिथ्या है—वही त्रिगुणमय वस्तुके जिन सृष्टिकर्त्ताका देह मिथ्या नहीं है)—**स्वेन** (अपनी) **धाम्ना** (स्वरूपशक्ति द्वारा) **सदा निरस्तकुहकम्** (सर्वदा निरस्त या दूर अपसारित हुई है माया जिनके द्वारा) [**तं**] (वही) **सत्यं** (सत्यस्वरूप) **परं** (परमेश्वरको) **धीमहि** (ध्यान करते हैं) ।

अनुवाद—अन्वय-व्यतिरेक भावसे जो इस विश्वके उपादान कारण एवं निमित्त कारण होनेसे इस विश्वके सृष्टि-स्थिति विनाशकर्त्ता हैं, सृज्यासृज्य-वस्तुके विषयमें जो सर्वज्ञ हैं, जो अन्य निरपेक्ष हैं, स्वतःसिद्ध एवं स्वतन्त्र

हैं, जिन वेदोंमें ज्ञानीगण भी मोहको प्राप्त होते हैं, उन्हीं वेदोंको जिन्होंने संकल्पमात्रसे ब्रह्माके हृदयमें प्रकाश किया है; तेज, जल और मृत्तिका—इन तीन वस्तुओंमें-से एकको अपर मानना जिस प्रकार मिथ्या है उसी प्रकार जिनमें (जिन परमेश्वरके देह-विषयमें) त्रिगुण-सृष्टि-बुद्धि भी मिथ्या है या मिथ्या ज्ञानमात्र है—अथवा, जिस स्थलमें तेज, जल और मृत्तिकाका यथायथ सम्मिलन होता है (इन वस्तुओंके यथायथ सम्मिलनसे जिस वस्तुका उद्भव होता है), उस स्थलमें (तथाभूत) त्रिगुण सृष्टि ही मिथ्या है (या अनित्य है), इस त्रिगुण सृष्टिके कर्त्ता जो हैं, उनका देह मिथ्या नहीं है—जो अपनी स्वरूपशक्ति द्वारा मायाको सर्वदा दूर रखते हैं, उन परमेश्वरका ध्यान करते हैं।

श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीका टीकानुयायी अर्थ नीचे दिया जा रहा है।

सत्यं परं धीमहि—परं अतिशयेन सत्यं सर्वकाल-देश-वर्तिनं धीमहि ध्यायेमः। सर्व देशमें सकल समयमें जो अतिशय सत्य हैं, जो (प्राकृत-ब्रह्माण्डमें एवं अप्राकृत भगवद्धाम आदि) में सर्वत्र हैं, जो (अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल पर्यन्त) सर्वदा वर्तमान हैं, अतएव जो त्रिकाल सत्य हैं, नित्य परम सत्य हैं, उनका ध्यान करता हूँ। यही श्लोकका मूल वाक्य है। अब उन्हीं परम-सत्यस्वरूप परमेश्वरकी बात कहते हैं।

जन्माद्यस्य यतः—जिनके द्वारा, जिन परम सत्यस्वरूपके द्वारा (अस्य) इस जगदादिके जन्मादि (सृष्टि, स्थिति और प्रलय) होते रहते हैं। कालसे ही सृष्टि, कालसे ही स्थिति एवं कालसे ही प्रलय; तब क्या काल (समय) की बात कही जा रही है? क्या कालके ध्यानकी बात कही जा रही है? इस आशंकाके निरसनके लिए ही कहा जा रहा है—**अन्वयात् इतरतः च**। सृष्टि आदि व्यापारमें उन परम-सत्यका अन्वय एवं इतरता है इसलिए काल सृष्टिआदिका हेतु नहीं हो सकता। **अन्वयात्**—सृष्टि आदि व्यापारमें उन्हीं परम सत्यस्वरूपका सम्बन्ध है

इसलिए ; घटमें जिस प्रकार मिट्टीका सम्बन्ध है, मिट्टीके बिना जिस प्रकार घट प्रस्तुत नहीं हो सकता, उसी प्रकार इस सृष्ट ब्रह्माण्डमें सत्यस्वरूप ब्रह्मका सम्बन्ध है, ब्रह्मके बिना जगत्की सृष्टि नहीं हो सकती।

इतरतः—अन्यरूपसे, व्यतिरेकवशतः। घटमें मिट्टी है लेकिन मिट्टीमें घट नहीं है ; उसी प्रकार जगत्में ब्रह्म है (मिट्टीकी तरह उपादानरूपसे), किन्तु ब्रह्ममें जगत् नहीं है। **घटे मृदन्वय इव ; मृदि घटव्यतिरेक इव।** इस प्रकार देखा गया—परम-सत्यस्वरूप ब्रह्म ही जगत्के उपादान कारण हैं। **च**—शब्दसे ब्रह्मका निमित्त-कारणतत्त्व भी सूचित होता है। जगत्के उपादान कारण एवं निमित्त-कारण ये दोनों कारण ही ब्रह्म हैं, किन्तु काल नहीं है। काल है ब्रह्मका प्रभावस्वरूप। **कालस्य तत् प्रभावरूपत्वात्। अन्वयात् एवं इतरतः**—इन दोनों शब्दोंका अन्य प्रकारका अर्थ भी हो सकता है। अनु + अय = अन्वय ; अनुका अर्थ भीतर ; और गमनार्थक इ—धातुसे निस्पन्न अय-शब्दका अर्थ—गमन या प्रवेश ; इस प्रकार अन्वय-शब्दका अर्थ हुआ—अणुप्रवेश या भीतर गमन। इस प्रकार **अन्वयात्**—महाप्रलयमें सूक्ष्मरूपसे जगत्-प्रपञ्चका परमसत्य ब्रह्ममें या परमेश्वरमें अणुप्रवेशवशतः। और **इतरतः**—अन्य व्यापारमें, सृष्टिकालमें जगत्-प्रपञ्च परमेश्वरसे पृथक् होकर बाहर आता है इसलिए। सत्यस्वरूप परमेश्वर अन्य व्यापारमें, सृष्टिकालमें जगत्-प्रपञ्च परमेश्वरसे पृथक् होकर बाहर आता है इसलिए। सत्यस्वरूप परमेश्वर जो जगत्-प्रपञ्चका अधिष्ठान कारण है, यही सूचित हुआ। (इस प्रकारके अर्थमें **च**—शब्दसे सत्यस्वरूप परमेश्वरके जगत्के उपादान-कारण एवं निमित्त-कारण होनेकी बात सूचित होती है)। अथवा, **अन्वयात्**—अणुप्रवेशवशतः—जिन्होंने कारणरूपसे कार्यस्वरूप-विश्वमें अणुप्रवेश किया होनेके कारण, इस विश्वके सृष्टि, जन्म और कर्मफल दातारूपसे जिन्होंने विश्वमें अणुप्रवेश किया होनेके कारण विश्वके स्थिति एवं संहारक रुद्ररूपसे जिन्होने विश्वमें अणुप्रवेश किया होनेके कारण,

विश्वका ध्वंस सम्भव हुआ है—इस प्रकार कारणरूपसे, जन्म-कर्मफल-दातारूपसे एवं रुद्ररूपसे परमेश्वर ही जगत्-प्रपञ्चमें अणुप्रविष्ट है इसलिए। तब इस प्रकार उनका कार्य यह विश्व ही क्या उनका स्वरूप है? नहीं, ऐसा नहीं है। **इतरतः**—वे विश्वके सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता हैं इसलिए, अतएव विश्व उनके द्वारा सृज्य, पाल्य एवं संहार्य है इसलिए। (स्वरूप-शक्ति द्वारा ही वे सृष्टि आदि कार्यका निर्वाह करते हैं; विश्वमें स्वरूप शक्ति नहीं है, उनमें है; अतएव) स्वरूप-शक्ति द्वारा ही वे विश्वसे भिन्न हैं—विश्व उनका स्वरूप नहीं हो सकता। **च**-शब्दसे सूचित होता है, स्वरूप-शक्ति द्वारा उनके विश्वसे भिन्न होनेपर भी माया-शक्ति द्वारा वे अभिन्न हैं।

अब प्रश्न हो सकता है—परमेश्वर ही यदि विश्वके उपादान हैं तो वे विकारी हो गये; किन्तु वे तो निर्विकार हैं। अतएव, प्रकृति ही विश्वका उपादान कारण और परमेश्वर निमित्त कारण मात्र हैं। उत्तर यही है—नहीं, अचेतन प्रकृति जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकती; क्योंकि श्रुतिके **'स सर्वज्ञः सर्वविदिति स इक्षत लोकानसृज्य इति तदैक्षत बहुस्यात् प्रजायेय'** इत्यादि वाक्य द्वारा प्रतिपन्न होता है कि जगत्के जो कारण हैं, वे चेतन हैं। अतएव परमेश्वर ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं। प्रकृति है उनकी शक्ति; शक्ति और शक्तिमान्के अभेदवश उनका उपादानत्व होता है प्रकृति द्वारा—प्रकृति द्वारा ही वे उपादान हैं अर्थात् उनकी शक्तिसे ही प्रकृतिका उपादानत्व है, इस प्रकार वे ही मुख्य उपादान हैं और प्रकृति है गौण उपादान। स्वरूपसे वे प्रकृतिसे अतीत हैं इसलिए (एवं उन्हींकी शक्तिसे प्रकृति ही उपादान होती है इसलिए स्वरूपसे) वे निर्विकार ही रहते हैं। (प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है; क्योंकि परमेश्वरके निरपेक्ष भावसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं रह सकती; प्रकृति उनकी शक्ति है; जो अन्यनिरपेक्ष हो, स्वतन्त्र हो, उन्हीं-का उपादानत्व सम्भव है; परमेश्वर परम स्वतन्त्र हैं; अतएव वे ही

उपादान हैं। तब उनका यह उपादानत्व विकशित होता है उन्हींकी शक्ति—बहिरंगाशक्ति—प्रकृति द्वारा। जो सर्वज्ञ हैं, सर्वदित् हैं, वे ही जगत्का कारण हो सकते हैं। प्रकृति जड़, अचेतन है; इसलिए प्रकृति जगत्का कारण नहीं हो सकती। परमेश्वर सर्वज्ञ सर्ववित् हैं; इसलिए वे ही जगत्के कारण हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्ववित् हैं, यही कहा गया है)।

परमेश्वर स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ हैं, यह जनानेके लिए कहते हैं, वे परम सत्यस्वरूप हैं—**स्वराट्**—अन्य निरपेक्ष भावसे स्वयंमें ही स्वयं विराजित: परम स्वतन्त्र। और वे **अर्थेषु**—श्रेज्याश्रेज्यवस्तुमात्रेषु; कौनसी वस्तु सृजनीय है, कौनसी नहीं है, इत्यादि विषयमें **अभिज्ञः**—ज्ञानसम्पन्न जो हैं, वे ही सत्यस्वरूप परमेश्वर हैं। सृष्ट्यादि विषयमें उनको ज्ञान है, इसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण यही है, जगत्-कारणत्व-प्रतिपादक श्रुति वाक्यों द्वारा जाना जाता है—'**स-ईक्षत लोकानसृजा इति तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**'—सृष्टिकाम होकर उन्होंने प्रकृतिके प्रति दृष्टि की थी। किस प्रकार उनकी सृष्टि कामना पूर्ण हो सकती है, उस सम्बन्धमें विचार-विवेचनापूर्वक ही उन्होंने दृष्टि की थी—यह सहज ही समझा जा सकता है। इसीसे उनकी सर्वज्ञता और सर्ववेत्ता प्रमाणित होती है।

यहाँपर एक प्रश्न और उठता है। कहा जा चुका है कि जगत्के सृष्टि-व्यापारमें स्वातन्त्र्य एवं ऐश्वर्यका प्रयोजन है। किन्तु '**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**' इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं '**स एव ध्येयोऽस्त्वित्यत आह तेन**' इत्यादि प्रमाणसे ब्रह्माके स्वातन्त्र्य एवं ऐश्वर्यकी बात जानी जाती है। तब क्या ब्रह्मा जगत्के सृष्टिकर्ता नहीं हो सकते? नहीं, ब्रह्मा जगत्के सृष्टिकर्ता नहीं हो सकते; क्योंकि ब्रह्माका स्वातन्त्र्य नहीं देखनेमें आता; व्यष्टि-सृष्टिव्यापारमें उनकी सामर्थ्य भी परमेश्वरकी अपेक्षा रखती है; यह दिखानेके लिए ही कहा

गया है—**तेने ब्रह्म य आदिकवये**—**य**—जिन्होंने सत्यस्वरूप परमेश्वर **आदिकवये** ब्रह्मामें (ब्रह्मा ही आदि कवि हैं) **ब्रह्म**—(वेद या स्वतन्त्र परमेश्वरके तत्त्वका) **तेने**—प्रकाश किया है। ब्रह्माके निकट वेदका प्रकाश किया है परमेश्वरने। परमेश्वरकी कृपा हुए बिना ब्रह्मा वेद जान नहीं सकते थे। इसीसे समझा जाता है कि ब्रह्मा स्वतन्त्र नहीं हैं, वे परतन्त्र हैं—परमेश्वरकी अपेक्षा रखते हैं।

ब्रह्मा सर्वज्ञ, सर्ववित् नहीं हैं, यह भी समझमें आ गया। किन्तु ब्रह्माने अन्य किसीके पास वेदका अध्ययन किया है—यह तो जाननेमें नहीं आता ? इस प्रश्नके उत्तरमें ही कहा गया है—**हृदा**—ब्रह्माने किसीके पास वेदका अध्ययन नहीं किया यह सत्य है; परमेश्वरसे भी उन्होंने अध्ययन नहीं किया; परमेश्वरने हृदयके या मनके द्वारा (हृदा) ब्रह्माके निकट वेद प्रकाश किया। परमेश्वरके संकल्प मात्रसे ब्रह्माके चित्तमें वेदका तात्पर्य प्रकाशित हुआ एवं उसीके द्वारा व्यष्टि-सृष्टिकी सामर्थ्य भी प्राप्त की; अध्यापनकी आवश्यकता नहीं पड़ी। किन्तु इसका प्रमाण क्या है ? **प्रचोदिता येन पूरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि। सलक्षणा प्रादुरभूत किलास्यत इति। किम्बा सुदृष्टं हृदि मे तदैव'** इत्यादि शास्त्र वाक्य ही इसका प्रमाण है। किन्तु व्यक्ति जब निद्रित अवस्थामें रहता है, तब अज्ञके समान रहता है, कुछ भी जानता नहीं है; और जब जाग्रत होता है, तब उसके चित्तमें पूर्वज्ञान अपने आप ही उद्भूत होता है, किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती। इस 'सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय' से ऐसा भी तो हो सकता है कि ब्रह्माने वेदका जो ज्ञान प्राप्त किया, वह परमेश्वरकी कृपासे नहीं, अपने आप ही।

इस प्रकारके प्रश्नकी आशंका दूर करनेके लिए ही कहा गया है—**मुह्यन्ति यत् सूरयः**—**यत्**—जिसमें, जिस वेदमें या भगवत्तत्त्वमें **सूरयः**—ज्ञानीगण भी, ब्रह्मादि देवतागण भी **मुह्यन्ति**—मोहित हुए रहते हैं।

वेद इतने दुरधिगम्य हैं कि महा-महा-ज्ञानी भी उन्हें समझ नहीं सकते ; अतएव ब्रह्मा अपने आप ही वेदका ज्ञान प्राप्त कर लें, यह सम्भव नहीं। जो हो, ऐसी जो परम सत्य वस्तु परमेश्वर हैं, जिनसे इस जगत् प्रपञ्चके सृष्टि-स्थिति-प्रलय, अन्वय-व्यतिरेक भावसे जो जगत्-प्रपञ्चके उपादान-कारण, निमित्त-कारण एवं अधिष्ठान-कारण, सृज्य-असृज्य वस्तु मात्रके विषयमें जो परम स्वतन्त्र एवं अभिज्ञ (सर्वज्ञ एवं सर्ववित्) हैं, जिस वेदमें महा-महा-ज्ञानीगण भी मोह-प्राप्त हुए रहते हैं, ऐसे परम-दुरधिगम्य वेद जिन्होंने संकल्प मात्रसे ब्रह्माके चित्तमें प्रकाश किया है, उन परम-सत्य-स्वरूप परमेश्वरका **धीमहि**—ध्यान करते हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि जो ध्यानके विषय हैं, वे तो साकार ही होंगे ; किन्तु आकार समूह तो मायिक त्रिगुणसे सृष्ट हैं, अतएव अनित्य हैं। वे सत्यस्वरूप यदि साकार हैं, तब तो उनके अनित्यत्वकी आशंका आ खड़ी होती है ? इस प्रकारकी आशंकाके निरसनके लिए कहा गया है—**तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा। यथा**—जिस प्रकार **तेजोवारिमृदां**—तेजः, वारि (जल) एव मृत्तिका-इन सबके **विनिमयः**—विपर्यय ; इन तीन वस्तुओंके ज्ञानसे विपर्यय होता है या एकमें दूसरेका ज्ञान उत्पन्न होता है। मरुभूमिमें मरीचिकामें तेजसे जलका भ्रम होता है ; और किसी-किसी स्थलमें जल देखकर मृत्तिकाका भ्रम होता है ; मृद् विकार काँचादिमें भी जलका भ्रम होता है ; इस प्रकारसे तेजः, वारि और मृत्तिका—इनमेंकी एक वस्तुमें अन्य वस्तुका ज्ञान (विनिमय) होता है—जल सम्बन्धी ज्ञानका लक्ष्य होनेसे जलका और मृत् सम्बन्धी लक्ष्य होनेसे मृत्तिकाका ; किन्तु जल सम्बन्धी ज्ञान यदि मृत्तिकामें प्रयोजित हो अर्थात् मृत्तिकाको यदि जल मान लिया जाय, उसी प्रकार जलको मृत्तिका मान लिया जाय, तो जल और मृत्तिकाके ज्ञानका (या नामका) विनियम या विपर्यय करना होगा। इस प्रकारसे तेजः, वारि और मृत्तिका—इनमेंकी एक वस्तुमें अन्य वस्तुका ज्ञान जिस

प्रकार अज्ञ लोगोंकी भ्रान्तिवश मिथ्या ज्ञान है, (तथा) उसी प्रकार **यत्र** —जिनमें, जिन चिन्मयाकारमें, चिन्मयाकार परमेश्वरमें **त्रिसर्ग**— त्रिगुणसृष्टि, मायाकी त्रिगुणात्मक सृष्टि है, इस प्रकारकी बुद्धि भी **मृषा** —मिथ्या है। मृद् विकार काँच कभी भी जल नहीं है, और जल भी कभी काँच नहीं है ; तथापि कभी-कभी कोई-कोई काँचको जल और जलको काँच मान लेते हैं ; इस प्रकार जो काँचमें जल-बुद्धि और जलमें काँच-बुद्धि है—वह बुद्धि मिथ्या या भ्रममात्र है, इसमें सन्देह नहीं रह सकता। परमसत्यस्वरूप परमेश्वर हैं पूर्णचिन्मयाकार ; उनका आकार या विग्रह चिदानन्दमय है, मायिक नहीं – मायाके सत्व, रज, तम, गुणसे उद्भूत नहीं (अर्थात् त्रिसर्ग नहीं) है। और त्रिसर्ग—इस जगत् या जगतिस्थ जीवोंका आकार या देह है मायिक सत्व, रज, और तमसे उद्भूत—चिदानन्दमय नहीं है। अतएव काँचको जल मानना जिस प्रकार भ्रान्तिमात्र है, चिदानन्द विग्रह परमेश्वरको (उनके विग्रहको) त्रिसर्ग (त्रिगुणसृष्ट) मानना भी उसी प्रकार भ्रम मात्र है। **यथा अज्ञानां तेजसि वारिदमिति मृदि काचादौ च वारिदमिति बुद्धिः। तथैव यत्र पूर्ण-चिन्मयाकारे त्रिसर्गः त्रिगुणसर्गोऽयमिति बुद्धिः मृषा मिथ्यैव इत्यर्थः।** तात्पर्य यह है कि परमेश्वरका आकार या विग्रह मायिक न होनेके कारण मायिक वस्तुकी तरह अनित्य नहीं है ; यह विग्रह चिदानन्दमय होनेके कारण अनित्य नहीं है, परन्तु नित्य है। परमेश्वरके चिदानन्दमयत्वका, नित्यत्वका प्रमाण यही है।

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥

गोपालतापनी श्रुतिः ॥

अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥

रामतापनी श्रुतिः ॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेशरिविग्रहम् ॥

नृसिंहतापनी ॥

नन्दव्रजजनादन्दी सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥

ब्रह्माण्ड पुराण ॥ इत्यादि

उल्लिखित रूप अर्थमें **तेजोवारिमृदो** इत्यादि वाक्यका अन्वय इस प्रकार होगा—**यथा तेजोवारिमृदां विनिमयः (मृषा, तथा) यत्र त्रिसर्गः (अयम् इति बुद्धिरपि) मृषा ।**

उक्त वाक्यका अन्य प्रकार अन्वय भी हो सकता है ; जैसे— **तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः यत्र, (तथाभूतः) त्रिसर्गः मृषा, (येन तत् त्रिसर्गः सृष्टः तस्य विग्रहः न मृषा)** । अर्थ इस प्रकार होगा—**तेजोवारिमृदां** तेज, वारि और मृत्तिका, इन तीन दृश्यभूत वस्तुका **यथा**—यथावत्, यथायथभावसे **विनिमयः**—परस्पर मिलन हो **यत्र**—जिस स्थलमें, जिस वस्तुमें, वह तादृश **त्रिसर्गः**—त्रिगुण सृष्ट देह ही **मृषा**—मिथ्या या अनित्य है । सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंके विकारस्वरूप तेज, वारि और मृत्तिका—इन तीन उपलक्षणोंसे क्षिति (मृत्तिका), अप् (वारि), तेज, मरुत् (वायु) और व्यौम (आकाश), ये पञ्चभूत यथायथभावसे मिलते हैं जहाँपर (यत्र)—उस देहमें, अर्थात् वह देह मायाके तीन गुणोंके विकार जनित पञ्चभूतसे गठित है, वह त्रिसर्गरूप देह ही अनित्य है। ये त्रिसर्ग या तद्रूप देहकी जिन्होंने सृष्टि की है उनका देह अनित्य नहीं है। **तेजो वारिमृदां त्रयाणां दृश्यभूतानां यथा यथावत् विनिमयः परस्परमिलनं यत्र, तथाभूतस्त्रिसर्गः त्रिगुणसृष्टः देहः मृषा मिथ्यैव । तेन तत्त्रितयः सृष्टः तद्विग्रह न मृषैवोच्यते इत्यर्थः ।** त्रिगुण-सृष्टि देह मायिक होनेके कारण अनित्य है ; परमेश्वरका देह सच्चिदानन्द होनेके कारण नित्य है ।

भगवदाकारके अप्राकृतत्त्व एवं नित्यत्वके सम्बन्धमें और भी प्रमाण हैं। श्रुति कहती है, सृष्टिकाम होकर भगवान् प्रकृतिके प्रति ईक्षण करते हैं, इसके फलस्वरूप प्रकृति क्षुभित होती है। उसके पश्चात् महत्तत्त्वादिका उद्भव होता है, और उसके भी पीछे देह-इन्द्रिय-आदिका

उद्भव होता है। अतएव प्राकृतिक देह-इन्द्रिय-आदिके उद्भवके बहुत पहले ही भगवान् सृष्टिकाम होकर प्रकृतिके प्रति ईक्षण करते हैं। जब भी उन्होंने सृष्टिकी कामना की, उस समय उनका मन था ; और जब उन्होंने ईक्षण किया, तब उनके नेत्र भी थे। प्राकृत सृष्टिके पूर्व ही उनके मन और नेत्र थे—इन दोनों इन्द्रियोंके उपलक्षणसे अन्यान्य इन्द्रियाँ भी थीं—यह बात श्रुतिसे जानी जाती है। अतएव उनके इन्द्रिय एवं देह भी अप्राकृत हैं, यही समझा जाता है। उनके देह और इन्द्रियाँ सच्चिदानन्दमय हैं। **'आनन्दमात्र - मुख - पाद - सरोरुहादिरिति'** ये ध्यानविन्दु उपनिषद् वाक्य भी इसकी साक्ष्य देते हैं। शास्त्रमें उनको जहाँपर निराकार या अनिन्द्रिय कहा गया है, वहाँ उनके आकार और इन्द्रिय प्राकृत नहीं हैं, यह भी बताया है। **'अनिन्द्रिया इत्यादिभिः मायिकाकारत्वनिषेधात्'**। जो हो, इन सब शास्त्र-प्रमाणोंसे जाना गया कि परमेश्वरके आकार अमायिक हैं, इसमें सन्देह नहीं रह सकता। तथापि कोई-कोई वितर्क उत्थापन कर बैठते हैं। इस वितर्कके निरसनार्थ ही कहा गया है कि वे सत्यस्वरूप परतत्त्व हैं—**धाम्ना स्वेन निरस्त-कुहकम्**। **स्वेन धाम्ना**—अपनी स्वरूपशक्ति द्वारा निरस्तकुहकम्—निरस्त हुआ है कुहक या माया जिनके द्वारा, उनका ध्यान करते हैं। उनकी अपनी स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे माया उनके निकटवर्त्तिनी ही नहीं हो सकती ; अतएव उनका आकार या देह मायिक नहीं हो सकते यह निःसन्देह जाना जाता है।

यहाँपर 'धाम' शब्दका अर्थ किया गया है 'स्वरूपशक्ति'। धाम शब्दका अर्थ 'प्रभाव' भी हो सकता है, 'देह' भी हो सकता है (अमरकोष)। 'कुहक' शब्दका अर्थ 'कुहकनिष्ठ व्यक्ति' भी हो सकता है। इन सब अर्थोंमें उक्त वाक्यका तात्पर्य इस प्रकार होगा। **स्वेन धाम्ना**—स्वभक्तनिष्ठ अपने असाधारण स्वानुभव-प्रभावके द्वारा, अथवा प्रतिपदमें समुच्छलित अपने असाधारण माधुर्य-ऐश्वर्यमय श्रीविग्रह द्वारा त्रिकालमें

निरस्तकुहकम्—निरस्त हुए हैं तर्कनिष्ठ व्यक्तिगण (कुहक) जिनके द्वारा, उनका ध्यान करते हैं। भगवत्तत्त्व तर्क-वितर्क द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता, यह केवल अनुभववेद्य है। भक्तगण प्रेम-भक्तिके प्रभावसे अपने चित्तमें जो अनुभव प्राप्त करते हैं, उसी अनुभवके द्वारा ही वे समझ सकते हैं कि—अथवा भगवान्‌के नित्य-नव-नवायमान माधुर्य-ऐश्वर्यमय श्रीविग्रहके दर्शनका सौभाग्य उन्हींकी कृपासे जिनको होता है, वे ही समझ सकते हैं कि—भगवान्‌का देह अप्राकृत, चिन्मय, नित्य है। उनके तत्त्वका अनुभव या उनके दर्शन एकमात्र उनकी कृपासापेक्ष है।

नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः।
तामृते परमात्मानं कः पश्येतामितं प्रभुम्॥

भागवतामृतधृत नारायणाध्यात्मकवचनम्

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्ये न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तस्यैयो लभ्य—इत्यादि श्रुतिवाक्यम्।

श्लोकस्थ 'त्रिसर्गोमृषा' अंशका अर्थ स्वामीपादने एक भावसे एवं चक्रवर्तीपादने दूसरे एक भावसे किया है। 'त्रिसर्गोमृषा' है सन्धिवद्ध वाक्य। सन्धिका विश्लेषन दो प्रकारसे हो सकता है; जैसे—त्रिसर्गः+मृषा=त्रिसर्गोमृषा एवं त्रिसर्गः + अमृषा = त्रिसर्गोमृषा (यहाँपर एक लुप्त-आकार स्वीकार करके 'त्रिसर्गोऽमृषा' करनेसे स्पष्ट भावसे समझा जाता है)। चक्रवर्तीपादने 'त्रिसर्गः + मृषा' एवं स्वामीपादने 'त्रिसर्गोऽमृषा' पाठ ग्रहण किया है—यह स्मरण रखना आवश्यक है।

स्वामीपादके और चक्रवर्तीपादकी व्याख्यामें और एक विशेष पार्थक्य है। तेजोवारिमृदामित्यादि एवं यत्र त्रिसर्गोऽमृषा इत्यादि अंशकी व्याख्या स्वामीपादने जिस भावसे की है, वह मायावादियोंके मतके अनुवर्ती जैसा मनमें लग सकता है; कारण मायावादी ही कहते हैं—ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या, ब्रह्ममें यह जगत् भ्रम मात्र है। किन्तु चक्रवर्तीपादके अर्थमें उस प्रकार माननेका कोई भी अवकाश नहीं है।

स्वामीपादका उपसंहार किन्तु मायावादियोंके अनुकूल नहीं है। मायावादी ब्रह्मको चित्-सत्ता मात्र—निर्विशेष मानते हैं; किन्तु स्वामीपादने श्लोकस्थ 'परम्' शब्दका अर्थ लिखा है—परमेश्वरम्; इसीके द्वारा ही उन्होंने सविशेषत्व स्वीकार किया है। इसीसे इस श्लोककी टीकाके उपक्रममें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है—**जन्माद्यस्य इत्यत्र श्रीश्रीधर-स्वामिचरणानामयमभिप्रायः परं परमेश्वरमिति न पुनरभेदवादिना-मिव चिन्मात्रं ब्रह्म इत्यर्थः।** सविशेषत्व ही स्वामीपादको अभिप्रेत है।

श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोकके और भी कई प्रकारके अर्थ किये हैं; श्रीपाद जीवगोस्वामीने भी कई प्रकारके अर्थ किये हैं। ग्रन्थ-विस्तार-भयसे उन सबका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

इस श्लोकमें जिन सत्यस्वरूप-परतत्त्व-वस्तुके ध्यानकी बात कही गयी है, वे कौन हैं, इसका श्लोकमें स्पष्ट उल्लेख नहीं है। श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है—इस श्लोकोक्त 'सत्यम्' शब्दके उपलक्षणमें श्रुति प्रोक्त **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** को ही लक्ष्य किया गया है। **'बृंहति बृंहयति च इति ब्रह्म'** इस श्रुतिवाक्यानुसार एवं **बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्म परमं विदुः'** इस विष्णुपुराण-वाक्यानुसार ब्रह्मकी शक्तिकी बात जानी जाती है। **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** इस श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मकी शक्तिका स्पष्ट उल्लेख दीखता है। श्लोकके **जन्माद्यस्य यतः', 'अभिज्ञः', 'स्वराट', 'तेने ब्रह्म हृदा', 'धाम्ना स्वेन निरस्तकुहकम्'**—इत्यादि उक्ति भी इस परतत्त्व वस्तुकी शक्तिकी बात ही प्रकाश करती है। अतएव श्लोकोक्त सत्यस्वरूप-परतत्त्व-वस्तु परमेश्वर ही हैं। इन परमेश्वरके ध्यानकी बात ही श्लोकमें कही गयी है। गोपालतापनी श्रुतिमें **'कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्'**—इत्यादि वाक्योंमें परम देवता श्रीकृष्णके ध्यानकी बात कही गयी है।

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्ण सत्यमत्र प्रतिष्ठितः।
सत्यात् सत्यश्च गोविन्दस्तस्मात् सत्योहि नामतः॥

महाभारत उद्योग पर्वमें श्रीकृष्ण-नामकी उपर्युक्त निरुक्तिसे जाना जाता है कि श्रीकृष्ण, श्रीगोविन्द ही सत्य हैं ; 'सत्य' उन्हींका एक नाम है। इसीसे जाना गया कि श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें सत्य-नामा श्रीगोविन्दके ध्यानकी बात कही गयी है। श्लोकके शब्द समुदाय साक्षात् भावसे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको ही बताते हैं, श्रीजीव गोस्वामी एवं चक्रवर्तीपाद दोनोंने ही अर्थ करके वही बात दर्शायी हैं। विस्तार भयसे यहाँ सबको उद्धृत नहीं किया गया है।

रामानन्दके निकट प्रभुका स्वरूप-प्रकाश

रामानन्द रायके मुखसे सम्पूर्ण तत्त्व प्रकाश कराकर प्रभुने अब उनके निकट अपने स्वरूप-तत्त्व प्रकाश करनेकी इच्छा करके एक ऐश्वर्य प्रकाश किया। रामानन्दने अचानक देखा कि प्रभुका संन्यासी रूप अब नहीं है, वहाँपर श्यामसुन्दर वंशीवदन-रूप दण्डायमान है ; और उसके सम्मुख काञ्चन प्रतिमा सदृश एक रमणी भी दण्डायमान है ; रमणीकी गौरकान्तिसे श्यामसुन्दरके समस्त अङ्ग मानो आच्छादित हो गये हैं।

एक संशय मोर आछये हृदये।
कृपा करि कह मोरे ताहार निश्चये ॥२२०॥

संशय—सन्देह। जो पहले कभी भी देखा न गया हो, ऐसा कुछ देखनेपर साधारणतः विस्मय उत्पन्न होता है, सन्देह नहीं। जिसको पहले कुछ-कुछ देखा गया हो, वह या उसके अनुरूप कुछ देखते ही संशय उत्पन्न होता है। पहले कुछ-कुछ जो देखा था, इस समय दिखायी देनेवाली वस्तु क्या वही है? इस प्रकारका संशय मनमें जाग्रत होता है। साध्य-साधन तत्त्वकी आलोचनाके समय प्रेमवश रामानन्द बीच-बीचमें प्रभुका स्वरूप देखते, किन्तु प्रकाशकी तरह। क्योंकि रामानन्द तब भी उनको पहचान न पाये—ऐसी प्रभुकी बलवती इच्छा थी (इसी परिच्छेदके

पयार संख्या १०२-१०३)। अब संन्यासी देहके बदले सामने दण्डायमाना काञ्चन-पञ्चालिकाकी गौरकान्तिसे सब अङ्ग ढके श्यामसुन्दर वंशीवदनको देखकर रामानन्दके मनमें हुआ कि इस प्रकारका एक रूप प्रकाशकी तरह पहले भी देखा था। यह क्या वही रूप है ? यही रामानन्दका संशय है। इसीसे उन्होंने प्रश्न किया।

पहिले देखिलुँ तोमा सन्न्यासि-स्वरूप।
एबे तोमा देखि मुञि श्याम-गोप रूप ॥२२१॥

पहिले—प्रथम। प्रथम गोदावरी तीरपर जब तुम्हारे दर्शन हुए, तब देखा था कि तुम एक संन्यासी हो। इसके बाद भी कई दिन तुम्हारे साथ साध्य-साधन तत्त्वकी आलोचना होती रही, उन दिनों भी तुम्हारा संन्यासीरूप ही देखा है। आज आकर जब तुम्हरा दर्शन किया, तब भी तुम्हारा संन्यासी वेश ही **देखिलुँ**—देखा। **एबे**—अब **तोमा**—तुमको **श्यामगोप-रूप**—श्यामवर्ण और गोपवेशधारी रूपमें **मुञि**—मैं **देखि**—देख रहा हूँ।

तोमार सम्मुखे देखों काञ्चन-पञ्चालिका।
तार गौरकान्त्ये तोमार सर्ब्व - अङ्ग ढाका ॥२२२॥

तुम्हारे सम्मुख **काञ्चन**—स्वर्ण **पञ्चालिका**—प्रतिमा देख रहा हूँ। **तार गौरकान्त्ये**—उस स्वर्णवर्ण प्रतिमाकी उज्ज्वल गौरकान्ति द्वारा तुम्हारे अङ्ग आच्छादित हो रहे हैं। उन काञ्चन प्रतिमा सदृशा रमणीके देहसे प्रसारित गौरवर्ण-ज्योतिराशि द्वारा तुम्हारा श्याम अंग सम्यक् रूपसे आच्छादित हो रहा है।

ताहाते प्रकट देखि सवंशीवदन।
नाना भावे चञ्चल ताहे कमल नयन ॥२२३॥

सवंशीवदन—तुम्हारे मुखपर वंशी भी देख रहा हूँ। नाना प्रकारके

भावकी तरंगसे तुम्हारे कमल सदृश दोनों नयन भी बड़े ही चञ्चल देख रहा हूँ।

एइमत तोमा देखि हय चमत्कार।
अकपटे कह प्रभु! कारण इहार ॥२२४॥

यह सब देखकर मुझे बडा आश्चर्य हो रहा है। कृपा करके इसका कारण बताकर मेरा संशय दूर करो।

प्रभु कहे कृष्णे तोमार गाढ़ प्रेम हय।
प्रेमार स्वभाव एइ जानिह निश्चय ॥२२५॥
महाभागवत देखे स्थावर - जङ्गम।
ताहाँ ताहाँ हय ताँर श्रीकृष्ण-स्फुरण ॥२२६॥
स्थावर जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्त्ति।
सर्व्वत्र हय निज - इष्टदेव स्फुर्त्ति ॥२२६॥

आत्मगोपन करनेके उद्देश्यसे प्रभुने कहा—"रामानन्द! आरम्भमें मुझको तुमने जो संन्यासी देखा था, अब भी मैं वही संन्यासी हूँ। काञ्चन प्रतिमाकी गौरकान्तिसे आच्छादित वंशीवदन जो श्यामगोपरूप देख रहे हो, वह मेरा दूसरा रूप नहीं है, वह तुम्हारे इष्टदेवकी स्फूर्ति मात्र है। जो लोग महाभागवत हैं, उनको सर्वत्र ही अपने इष्टदेवकी स्फूर्ति होती है। स्थावर-जङ्गमादि किसी भी वस्तुपर उनकी दृष्टि पड़नेपर, उनको इन सब स्थावर-जङ्गमका रूप आदि नहीं दीखता, वे सर्वत्र ही केवल अपने इष्टदेवकी मूर्ति देखते हैं। तुम परम भागवत हो। मेरे प्रति दृष्टि करके भी तुम अपने इष्टदेवको देखते हो, मेरा रूप नहीं देख पाते।"

तार मूर्ति—स्थावर-जङ्गमकी मूर्ति। स्थावर जंगमके प्रति दृष्टिपात होनेपर स्थावर-जंगमकी मूर्ति नहीं दीखती, अन्तर्हृदयमें स्फूर्तिप्राप्त ध्येय

इष्ट मूर्ति ही दीखती है। भक्त अपने इष्टदेवको भीतर भी देखते हैं और बाहर भी देखते हैं। इसके पयारोक्तिके प्रमाणमें नीचे दो श्लोक उद्धृत हुए हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते ११.२ ४५

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥५२॥

अन्वय—**यः** (जो) **सर्वभूतेषु** (सम्पूर्ण प्राणियोंमें) **आत्मनः** (अपने उपास्य) **भगवद्भावं** (भगवान्‌की विद्यमानता) **पश्येत्** (देखते हैं—अनुभव करते हैं), **आत्मनि** (आत्मीय-स्वरूप—अपने उपास्य) **भगवति** (भगवान्‌में) **भूतानि** (सब प्राणियोंको) [**पश्येत्**] (देखते हैं) **एषः** (वे ही) **भागवतोत्तमः** (भागवतोत्तम हैं)।

अथवा —**यः सर्वभूतेषु आत्मनः भगवद्भावं पश्येत् आत्मनि** (अपने मनमें स्फुरित होते हैं जो भगवान्) **भगवति** (उन भगवान्‌में— उस भगवद् विषयमें प्रेमयुक्तरूपमें) **भूतानि** (सब प्राणियोंको) **पश्येत्** इत्यादि।

अनुवाद—हविने कहा—"हे राजन्! जो सर्वभूतोंमें अपने उपास्य-भगवान्‌की विद्यमानता दर्शन करते हैं एवं जो अपने उपास्य भगवान्‌में भी सब प्राणियोंको देखते हैं, [अथवा अपने चित्तमें जो भगवान् स्फुरित होते हैं, जो सब भूतोंको उन भगवान्‌में प्रेमयुक्त—अपने प्रेमके अनुरूप प्रेमयुक्त-रूपमें दर्शन करते हैं], वे ही भागवतोत्तम हैं।"

निमि महाराजके प्रश्नके उत्तरमें हवि योगीन्द्र महाभागवतोंके मानसिक भाव कैसे होते हैं, यह बतला रहे हैं। जो भागवतोत्तम हैं, वे सभी प्राणियोंमें **आत्मनः** अपने **भगवद्भावं**—भगवान्‌के भाव (अस्तित्व या विद्यमानता) दर्शन करते हैं (भू-धातुसे 'भाव' शब्द निष्पन्न है; अस्तित्वार्थे भू - धातु ; अतएव भावका अर्थ अस्तित्व, विद्यमानता); अथवा **भावः**—आविर्भाव। **आत्मनं भगवद्भावः**—अपने अभीष्ट

(उपास्य) जो भगवदाविर्भाव हैं (या भगवत्-स्वरूप हैं), उनके ही दर्शन करते हैं (श्रीजीव)। अन्तर्यामी-परमात्मरूपसे सब भूतोंमें भगवान्‌की विद्यमानता अनुभव करना, अथवा सर्वव्यापी ब्रह्मरूपसे सर्वत्र उनका अस्तित्व अनुभव करना —उक्त वाक्यका अभिप्राय नहीं है ; क्योंकि इस प्रकारका अनुभव योगी या ज्ञानीके लक्षण हो सकते हैं ; परम भागवतके लक्षण नहीं। परम भागवत जो हैं, वे और भी देखते हैं—**आत्मनि**— अपने परम आत्मीय, अपने अभीष्ट उपास्यरूपमें परम प्रिय जो भगवान् हैं, उन **भगवति** —भगवान्‌में अपने भावानुरूप अभीष्ट भगवत्-स्वरूपमें **भूतानि** —सब प्राणियोंको वे देखते हैं, अर्थात् अपने अभीष्टदेवमें जैसा उनका प्रेम है, वे मानते हैं कि सभी प्राणी उनको (उनके अभीष्ट देवको) उसी प्रकार प्रेम करते हैं।

श्लोकमें 'पश्यति' न कहकर 'पश्येत्' कहनेका तात्पर्य यह है कि जो भागवोत्तम हैं, श्लोकोक्तरूप दर्शनकी योग्यता उनको है ; सर्वदा ही वे सब भूतोंमें अपने अभीष्टदेवको देखते हैं, अथवा उनके अभीष्टदेवको सभी उन्हींकी तरह प्रीति करते हैं ऐसा मानते हों, ऐसी बात नहीं ; उस प्रकार दर्शन करनेकी या अनुभव करनेकी योग्यता मात्र उनको है। जब उनको भगवद्दर्शनके लिए व्याकुलता अत्यधिक रूपसे बढ़ती है, तब ही उनके **'जाहाँ जाहाँ नेत्र पड़े, ताहाँ कृष्ण स्फुरे'**, तब ही सबको अपनी ही तरह मानकर सबमें भगवद्दर्शनकी परम व्याकुलता अनुभव करते हैं। सब समय ऐसी अवस्था नारद-व्यास-शुकादिकी भी नहीं रहती (चक्रवर्ती)।

२२६-२२७ पयारोक्तिके प्रमाणमें इस श्लोकका प्रथमार्द्ध है। इस श्लोकके द्वितीयार्द्धके प्रमाणमें निम्नोद्धृत श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते १०.३५.९

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।

प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥५३॥

अन्वय—पुष्पफलाढ्याः (पुष्प-फलसे परिपूर्ण) **प्रणतभारविटपाः** (भारके कारण प्रणत शाखा) **प्रेमहृष्टतनवः** (प्रेम - पुलकित देह) **वनलताः** (बन लताएँ) **तरवः** (एवं तरुगण) **आत्मनि** (अपने बीच) **विष्णुः** (भगवान् विष्णुको) **व्यञ्जयन्तः** (सूचना करके ही) **इव** (मानो) **मधुधाराः** (मधुधारा) **ववृषुः** (वर्षण किये थे), **स्म** (कैसा आश्चर्य) !

अनुवाद—फल-पुष्पसे परिपूर्ण, अतएव नम्र शाख एवं पुलकित-देह वनलताएँ अपनेमें विष्णुको विराजमान किये हैं, मानो यह बात प्रकट करके ही आनन्दसे मधुधारा वर्षण करती हैं एवं उन लताओंके पति तरुगण भी लताओंके समान आनन्द प्रकट करते हैं।

यह श्लोक व्रज सुन्दरियोंकी उक्ति है। वे श्रीकृष्णमें अत्यन्त प्रेमवती हैं। इसीसे वे मानती हैं कि वनमें तरु-लतादि भी श्रीकृष्णके प्रति उन्हींकी तरह प्रेम पोषण करते हैं। श्रीकृष्णको हृदयमें अनुभव करके जैसे आनन्दसे वे स्वयं अश्रुमोचन करती हैं, उनकी मान्यता है कि तरु-लतादि भी श्रीकृष्णका हृदयमें अनुभव करते हैं एवं उस अनुभवके फल-स्वरूप तरुलतादि भी अश्रुमोचन करते हैं; तरुलतासे जो मधुधारा क्षरित होती है, गोपसुन्दरियाँ मानती हैं कि ये मधुधारा नहीं है, यह तरु-लतादिकी अश्रुधारा है। श्रीकृष्ण-स्मरणसे उनके देहमें रोमाञ्च होता है; वे मानती हैं कि तरुलतादिमें जो पत्रांकुर या पुष्पांकुर देखनेमें आते हैं, वे पत्रांकुर या पुष्पांकुर नहीं हैं, वे वस्तुतः तरुलतादिके प्रेमजनित रोमाञ्च हैं, श्रीकृष्णको हृदयमें धारण करके तरुलतागण प्रेमहृष्टतनु— प्रेम पुलकित देह—हो गये हैं। इस अङ्कुररूप रोमाञ्चको देखकर वे मानती हैं कि ये तरुलतागण भी तो श्रीकृष्णसे प्रीति करते हैं, वे भी तो श्रीकृष्ण-

को हृदयमें धारण करते हैं, नहीं तो उनके देहमें इस प्रकार रोमाञ्च कैसे होता और उनसे अश्रुधारा क्यों झरती ?

आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्तः इव—तरु-लतागणके अपने बीच जो विष्णु स्फुरित हुए हैं, वे मानो उसीको प्रकट कर रहे हैं। उनके प्रेम हर्ष, उनके अश्रु इत्यादिके द्वारा ही समझा जाता है कि उनके चित्तमें विष्णु स्फुरित हुए हैं। विष्णु शब्दसे सर्वव्यापकता सूचित होती है ; यहाँपर परम प्रेमवती गोपसुन्दरियोंकी आँखोंमें सर्वत्र ही श्रीकृष्ण स्फुरित होनेके कारण श्रीकृष्णकी व्यापकताकी सूचनाके उद्देश्यसे श्रीशुकदेव गोस्वामीने विष्णु-शब्दसे श्रीकृष्णको अभिहित किया है। तत्त्वतः वृन्दावनके तरु-लतादि चिन्मय वस्तु हैं। अतएव उनमें भी प्रेम उच्छलित हो सकता है।

शुद्ध माधुर्यवती व्रजसुन्दरियोंके चित्तमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका ज्ञान स्फुरित नहीं होता। जिनके चित्तमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका ज्ञान स्फुरित होता है, फल-पुष्पके भारसे अवनत तरु-लताको देखकर वे मानते हैं कि शाखारूप हस्त द्वारा ये तरु-लतागण फल-पुष्पादि पूजाके उपकरण धारण करके श्रीकृष्णचरणोंमें अर्पण करनेके लिए नत हुए हैं ; तरुगणको लतादि-का पति मानकर यह भी कहते हैं कि गृहस्थ भक्तगण जिस प्रकार सपत्नीक सेवा-सम्भार संग्रह करते हैं, लता एवं तरुगण भी उसी प्रकार (सपत्नीक) फल-पुष्पादि पूजोपकरण हाथमें लेकर श्रीकृष्ण-सेवाके लिए प्रस्तुत हुए हैं—मस्तक नत करके वे श्रीकृष्णको प्रणाम कर रहे हैं।

इस प्रकार भागवतोत्तमगण मनमें विचार करते हैं कि वे स्वयं श्रीकृष्णके प्रति जो भाव पोषण करते हैं, दूसरे सब भी यहाँतक कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लतादि पर्यन्त वही भाव पोषण करते हैं।

राधाकृष्णे तोमार महाप्रेम हय।
जाँहा ताँहा राधाकृष्ण तोमारे स्फुरय ॥२२८॥

महाप्रभु कहते हैं—"मैं जो संन्यासी हूँ, वही संन्यासी हूँ। तुम जो श्यामगोपरूप और उसके सामने काञ्चन पञ्चालिका देखते हो, उसमें मेरे सम्बन्धमें कोई भी सन्देह मत करना; वह तुम्हारे इष्टदेवकी स्फूर्ति मात्र है। तुम महाभागवत और महाप्रेमिक हो; प्रेमके स्वभाववश ही तुम्हारे नयनोंके सामने श्रीराधाकृष्णकी स्फूर्ति हुई है।"

गोपवेश-वेणुकर-श्रीकृष्णके सामने जिस काञ्चन-पञ्चालिकाके दर्शन किये, वे श्रीराधा हैं; इस पयारमें प्रभुके मुखसे यह बात व्यक्त हुई।

राय कहे—तुमि प्रभु! छाड़ भारिभुरि।
मोर आगे निज-रूप ना करिह चुरि ॥२२९॥

रामानन्द राय कहते हैं—"हे प्रभु! तुम **भारिभुरि**—चतुराई, कपटता छोड़ दो, मेरे सम्मुख **निजरूप**—अपना स्वरूप, अपना तत्त्व **ना करिह चुरि**—छिपाओ नहीं।

राधिकार भावकान्ति करि अङ्गीकार।
निज रस आस्वादिते करियाछ अवतार ॥२३०॥
निज गूढ़ कार्य्य तोमार प्रेम-आस्वादन।
आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन ॥२३१॥

प्रभुकी कृपासे रामानन्द रायका सन्देह दूरीभूत हो गया है, उनके चित्तमें महाप्रभुका तत्त्व स्फुरित हुआ है; एवं प्रभु किसलिए अवतीर्ण हुए हैं, प्रभुकी कृपासे यह भी उनके चित्तमें स्फुरित हुआ है। अब रामानन्द राय यह सब खोलकर इन दो पयारोंमें कह रहे हैं।

निजरस—निज विषयक (श्रीकृष्ण विषयक) रस; श्रीकृष्णके माधुर्यादि। **निजगूढ़कार्य्य**—अवतारके निज-सम्बन्धी गोपनीय कारण; अवतारके मुख्य एवं अन्तरंग कारण। **प्रेम आस्वादन**—आश्रयरूपसे प्रेमरसका आस्वादन; आश्रयजातीय रसका आस्वादन। **आनुषङ्गे**—

आनुसंगिक भावसे ; आश्रय जातीय रसास्वादनके साथ-साथ। **प्रेममय-कैले** - निर्विचारसे प्रेम वितरण करके सबको श्रीकृष्ण प्रेममय बना दिया।

रामानन्द रायने जो कहा उसका तात्पर्य इस प्रकार है। प्रभु मैंने पहचान लिया है कि तुम कौन हो। तुम स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन हो ; व्रजमें तुम अपने माधुर्यका आस्वादन नहीं कर सके ; क्योंकि उसके आस्वादनका एकमात्र उपाय जो मादनाख्य महाभाव है, वह तुम्हारे बीच अभिव्यक्त नहीं था, श्रीराधामें था। तुम अपना माधुर्य सम्यक् रूपसे आस्वादन करनेके लिए श्रीराधाका वह मादनाख्य - महाभाव अंगीकार करके एवं श्रीराधाकी गौरकान्ति द्वारा अपनी श्याम - कान्तिको प्रच्छन्न करके अवतीर्ण हुए हो। आनुसंगिक भावसे जगत्में प्रेमभक्तिका वितरण कर रहे हो।

काञ्चन - पञ्चालिकाकी गौरकान्ति श्यामगोपरूपको सर्वांग आच्छादित देखकर ही रामानन्द समझ गये थे कि श्रीराधाकी कान्ति द्वारा अपनी श्यामकान्तिको प्रच्छन्न करके स्वयं श्रीकृष्ण ही अवतीर्ण हुए हैं और वे ही कृपा करके उनके सन्मुख आये हैं। रामानन्द राय हैं व्रजकी विशाखा सखी ; व्रजलीलामें अपने माधुर्य आस्वादनके निमित्त श्रीकृष्णकी उत्कण्ठामयी लालसा उनसे छिपी नहीं थी। राय · रामानन्द - रूपमें उन्होंने कहा —"अपने माधुर्य आस्वादनकी अपूर्ण वासनाको पूर्ण करनेके लिए ही प्रभु तुम श्रीराधाका भाव ग्रहण करके अवतीर्ण हुए हो।"

आपने आइले मोरे करिते उद्धार।
एबे कपट कर, तोमार कोन् व्यवहार ॥२३२॥

कपट कर—आत्मगोपन करके कपटता करते हो। उद्देश्य और कार्य, इन दोनोंका मेल न रहनेपर ही कपटता प्रकट होती है। राम रायने कहा—"प्रभु! तुम्हारा यहाँ आनेका उद्देश्य है मेरा उद्धार करना ; अर्थात् मेरे प्रति कृपा प्रकट करना ; किन्तु तुम सम्यक् कृपाका

तो प्रकाश कर नहीं रहे हो ? तुम अपना स्वरूप-तत्त्व मुझसे छिपा रहे हो ?

तबे हासि तारे प्रभु देखाइला स्वरूप—।
रसराज महाभाव दुइ एकरूप ॥२३३॥
देखि रामानन्द हैला आनन्दे मूर्च्छिते।
धरिते ना पारे देह—पड़िला भूमिते ॥२३४॥

तबे हासि—रामानन्द रायकी बात सुनकर प्रभु कुछ हँसे। हँसकर प्रभुने रायको अपना **स्वरूप**—गौरअवतारमें जो उनका स्वरूपगत निजस्व रूप है, वही दिखाया। वह स्वरूप कैसा है? **रसराज महाभाव दुई एकरूप**—रसराज (अर्थात् अप्राकृत-श्रृङ्गार-रसराज-मूर्ति श्रीकृष्ण—अखिल-रसामृत-वारिधि श्रीकृष्ण) एवं महाभाव (अर्थात् मादनाख्य-महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा)—इन दोनोंका सम्मिलित एक अपूर्व रूप। सर्वरस-शिरोमणि श्रृङ्गार रस एवं कृष्ण विषयक प्रेमका चरमतम विकाश मादनाख्य-महाभाव—इन दोनोंके सम्मिलनसे एक अपूर्व रूप। यह अपूर्व रूप देखकर राय रामानन्द **आनन्दे मूर्च्छित**—आनन्दके आतिशय्यसे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। इस आनन्दकी उन्मादकता इतनी अधिक है कि राय रामानन्द **धरितै ना पारे देह**—आनन्दके आवेगसे देहको अपने स्थानपर धारण करके रखनेमें, स्थिर रखनेमें समर्थ नहीं रहे और वे **पड़िला भूमिते**—वाताहत कदली वृक्षकी तरह भूमिपर गिर पड़े।

प्रभुने रामानन्दके निकट आत्मगोपन करना चाहा था; किन्तु उनकी वह चेष्टा व्यर्थ हुई। प्रेमरसको उच्छ्वसित करनेके लिए ही रसिक-शेखर भगवान् प्रेमिक भक्तके निकट आत्मगोपन करना चाहते हैं; यह मानो उनका आँख-मिचौनीका खेल है। किन्तु उनके आत्मगोपन करना चाहने पर भी प्रेमिक भक्त अपने प्रेमबलसे उनको पहचान लेते हैं। प्रेमिक भक्त रामानन्द उनको पहचान गये। भगवान् चतुर-चूड़ामणि हैं; किन्तु

लगता है कि प्रेमिक भक्त उन चतुर-चूड़ामणिकी अपेक्षा भी अधिक चतुर हैं। प्रेमिक भक्तके सामने उनकी कोई भी चतुराई-चालाकी टिक नहीं सकती ; सब भारिभुरि—चतुराई चूरमूर हो जाती है। इस प्रकारके भक्तसे भगवान् हार जाते हैं। भक्तको हराकर उनको विशेष आनन्द नहीं होता, प्रेमिक भक्तसे हारनेमें ही उनको अधिक आनन्द होता है, उसीसे मानो रसका फव्वारा उत्सारित हो उठता है। रामानन्दसे हारकर प्रभुको जो आनन्द मिला, हँसी द्वारा उसीको उन्होंने प्रकट किया। प्रभुकी यह हँसी रामानन्दके निकट पराजय-जनित आनन्दातिरेककी परिचायक है। प्रभुकी इस हँसीकी व्यञ्जना इस प्रकार लगती है—"रामानन्द, तुम जो कह रहे हो, वही प्रायः ठीक है।"

प्रभुकी हँसीमें एक और व्यञ्जना लगती है। वह यह है। "रामानन्द, मेरा स्वरूप तुमने प्रायः ठीक ही पहचान लिया है ; लेकिन एक त्रुटि है ; मैं व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हूँ, यह बात ठीक ही है ; अपने माधुर्य आस्वादनके लिए ही मैं अवतीर्ण हुआ हूँ एवं आनुसंगिक भावसे जगत्में प्रेम-वितरण भी मेरे इस अवतारका उद्देश्य है, यह भी ठीक है। और अपने माधुर्य-आस्वादनके लिए मैंने जो श्रीराधाके मादनाख्य महाभावको अंगीकार किया है, यह भी ठीक है। लेकिन तुमने जो कहा कि मैंने श्रीराधाकी गौरकान्ति द्वारा अपनी श्यामकान्तिको आच्छादित किया है, यह बात पूर्णरूपसे ठीक नहीं है। मैं श्रीराधाकी केवल कान्ति द्वारा आच्छादित नहीं हूँ। यहींपर तुम्हारी कुछ त्रुटि है। अच्छा, मेरा स्वरूप कैसा है, यह तुमको दिखाता हूँ, वह तुम देखो।" ऐसा लगता है कि प्रभुने अपनी हँसी द्वारा रामानन्दकी यह सामान्य त्रुटि ही व्यञ्जित की।

उनकी कृपा बिना कोई भी उनके स्वरूपकी उपलब्धि प्राप्त नहीं कर सकता। **'यमेवैष वृणुते तस्यैयोलभ्यः।"** जिस प्रकारकी कृपा उद्बुद्ध होनेपर उनके स्वरूपकी उपलब्धि सम्भव है, प्रभुके चित्तमें उसी प्रकारकी कृपा उद्बुद्ध हुई है, हँसीके द्वारा यह भी व्यञ्जित हुआ है।

इसीलिए रामानन्दको कृतार्थ करनेके लिए प्रभुने उनका अपना स्वरूप दिखाया। वह स्वरूप कैसा है? **'रसराज महाभाव दुइये एकरूप'** शृङ्गार-रसराजमूर्तिधर श्रीकृष्ण एवं प्रेमघन-विग्रहा मादनाख्य-महाभाव-स्वरूपिणी श्रीराधा – इन दोनोंका मिलित एक अपूर्व रूप।

किन्तु यह जो रसराज-महाभाव रूप—जिसको देखकर रामानन्द राय मूर्च्छित होकर गिर पड़े, वह किस प्रकारका है? पूर्ववर्ती २२१-२२३ पयारोंसे जाना जाता है कि रामानन्दने पहले तो प्रभुका संन्यासीरूप देखा, उसको देखकर वे मूर्च्छित नहीं हुए। इसके बाद उन्होंने प्रभुका श्यामगोप रूपमें दर्शन किया, इससे भी वे मूर्च्छित नहीं हुए। इसके बाद उसी वंशीवदन श्यामगोप रूपके सामने काञ्चन-पञ्चालिका जैसी गौराङ्गी श्रीराधाको देखा, उनकी हेम-गौरकान्तिसे श्यामगोपरूपकी श्यामकान्तिको आच्छादित होते भी देखा, तब भी वे मूर्च्छित नहीं हुए। इसके बाद **'हासि प्रभु तारे देखान स्वरूप। रसराज महाभाव दुइ एक रूप॥'** देखकर आनन्दके आतिशय्यसे रामानन्द मूर्च्छित होकर गिर पड़े। वंशीवदन श्यामगोपरूप देखकर भी रामानन्दको अवश्य ही खूब आनन्द हुआ था; कारण श्यामसुन्दर रूप भी आनन्दमय रूप है। श्रीराधाकी गौरकान्तिसे आच्छादित श्यामगोप रूप देखकर उनको सम्भवतः अधिकतर आनन्द ही हुआ था; क्योंकि इस रूपमें आनन्दमय श्यामसुन्दर-रूप आनन्ददायिनी शक्तिकी मूर्त्तविग्रह श्रीराधाकी आनन्द-ज्योति द्वारा उद्भासित था; किन्तु इन दोनों रूपोंके दर्शनसे रामानन्दके देहमें आनन्दकी तरङ्ग प्रवाहित होते रहनेपर भी वह इतनी प्रबल नहीं हुई, जिसके द्वारा वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ें। किन्तु रसराज-महाभाव रूपको देखकर उनको इतना अधिक आनन्द हुआ, उनके देहमें इन आनन्द तरङ्गोंका आलोड़न इतना अधिक हुआ कि वे और स्थिर नहीं रह सके, वे अपने देहको अपने स्थानपर धारण करके रखनेमें असमर्थ हो गये, उनके समस्त अङ्गप्रत्यङ्ग, देहकी सब शिरा-उपशिरा, देहके प्रति रन्ध्र, प्रति अणु-

परमाणु—उस आनन्द-तरङ्गके घात-प्रतिघातसे इस प्रकारसे विह्वल हो गये—उनके देह-मन-इन्द्रियाँ, उनकी समस्त चित्तवृत्ति—उस आनन्दरसमें प्रतिनिषिक्त हुईं कि वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। प्रभुने कृपा करके उनको जो रूप दिखाया, वही प्रभुका स्वरूप है, वह एक अपूर्व वस्तु है। रामानन्दने उसको फिर कभी नहीं देखा—लगता है कि कभी ध्यानमें भी उसकी चिन्ता नहीं की। जो दिखाया वह संन्यासीका रूप नहीं था—भावतरङ्ग द्वारा चञ्चल-नयन मुरलीवदन श्यामसुन्दर रूप भी नहीं—साक्षात्में किंचित् दूर अवस्थित हेमगौराङ्गी श्रीराधाकी गौरकान्तिसे आच्छादित श्यामगोपरूप भी नहीं। यह उसकी उपेक्षा एक अति अपूर्व, अति आश्चर्यजनक रूप है। यह रसराज और महाभाव—इन दोनोंके अपूर्व मिलनसे - श्रृङ्गार - रसराज - मूर्तिधर श्रीकृष्ण और महाभावमयी श्रीराधा—इन दोनोंके मिलनसे—एक अति अनिर्वचनीय रूप है। इस रूपमें श्रीकृष्णका नवजलधर श्यामरूप, श्रीराधाके अङ्गोंकी केवल कान्तिमात्रके द्वारा प्रच्छन्न नहीं है—श्रीराधाके गौरअङ्गों द्वारा ही आच्छादित है—नवगोरचनागौरी वृषभानु-नन्दिनीके प्रति-अङ्गने मानो प्रेमसे गलकर, नन्दनन्दनके प्रत्येक श्याम अङ्गको भीतरसे बाहरसे सर्वत्र विजडित कर रखा है। अतः महाभावमयीके देहरूप गौर आवरणके भीतरसे रसराजका श्याम तनु भी मानो लक्षित हो रहा है। स्निग्ध-कान्ति नवजलधर मानो शारद-ज्योत्स्नासे छनी हुई सौदामिनी द्वारा सर्वतोभावसे ढके हुए हैं, और इस सौदामिनीके भीतरसे मानो नवजलधर-की स्निग्ध श्यामकान्तिकी छटा भी अनुभूत हो रही है—रसराज और महाभावके अस्तित्व और मिलन, एकके द्वारा दूसरेका आच्छादन—मानो युगपत ही उपलब्ध हो रहे हैं। यह अपूर्व और अनिर्वचनीय रूप श्रीकृष्णके मदनमोहन रूपकी—युगलित श्रीराधाकृष्ण-परमस्वरूपकी चरम परिणति है। महाभाव द्वारा निविड़ रूपसे समालिङ्गित श्रृङ्गार-रसराजका यह अनिर्वचनीय रूप एकमात्र अनुभवका विषय है—एकमात्र रसिकजन-वेद्य है।

रामानन्द राय हैं व्रजकी विशाखा सखी ; मदनमोहन रूपका माधुर्य उनसे अपरिचित नहीं है ; उस माधुर्य - आस्वादन - जनित आनन्दकी उन्मादना भी उनको अपरिचित नहीं है ; उस उन्मादनाको सम्वरण करनेकी शक्ति भी उनमें है। इसीसे श्रीराधाकी गौरकान्ति द्वारा आच्छादित गोपवेश - वेणुकर - नवकिशोर - नटवर - रूप दर्शन करके भी वे मूर्च्छित नहीं हुए। किन्तु यह **'रसराज महाभाव दोनोंका एक रूप'** देखकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। इसीसे समझा जा सकता है कि इस रूपके माधुर्यके अनुभव-जनित आनन्दकी उन्मादकता इतनी अधिक है कि रामानन्द रूपी विशाखाको भी उसके सम्वरण करनेकी सामर्थ्य नहीं है। अतएव इस रूपका माधुर्य मदन-मोहन-रूपके माधुर्यकी अपेक्षा भी अत्यधिक है, यही प्रमाणित होता है। इसका हेतु भी है। श्रीकृष्णका माधुर्य स्वभावतः ही आत्म-पर्यन्त सर्वचित्त-हर है, श्रीकृष्णको स्वयंको भी विस्मयोत्पादक है। किन्तु यह माधुर्य सर्वातिशायी रूपसे विकसित होता है एकमात्र श्रीराधाके सान्निध्यके प्रभावसे ; उस समय उस माधुर्यके दर्शनसे मदन पर्यन्त मोहित हो जाते हैं।

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

गोविन्दलीलामृत ८.३२

श्रीराधाका सान्निध्य जितना घनिष्ट होगा, इस माधुर्यका विकाश भी उतना ही अधिक होगा। किन्तु व्रजमें श्रीराधा और श्रीकृष्णका सान्निध्य कितना भी घनिष्ट क्यों न हो, उनके देहका पृथक् अस्तित्व विलुप्त नहीं होता। यह **'रसराज महाभाव दुइये एक रूपे'** दोनोंका सान्निध्य इतना घनिष्ट है कि वे दोनों मिलकर एक हो गये हैं - श्रीपाद स्वरूप-दामोदरके कथनानुसार - **तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तम्**। यहाँपर दोनोंका सान्निध्य घनिष्टतम है, इसीसे माधुर्यका विकाश भी सर्वातिशायी है। इस रूपमें श्रीकृष्णके माधुर्यका पूर्णतम विकाश है ; आत्मपर्यन्त-सर्वचित्तहर स्वयं

श्रीकृष्ण पर्यन्त जिनका रूप देखकर मुग्ध होते हैं, उन श्रीराधाके माधुर्य-का पूर्णतम विकाश है, एवं दोनोंके घनिष्ठतम सान्निध्य हेतु परस्पर होड़ करके वर्द्धनशील दोनोंके माधुर्यका विकाश है (**मम् माधुर्य राधाप्रेम—दोंहे होड़ करि। क्षणे क्षणे बाढे दोंहे केहो नाहि हारि ॥**—श्रीकृष्णोक्ति)। इसलिए इस अपूर्व रूपका माधुर्य अनिर्वचनीय, अतुलनीय है ; यह अपूर्व रूप मदन-मोहनका भी मनोमोहन है। श्रीजीवगोस्वामीने अपने सन्दर्भमें कहा है—युगलित राधाकृष्ण ही परमस्वरूप है। यह '**रसराज-महाभाव दुइये एकरूपे**' दोनोंके युगलितत्त्वका भी चरमतम विकाश है। लगता है कि इसीलिए श्रीपाद स्वरूपदामोदरने लिखा है—**न चैतन्यात्कृष्णाज्जगति पर तत्वं परमिह**। इसलिए शायद श्रीपाद कविराज गोस्वामीने लिखा है—

> **"कृष्णलीलामृतसार, तार शत शत धार,**
> **दशदिके बहे जाहा हैते।**
> **से गौराङ्गलीला हय, सरोवर अक्षय,**
> **मनोहंस चराह ताहाते ॥"**

कोई प्रश्न कर सकता है कि श्रीमन्महाप्रभुने कहा है— माधुर्य भगवत्ता सार। '**रसराज-महाभाव दुइये एक रूप**'—गौरस्वरूपमें ही जब माधुर्यका चरमतम विकाश है तब श्रीश्रीगौरसुन्दरको ही भगवत्ताका चरमतम विकाश समझना होगा। तब क्या श्रीकृष्ण भगवान् नहीं हैं? '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**' वाक्य ठीक नहीं है?

उत्तरमें कहा जाता है—श्रीकृष्ण और श्रीगौर दोनों पृथक् तत्त्व नहीं हैं। राधाकृष्ण-मिलित विग्रह ही गौर है। श्रीकृष्ण ही गौर हुए हैं। दोनों ही स्वयंभगवान् हैं। तब क्या स्वयंभगवान् दो हैं? ऐसा नहीं। एक ही स्वयंभगवान्ने रस आस्वादनके लिए दो रूपमें अपनेको अभिव्यक्त किया है। व्रजलीलामें श्रीकृष्णने जैसे कभी दियाशिनी, कभी नायन, कभी योगिनी आदिका रूप धारण किया है, वह नायन,

या योगिनी जिस प्रकार श्रीकृष्णसे पृथक् कोई भी तत्त्व नहीं है उसी प्रकार श्रीकृष्णने ही रसविशेष आस्वादनके लिए गौररूप धारण किया है ; गौररूप श्रीकृष्णसे पृथक् तत्त्व नहीं है। एक ही स्वयंभगवान् दो रूपोंमें अभिव्यक्त हैं—श्रीकृष्णरूप विषय प्रधान एवं श्रीगौररूप आश्रय-प्रधान है। श्रीकृष्णमें प्रेमके विषयत्वका प्राधान्य है श्रीगौरमें प्रेमके आश्रयतत्त्वका प्राधान्य है।

श्रीमद्भागवतके **'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्'** (११.५.३२) श्लोकमें वर्तमान कलियुगके उपास्य श्रीश्रीगौरसुन्दरका प्रच्छन्न उल्लेख है। इस श्लोककी व्याख्यासे जाना जाता है कि श्रीश्रीगौरसुन्दर हैं श्रीराधा कर्तृक सर्वाङ्गमें आलिङ्गित स्वयं श्रीकृष्ण (विस्तृत व्याख्या 'सनातन शिक्षा'के पृष्ठ १४७-१५४ पर देखिये)। श्रीपाद स्वरूप दामोदरका **'राधाकृष्ण-प्रणय विकृतिह्लादिनी शक्तिः'** इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकके **'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं'** अंशका भाष्य स्वरूप है और श्रीमन् महाप्रभुने कृपा करके रामानन्दको जो दिखाया, वह इस भाष्यका मूर्त्त अर्थ है। प्रकट लीलामें ही शास्त्रके अर्थका मूर्तरूप देखनेमें आता है।

और प्रश्न हो सकता है कि स्वयंभगवान्के दो रूपकी कथा किसी शास्त्रमें है क्या? है। स्वयंभगवान् श्रीकृष्णकी कथा श्रीमद्भागवतमें एवं गोपाल-तापनी-श्रुति आदिमें प्रसिद्ध है। श्रीश्रीगौरसुन्दरकी कथा भी श्रीमद्भागवतके **'आसन् वर्णास्त्रयः'** (१०.८.१३) इत्यादि एवं **कृष्णंवर्णं त्विषाकृष्णम्** (१३.५.३२) श्लोकमें तथा—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमसाम्य मूपैति॥

इत्यादि मुण्डकोपनिषद् (३.१.३) वाक्योंमें देखनेमें आता है। मुण्डकोक्त 'रुक्मवर्ण-गौरवर्ण' जो स्वयंभगवान् हैं 'ब्रह्मयोनि' शब्द ही उसका प्रमाण है।

जो हो, अब एक प्रश्न और भी सामने आता है। २३०-२३१ पयारोंके मर्मसे समझा जाता है कि प्रभुके आत्मगोपनकी चेष्टा होनेपर भी रामानन्द अपने प्रेमके प्रभावसे प्रभुके तत्त्वसे अवगत हो सके। कुछ दिनोंसे प्रभुके साथ उनकी इष्टगोष्ठी चल रही थी, उन दिनों वे अपने प्रेमके प्रभावसे प्रभुको पहचान क्यों नहीं सके? इसका उत्तर कविराज गोस्वामीने ही १०२-१०३ पयारोंमें दिया है—

यद्यपि राय प्रेमी महाभागवते।
रायेर मन कृष्णमाया नारे आच्छादिते॥
तथापि प्रभुर इच्छा परम प्रबल।
जानितेहो रायेर मन करे टलमल॥

प्रेमके प्रभावसे तब भी राम राय प्रभुको पहचान सकते थे; किन्तु पहचानते ही—प्रभुके स्वरूपकी उपलब्धि पाते ही—राय रामानन्द आनन्दके आधिक्यसे मूर्च्छित हो पड़ते। तब और आलोचना नहीं चल पाती। इसीसे प्रभुकी बलवती इच्छा हुई थी कि राय उनको उस समय नहीं पहचान पावें। उनकी इच्छा हुए बिना उनको कैसे पहचाना जाय? महाप्रेमी रामानन्दके विशुद्ध-प्रेमोज्ज्वल-चित्तदर्पणके सामने प्रभुका तत्त्व बीच-बीचमें बिजलीकी चमककी तरह प्रकट होना चाहता; पर प्रभुकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे ही यह उनके चित्तसे अपसारित रहता; इससे आलोचना बन्द नहीं हुई। अब सारी आलोचना पूरी हो चुकी; विषादका समय आ पहुँचा; विशेषतः अपना स्वरूप दिखाकर रामानन्दको कृतार्थ करनेके लिए प्रभुकी इच्छा भी हुई। इसीसे अब उन्होंने और रामानन्दके प्रेम प्रभाव जनित उपलब्धिको अपसारित करनेकी इच्छा नहीं की, उनको अपना रूप दिखाया।

श्रीमन्महाप्रभुने कृपा करके रामानन्दको साध्यतत्त्वका चरमतम विकाशमय रूप ही दिखाया। साध्यतत्त्वकी अवधिका जो तत्त्व रामानन्दके मुखसे प्रकट कराया, उसी रूपको उन्हें प्रभुने मूर्त्त करके दिखाया।

प्रभु तारे हस्त-स्पर्श कराइल चेतन।

सन्न्यासीर वेश देखि विस्मित हइल मन ॥२३५॥

महाप्रभुने हाथसे स्पर्श करके रामानन्द रायको चेतन कराया, तब प्रभुका संन्यासी वेश देखकर उनका मन विस्मित हुआ, रसराज-महाभाव रूप अब नहीं रहा।

आलिङ्गन करि प्रभु कैला आश्वासन।

तोमा बिना एइ रूप ना देखे कोनजन ॥२३६॥

प्रभुने रामानन्दको आलिङ्गन करके आश्वासन दिया कि तुम्हारे बिना यह रूप कोई नहीं देख सकता।

मोर तत्त्व लीला-रस तोमार गोचरे।

अतएव एइ रूप देखाइल तोमारे ॥२३७॥

मेरा तत्त्व लीलारस तुम्हें ही गोचर हो सकता है, इसलिए यह रूप तुमको दिखाया है।

गौर-अङ्ग नहे मोर—राधाङ्ग स्पर्शन।

गोपेन्द्रसुत बिना तेंहो ना स्पर्शे अन्य जन ॥२३८॥

गौर अङ्ग नहे मोर—मेरा अङ्ग गौरवर्ण नहीं है। **राधाङ्ग स्पर्शन**—गौराङ्गी श्रीराधा निज अङ्ग द्वारा मुझे स्पर्श किये है, उनकी गौरवर्ण-अङ्गकान्तिसे मेरा देह गौर-वर्ण हो गया है।

गोपेन्द्रसुत बिना इत्यादि - श्रीराधा व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके अतिरिक्त और किसीको भी स्पर्श नहीं करतीं।

महाप्रभुने रामानन्द रायसे कहा—'मुझे तुम गौरवर्ण देख रहे हो, मेरा वर्ण वास्तबिक गौर नहीं है। मेरा वर्ण गौर क्यों दीखता है वह बता रहा हूँ, उसको सुनो। गौराङ्गी श्रीराधा अपने प्रत्येक अङ्ग द्वारा मेरे प्रत्येक अङ्गको स्पर्श किये हुए है। इसीसे उनकी अङ्गकान्तिने

मेरेको गौरवर्ण बना दिया है। श्रीराधा व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त और किसीका भी स्पर्श नहीं करतीं।" व्यञ्जना यही है कि "मुझे जब उन्होंने स्पर्श किया है, तब यह सहज ही समझा जा सकता है कि मैं स्वरूपतः व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण हूँ।"

श्रीमन्महाप्रभुके अङ्गमें सुईकी नोक परिमित स्थान भी नहीं था, जो गौर न हो; अतएव रामानन्दको प्रभुने जनाया कि श्रीराधा अपने प्रति-अङ्ग द्वारा अपने प्राणवल्लभ-श्रीकृष्णके प्रति-अङ्गको स्पर्श—आलिङ्गन किये हुए हैं। व्रजलीलामें श्रीराधाने कहा था—श्रीकृष्णके 'प्रति-अङ्ग लागि मोर प्रति-अङ्ग झुरे।' अपने प्रति-अङ्ग द्वारा अपने प्राणवल्लभके प्रति-अङ्गको आलिङ्गन करके रखनेकी वासना श्रीराधाको हुई थी—वही वासना पूर्ण हुई है गौरलीलामें। श्रीकृष्णकी स्वमाधुर्य-आस्वादनकी वासना पूर्ण करनेमें श्रीराधाने अपनी वासना भी पूर्ण कर ली। प्रभुने कहा—वे केवल श्रीराधाकी कान्ति द्वारा ही आच्छादित नहीं हैं; परन्तु श्रीराधाके गौर अङ्ग द्वारा आच्छादित हैं, श्रीराधाके अङ्गकी कान्ति ही बाहर दिखायी देती है।

प्रभुने प्रकारान्तरसे अपना तत्त्व प्रकाश करते हुए कहा—

ताँर भावे भावित आमि करि आत्ममन।
तबे निजमाधुर्य्य-रस करि आस्वादन॥२३९॥

ताँर भावे—श्रीराधाके भावसे। पूर्व पयारमें प्रभुने कहा है—वे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं, श्रीराधा द्वारा प्रति-अङ्गमें आलिङ्गित होकर गौर हुए हैं। इस पयारमें कहते हैं—उन्होंने श्रीराधाका भाव भी ग्रहण किया है। भाव ग्रहण करनेका उद्देश्य भी बताया—स्वमाधुर्य-आस्वादन करना, जो श्रीराधा-भावके बिना असम्भव है।

तोमार ठाञि आमार किछु गुप्त नाहि कर्म्म।
लुकाइले प्रेमबले जान सर्व्व मर्म्म॥२४०॥

तुम्हारे सामने मेरी कोई भी बात गुप्त नहीं है, छिपानेपर भी अपने प्रमके बलसे तुम सब मर्म जान जाते हो।

गुप्त राखिह, काहाँ न करिह प्रकाश।
आमार वातुल चेष्टा—लोके उपहास ॥२४१॥

वातुल—पागल। जो तुमने देखा या सुना, उसको कही प्रकट नहीं करना। लोग सुनेंगे तो हँसी करेंगे; कारण मेरा आचरण तो पागलके आचरण तुल्य ही है (यह प्रभुकी दैन्योक्ति है)।

अथवा, **आमार वातुल चेष्टा** इत्यादि—प्रभु अपनेको पागल बतलाकर फिर आत्मगोपन कर रहे हैं या भक्तभावसे दैन्य प्रकाश कर रहे हैं; किन्तु सरस्वती प्रभुकी दैन्योक्ति सहन न कर पानेसे 'वातुल चेष्टा' आदिका अन्य रूप अर्थ करती हैं, वह इस प्रकार है—श्रीराधाका भाव अङ्गीकार करके प्रभु श्रीराधाकी तरह प्रेमोन्मत्त हो गये हैं; प्रेमोन्मत्त लोगोंका आचरण भी अज्ञ साधारण लोगोंके निकट साधारण पागल जैसा आचरण ही लगता है। इसीसे रामानन्द रायसे उन्होंने कहा—"किसीके पास ये सब बातें न करना; कारण साधारण लोग इस विषयमें अज्ञ हैं, प्रेमका और प्रेम विकारका मर्म नहीं जानते, नहीं समझते; तुम्हारे ये सब बातें बतानेसे वे लोग पागलका आचरण बताकर मेरी हँसी करेंगे, इससे वे अपराधी बनेंगे।"

आमि एक वातुल, तुमि द्वितीय वातुल।
अतएव तोमाय आमाय हइ समतुल ॥२४२॥

मै एक पागल हूँ और तुम दूसरे पागल हो। हम दोनों एक-से हो गये।

एइ रूप दश रात्रि रामानन्द सङ्गे।
सुखे गोङाइला प्रभु कृष्णकथा-रङ्गे ॥२४३॥

इस प्रकार प्रभुने दस रात्रि रामानन्द रायके साथ कृष्णकथा रंगमें सुखपूर्वक बितायी।

निगूढ व्रजेर रस - लीलार विचार।
अनेक कहिल—तार ना पाइल पार ॥२४४॥

व्रजकी रस-लीलाका विचार बहुत गूढ है, कितना भी कहा जाय, उसका कोई पार नहीं है।

तामा काँसा रूपा सोना रत्न-चिन्तामणि।
केहो जेन पोंता काहाँ पाय एक खनि ॥२४५॥
क्रमे उठाइते जेन उत्तम - वस्तु पाय।
ऐछे प्रश्नोत्तर कैल प्रभु रामराय ॥२४६॥

पोंता—मिट्टीके नीचे रक्षित।

ताम्बा, काँसा, चान्दी, सोना, रत्न-चिन्तामणि कोई कहीं मिट्टीके नीचे रक्षित पा जाय और उनको क्रमसे उठावे, तो एकके बाद दूसरी उत्तम वस्तु मिलती है, इसी प्रकार प्रभु और रामानन्द रायके बीच प्रश्नोत्तर होते थे।

आर दिन राय-पासे विदाय मागिला।
विदायेर काले तारे एइ आज्ञा दिला ॥२४७॥

दूसरे दिन रामानन्दसे प्रभुने विदा मांगी, और विदाके समय यह आज्ञा दी —

विषय छाडिया तुम जाह नीलाचले।
आमि तीर्थ करि ताहाँ आसिब अल्पकाले ॥२४८॥
दुइजने नीलाचले रहिब एकसङ्गे।
सुखे गोङाइब काल कृष्णकथा रङ्गे ॥२४९॥

विषय छाड़िया—इस स्थानका कर्म छोड़कर। रामानन्द राय विद्यानगरमें राजा प्रतापरुद्रके राज-प्रतिनिधि थे; राज-प्रतिनिधित्व छोड़ कर प्रभुने उनको नीलाचल जानेका आदेश दिया और कहा कि तीर्थ करके मैं भी अल्पकालमें वहाँ पहुँच जाऊँगा। दोनों नीलाचलमें एक साथ रहेंगे और कृष्णकथा रंगमें सुखपूर्वक समय बितायेंगे।

एत बलि रामानन्दे करि आलिङ्गन।
तारे घरे पाठाइया करिल शयन ॥२५०॥
प्रातःकाले उठि प्रभु देखि हनुमान।
ताँरे नमस्करि प्रभु करिला प्रयाण ॥२५१॥

इतना कहकर महाप्रभुने रामानन्दको आलिङ्गन करके घर भेज दिया और स्वयं भी शयन किया। प्रातः काल उठकर प्रभुने हनुमानजीके दर्शन करके उनको नमस्कार करके प्रस्थान किया।

विद्यापुरे नाना मत लोक वैसे जत।
प्रभु दर्शने वैष्णव हैल छाडि निज मत ॥२५२॥

विद्यापुरमें विभिन्न मतोंके जितने लोग थे, प्रभुके दर्शनके प्रभावसे अपना मत छोड़कर वैष्णव हो गये।

रामानन्दे हैला प्रभुर विरहे विह्वल।
प्रभुर ध्याने रहे विषय छाडिया सकल ॥२५३॥

प्रभुके विरहमें रामानन्द विह्वल हो गये और सब वैषयिक कार्य-कर्म छोड़कर प्रभुके ध्यानमें रहने लगे।

संक्षेपे कहिल रामानन्देर मिलन।
विस्तारि वर्णिते नारे सहस्रवदन ॥२५४॥

रामानन्द मिलन प्रसंग संक्षेपमें कहा गया, विस्तारसे तो सहस्रवदन अनन्त देव भी नहीं कह सकते।

सहजे चैतन्य - चरित घन दुग्ध पूर ।
रामानन्द - चरित ताते खण्ड प्रचुर ॥२५५॥
राधाकृष्णलीला ताहे कर्पूर मिलन ।
भाग्यवान् जेह, सेइ करे आस्वादन ॥२५६॥

चैतन्य-चरित या लीला सहजे—स्वभावतः ही घनावर्त दुग्धकी तरह मधुर है। उसमें रामानन्द राय चरितरूप खण्ड—उत्तम मिष्ट-द्रव्य मिश्रित होनेसे और भी मधुर हो गया है। उसपर भी श्रीराधा-कृष्णलीलारूप कर्पूर मिलानेसे अति सुगन्धित और उन्मादनमय हो गया है।

जेह इहा एक बार पिये कर्णद्वारे ।
तार कर्ण लोभे—इहा छाडिते ना पारे ॥२५७॥

जो यह राधाकृष्णलीला और रामानन्द रायके चरित-सम्वलित चैतन्यलीला श्रवणपुट द्वारा एक बार भी पान करेगा वह लोभवश इसको छोड़ नहीं सकेगा।

सर्व्वतत्त्वज्ञान हय इहार श्रवणे ।
प्रेमभक्ति हय राधा - कृष्णेर चरणे ॥२५८॥

इसके श्रवणसे सब तत्त्वोंका ज्ञान हो जाता है और श्रीराधा-कृष्णके चरणोंमें प्रेमभक्ति होती है।

चैतन्येर गूढ तत्त्व जानि इहा हैते ।
विश्वास करि शुन, तर्क ना करिह चित्ते ॥२५९॥
अलौकिक लीला एइ परम निगूढ ।
विश्वासे पाइये—तर्कें हय बहु दूर ॥२६०॥

इसमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका गूढ़ तत्त्व जानकर विश्वासपूर्वक सुनना,

और चित्तमें कोई तर्क नहीं करना। यह परम निगूढ़ अलौकिक लीला है। विश्वाससे प्राप्त होती है और तर्कसे बहुत दूर हो जाती है।

श्रीचैतन्य - नित्यानन्द - अद्वैत - चरण।

जाहार सर्व्वस्व—तारे मिले एइ धन ॥२६१॥

श्रीचैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैत प्रभुके चरण जिनके सर्वस्व हैं उनको यह धन मिलता है।

रामानन्दराये मोर कोटि नमस्कार।

जाँर मुखे कैल प्रभु रसेर विस्तार ॥२६२॥

रामानन्द रायको मेरा कोटि नमस्कार है, जिनके मुखसे प्रभुने रसका विस्तार किया।

दामोदर स्वरूपेर कड़चा अनुसारे।

रामानन्द-मिलन-लीला करिल प्रचारे ॥२६३॥

श्रीस्वरूप दामोदरके कड़चाके अनुसार रामानन्द-मिलन-लीला लिखी गयी है।

श्रीरूप - रघुनाथ - पदे जार आश।

चैतन्य चरितामृत कहे कृष्णदास ॥२६४॥

श्रीरूप गोस्वामी और रघुनाथ गोस्वामीके चरणोंका भरोसा जिसे है, वही मैं कृष्णदास चैतन्यचरितामृत लिख रहा हूँ।

इति श्रीचैतन्यचरितामृते मध्यखण्डे
रामानन्दरायसङ्गोत्सवो नाम
अष्टम् परिच्छेदः ॥

श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा-संस्थान, मथुरा-२८१००० के प्रकाशन

राज-संस्करण : मैपलिथो कागज पर एवं गत्तेकी जिल्द सहित

साधा.-संस्करण : साधारण कागज पर एवं गत्तेकी जिल्द सहित

आकार—डिमाई /८

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' की पुस्तकें--

क्र. सं.	नाम	पृष्ठ सं.	संस्करण	मूल्य
१.	भगवान् वासुदेव (मथुरा चरित)	४०८	सजिल्द, रेक्सीन	१५-००
	,, ,,	४०८	अजिल्द रेक्सीन	१३-५०
२.	श्री द्वारिकाधीश	४०४	सजिल्द रेक्सीन	१८-००
	,,	४०४	पेपरबैक	१२-५०
३.	पार्थ–सारथि	४४४	सजिल्द रेक्सीन	२०-००
	,,	४४४	पेपरबैक	१४-००
४.	नन्द–नन्दन	६६६	राज–संस्करण	३२-००
	,,	६६६	साधा. संस्करण	३०-००
५.	सखाओंका कन्हैया (सचित्र)	१७२	पेपरबैक	६-००
६.	कन्हाई	२०२	पेपरबैक	५-५०
७.	वे मिलेंगे	३०४	सजिल्द रेक्सीन	१७-००
	,,	३०४	पेपरबैक	११-००
८.	पलक-झपकते	९९	पेपरबैक	४-००
९.	अमृत-पुत्र	२७८	पेपरबैक	१०-००
१०.	श्रीरामचरित प्रथम खण्ड	३८८	सजिल्द	१०-००
	श्रीरामचरित ,,	३८८	अजिल्द रेक्सीन	९-००
११.	श्रीरामचरित द्वितीय खण्ड	२८०	सजिल्द	८-२५
१२.	श्रीरामचरित तृतीय खण्ड	३९८	राज-संस्करण	१४-००
	,, ,,	३९८	साधा-संस्करण	१२-००
१३.	श्रीरामचरित चतुर्थ खण्ड	३४८	राज-संस्करण	१४-००
	,, ,,	३४८	साधा-संस्करण	१२-००
१४.	शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा	२१४	पेपरबैक	७-५०
१५.	आंजनेयकी आत्मकथा	३१२	सजिल्द	९-००
१६.	प्रभु-आवत	२३६	पेपरबैक	८-००
१७.	शिवचरित	४३६	पेपरबैक	११-२५
१८.	हमारी संस्कृति	२७२	सजिल्द	८-००
१९.	साध्य और साधन	३९२	सजिल्द	१०-००
२०.	मजेदार कहानियाँ (सचित्र)	६८	पेपरबैक	२-५०
२१.	कल्कि अवतार या कलयुगका अन्त	२००	,,	८-००

अन्य लेखकोंकी पुस्तकें—

१. रसिया-भागवत, ले० बालमुकुन्द चतुर्वेदी ७२ पेपरबैक १-२५
२. नरसीजी रौ माहेरौ (राजस्थानी लोकगीत) ८२ ,, ३-५०
३. शिक्षाष्टक (श्री चैतन्य-चरितामृतकी १५५ पेपरबैक ५-००
डा० राधागोविन्द नाथकी टीकासे अनूदित)

लेखक—हरिदास गोस्वामी (बंगलासे अनूदित)

१. आत्माराम आकर्षक हरिके गुण २८४ सजिल्द ७-७५
२. श्रीरूप-शिक्षा १३९ पेपरबैक ३-२५
३. वैष्णव-स्मृति ७१ ,, ०-७५

अन्य पुस्तकें--

१. हरिलीला (विदद्वर बोपदेव कृतका हिन्दी अनुवाद) ४८ पेपरबैक २-००
२. The Philosophy of Love ३०३ Royal Edition १८-००
(नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार Paper Back १२-००
कृत नारदभक्ति-सूत्रकी टीकाका अंग्रेजी अनुवाद)

आकार--फुलस्केप/८ (पाकेट)

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' की पुस्तकें--

१. राम-श्यामकी झाँकी (भाग-१) १६८ पेपरबैक २-००
२. राम-श्यामकी झाँकी (भाग-२) १३६ ,, १-७५
३. श्यामका स्वभाव १०४ ,, १-५०
४. ब्रजका एक दिन ११६ ,, १-७५
५. उन्मादिनी यशोदा १६४ ,, २-५०
६. शिव-स्मरण ९० ,, १-२५
७. हमारे धर्मग्रन्थ ७२ ,, १-००
८. हमारे अवतार एवं देवी-देवता १०८ ,, १-५०
९. हिन्दुओंके तीर्थस्थान २८२ ,, ४-५०
१०. ज्ञान-गंगा (कहानियाँ) २८८ ,, ४-५०
११. भक्ति-भागीरथी (कहानियाँ) २४८ ,, ४-००
१२. नवधा-भक्ति (कहानियाँ) १८० ,, ३-००
१३. दस-महाव्रत (कहानियाँ) ७० ,, १-६०
१४. मानस-मन्दाकिनी भाग-१ (कहानियाँ) २१३ ,, ३-७५
१५. मानस-मन्दाकिनी भाग-२ (कहानियाँ) १८३ ,, ३-५०
१६. सांस्कृतिक कहानियाँ, कुल १२ भाग २-००
प्रत्येक भाग पृष्ठ लगभग १६४, मूल्य प्रत्येक भाग

१७.	प्रेरक-प्रसंग	६६	,,	१-५०
१८.	मधुबिन्दु एवं ज्योतिकण	६७	,,	१-६०
१९.	कर्म-रहस्य	२८८	साधारण	५-००

डा० अवधबिहारीलाल कपूरकी पुस्तकें--

१.	विरहिणी-राधा (नाट्य-काव्य)	१६८	,,	४-००
२.	ब्रजके भक्त, पाँच भागोंमें, पृष्ठ लगभग २३०, मूल्य प्रत्येक भाग			५-००

अन्य लेखकोंकी पुस्तकें--

१.	दो आध्यात्मिक महाविभूतियोंके प्रेरक-प्रसंग (सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका एवं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रेरक-प्रसंग)	१८०	साधारण	२-५०
२.	दो महापुरुषोंका जीवन-सौरभ (महामना श्रीमदनमोहनजी मालवीय एवं (श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाके प्रेरक-संस्मरण)	१३०	साधारण	३-२५
३.	आरतीमाला, लेखक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार	३२	,,	१-५०
४.	श्रीचैतन्य-महाप्रभुके परिकर	२००	,,	४-००
५.	श्रीश्रीनिताई-गौर-श्रीविग्रहकी अद्भुत लीलाकथा	४८	साधारण	१-००
६.	गाँधी-आख्यानमालाकी १० पुस्तकें पृष्ठ सं० प्रत्येककी ११२, बँधाई साधारण, मूल्य प्रति पुस्तक			३-००

१-प्रभु ही मेरा रक्षक है, २—संगठनमें ही शक्ति है, ३—यदि मैं तानाशाह बना, ४—त्याग हृदयकी वृत्ति है, ५—मेरा पेट भारतका पेट है, ६—मैं महात्मा नहीं हूँ, ७—यह तो सार्वजनिक पैसा है, ८—हम कभी दम्भी न बनें, ९—मेरा धर्म सेवा करना है, १०—हे राम ! हे राम !

आकार क्राउन/८

१.	श्रीमद्भगवद्गीता (पदच्छेद अन्वय, अर्थ सहित)	४६८	राज. सं०	१०-००
			साधा.-सं०	८-००
२.	प्रबोध-सुधाकर (श्रीशंकराचार्य)	८०	पेपरबैंक	१-५०
३.	आर्या या आर्यदृष्टि (लेखक—स्वामी श्रीऋषिकुमार)	३८४	राज.-सं०	१६-००
		३८४	साधा-सं०	१२-००

आकार क्राउन/४

१.	श्रीमद्भागवत पादानुक्रमणिका	६०४	राज-सं०	१००-००
२.	श्रीसनातन-शिक्षा (श्रीचैतन्य-चरितामृतमें श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा श्रीसनातन गोस्वामीको दी गयी शिक्षा, डा० राधागोविन्द नाथकी टीकासे अनूदित)	६१०	सजिल्द	३०-००
३.	श्रीचैतन्य महाप्रभुकी नवद्वीप-लीला (हिन्दी)	९४४	प्ला. जाकेट	५०-००
४.	श्रीचैतन्य महाप्रभुकी नीलाचल-लीला (हिन्दी)	९१६	,,	५०-००